आचार्य श्री नानेश
श्री शिवशर्मसूरि विरचित-

कर्म प्रकृति

भाग-2

(मूल विवेचन-टिप्पण-परिशिष्ट युक्त)

श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ द्वारा प्रकाशित व बिक्री हेतु उपलब्ध साहित्य

1. अद्भुत योगी	50/-
2. जिणधम्मो	150/-
3. नानेशवाणी 21 पुस्तकों का सेट (50% छूट सहित)	315/-
4. ऐसे जीएं	45/-
5. परदे के उस पार	25/-
6. समीक्षण धारा भाग-1	30/-
7. पावस प्रवचन	16/-
8. गहरी पर्त के हस्ताक्षर	15/-
9. वियाह पण्णति सुत	40/-
10. श्री राम उवाच भाग-1	50/-
11. श्री राम उवाच भाग-2	50/-
12. मैं न जानूं कौन पराया	20/-
13. अन्तर की आवाज	15/-
14. जीने का राज	20/-
15. जीवन सजाएं	20/-
16. सूक्ति माला	15/-
17. सूक्त चयन	20/-
18. आचार्य श्रीनानेश जीवित हैं	100/-
19. नानेश दृष्टान्त सुधा	25/-
20. तूं ही बाती तूं ही जोत	40/-
21. जैन स्तोक मंजूषा भाग 1 से 10	68/-
22. कर्म प्रकृति भाग-1	60/-
23. कर्म प्रकृति भाग-2	200/-
24. द्वादश चरित्र संग्रह (संकलित)	12/-
25. समीक्षण ध्यान साधना	10/-

प्राप्ति स्थान :

श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर-334005

*

श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार
चौमुखी पुल, रतलाम (म.प्र.)

श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित

कर्मप्रकृति

(उत्तरार्ध)

卐

तत्त्वावधान

आचार्य श्री नानेश

卐

सम्पादक

देवकुमार जैन

卐

प्रकाशक

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला

(अन्तर्गत - श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ)

बीकानेर (राज.)

प्रकाशक :

मंत्री-श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

रामपुरिया मार्ग

बीकानेर (राजस्थान) ३३४००५

※

श्रीमद् शिवशर्मसूरिविरचित

कर्मप्रकृति (उत्तरार्ध)

※

तत्त्वावधान

आचार्य श्री नानेश

※

सम्पादक

देवकुमार जैन

※

संस्करण : प्रथम

जून २००२

※

मूल्य : दो सौ रुपये

※

शब्द-संयोजन

रोहित कम्प्यूटर्स, अजमेर - ३०५ ००८,

फोन : ६६०९१६

※

मुद्रक :

श्रीमती विमलेश जैन

अजन्ता पेपर कन्वर्टर्स

लक्ष्मी चौक, अजमेर

✆ : ४२०१२०

प्रकाशकीय

जैनदर्शन और धर्म के अनेक लोक-हितकारी एवं सार्वभौमिक अबाधित सिद्धान्तों में से नामकरण के अनुसार इस ग्रन्थ का संबंध एक अद्वितीय कर्मसिद्धान्त से है। इस ग्रन्थ में आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे जुड़ता है, आत्मा के किन परिणामों से कर्म किन-किन अवस्थाओं में परिणत होते हैं, किस रूप में बदलते हैं, जीव को किस प्रकार से विपाक वेदन कराते हैं और कर्मक्षय की वह कौनसी विशिष्ट आत्मिक प्रक्रिया है कि अतिशय बलशाली प्रतीत होने वाले कर्म निःशेष रूप से क्षय हो जाते हैं ? आदि बातों का सारगर्भित शैली में प्रतिपादन किया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ की अन्तर्वर्ती 'श्री गणेश स्मृति ग्रंन्थमाला' के द्वारा किया जा रहा है। संघ का प्रमुख लक्ष्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण और समाज का समृद्धिसंपन्न विकास। व्यक्तित्व निर्माण के लिये आवश्यक है आत्मस्वरूप का बोध करते हुए सदाचारमय आध्यात्मिक जीवन जीने की कला सीखने और समाज विकास पारस्परिक सहयोग, सामूहिक उत्तरदायित्व के द्वारा जनहितकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने पर निर्भर है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिये संघ द्वारा विविध प्रवृत्तियां संचालित हैं। इनके लिये पृथक्-पृथक समितियाँ और विभाग हैं। इनमें से श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला के माध्यम से साहित्य-प्रकाशन का कार्य किया जाता है।

ग्रन्थमाला का उद्देश्य जैन संस्कृति, धर्म दर्शन और आचार के शाश्वत सिद्धान्तों का लोकभाषा में प्रचार तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण करना है। उद्देश्यानुसार एवं इसकी पूर्ति हेतु ग्रन्थमाला की ओर से सरल, सुबोध भाषा और शैली में जैन आचार-विचार के विवेचक, प्रचारक अनेक ग्रन्थों और पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। इसी क्रम में कर्म-सिद्धान्त के विवेचक 'कर्मप्रकृति' जैसे महान् ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड को प्रकाशित कर रहे हैं। ग्रन्थ पृष्ठसंख्या की दृष्टि से विशाल होने के कारण सुविधा के लिये दो खण्डों में विभाजित किया गया। प्रथम खण्ड पूर्व में प्रकाशित हुआ था तथा यह द्वितीय खण्ड है।

परमपूज्य समताविभूति, जिनशासनप्रद्योतक, धर्मपाल-प्रतिबोधक स्व. आचार्य श्री नानालालजी म. सा. ने कर्मसिद्धान्त की अनेक गुत्थियों को अपनी विचक्षण प्रतिभा के द्वारा सहज एवं सरल तरीके से सुलझा कर प्रस्तुत किया। आचार्यश्री द्वारा व्याख्यायित होने से ग्रन्थ की उपयोगिता में बहुत अधिक निखार आया है। इस उपकृति के लिये संघ आचार्यश्री का ऋणी रहेगा।

ग्रन्थ का संपादन श्री देवकुमार जी जैन ने उत्साह के साथ संपन्न किया, तदर्थ श्री जैन धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्रीमान् सेठ दीपचन्दजी भूरा देशनोक-कलकत्ता के सुपुत्र श्री गोपालचन्दजी भूरा से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। श्री भूराजी देश के प्रतिष्ठित उद्योगपति, व्यवसायी एवं श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ को तन-मन-धन से सहयोग देने वाले वरिष्ठ और प्रमुख उन्नायकों में हैं एवं परमश्रद्धेय स्व. आचार्य-प्रवर पूज्य श्री नानालालजी म. सा. तथा वर्तमान आचार्य श्री रामलालजी म. सा. में आपकी प्रगाढ़ श्रद्धा है। स्थायी कार्यों को करने में अधिक रुचि होने से आपके पिताश्री ने 'श्री भीकमचन्द दीपचन्द भूरा साहित्य प्रकाशन कोष' की स्थापना की है। जिसकी ओर से उत्तम ग्रन्थों के संग्रह एवं प्रकाशन किये जाने की योजना है।

अन्त में हम श्रीमान् गोपालचन्दजी भूरा का आभार मानते हैं कि आपके सहयोग और प्रेरणा से इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर सके हैं। आशा है इसी प्रकार से आपका सहयोग मिलता रहेगा, जिससे संघ के लक्ष्य की पूर्ति होने के साथ समाजसेवा करने की आपकी भावना से समाज लाभान्वित हो। वक्तव्य के उपसंहार में पाठकों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे कर्मसिद्धान्त का परिज्ञान करने के लिये ग्रन्थ का अध्ययन, मनन और स्वाध्याय करेंगे।

शांतिलाल सांड
संयोजक
साहित्य समिति

अर्थसहयोगी परिचय

प्रस्तुत कृति 'कर्म—प्रकृति भाग—दो' का प्रकाशन संघ/शासननिष्ठ, सुश्रावक अनन्य गुरुभक्त श्रीमान् गोपालचन्दजी भूरा मूल निवासी देशनोक हाल-मुकाम कलकत्ता के अर्थ सौजन्य से हो रहा है। धर्म-तप-सेवा-सौजन्य की प्रतीक धरा-देशनोक जहाँ बेजोड़ लोकदेवी करणी माता से गौरवान्वित है वहीं श्रेष्ठिवर्यों के औदार्य, स्वधर्मी-स्नेह, जनकल्याण भावना तथा हुक्मेश संघ के संवर्द्धन/संरक्षण हेतु भी इसकी पृथक् पहचान है। इस नगरी में शासन प्रभावक क्रियानिष्ठ श्री ईश्वरमुनि जैसे तपस्वी साधक व वर्तमान शासनेश शास्त्रज्ञ, प्रशान्तमना, आगमवारिधि आचार्य श्री रामेश तो हुए ही हैं अनेक चारित्रात्माओं ने भी अणुव्रतों की पगडंडी छोड़कर महाव्रतों का राजमार्ग अंगीकृत किया है। धन्य है 'देश' की 'नाक' देशनोक जिसे धर्मवीरों, कर्मवीरों, तपस्वियों, साधकों व समर्पित कार्यकर्त्ताओं की जन्मभूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

आपके पिता श्रीमान् दीपचन्दजी भूरा का नाम ऐसे श्रद्धानिष्ठ, चतुर्विध संघ हेतु सर्वतोभावेन समर्पित, राष्ट्रीय/सामाजिक/शैक्षणिक/सांस्कृतिक संस्थाओं से सम्बद्ध रहकर मुक्त हस्त से अर्थ सहयोग प्रदान करने हेतु अग्र पंक्ति में हैं।

अल्पायु में ही व्यवसाय क्षेत्र में अग्रसर होकर आपके पिताश्री ने जिस लगन, निष्ठा, अध्यवसाय से साफल्य के चक्रिल सोपान तय किये वे आदर्श व अनुकरणीय हैं। आपने भारत के विभिन्न भागों में ही व्यापारिक प्रतिष्ठान स्थापित किये वरन् 'कॉटन किंग' के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं तक प्रामाणिक निर्यातक की ख्याति अर्जित की।

संघ की स्थापना से लेकर अद्यावधि तक इसके उन्नयन हेतु किये गये आपके पिताश्री के कार्य, अनेक शैक्षणिक/सामाजिक/धार्मिक संस्थाओं की स्थापना एवं समता विभूति समीक्षण ध्यान योगी आचार्य श्री नानेश के प्रति अप्रतिम भक्ति/सेवा/समर्पणा के प्रतीक हैं। 'दीप' वत प्रकाश फैलाना व 'चन्द' वत शीतलता प्रदान करना आपके विशेष गुण हैं।

श्री भूरा जी ने श्री अ. भा. साधुमार्गी संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष के रूप में नेतृत्व भी प्रदान किया है।

संघ के गौरवशाली अध्यक्ष रहकर आपके पिताश्री संघ को सर्वतोमुखी ऊँचाइयों पर ले गये वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ हैं। ८६ बसन्तों को पार करने पर भी आपमें युवक सा उत्साह है तथा संघ के विकास हेतु आप सदैव प्रयासरत तो रहते ही हैं, अपना अमूल्य मार्गदर्शन भी प्रदान करते हैं। उल्लेख्य है कि आपने संघ के प्रकाशनों में तो सहयोग प्रदान किया ही है हाल ही में बीकानेर में

निर्माणधीन 'समता नगर' में श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ को दो भूखण्ड भेंट कर अपनी प्रशस्त भावना का परिचय दिया है।

श्री गोपालचन्दजी ने भी विरासत में अपने पितृश्री व मातुश्री के संस्कारों को प्राप्त कर इन्हें सदैव वृद्धिंगत रखा है। आपने उद्योग, व्यापार में आशातीत प्रगति की है तथा श्रमनिष्ठता, प्रामाणिकता, नैतिकता को जीवन पाथेय बनाया है तथा अपने पितृश्री के पदचिन्हों का अनुसरण कर 'कर्मप्रकृति—भाग दो' के प्रकाशन का अर्थ—भार वहन किया है, वह स्तुत्य व श्लाघनीय है। कर्मप्रकृति भाग एक का प्रकाशन भी आपके पिताश्री के अर्थ सहयोग से ही सम्पन्न हुआ था।

संघ श्री भूरा परिवार के प्रति आभार, धन्यवाद व साधुवाद ज्ञापित करता है। विश्वास है संघ की गतिविधियों के संचालन, सातत्य, विकास हेतु आपका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

— चम्पालाल डागा

विषयानुक्रम

गाथा सं.		पृष्ठ सं.
	२ संक्रमकरण	
गाथा – १	संक्रम का लक्षण	३
	संक्रम लक्षण की सार्थकता	
	संक्रम के नियम	
गाथा – २	दर्शनमोह संक्रम विषयक अपवाद	४
	पतद्ग्रह प्रकृति का लक्षण	
गाथा – ३	मूल कर्मप्रकृतियों का संक्रम न होने का कारण	६
	मोहनीय और आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों में संक्रम नहीं होता	
गाथा – ४	क्रम-व्युत्क्रम से संक्रम होने का नियम	७
	मोहनीय की कुछ प्रकृतियों का आनुपूर्वी संक्रम कब होता है	
गाथा – ५	पतद्ग्रह प्रकृतियों सम्बन्धी अपवाद	८
गाथा – ६	संक्रम्यमाण प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा	९
गाथा – ७	पतद्ग्रह प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा	१०
गाथा – ८	ज्ञानावरण और अन्तरायकर्म के संक्रम व पतद्ग्रह स्थान	११
गाथा – ९	दर्शनावरण कर्म प्रकृतियों के संक्रम व पतद्ग्रह स्थान	१२
	दर्शनावरण कर्म प्रकृतियों के संक्रम व पतद्ग्रह स्थानों की सादि-अनादि प्ररूपणा	
	वेदनीय और गोत्र कर्म प्रकृतियों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान	
गाथा – १०	मोहनीय कर्म प्रकृतियों के संक्रमस्थान	१४
	मोहनीय कर्म प्रकृतियों में चौबीस प्रकृतिक संक्रम-स्थान न होने का कारण	

	मोहनीय कर्म प्रकृतियों के संक्रमस्थानों की सादि-अनादि प्ररूपणा	
	मोहनीय कर्म के पतद्ग्रह और अपतद्ग्रह स्थानों का निरूपण	
	मिथ्यात्व गुणस्थान में संक्रमित होने वाली प्रकृतियां और संक्रम का कारण	
	तत्सम्बन्धी प्रारूप	
	सासादन व मिश्र गुणस्थान में संक्रमित होने वाली प्रकृतियां व कारण, तत्सम्बन्धित प्रारूप	
	अविरत आदि अप्रमत्त संयत गुणस्थान पर्यंत संक्रमित होने वाली प्रकृतियां व कारण	
	तत्सम्बन्धी प्रारूप	
	उपशमश्रेणी में औपशमिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम व पतद्ग्रह की विधि, तत्सम्बन्धी प्रारूप	
	क्षपकश्रेणी में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम व पतद्ग्रह की विधि	
	तत्सम्बन्धी प्रारूप	
गाथा - ११	मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह अपतद्ग्रह स्थान	१८
गाथा – १२-२१	मोहनीय कर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का संकलन	३८
	सत्ताईस और छब्बीस प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	पच्चीस प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	तेईस प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	बाईस प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	इक्कीस प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	बीस प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	उन्नीस प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	

	अठारह प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	चौदह प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	तेरह प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	बारह प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	ग्यारह प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	आठ प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	सात प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	छह प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	पांच प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	चार प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	तीन प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
	दो प्रकृतिक संक्रमस्थान के योग्य पतद्ग्रहस्थान	
गाथा – २२	पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों के संकलन.का उपाय	४३
गाथा – २३	नामकर्म के संक्रमस्थानों की संख्या व उनके बनने का नियम	४४
गाथा – २४	नामकर्म के पतद्ग्रहस्थानों की संख्या	४६
गाथा – २५-२७	एक प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होने वाले संक्रमस्थान व उनका कारण	४६
	इकतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होने वाले संक्रमस्थान व उनका कारण	
	तीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होने वाले संक्रमस्थान व उनका कारण	
	उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होने वाले संक्रमस्थान व उनका कारण	
	अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होने वाले संक्रमस्थान व उनका कारण	
	छब्बीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होने वाले संक्रमस्थान व उनका कारण	

	पच्चीस और तेईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रान्त होने वाले संक्रमस्थान व उनका कारण	
गाथा – २८	स्थितिसंक्रम का लक्षण ५४	
गाथा – २९	बंधोत्कृष्टा, संक्रमोत्कृष्टा स्थिति का लक्षण बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की संख्या व नाम संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की संख्या व नाम बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का परिमाण व उसका स्पष्टीकरण संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का प्रमाण	५५
गाथा – ३०	दर्शनमोहत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम प्रमाण तीर्थंकर और आहारकसप्तक को संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति मानने का स्पष्टीकरण	५८
गाथा – ३१	प्रकृतियों का यत्स्थिति प्रमाण आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति को बंधोत्कृष्टा मानने में हेतु	६०
गाथा – ३२, ३३, ३४	स्वप्रकृति संक्रम योग्य प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-संक्रम प्रमाण परप्रकृति संक्रम योग्य प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-संक्रम प्रमाण	६१
गाथा – ३५	सत्तारूप प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण	६४
गाथा – ३६	मूलकर्म प्रकृतियों के स्थितिसंक्रम के जघन्य आदि विकल्पों की सादि-अनादि प्ररूपणा	६५
गाथा – ३७	उत्तर प्रकृतियों के स्थितिसंक्रम के जघन्य आदि विकल्पों की सादि-अनादि प्ररूपणा	६७
गाथा – ३८	बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का स्वामित्व संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का स्वामित्व	६८

गाथा – ३९	सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उत्कृष्ट स्थिति-संक्रम का स्वामित्व	६९
गाथा – ४०	ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तराय-पंचक के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व	६९
गाथा – ४१	वेदकसम्यकत्व के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व	७०
गाथा – ४२-४३	संज्वलन लोभ के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व अनन्तानुबंधीकषायचतुष्क के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व सयोग्यान्तिक प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व वेदों के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामित्व	७१
गाथा – ४४	अनुभागसंक्रम के भेद सर्वघाति, देशघाति अनुभाग स्पर्धकों की व्याख्या अघाति प्रकृतियों के अनुभाग स्पर्धकों में सर्वधातित्व का विधान	७३
गाथा – ४५	दर्शनमोहत्रिक के रसस्पर्धकों का स्पष्टीकरण	७४
गाथा – ४६	अनुभागसंक्रम का लक्षण	७५
गाथा – ४७ - ४८	सम्यक्त्वमोह का उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम प्रमाण मनुष्यायु तिर्यंचायु, आतप और सम्यग्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम प्रमाण पूर्वोक्त से शेष प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम का प्रमाण सम्यक्त्वमोह, पुरुषवेद, संज्वलन कषायों के जघन्य अनुभाग संक्रम का प्रमाण पूर्वोक्त से शेष प्रकृतियों के जघन्य अनुभागसंक्रम का प्रमाण	७६

गाथा – ४९, ५०, ५१	ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म के अनुभाग-संक्रम की सादि-अनादि प्ररूपणा	७८
	मोहनीय कर्म के अनुभागसंक्रम की सादि-अनादि प्ररूपणा	
	आयुकर्म के अनुभागसंक्रम की सादि-अनादि प्ररूपणा	
	वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म के अनुभागसंक्रम की सादि-अनादि प्ररूपणा	
	उत्तर प्रकृतियों के अनुभागसंक्रम की सादि-अनादि प्ररूपणा	
गाथा – ५२	उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम का काल	८३
गाथा – ५३, ५४	अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी	८४
	शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी	
गाथा – ५५, ५६	जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामित्व का सामान्य नियम	८६
गाथा – ५७, ५८, ५९	अन्तरकरण करने के पश्चात् घाति प्रकृतियों के जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामित्व	८७
	आयुकर्म की प्रकृतियों के जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामित्व	
	उद्वलन प्रकृतियों के जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामित्व	
	पूर्वोक्त से शेष प्रकृतियों के जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामित्व	
गाथा – ६०	प्रदेशसक्रंम का लक्षण	९०
	प्रदेशसंक्रम के भेद	
	उद्वलनासंक्रम योग्य प्रकृतियां	
	उद्वलनासंक्रम की अनन्तरोनिपनिधा प्ररूपणा	
	उद्वलनासंक्रम की परंपरोपनिधा प्ररूपणा	
	प्रथम स्थितिखंडों के उत्कीर्ण करने की विधि	
	चरम स्थितिखंड की उत्कीरणाविधि	
	सर्वसंक्रम का लक्षण	

	सर्वसंक्रम का काल प्रमाण	
	क्षेत्रापेक्षा सर्वसंक्रम का प्रमाण	
गाथा – ६१, ६२,	आहारकसप्तक का उद्वेलक	९३
६३, ६४	आहारकसप्तक की उद्वलना का काल	
	आहारकसप्तक के उत्कीर्ण द्रव्य को प्रक्षिप्त करने की विधि	
गाथा – ६५	आहारकसप्तक के चरम स्थितिखंड के उद्वलन का क्रम	९५
गाथा – ६६, ६७	मिथ्यादृष्टि द्वारा की जाने वाली उद्वलना योग्य प्रकृतियां	९६
	सम्यग्दृष्टि द्वारा की जाने वाली उद्वलना योग्य प्रकृतियां	
गाथा – ६८	विध्यातसंक्रम का लक्षण	९८
	गुणप्रत्यय व भवप्रत्यय से न बंधने वाली प्रकृतियां	
	विध्यातसंक्रम में संक्रमित होने वाले कर्मदलिकों का प्रमाण	
	विध्यातसंक्रम कब प्रवृत्त होता है ?	
गाथा – ६९	गुणसक्रंम का लक्षण	१००
	गुणसंक्रम के लक्षण का स्पष्टीकरण	
	गुणसंक्रम का अपर लक्षण	
	यथाप्रवृत्तसंक्रम का लक्षण व स्पष्टीकरण	
गाथा – ७०	उद्वलना, विध्यात, गुण और यथा प्रवृत्त संक्रम में अपहार काल का अल्पबहुत्व	१०१
गाथा – ७१	यथाप्रवृत्तसंक्रम का काल	१०२
	उद्वलना संक्रम का काल	
	स्लिवुकसंक्रम का लक्षण	
गाथा – ७२, ७३	एक सौ छब्बीस ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों के प्रदेश संक्रम के विकल्पों की सादि-अनादि प्ररूपणा	१०४
	पूर्वोक्त से शेष अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों के प्रदेशसंक्रम के विकल्पों की सादि-अनादि प्ररूपणा	

गाथा – ७४, ७५, ७६, ७७, ७८	गुणितकर्मांश जीव का लक्षण	१०५
गाथा – ७९	ज्ञानावरण, दर्शनावरण प्रकृतियों और आहारकसप्तक के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१०९
गाथा – ८०	कर्मचतुष्क की अवध्यमान अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१०९
गाथा – ८१	सातावेदनीय के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११०
गाथा – ८२	मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११०
गाथा – ८३	अनन्तानुबंधी कषायों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१११
गाथा – ८४	नपुंसकवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१११
गाथा – ८५	स्त्रीवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११२
गाथा – ८६, ८७	पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व संज्वलन क्रोधादित्रिक के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११३
गाथा – ८८	संज्वलन लोभ एवं यशःकीर्ति के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व तैजससप्तक आदि नामकर्म की वीस शुभ ध्रुववंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११४
गाथा – ८९	स्थिर और शुभ नामकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व, सम्यग्दृष्टि प्रायोग्य शुभ ध्रुववंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११५
गाथा – ९०	नरकद्विक, देवगतिनवक के उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम का स्वामित्व	११६
गाथा – ९१	मनुष्यगतिद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११७
गाथा – ९२	स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, आतप उद्योत के उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम का स्वामित्व	११७

	आहारकसप्तक और तीर्थंकर नाम के उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम का स्वामित्व	
गाथा – ९३	उच्चगोत्र के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	११८
गाथा – ९४, ९५, ९६	क्षपितकर्मांश जीव का लक्षण	११९
गाथा – ९७	अवधिज्ञान-दर्शनावरण से रहित शेष चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरणों के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व निद्राद्विक, अंतरायपंचक, हास्यचतुष्क के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२०
गाथा – ९८	सातावेदनीय के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व संज्वलनलोभ के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२२
गाथा – ९९	सभी वेद स्त्यानर्द्धित्रिक मिथ्यात्व के जघन्य प्रदेश-संक्रम का स्वामित्व	१२२
गाथा – १००	सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२३
गाथा – १०१	अनन्तानुबंधी कषायों के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२४
गाथा – १०२	मध्यम कषायाष्टक, असातावेदनीय, अशुभध्रुवबंधिनी और अस्थिरत्रिक के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२४
गाथा – १०३	पुरुषवेद संज्वलनत्रिक और अरति शोक के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२५
गाथा – १०४, १०५	वैक्रिय एकादशक के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व उच्च गोत्र, मनुष्यद्विक के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२६
गाथा – १०६	आहारकसप्तक के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२७
गाथा – १०७	उद्योत एवं तिर्यंचद्विक के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२७
गाथा – १०८	एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय प्रायोग्य प्रकृति अष्टक और अपर्याप्तक नाम के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१२८
गाथा – १०९	पंचेन्द्रिय जाति आदि छत्तीस शुभ प्रकृतियों के जघन्य	१२९

	प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	
गाथा – ११०	सम्यग्दृष्टि के अयोग्य आदि को छोड़ शेष पांच संस्थान आदि सोलह अशुभ प्रकृतियों के जघन्य प्रदेश-संक्रम का स्वामित्व	१३०
गाथा – १११	औदारिकसप्तक और तीर्थंकर नामकर्म के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामित्व	१३०
	३ – ४ उद्वर्तना अपवर्तनाकरण	
गाथा – १	स्थिति उद्वर्तना की व्याख्या अति क्रमणीय स्थितियों का प्रमाण	१३२
गाथा – २	निर्व्याघातदशा में दलिक निक्षेप प्रमाण व विधि	१३४
गाथा – ३	व्याघातदशा में दलिक निक्षेपविधि जघन्य अतीस्थापना आदि के अल्पबहुत्व का प्रारूप	१३५
गाथा – ४, ५	स्थिति-अपदर्शना की व्याख्या निर्व्याघातदशा में अपवर्तित स्थितियों की निक्षेपविधि	१३७
गाथा – ६	व्याघातदशा में स्थितियों की अपवर्तनाविधि स्थिति-अपवर्तना में निक्षेप आदि का अल्पबहुत्व स्थिति उद्वर्तना-अपवर्तना संबंधी संयुक्त अल्पबहुत्व स्थिति-अपवर्तना में निक्षेप आदि के अल्पबहुत्व का प्रारूप स्थिति-उद्वर्तना-अपवर्तना के मिश्र अल्पबहुत्व का प्रारूप	१४०
गाथा – ७	अनुभाग-उद्वर्तना की व्याख्या अनुभाग-उद्वर्तना में निक्षेपविधि अनुभाग-उद्वर्तना में उत्कृष्टनिक्षेप अनुभाग-उद्वर्तना में निक्षेप आदि का अल्पबहुत्व निर्व्याघातभावी अनुभाग-अपवर्तना की व्याख्या व्याघातभावी अनुभाग-अपवर्तना की व्याख्या अनुभाग-अपवर्तना में निक्षेप आदि का अल्पबहुत्व	१४४

गाथा – ८, ९	अनुभाग-उद्वर्तना-अपवर्तना का मिश्र अल्पबहुत्व	१४७
गाथा – १०	उद्वर्तना-अपवर्तना में काल और विषय नियम	१४८
	५ - उदीरणाकरण	
गाथा – १	उदीरणा का लक्षण उदीरणा के भेद	१५०
गाथा – २	मूल प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा एक सौ दस प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा	१५१
गाथा – ३	मिथ्यात्व की साद्यादि प्ररूपणा ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियों की साद्यादि प्ररूपणा नामकर्म की तैजससप्तक आदि तेतीस प्रकृति की साद्यादि प्ररूपणा	१५२
गाथा – ४	मूल प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१५३
गाथा – ५	ध्रुवोदया प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१५४
गाथा – ६	स्व-स्व उदय स्थानीय प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१५४
गाथा – ७	औदारिकसप्तक प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१५६
गाथा – ८, ९	वैक्रियशरीर बंधन, संघातन प्रकृतियों का उदीरणा-स्वामित्व आहारकसप्तक प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१५६
गाथा – १०, ११, १२	संस्थानषट्क एवं संहननषट्क प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व आनुपूर्वीचतुष्क और पराघात नाम प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१५७
गाथा – १३	आतप उद्योत प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१५९
गाथा – १४	विहायोगतिद्विक स्वरद्विक प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१६०
गाथा – १५	श्वासोच्छ्वास और स्वरद्विक प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१६०
गाथा – १६	सुभग, आदेय और यशःकीर्ति प्रकृतियों का उदीरणा-स्वामित्व	१६१

गाथा – १७	उच्चगोत्र, दुर्भगचतुष्क और तीर्थंकर प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१६२
गाथा – १८	निद्राद्विक प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१६२
गाथा – १९	स्त्यानर्द्धित्रिक प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१६३
गाथा – २०	वेदनीयद्विक, कषायचतुष्क, हास्यषट्क प्रकृतियों का उदीरणास्वामित्व	१६३
गाथा – २१	वेदनीयद्विक और सेतर हास्यादिचतुष्क के उदीरणा-स्वामित्व की विशेषता	१६४
गाथा – २२	दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के उदीरणास्थानों की संख्या मिथ्यात्व गुणस्थान में मोहनीय के उदीरणास्थान	१६४
गाथा – २३	सास्वादन और मिश्र गुणस्थानों में मोहनीय के उदीरणास्थान अविरत गुणस्थान में मोहनीय के उदीरणास्थान देशविरत गुणस्थान में मोहनीय के उदीरणास्थान प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थान में मोहनीय के उदीरणास्थान अपूर्वकरण गुणस्थान में मोहनीय के उदीरणास्थान	१६७
गाथा – २४	अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में मोहनीय के उदीरणास्थान सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में मोहनीय के उदीरणास्थान उदीरणा स्थानों की चौबीसियों का संकलन गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के उदीरणास्थानों और भांगों की संख्या का प्रारूप	१७०
गाथा – २५, २६, २७	नामकर्म के उदीरणास्थानों की संख्या सयोगिकेवली के उदीरणास्थान एकेन्द्रिय के उदीरणास्थान विकलेन्द्रियों के उदीरणास्थान विक्रियालब्धि रहित व सहित तिर्यंच पंचेन्द्रियों के उदीरणास्थान	१७३

	सामान्य मनुष्यों के उदीरणास्थान	
	विक्रिया करने वाले मनुष्यों के उदीरणास्थान	
	आहारकशरीर करने वाले मनुष्यों के उदीरणास्थान	
	देवों के उदीरणास्थान	
	नारक जीवों के उदीरणास्थान	
	गुणस्थानों में उदीरणास्थान	
	उदीरणास्थानों में प्राप्त भंग	
	उदीरणास्थानों और उनमें प्राप्त भंगों का प्रारूप	
गाथा – २८	गतियों में उदीरणास्थान	१९५
	ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु गोत्र और अंतराय कर्मों के उदीरणास्थान	
	स्थिति-उदीरणा के अर्थाधिकार	
गाथा – २९	स्थिति-उदीरणा का लक्षण	१९७
	स्थिति-उदीरणा के भेद	
	उदीरणा योग्य-अयोग्य स्थितियों का स्पष्टीकरण	
गाथा – ३०	मूल प्रकृतियों की स्थिति-उदीरणा की साद्यादि प्ररूपणा	१९८
गाथा – ३१	उत्तर प्रकृतियों की स्थिति-उदीरणा की साद्यादि प्ररूपणा	२००
गाथा – ३२	स्थिति-उदीरणा का अद्धाच्छेद और स्वामित्व	२०१
	मिथ्यात्वादि कतिपय प्रकृतियों की स्थिति-उदीरणा के स्वामित्व का स्पष्टीकरण	
गाथा – ३३	देवगति, देव व मनुष्याभुपूर्वी आतप, विकलत्रिक सूक्ष्मत्रिक की उदीरणा योग्य उत्कृष्ट स्थिति व स्वामित्व	२०३
	मनुष्यानुपूर्वी की उत्कृष्ट स्थिति-उदीरणा विषयक स्पष्टीकरण	
गाथा – ३४, ३५	तीर्थंकर नाम का उत्कृष्ट स्थिति-उदीरणा स्वामित्व	२०६
	आदि की बारह कषाय आदि इक्कीस प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-उदीरणा स्वामित्व	
गाथा – ३६	एकेन्द्रिय प्रायोग्य प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-	२०७

	उदीरणास्वामित्व	
	विकलेन्द्रिय जातियों का जघन्य स्थिति-उदीरणास्वामित्व	
गाथा – ३७	वेदनीयद्विक आदि अठारह प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-उदीरणास्वामित्व	२०९
गाथा – ३८	देवगतिद्विक, नरकगतिद्विक, वैक्रिय अंगोपांग प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-उदीरणास्वामित्व	२१०
गाथा – ३९	मिथ्यात्व, वेदत्रिक, संज्वलनकषायचतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-उदीरणास्वामित्व	२११
गाथा – ४०	वैक्रियषट्क प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-उदीरणास्वामित्व	२११
गाथा – ४१	आहारकद्विक प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-उदीरणास्वामित्व	२१२
गाथा – ४२	ज्ञानावरण पंचक आदि चौदह प्रकृतियों का जघन्य स्थिति-उदीरणास्वामित्व	२१३
	अनुभाग-उदीरणा के अर्थाधिकार	
गाथा – ४३	संज्ञा, शुभाशुभ और विपाक प्ररूपणा	२१४
गाथा – ४४	सम्यक्त्व, मिश्र मोहनीय और अंतरायपंचक की नानात्व प्ररूपणा	२१७
गाथा – ४५	नपुंसकवेद की नानात्व प्ररूपणा एवं स्पष्टीकरण	२१७
	गुरू और कर्कश स्पर्श, आनुपूर्वीचतुष्क एकान्त मनुष्य तिर्यंच प्रायोग्य तीस प्रकृतियों की नानात्प प्ररूपणा	
गाथा – ४६	स्त्रीवेद पुरुषवेद चक्षु अचक्षु दर्शनावरण मति-श्रुत अवधि ज्ञानावरण, अवधि दर्शनावरण की नानात्व प्ररूपणा	२१८
गाथा – ४७	मनः पर्यायज्ञानावरण और शेष प्रकृतियों की नानात्व प्ररूपणा	२१९
गाथा – ४८	वीर्यान्तराय आदि पेंतीस प्रकृतियों के विपाक में विशेषता	२२१
गाथा – ४९	चक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण के विपाक में विशेषता	२२१
गाथा – ५०	वैक्रियसप्तक आदि प्रकृतियों की प्रत्यय प्ररूपणा	२२२

गाथा – ५१	समचतुरस्र संस्थान आदि आठ प्रकृतियों की प्रत्यय प्ररूपणा	२२३
गाथा – ५२	सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, उच्च गोत्र की प्रत्यय प्ररूपणा, नव नोकषायों की प्रत्यय प्ररूपणा	२२३
गाथा – ५३	तीर्थंकर नाम, शेष घाति प्रकृतियों की प्रत्यय प्ररूपणा शेष प्रकृतियों की प्रत्यय प्ररूपणा	२२४
गाथा – ५४, ५५	मूल प्रकृतियों के अनुभाग-उदीरणा की साद्यादि प्ररूपणा	२२५
गाथा – ५६, ५७	उत्तर प्रकृतियों की अनुभाग उदीरणा की साद्यादि प्ररूपणा	२२७
गाथा – ५८	अन्तरायपंचकः चक्षु, अचक्षु दर्शनावरण की उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा का स्वामित्व	२३०
गाथा – ५९	निद्रापंचक, नपुंसकवेदत्रिक, असातावेदनीय की उत्कृष्ट अनुभागउदीरणा का स्वामित्व	२३०
गाथा – ६०	पंचेन्द्रिय जाति आदि की उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा का स्वामित्व	२३१
गाथा – ६१	सम्यक्त्व, मिश्र मोहनीय, हास्य रति की उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा का स्वामित्व	२३१
गाथा – ६२	नरकगति आदि नौ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा का स्वामित्व	२३२
गाथा – ६३	कर्कश, गुरू स्पर्श, अशुभ संहनन पंचक स्त्री पुरुष वेद, मध्य संस्थानचतुष्क, तिर्यंचगति का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३२
गाथा – ६४	मनुष्यगति, औदारिकसप्तक, वज्रऋषभनाराचसंहनन, आयुचतुष्क का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३३
गाथा – ६५	विकलेन्द्रिय जातियों और सूक्ष्म नाम का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३३
गाथा – ६६	समचतुरस्र संस्थान आदि प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३४

गाथा – ६७	उद्योत, आतप, आनुपूर्वीचतुष्क का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३४
गाथा – ६८	तैजस सप्तक आदि पच्चीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व पूर्वोक्त से शेष रही अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व अवधिद्विकावरण का उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३५
गाथा – ६९	मति श्रुत मनःपर्याय ज्ञानावरण अवधिद्विकावरण का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३६
गाथा – ७०	अन्तरायपंचक, केवलद्विक नवनोकषाय, संज्वलन-चतुष्क, निद्राद्विक का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३७
गाथा – ७१	स्त्यानर्द्धित्रिक, सम्यक्त्वमोहनीय का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३७
गाथा – ७२	मिथ्यात्व आदि मोहनीय की तेरह प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३८
गाथा – ७३	पुद्गलविपाकी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२३९
गाथा – ७४	अंगोपांगत्रिक का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२४०
गाथा – ७५	समचतुरस्र संस्थान, वज्र ऋषभ नाराय संहनन, उपघात का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२४०
गाथा – ७६	सेवार्त संहनन शुभवर्णादि एकादश आदि बीस प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२४१
गाथा – ७७	प्रत्येक साधारण, आतप, उद्योत का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२४२
गाथा – ७८	तीर्थंकर नाम, नील आदि नौ अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व	२४३
गाथा – ७९	पूर्वोक्त से शेष प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग-उदीरणा स्वामित्व, व प्रदेश-उदीरणा के अर्थाधिकार	२४४

गाथा – ८०	मूल प्रकृतियों की प्रदेश-उदीरणा की साद्यादि प्ररूपणा	२४५
गाथा – ८१	उत्तर प्रकृतियों की प्रदेश-उदीरणा की साद्यादि प्ररूपणा	२४६
गाथा – ८२	द्याति प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व	२४८
गाथा – ८३	वेदनीयद्विक, अंतिम पांचसंहनन, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, उद्योत का उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व	२४९
गाथा – ८४	आयुचतुष्क का उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व	२५०
गाथा – ८५	एकान्त तिर्यंचप्रायोग्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व	२५०
गाथा – ८६	आनुपूर्वी चतुष्क, नरक-देवगति का उत्कृष्ट प्रदेशउदीरणा स्वामित्व	२५१
गाथा – ८७	योगान्तक प्रकृतियों स्वर व श्वासोच्छवास का उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व	२५२
गाथा – ८८ - ८९	समस्त उत्तर प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व	२५३

६ उपशमनाकरण

	उपशमनाकरण विचार के अर्थाधिकारों के नाम	२५५
गाथा – १	अनुयोगधर आकार्यों को नमस्कार उपशमना के भेद-प्रभेद	२५५
गाथा – २	करणोपशमना के दो प्रकार	२५६
गाथा – ३, ४, ५, ६, ७, ८	उपशमना योग्य कर्म और उसका अधिकारी उपशमना के लिये की जाने वाली प्रवृत्ति	२५७
गाथा – ९	करणों में अध्यवसायों का परिमाण	२६०
गाथा – १०, ११	करणपरिणामों की स्थापना	२६१
गाथा – १२	अपूर्वकरण में होने वाले कार्य	२६३
गाथा – १३, १४	स्थितिघात का स्पष्टीकरण रसघात का स्पष्टीकरण स्थितिवंधाद्धा का आशय	२६४

गाथा – १५	गुणश्रेणी का स्वरूप	२६५
गाथा – १६, १७	अनिवृत्तिकरण का स्वरूप	२६६
गाथा – १८	प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्ति के लाभ	२६८
गाथा – १९	प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्ति पर होने वाला कार्य	२६९
गाथा – २०	प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्ति पर किये जाने वाले दलिकसंक्रम का क्रम व विधि	२६९
गाथा – २१	कर्मों का होने वाला स्थितिघात आदि कार्य	२७०
गाथा – २२	दलिकोदय होने के बाद की स्थिति का वर्णन	२७०
गाथा – २३	प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने का फल	२७१
गाथा – २४	सम्यग्दृष्टि का स्वरूप	२७२
गाथा – २५	मिथ्यादृष्टि का स्वरूप	२७३
गाथा – २६	मिश्रदृष्टि का स्वरूप	२७३
गाथा – २७	चारित्रमोहोपशमक का स्वरूप	२७४
गाथा – २८,२९	अविरत, देशविरत, सर्वविरत के लक्षण	२७४
	देशविरति, सर्वविरति काल का लाभ कैसे प्राप्त होता है ?	
गाथा – ३०	पतनोन्मुखी जीव की स्थिति का वर्णन	२७७
गाथा – ३१	अनंतानुबंधी की विसंयोजना का विचार करने का कारण, विसंयोजक जीवों की विशेषता	२७८
गाथा – ३२	दर्शनमोहनीय की क्षपणा का स्वामी	२७९
	दर्शनमोहनीय की क्षपणा की विधि	
	दर्शनमोहनीय की क्षपणा का निष्ठापक कौन हो सकता है ?	
	दर्शनमोहक्षपक को कितने भवों में मोक्ष संभव है ?	
गाथा – ३३	उपशमश्रेणी के स्वामी का प्रकारान्तर से कथन	२८२
गाथा – ३४	दर्शनमोहत्रिक का उपशमक क्या करता है ?	२८३
गाथा – ३५	दर्शनमोह-उपशमक की अनिवृत्तिकरण में होने वाली विशेषतायें	२८४
गाथा – ३६	चारित्रमोह का उपशम करने वाले जीव के स्थितिकंडक का परिमाण	२८४

गाथा – ३७, ३८, ३९	आयु को छोड़ कर शेष सात कर्मों का होने वाले कार्य-विशेष का निरूपण स्थितिसत्व की अपेक्षा अल्पबहुत्व	२८५
गाथा – ४०, ४१	उदीरणा का प्रारंभ कब होता है ?	२८९
गाथा – ४२	संयम घाती कषायों की तब कितनी स्थिति होती है ? वेदत्रिक और संज्वलनचतुष्क की स्थिति का अल्पबहुत्व	२९०
गाथा – ४३, ४४, ४५, ४६	अंतरकरण के बाद दूसरे समय में प्रारंभ होने वाले कार्य और उनका स्पष्टीकरण	२९२
गाथा – ४७	पुरुषवेद के स्थितिबंध की विशेषता संज्वलनकषायों के स्थितिबंध की विशेषता	२९५
गाथा – ४८	अवेदक होने के बाद क्रोधत्रिकों आदि के उपशमन का क्रम	२९६
गाथा – ४९	संज्वलनलोभ की प्रथमस्थिति का प्रमाण किट्टियों का निरूपण	२९८
गाथा – ५०	किट्टियों के उत्तरोत्तर करने का क्रम किट्टियों के प्रदेशप्रमाण का निरूपण	३००
गाथा – ५१	किट्टियों के उत्तरोत्तर अनुभाग का प्रमाण	३०१
गाथा – ५२, ५३	संज्वलनलोभ, शेषघाती और अघाती कर्मों के उत्तरोत्तर हीन स्थितिबंध का प्रमाण	३०२
गाथा – ५४	किट्टियों की उदीरणा का काल	३०३
गाथा – ५५	द्वितीय स्थितिगत दलिकों को उपशमित करने का समय व क्रम	३०४
गाथा – ५६	उपशांतमोहगुणस्थान में होने वाले कार्य	३०५
गाथा – ५७	उपशांतमोहगुणस्थान में मोहनीयकर्म का रूप मान आदि कषायों की अपेक्षा श्रेणीआरोहण का वर्णन उपशमश्रेणी से पतन होने के क्रम का वर्णन	३०५
गाथा – ५८, ५९, ६०, ६१	गिरते समय होने वाली स्थिति का वर्णन	३०६

गाथा – ६२	अप्रमत्त संयत गुणस्थान में गिरने के बाद की स्थिति का वर्णन	३०९
गाथा – ६३	उपशय सम्यक्त्वकाल में मरण होने पर भवसंबंधी वर्णन	३१०
गाथा – ६४	उपशमश्रेणी में पतन के समय यथा गुणस्थान होने वाले करणों का वर्णन	३१०
गाथा – ६५	स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से उपशमश्रेणी के आरोहण का वर्णन उपशमश्रेणी में उपशांत मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का प्रारूप	३११
गाथा – ६६	देशोपशमना का लक्षण देशोपशमना के भेद	३१३
गाथा – ६७	देशोपशमना के स्वामी	३१४
गाथा – ६८	दर्शनमोह और अनंतानुबंधी की देशोपशमना का विधान चारित्रमोह प्रकृतियों की देशोपशमना का विधान देशोपशमना में मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा उद्वलनयोग्य और तीर्थंकर व आयुचतुष्क की सादि-अनादि प्ररूपणा	३१५
गाथा – ६९	देशोपशमना में मोहनीय कर्म के प्रकृतिस्थान और उनके स्वामी नामकर्म के प्रकृतिस्थान शेष ज्ञानावरणादि छह कर्मों के प्रकृतिस्थान	३१६
गाथा – ७०	स्थिति-देशोपशमना और उनके स्वामी	३१८
गाथा – ७१	अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना एवं उनके स्वामी	३१९

७ - ८ निधत्ति निकाचनाकरण

गाथा – १	निधत्ति - निकाचानाकरण का लक्षण	३२०
गाथा – २	देशोपशमना, निधत्ति, निकाचना और यथाप्रवृत्तसंक्रम का अल्पबहुत्व	३२०
गाथा – ३	वंधादिकरणों में अध्यवसाय और उनका अल्पबहुत्व	३२१

९ - उदयप्रकरण

गाथा – १, २, ३	प्रकृति-उदय	३२२
	कतिपय प्रकृतियों के उदय और उदीरणा में अंतर का कारण	
गाथा – ४	स्थिति-उदय	३२४
	स्थिति-उदय के भेद	
	कतिपय प्रकृतियों के जघन्य स्थिति-उदय में विशेषता और कारण	
गाथा – ५	अनुभाग-उदय	३२५
गाथा – ६	प्रदेशोदय	३२६
	मूल प्रकृतियों के प्रदेशोदय के अर्थाधिकार की साद्यादि प्ररूपणा	
गाथा – ७	उत्तर प्रकृतियों के प्रदेशोदय की साद्यादि प्ररूपणा	३२७
गाथा – ८, ९	गुणश्रेणियों का निरूपण	३२९
	गुणश्रेणियों के प्रदेशोदय और कालापेक्षा स्थापना का प्रारूप	
	उत्तरोत्तर गुणश्रेणियों में दलिकों के असंख्यातगुणितत्व का स्पष्टीकरण	
गाथा – १०	गत्यापेक्षा गुणश्रेणियों की प्राप्ति का विवेचन	३३२
गाथा – ११	आवरणद्विक और अन्तराय की चौदह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय-स्वामित्व	३३३
	जिनोदयिक प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व	

गाथा – १२	निद्राद्विक औदारिकनवक प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय-स्वामित्व	३३४
गाथा – १३	मिथ्यात्व, मिश्रमोहनीय, अनन्तानुबंधीचतुष्क, अपर्याप्त, स्त्यानर्द्धित्रिक और एकान्त तिर्यंत्र उदय प्रायोग्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व	३३५
गाथा – १४	कषायाष्टक और हास्यादिषट्क प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व	३३६
गाथा – १५	देव और नरकायु प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व	३३६
गाथा – १६	तिर्यंत्र और मनुष्यायु प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व	३३७
गाथा – १७	नीचगोत्र, दुर्भग, अनादेय अयशःकीर्ति, गतिद्विक, आनुपूर्वीत्रिक प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व	३३७
गाथा – १८	अशुभ संहनन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व आहारक शरीर और उद्योत प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व	३३८
गाथा – १९	आतप प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशोदयस्वामित्व	३३८
गाथा – २०, २१	मति, श्रुत मनःपर्याय ज्ञानावरण, केवलद्विक चक्षु-अचक्षु-दर्शनावरण प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३३९
गाथा – २२	अवधित्रिक आवरण प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४०
गाथा – २३	वेदनीयद्विक, अन्तरायपंत्रक, शोक, अरति उच्चगोत्र प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व निद्राद्विक प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४१
गाथा – २४	नपुंसकवेद, तिर्यंचगति, स्थावर और नीचगोत्र प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४१
गाथा – २५	मिथ्यात्वत्रिक प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४२

	अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चारित्रमोह की सत्रह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	
गाथा – २६	अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४३
गाथा – २७	स्त्रीवेद प्रकृति का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४४
गाथा – २८	आयुकर्म प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४४
गाथा – २९, ३०	नरकगति और आनुपूर्वीचतुष्क प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४५
गाथा – ३१	देवगति और आहारकसप्तक प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४६
गाथा – ३२	पूर्वोक्त से शेष रही प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदयस्वामित्व	३४७

१० – सत्ताप्रकरण

गाथा – १	सत्ता के भेद और मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	३४९
गाथा – २	दृष्टिद्विक, आयुचतुष्क, गतिषट्क, तनुचतुर्दशक, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र की सादि-अनादि प्ररूपणा	३५०
गाथा – ३	छद्मस्थ संबंधी ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक, आयुचतुष्क, सत्कर्मस्वामित्व	३५१
गाथा – ४	मिथ्यात्वप्रकृति सत्कर्मस्वामित्व	३५१
गाथा – ५	मिश्रमोहनीय और अनन्तानुबंधी का सत्कर्मस्वामित्व	३५२
गाथा – ६	अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, एकान्त नरकतिर्यंच प्रायोग्य और निद्राद्विक का सत्कर्मस्वामित्व	३५३
गाथा – ७	स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्यषट्क, पुरुषवेद, संज्वलनलोभ का सत्कर्मस्वामित्व	३५४

गाथा – ८, ९	अयोगी भव के चरम समय तक रहने वाली प्रकृतियों का सत्कर्मस्वामित्व	३५५
गाथा – १०	प्रकृतिस्थान सत्कर्मनिरूपण	३५६
गाथा – ११	मोहनीयकर्म के प्रकृतिसत्वस्थान	३५८
गाथा – १२	मिथ्यात्व से उपशान्तमोहगुणस्थान तक पाये जाने वाली मोहनीयसत्वस्थानों की संख्या	३५९
गाथा – १३	पूर्वोक्त मोहनीय के सत्वस्थानों संबंधी मतान्तर	३६०
गाथा – १४	नामकर्म के प्रकृतिसत्वस्थानों का परिचय	३६१
गाथा – १५	नामकर्म के प्रकृतिसत्वस्थानों का गुणस्थानों में विचार	३६२
गाथा – १६	नामकर्म के स्थितिसत्कर्म के भेदों की मूल प्रकृति संबंधी सादि-अनादि प्ररूपणा	३६४
गाथा – १७	समकबंधोदया प्रकृतियों का स्थितिसत्व का विचार, छियासी समकबंधोदया प्रकृतियों के नाम, अनुदयबंधपरक प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म, अनुदयबंधपरक बीस प्रकृतियों के नाम	३६५
गाथा – १८	संक्रम से दीर्घस्थिति वाली प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्व, अनुदयसक्रंमोत्कृष्ट प्रकृतियों का स्थितिसत्व	३६७
गाथा – १९	जघन्य स्थितिसत्व का स्वामित्व, सामान्य से सभी कर्मों का जघन्य स्थितिसत्कर्म	३६९
गाथा – २०	स्थिति भेद निरूपण	३७१
गाथा – २१, २२	अनुभागसत्कर्म निरूपण, उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म के स्वामी	३७२
गाथा – २३	जघन्य अनुभागसत्व संबंधी स्वामित्व की विशेषता का निरूपण	३७३
गाथा – २४	अनुभाग सत्वस्थान के भेदों का निरूपण	३७४
गाथा – २५	प्रदेशसत्कर्म के भेद और मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	३७६
गाथा – २६	उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा	३७७

गाथा – २७	उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्वामित्व का विचार	३७९
गाथा – २८	मिथ्यात्व और मिश्र तथा नपुंसकवेद के उत्कृष्ट प्रदेश-सत्व का स्वामित्व	३७९
गाथा – २९	स्त्रीवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी	३८०
गाथा – ३०	पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी	३८१
गाथा – ३१	संज्वलनकषायचतुष्क, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यश:कीर्ति के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी	३८१
गाथा – ३२	देवायु, नरकायु के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी	३८२
गाथा – ३३	शेष आयु भेदों के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी	३८३
गाथा – ३४	नरकद्विक और वैक्रियनवक के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व के स्वामी	३८४
गाथा – ३५	वज्रऋषभनाराचसंहनन सहित मनुष्यद्विक को बांधने वाले का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्वामित्व	३८४
गाथा – ३६	सम्यग्दृष्टि योग्य ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी	३८५
गाथा – ३७	तैजससप्तक शुभवर्णएकादशक अगुरुलघु निर्माण रूपशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्वामित्व	३८५
गाथा – ३८	एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप उद्योत सूक्ष्मत्रिक के उत्कृष्ट प्रदेश के सत्व का स्वामी	३८६
गाथा – ३९	जघन्य प्रदेश सत्कर्मस्वामित्व	३८७
गाथा – ४०	उद्वलन प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशसत्व स्वामी का निरूपण	३८८
गाथा – ४१	संज्वलनलोभ और यश:कीर्ति के जघन्य प्रदेशसत्व का स्वामी	३८८
गाथा – ४२	वैक्रियदशक के जघन्य प्रदेशसत्व का स्वामी	३८९
गाथा – ४३	मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र तीर्थंकर, आहारकसप्तक के जघन्य प्रदेशसत्व का स्वामी	३९०

गाथा – ४४	प्रदेश सत्कर्मस्थान प्ररूपणा के प्रारम्भ में स्पर्धक का विचार	३९१
गाथा – ४५	संज्वलनत्रिक के स्पर्धकों का विचार	३९३
गाथा – ४६	वेदों के स्पर्धकों की संख्या	३९६
गाथा – ४७	उद्वलन योग्य प्रकृतियों, संज्वलन लोभ, यशःकीर्ति और छह नोकषायों के स्पर्धक	३९८
गाथा – ४८	मोहनीयकर्म के सिवाय शेष घातिकर्मों के स्पर्धकों की संख्या	४००
गाथा – ४९	शैलेशी अवस्थापन्न प्रकृतियों के तथा शेष अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक	४०१
गाथा – ५०	स्पर्धक कथन का उपसंहार	४०३
गाथा – ५१	स्थिति अनुभाग प्रदेश, उदय और सत्व स्थानों में भूयस्कर आदि विकल्पों का निर्देश	४०३
गाथा – ५२	भूयस्कर, अल्पतर अवस्थित अवक्तव्य विकल्पों के स्थान	४०४
गाथा – ५३	ग्रन्थगत ओघस्वामित्व का मार्गणाओं में विस्तार से कथन करने का संकेत	४०५
गाधा – ५४	बंधादि के संवेध का विचार करने की सूचना	४०६
गाथा – ५५, ५६	ग्रन्थ का उपसंहार	४०६
गाथा – ५७	ग्रन्थकार द्वारा अंतमंगल आचार्य मलयगिरि द्वारा व्याख्या का उपसंहार	४०९

श्रीमद् शिवशर्मसूरि विरचित

कर्मप्रकृति

(उत्तरार्ध)

२.	संक्रमकरण
३-४.	उद्वर्तना-अपवर्तनाकरण
५.	उदीरणाकरण
६.	उपशमनाकरण
७-८.	निधत्ति-निकाचितकरण
९.	उदयप्रकरण
१०.	सत्ताप्रकरण

णमो सिद्धाणं

श्रीमद् शिवशर्मसूरि विरचित

कम्मपयडी (कर्मप्रकृति)

(उत्तरार्ध)

२ : संक्रमकरण

पूर्वोक्त प्रकार से बंधनकरण का विवेचन किया जा चुका है। अब क्रम के अनुसार संक्रमकरण के कथन का अवसर प्राप्त है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप विषय के भेद से संक्रम के चार प्रकार हैं। जिनका विचार यथास्थान किया जायेगा। लेकिन उसके पूर्व संक्रम का सामान्य लक्षण कहते हैं –

सो संकमो त्ति वुच्चई, जं बंधणपरिणओ पओगेणं।
पगयंतरत्थदलियं, परिणमइय तयणुभावे जं॥१॥

शब्दार्थ – **सो** – वह, **सकंमो त्ति** – संक्रम, **वुच्चई** – कहलाता है, **जं** – जिस, **बंधणपरिणओ** – बंधक रूप से परिणमित, **पओगेणं** – प्रयोग से (संक्लिष्ट अथवा विशुद्ध वीर्य–विशेष द्वारा), **पगयंतरत्थदलियं** – अन्य प्रकृतिगत कर्मदलिक को, **परिणमइय** – परिणामित करे, **तयणुभावे** – उस रूप, **जं** – जिस।

गाथार्थ – प्रयोग अर्थात् संक्लिष्ट अथवा विशुद्ध वीर्य विशेष के द्वारा जिस प्रकृति के बंधक रूप से परिणमित हुआ जीव अन्य प्रकृतिगत कर्मदलिक को तदनुरूप (उस रूप में) परिणमित करता है, वह संक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ – जीव जिस बंधन से परिणत है अर्थात् जिस प्रकृति के बंध करने के रूप से परिणत हो रहा है। जं बंधणपरिणओ – यानि इस पद के द्वारा यह सूचित किया गया है कि यदि जीव तथारूप बंधन परिणाम से परिणत होता है तब कर्मवर्गणा रूप पुद्गल भी कर्मरूप से परिणत होते हैं अन्यथा नहीं। कहा भी है –

जीवपरिणामहेऊ कम्मत्ता पुग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मनिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ॥

अर्थ – जीव के परिणाम अर्थात् अध्यवसाय रूप हेतु से यानी जीव परिणाम रूप कारण का आश्रय पाकर कर्मवर्गणा के अन्तर्गत एवं जीव के आत्मप्रदेशों से अवगाढ हुये पुद्गल कर्मरूप से

अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मस्वभाव से परिणत हो जाते हैं।

प्रश्न – जीव का भी तथारूप परिणाम किस कारण से होता है ?

उत्तर – इसका कारण यह है कि पहले बंधा हुआ पुद्गल रूप कर्म विपाकोदय को प्राप्त होता है तो उसके निमित्त से जीव भी उसी प्रकार से अर्थात् अपने आत्मप्रदेशों में अवगाढ कर्मवर्गणाओं में समाविष्ट कर्म पुद्गल रूप हेतु से ही उस रूप से परिणत होता है। क्यों और कैसे परिणत होता है? तो इसको बतलाते हुये गाथा में कहा है - पओगेणं इति अर्थात् प्रयोग से - संक्लेश संज्ञावाले - अथवा विशुद्धि संज्ञावाले वीर्यविशेष रूप प्रयोग से। इस प्रयोग के द्वारा क्या करता है ? तो कहते हैं कि विवक्षित प्रकृति से भिन्न प्रकृति प्रकृत्यन्तर को अर्थात् विवक्षित बध्यमान प्रकृति के सिवाय जो अन्य प्रकृति है, उस प्रकृति में स्थित दलिक अर्थात् कर्म पुद्गल परमाणुओं को तदनुभाव से - बध्यमान प्रकृति के स्वभाव रूप से परिणामित करता है, वह संक्रम कहलाता है। इसका आशय यह हुआ कि बध्यमान प्रकृतियों में अवध्यमान प्रकृतियों के दलिकों का प्रक्षेपण करके बध्यमान प्रकृति के रूप से उसका जो परिणमन होता है अथवा जो बध्यमान प्रकृतियों के दलिक रूप का परस्पर रूप से परिणमन होता है वह सब संक्रमण कहलाता है[१] – **बध्यमानासु प्रकृतिषु मध्येऽबध्यमान प्रकृतिदलिकं प्रक्षिप्य बध्यमानप्रकृतिरूपतया यत्तस्य परिणमनं, यच्च वा बध्यमानानां प्रकृतीनां दलिकरूपस्येतरेतररूपतया परिणमनं तत्सर्व संक्रमणमित्युच्यते।**

बध्यमान प्रकृतियों में अबध्यमान प्रकृतियों का संक्रम इस प्रकार होता है कि सातावेदनीय बध्यमान हो तो उसमें असातावेदनीय के दलिकों का संक्रमण होना और बध्यमान उच्च गोत्र में नीच गोत्र का संक्रम होना इत्यादि तथा बध्यमान प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण इस प्रकार होता है कि मतिज्ञानावरण के बध्यमान समय में बध्यमान ही श्रुतज्ञानावरण कर्म संक्रमित होता है अथवा बध्यमान श्रुतज्ञानावरण कर्म में बध्यमान मतिज्ञानावरण कर्म संक्रमित होता है इत्यादि।

यहाँ पर आत्मा (जीव) जिस प्रकृति के बंधक रूप से परिणत होता है उसी के अनुभाव से अन्य प्रकृति में स्थित दलिक का जो परिणमन होता है उसे संक्रम कहा गया है। लेकिन संक्रम का पूर्वोक्त लक्षण दर्शनमोहत्रिक को छोड़कर अन्य प्रकृतियों में घटित होता है क्योंकि दर्शनमोहत्रिक में बंध के बिना भी संक्रम होता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये आचार्य कहते हैं –

दुसु वेगे दिट्ठिदुगं, बंधेण विणावि सुद्धदिट्ठिस्स।
परिणामइ जीसे तं, पगईए पडिग्गहो एसा॥ २॥

---

१. उक्त कथन का सारांश यह है कि 'संक्रमणत्थगदी - पर प्रकृति रूप परिणमनं संक्रमणम्' - अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाने को संक्रमण कहते हैं।

शब्दार्थ – **दुसु** – दो में, **वेगे** – अथवा एक में, **दिट्ठिदुगं** – दर्शन मोहद्विक को, **बंधेण विणावि** – बंध के बिना भी, **सुद्धदिट्ठिस्स** – शुद्ध (सम्यग्)दृष्टि जीव, **परिणामइ** –परिणमित (संक्रमित) करता है, **जीसे** – जिस, **तं** – उसको, **पगईए** – प्रकृति में, **पडिग्गहो** – पतद्ग्रह (कहलाती है) **एसा** – वह प्रकृति।

गाथार्थ – शुद्ध (सम्यग्) दृष्टि जीव बंध के बिना भी दृष्टिद्विक को दो अथवा एक प्रकृति में संक्रमित करता है। उसे जिस प्रकृति में परिणमित (संक्रमित) किया जाता है वह पतद्ग्रह प्रकृति कहलाती है।

विशेषार्थ – शुद्ध दृष्टि – सम्यग्दृष्टि जीव के आधारभूत सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में मिथ्यात्व का और एक सम्यक्त्व प्रकृति में सम्यग्मिथ्यात्व का बंध के बिना भी संक्रम होता है। जिसका आशय यह है कि बंध मिथ्यात्व का ही होता है, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का बंध नहीं होता है। क्योंकि मदोत्पादक कोद्रव (कोदों – धान्य विशेष) के समान जो मिथ्यात्व पुद्गल हैं वे औषधि विशेष तुल्य औपशमिक सम्यक्त्व से अनुगत विशुद्धिस्थानों के द्वारा तीन रूप कर दिये जाते हैं, यथा – १ शुद्ध, २ अर्धविशुद्ध और ३ अशुद्ध। इनमें से शुद्ध पुद्गल सम्यक्त्व प्रकृति, अर्धविशुद्ध पुद्गल सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति और अशुद्ध पुद्गल मिथ्यात्व प्रकृति रूप कहलाते हैं। इनमें से विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव बंध के बिना भी मिथ्यात्व को सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में और सम्यग्मिथ्यात्व को सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रमित करता है। इस प्रकार संक्रम का सामान्य लक्षण जानना चाहिये।

अब जिन प्रकृतियों में अन्य प्रकृतिदलिक को संक्रमित करता है, उनकी संज्ञा को बतलाते हैं – परिणामेत्यादि अर्थात् आधारभूत जिस प्रकृति में अन्य प्रकृति स्थितदलिक परिणमित होते हैं आधारभूत प्रकृति रूप संपादित करती है वह आधारभूत प्रकृति पतद्ग्रह कहलाती है – **यस्यां प्रकृतौ आधारभूतायां तत्प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति आधारभूतप्रकृतिरूपतामापादयति एषा प्रकृतिराधारभूता पतद्ग्रह इत्युच्यते।** पतद्ग्रह के समान पतद्ग्रह अर्थात् संक्रम्यमाण प्रकृति के आधार को पतद्ग्रह कहते हैं - **पतद्ग्रह इव पतद्ग्रह संक्रम्यमाणप्रकृत्याधार इत्यर्थः।**

संक्रम का अपवाद –

संक्रम का पूर्वोक्त लक्षण अतिप्रसक्त[१] अर्थात् सर्वत्र अव्याप्त है, इसलिये संक्रम के अपवाद को कहते हैं –

१.निर्धारित लक्षण सर्वत्र वस्तु में घटित न हो, उस लक्षण को अतिप्रसक्त अव्याप्त कहते हैं।

मोहदुगाउगमूल-पगडीण न परोप्परंमि संकमणं।
संकमबंधुदउव्वट्टणा लिगाईणकरणाइं ॥ ३॥

शब्दार्थ – **मोहदुग** – मोहद्विक (दर्शनमोह, चारित्रमोह), **आउग** – आयु का, **मूलपगडीण**– मूल प्रकृतियों का, **न** – नहीं, **परोप्परंमि** – परस्पर में, **संकमणं** – संक्रमण, **संकमबंधुदउव्वट्टणालिगाईण** – संक्रम बंध, उदय, उदवर्तन आवलीगत परमाणु, **अकरणाई** – करण के अयोग्य।

गाथार्थ – मोहनीयद्विक आयुकर्म तथा मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता तथा संक्रमावली, बंधावली, उदयावली एवं उद्वर्तनावली आदि गत कर्मपरमाणु किसी करण के योग्य नहीं हैं।

विशेषार्थ – मोहद्विक अर्थात् दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दोनों का परस्पर में संक्रमण नहीं होता है। इसका आशय यह हुआ कि दर्शनमोहनीय कर्म चारित्रमोहनीय में और चारित्रमोहनीय कर्म दर्शनमोहनीय में संक्रमित नहीं होता है। इसी प्रकार आयुकर्म के चारों भेद भी परस्पर में संक्रमित नहीं होते हैं तथा मूलकर्म (ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्म) भी परस्पर में संक्रमित नहीं होते हैं, जैसे कि दर्शनावरण कर्म ज्ञानावरण कर्म में और ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म में संक्रमित नहीं होता है। इसी प्रकार सभी मूल प्रकृतियों के लिये जानना चाहिये तथा जो जीव जिस दर्शनमोहनीय प्रकृति में अवस्थित है, वह उसे अन्यत्र संक्रमित नहीं करता है। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व का और सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व का संक्रमण नहीं करता है। इसी प्रकार सास्वादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव भी किसी भी दर्शनमोहनीय का कहीं पर भी संक्रमण नहीं करता है। क्योंकि वह अशुद्ध दृष्टि वाला है। बंध का अभाव होने पर दर्शनमोहनीय का संक्रम विशुद्ध दृष्टि वाले जीव के ही होता है, अशुद्ध दृष्टि वाले के नहीं होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि पर प्रकृति में संक्रमित किया गया दलिक आवलिका प्रमाणकाल तक उद्वर्तना आदि सकल करणों के अयोग्य जानना चाहिये तथा न केवल संक्रान्त ही अपितु बंधादि आवलिका गत पुद्गल भी सकल करणों के अयोग्य होते हैं। जैसा कि कहा है – संकमेत्यादि अर्थात् संक्रमावलिकागत, बंधावलिकागत, उदयावलिकागत, उद्वर्तनावलिकागत और आदि शब्द से दर्शनमोहनीयत्रिक रहित उपशांतमोहनीय ये सभी करणों के अयोग्य जानना चाहिये।[१] लेकिन दर्शनत्रिक

१. सारांश यह है कि कार्मण वर्गणा के परमाणु कर्मरूप से बंध होने पर बंध समय से एक आवलिका पर्यन्त ऐसी अवस्था वाले होते हैं कि उनका संक्रम, उदय, उदीरणा, अपवर्तना, उद्वर्तना आदि कुछ भी नहीं होता है। यही बात संक्रमावलि के लिये भी समझना चाहिये।

तो उपशांत हुआ भी संक्रमित किया जाता है।

इस प्रकार संक्रम का लक्षण और अपवाद जानना चाहिये।

संक्रम में नियम विशेष

अब अविशेषरूप से क्रम या व्युत्क्रम से प्राप्त संक्रम में नियम विशेष को बतलाते हैं –

अंतरकरणम्मि कए, चरित्तमोहे णुपुव्विसंकमणं।
अन्नत्थसेसिगाणं च सव्वहिं सव्वहा बंधे॥४॥

शब्दार्थ – **अंतरकरणम्मि कए** – अंतरकरण करने पर, **चरित्तमोहे** – चारित्रमोहनीय में, **अणुपुव्वि** – आनुपूर्वी, **संकमणं** – संक्रमण, **अन्नत्थ** – अन्यत्र (अंतरकरण के सिवाय), **सेसिगाणं** – शेष प्रकृतियों में, **च** – और, **सव्वहिं** – सर्वअवस्थाओं में, **सव्वहा** – सर्व प्रकार से, **बंधे** – बंधकाल में।

गाथार्थ – अंतरकरण करने पर चारित्रमोहनीय में आनुपूर्वी संक्रमण होता है और अंतरकरण के सिवाय शेषकाल में सर्व प्रकृतियों का सर्व अवस्था में सर्व प्रकार से (क्रम और उत्क्रम रूप से) बंधकाल में संक्रम होता है।

विशेषार्थ – अंतरकरण की विधि आगे उपशमनाकरण के प्रसंग में प्रतिपादित की जायेगी। वहां उपशमश्रेणी में चारित्रमोहनीय कर्म का उपशमन करने के लिये इक्कीस प्रकृतियों का और क्षपकश्रेणी में आठ मध्यम कषायों का क्षपण करने के अनन्तर तेरह प्रकृतियों का अंतरकरण करने पर चारित्रमोह में अर्थात् शेष रही पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्क कषायों में आनुपूर्वी[1] परिपाटी क्रम से संक्रमण होता है, किन्तु अनानुपूर्वी क्रम से नहीं होता है। शेष प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से यहीं पर चारित्र मोहनीय का ग्रहण करने से ये पाँच ही प्रकृतियां ग्रहण की गई हैं शेष नहीं। जिसका स्पष्टीकरण यह है कि पुरुषवेद को संज्वलन क्रोधादि में ही संक्रमित करता है, अन्य प्रकृतियों में नहीं। संज्वलन क्रोध को भी संज्वलन मान आदि में ही संक्रमित करता है, किन्तु पुरुषवेद में नहीं। संज्वलन मान को भी संज्वलन माया आदि में ही संक्रमित करता है किन्तु संज्वलन क्रोधादि में नहीं। संज्वलन माया को भी संज्वलन लोभ में ही संक्रमित करता है संज्वलन मानत्रिक में नहीं।[2]

---

१. निर्धारित क्रमानुसार गणना करने को आनुपूर्वी कहते हैं।

२. संज्वलन लोभ का संक्रमण नहीं होता है – 'संज्वलन लोभस्त्वसंक्रान्त एव तिष्ठति।'

— कर्मप्रकृति यक्षोविजय टीका।

पूर्वोक्त पुरुषवेद आदि पाँच प्रकृति के संक्रमण का कथन अंतरकरण की अवस्था की दृष्टि से है, लेकिन 'अन्नत्थ इति' अर्थात् अंतरकरण के सिवाय अन्यत्र पुरुषवेद आदि पाँचों प्रकृतियों का भी और शेष प्रकृतियों का[1] 'सव्वहिंति' अर्थात् सभी अवस्था विशेष में - अन्तरकरण की अवस्था के सिवाय शेष सभी अवस्थाओं में सर्व प्रकारों से यानि क्रम और अक्रम से संक्रमण जानना चाहिये।[2]

प्रश्न – क्या उक्त दोनों प्रकार का संक्रम सदैव - सव्वहा समझना चाहिये ?

उत्तर – नहीं। किन्तु बंधे – बंधकाल में ही विवक्षित प्रकृति का संक्रम होता है, अन्य काल में नहीं[3] जैसा कि पूर्व में कहा गया है।

इस प्रकार संक्रम का सामान्य लक्षण विधान और अपवाद नियम जानना चाहिये। अब पूर्व में जो पतद्ग्रह विषयक अपवाद कहा गया था कि जिस प्रकृति का बंध होता है, वह प्रकृति अन्य प्रकृति के दलिकों के संक्रमण के प्रति पतद्ग्रह है, इस विषय में जो अपवाद हैं उन्हें कहते हैं –

तिसु आवलियासु समऊणियासु अपडिग्गहा उ संजलणा।
दुसु आवलियासु पढमठिईए सेसासु वि य वेदो॥ ५॥

शब्दार्थ – **तिसु** – तीन, **आवलियासु** – आवलिका, **समऊणियासु** – समय न्यून, **अपडिग्गहा** – अपतद्ग्रह (पतद्ग्रह नहीं), **संजलणा** – संज्वलन चतुष्क, **दुसु** – दो, **आवलियासु**– आवलिका, **पढमठिईए** – प्रथम स्थिति में, **सेसासु** – शेष रहने पर, **वि** – भी, **य** – और, **वेदो**– वेद में।

गाथार्थ – अन्तरकरण करने के बाद एक समय कम तीन आवलिका प्रमाण प्रथम स्थिति शेष रहने पर संज्वलनचतुष्क तथा प्रथम स्थिति में एक समय दो आवलिका प्रमाणकाल शेष रहने पर पुरुषवेद भी अपतद्ग्रह है अर्थात् पतद्ग्रह रूप नहीं होता है।

विशेषार्थ – अन्तरकरण करने पर प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिकाओं के शेष रह जाने पर चारों ही संज्वलन कषायें अपतद्ग्रह हैं अर्थात् पतद्ग्रह नहीं होती हैं।

उक्त कथन का आशय यह है कि चारों ही संज्वलन कषायों की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिकाओं के शेष रहने पर उन प्रकृतियों का बंध होते हुये भी अन्य प्रकृतियों के दलिक उनमें संक्रमित नहीं होते हैं। इसलिये उस समय वे चारों प्रकृतियां अपतद्ग्रह हैं तथा अन्तरकरण

१. अर्थात् पुरुपवेद आदि पांच प्रकृतियों सहित शेप रही चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का।

२. आशय यह है कि पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी इन तीनों प्रकार का संक्रम युगपत एक समय काल में हो सकता है।

३. इसका कारण यह है कि बंध के अभाव में बंधगर्भित संक्रम लक्षण का ही अभाव है।

करने पर प्रथम स्थिति की एक समय कम दो आवलिकाओं के शेष रह जाने पर वेद अर्थात पुरुषवेद पतद्ग्रह नहीं होता है यानि उसमें अन्य किसी भी प्रकृति का कुछ भी दलिक संक्रांत नहीं होता है। यहां पर वेद पद से पुरुषवेद का ही ग्रहण जानना चाहिये, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का नहीं क्योंकि उस समय इन दोनों वेदों के बंध का अभाव होने से ही अपतद्ग्रहत्व सिद्ध है।

मिथ्यात्व कर्म के क्षय कर देने पर सम्यग्मिथ्यात्व के और मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व के क्षय कर देने पर सम्यक्त्व प्रकृति के एवं सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनों की उद्वलना कर देने पर मिथ्यात्व की अपतद्ग्रहता बिना कहे ही जान लेना चाहिये। क्योंकि उस समय उन प्रकृतियों में कुछ भी कर्मदलिक संक्रमित नहीं होता है।

सादि-अनादि प्ररूपणा

अब सादि, अनादि प्ररूपणा करते हैं –

साइ अणाई धुव अधुवा य सव्वधुवसंतकम्माणं।
साइअधुवा य सेसा, मिच्छावेयणीयनीएहिं॥ ६॥

शब्दार्थ – **साइअणाई** – सादि अनादि, **धुव अधुवा** – ध्रुव अध्रुव, य और, **सव्व** – सभी, **धुवसंतकम्माणं** – ध्रुवसत्ताककर्मप्रकृतियों के, **साइअधुवा** – सादि अध्रुव, **य** – और, **सेसा** – शेष बाकी की, **मिच्छा** – मिथ्यात्व, **वेयणीय** – वेदनीय, **नीएहिं** – नीच गोत्र में।

गाथार्थ – सभी ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों के सादि अनादि ध्रुव अध्रुव ये चार भंग होते हैं तथा शेष रही प्रकृतियों एवं मिथ्यात्व मोहनीय, वेदनीयद्विक और नीचगोत्र इन चार प्रकृतियों में सादि और अध्रुव ये दो भंग होते हैं।

विशेषार्थ – सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक आहारकसप्तक, तीर्थंकर, उच्चगोत्र एवं आयुचतुष्क ये अट्ठाईस प्रकृतियां अध्रुव सत्तावाली हैं और इनके सिवाय शेष एक सौ तीस प्रकृतियां ध्रुवसत्ताका हैं। इन ध्रुव सत्तावाली एक सौ तीस प्रकृतियों में से भी वेदनीयद्विक – सातावेदनीय, असातावेदनीय नीचगोत्र और मिथ्यात्वमोहनीय इन चार प्रकृतियों के सिवाय शेष रही एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का सादि इत्यादि चारों प्रकार का संक्रम होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

उपर्युक्त ध्रुवसत्तावाली प्रकृतियों का संक्रम विषयक प्रकृतिबंध व्यवच्छेद होने पर संक्रम नहीं होता है। तत्पश्चात् पुनः उन प्रकृतियों का संक्रम विषयक अपने बंध कारण के सम्पर्क से बंध

प्रारम्भ होने पर संक्रम होने लगता है, इसलिये वह संक्रम सादि है तथा उस प्रकृति के बंधव्यवच्छेद-स्थान को नहीं प्राप्त होने वाले जीव के उनका संक्रम बराबर होते रहने से वह अनादि है। अभव्य के उन प्रकृतियों का ध्रुव संक्रम है, क्योंकि उसके उन प्रकृतियों का कभी भी व्यवच्छेद नहीं होता है और भव्य के अध्रुव संक्रम होता है, क्योंकि कालान्तर में व्यवच्छेद संभव है।

उक्त ध्रुव सत्तावाली एक सौ तीस प्रकृतियों से शेष रही सम्यक्त्व आदि चौबीस अध्रुव सत्तावाली प्रकृतियां एवं मिथ्यात्व, वेदनीयद्विक और नीचगोत्र कुल अट्ठाईस प्रकृतियां सादि और अध्रुव संक्रम वाली जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण यह है –

अध्रुव सत्तावाली प्रकृतियों के तो अध्रुवसत्ताका होने से ही उनका संक्रम सादि और अध्रुव जानना चाहिये तथा साता-असाता वेदनीय और नीचगोत्र प्रकृतियों के परावर्तमान होने से उनके संक्रम को सादि और अध्रुव जानना चाहिये। मिथ्यात्व का संक्रम विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के होता है और विशुद्ध सम्यग्दृष्टि कादाचित्क है। अतः उसका संक्रम भी सादि और अध्रुव होता है।[१]

अब पतद्ग्रह प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं –

मिच्छत्तजढा य परिग्गहम्मि सव्वधुवबंधपगईओ।
नेया चउव्विगप्पा, साई अधुवा य सेसाओ॥ ७॥

शब्दार्थ – **मिच्छत्तजढा** – मिथ्यात्व को छोड़कर, **य** – और, **परिग्गहम्मि** – पतद्ग्रह में, **सव्वधुवबंधपगईओ** – सर्वध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के, **नेया** – जानना चाहिये, **चउव्विगप्पा** – चारों विकल्प (भंग), **साई** – सादि, **अधुवा** – अध्रुव, **य** – और, **सेसाओ** – शेष प्रकृतियों के।

गाथार्थ – पतद्ग्रह में मिथ्यात्व को छोड़कर सभी ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के सादि आदि चार भंग होते हैं तथा शेष रही प्रकृतियों के सादि और अध्रुव ये दो भंग जानना चाहिये।

विशेषार्थ – मिथ्यात्व के अतिरिक्त शेष रही पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजससप्तक, वर्णादिवीस, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और अन्तरायपंचक कुल सड़सठ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां संक्रम की अपेक्षा सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भेद रूप चार विकल्प वाली जानना चाहिये। जिसका कारण यह है कि इन सड़सठ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की अपने-अपने बंधविच्छेद के

---

१. (अ) सारांश यह है कि संक्रम की अपेक्षा साता-असाता वेदनीयद्विक नीचगोत्र और मिथ्यात्व मोहनीय के अतिरिक्त १२६ ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों के सादि-अनादि ध्रुव-अध्रुव ये चार भंग हैं तथा अध्रुवसत्ताका २४ और वेदनीयद्विक आदि पूर्वोक्त चार कुल २८ प्रकृतियों के सादि और अध्रुव ये दो भंग हैं।

(ब) प्रकृतियों के संक्रम योग्य गुणस्थानों का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

समय पतद्ग्रहता नहीं होती है, अर्थात् उस समय उन प्रकृतियों में दूसरी प्रकृतियों के कुछ भी दलिक संक्रमित नहीं होते हैं। किन्तु अपने-अपने बंधकारण के सम्पर्क से बंध का आरम्भ होने पर पतद्ग्रहता होती है। इसलिये उनका संक्रम सादि है और उस बंधविच्छेद के स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि संक्रम होता है। ध्रुव और अध्रुव संक्रम अभव्य और भव्य की अपेक्षा से होते हैं।

पूर्वोक्त के अतिरिक्त (साइ इत्यादि) अर्थात् शेष जो अध्रुवबंधिनी अठासी प्रकृतियां हैं, उनकी सादि अध्रुव पतद्ग्रहता अध्रुवबंधिनी होने से ही जानना चाहिये तथा मिथ्यात्व के ध्रुवबंधिनी होने पर भी जिस जीव के सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व विद्यमान होते हैं, वही उन दोनों को उसमें संक्रमित करता है, अन्य नहीं। इसलिये उसकी भी सादि और अध्रुव पतद्ग्रहता जानना चाहिये।[१]

इस प्रकार एक-एक प्रकृति के संक्रम और पतद्ग्रहत्व की सादि प्ररूपणा समझना चाहिये।

प्रकृतिस्थानों में सादि-अनादि एवं संक्रम पतद्ग्रह प्ररूपणा

अब प्रकृतिस्थानों में सादि आदि प्ररूपणा करते हैं –

पगइठाणे वि तहा, पडिग्गहो संकमो य बोधव्वो।
पढमंतिमपगईणं, पंचसु पंचण्ह दो वि भवे॥ ८॥

शब्दार्थ – **पगइठाणे** – प्रकृतिस्थान में, **वि** – भी, तहा – उसी प्रकार, **पडिग्गहो** – पतद्ग्रहता, **संकमो** – संक्रम, य – और, **बोधव्वो** – जानना चाहिये, **पढमंतिमपगईणं** – प्रथम और अंतिम कर्म (ज्ञानावरण और अंतराय कर्म) की, **पंचसु** – पांचों प्रकृतियों में, **पंचण्हं** – पांचों का, **दोवि** – दोनों, **भवे** – होते हैं।

गाथार्थ – प्रत्येक प्रकृतिस्थान में भी इसी प्रकार पतद्ग्रहता और संक्रम जानना चाहिये तथा प्रथम कर्म ज्ञानावरण और अंतिम कर्म अन्तराय की पांचों प्रकृतियों का पांचों ही प्रकृतियों में दोनों ही (पतद्ग्रहत्वा और संक्रम) होते हैं।

विशेषार्थ – जैसे एक-एक प्रकृति का पतद्ग्रहत्व और संक्रम सादि आदि रूप से कहा उसी प्रकार प्रकृतिस्थानों में भी जानना चाहिये। दो, तीन आदि प्रकृतियों के समुदाय को प्रकृतिस्थान

---

१. पतद्ग्रह प्रकृतियों में से ६७ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां सादि आदि चारों भंग वाली तथा मिथ्यात्व मोहनीय और ८८ अध्रुव बंधिनी प्रकृतियां सादि अध्रुव इन दो भंगो वाली हैं। लेकिन यहां अध्रुवबंधिनी ८६ प्रकृतियों में सादि अध्रुव पतद्ग्रहता संभव है क्योंकि ध्रुवबंधिनी ६८ प्रकृतियों को कम करने पर शेष रही ९० प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी है, उनमें से आयुचतुष्क में पतद्ग्रहता नहीं है अतएव ९० में से ४ को कम करने पर ८६ प्रकृतियां शेष रहती हैं।

कहते हैं।[१] **द्वित्रादीनां प्रकृतीनां समुदायः प्रकृतिस्थानं।**

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के संक्रम व पतद्ग्रह स्थान

पहले ज्ञानावरण और उसके समान वक्तव्य होने से अन्तराय के संक्रम और पतद्ग्रह रूप स्थान प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं कि पढमंतिम पगईणं इत्यादि अर्थात् प्रथम प्रकृति ज्ञानावरण और अंतिम प्रकृति अन्तराय कर्म सबंधिनी प्रत्येक की जो पांच प्रकृतियां हैं, उन पांचों ही प्रकृतियों में संक्रम और पतद्ग्रह दोनों ही होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरण और अन्तराय इन दोनों का पंच प्रकृति रूप एक-एक स्थान संक्रम और पतद्ग्रहभाव में होता है और ये दोनों ही संक्रम और पतद्ग्रहभाव सादि आदि रूप से चार प्रकार के होते हैं। वे इस प्रकार – उपशान्तमोहगुणस्थान में उन दोनों का अभाव होता है और वहां से गिरने पर पुनः उनका सद्भाव संभव होने से वे दोनों सादि हैं। उक्त स्थान को अप्राप्त जीव के वे दोनों अनादि हैं तथा ध्रुव एवं अध्रुवपना क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

दर्शनावरण, वेदनीय, गोत्र कर्म के संक्रम व पतद्ग्रह स्थान

इस प्रकार ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब दर्शनावरण, वेदनीय और गोत्र कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का कथन करते हैं–

नवगच्छक्कचउक्के, नवगं छक्कं च चउसु बिइयम्मि।
अन्नयरस्सिं अन्नयरा, वि य वेयणीयगोएसु॥ ९॥

शब्दार्थ – नवगच्छक्कचउक्के – नौ, छह और चार में, **नवगं** – नौ, **छक्कं** – छह, **च** – और, **चउसु** – चार में, **बिइयम्मि** – दूसरे में, **अन्नयरस्सिं** – अन्यतर में, **अन्नयरा वि** – अन्यतर

---

१. बुद्धि से एक-एक प्रकृति को ग्रहण करके जैसे प्रकृति संक्रम पतद्ग्रह में कहा जाता है, उसी प्रकार समुदाय विवक्षा में भी प्रकृतिस्थान संक्रम पतद्ग्रह में कहना चाहिये। इस अपेक्षा से चार विकल्प होते हैं -

(१) जब एक प्रकृति एक में संक्रमित होती है यथा साता-असाता में अथवा असाता-साता में , तब वह प्रकृति-संक्रम है और जिसमें संक्रमित होती है वह प्रकृति पतद्ग्रह है।

(२) जब प्रभूत अधिक प्रकृतियां एक प्रकृति में संक्रमित होती हैं जैसे एक यशः कीर्ति में शेष नामकर्म की प्रकृतियां, तब प्रकृतिस्थान संक्रम और प्रकृति पतद्ग्रह है।

(३) जब अधिक प्रकृतियों में एक प्रकृति संक्रमित होती है जैसे कि मिथ्यात्व सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व में तब प्रकृतिस्थान पतद्ग्रह और प्रकृति संक्रम है।

(४) जब बहुत प्रकृतियों में बहुत प्रकृतियां संक्रमित होती हैं तब प्रकृतिस्थान संक्रम और प्रकृतिस्थान पतद्ग्रह जानना चाहिये।

का, **य** – और, **वेयणीय** – वेदनीय, **गोएसु** – गोत्र में।

गाथार्थ – दूसरे कर्म दर्शनावरण में नौ छह और चार प्रकृतिक स्थान में नौ का, तथा छह प्रकृतिस्थान का चार प्रकृतिस्थान में संक्रमण होता है। वेदनीय और गोत्र कर्म में बध्यमान अन्यतर (किसी एक) प्रकृति में अवध्यमान कोई एक प्रकृति संक्रमित होती है।

विशेषार्थ – दूसरे कर्म दर्शनावरण में नवप्रकृतिक षट्प्रकृतिक और चतुष्कप्रकृतिक स्थान में नवक का संक्रमण होता है तथा षट्प्रकृतिक स्थान चतुष्क प्रकृतिक स्थान में सक्रान्त होता है। इसलिये इस कर्म में नवक और षट्क प्रकृतिरूप दो संक्रमस्थान तथा नवक, षट्क और चतुष्क रूप तीन पतद्ग्रह स्थान होते हैं। इनमें से नवक रूप पतद्ग्रह में मिथ्यादृष्टि और सास्वादन सम्यग् दृष्टि जो कि नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म के बंधक हैं, वे नौ प्रकृतियों का संक्रमण करते हैं। यह नवक रूप पतद्ग्रह सादि अनादि ध्रुव अध्रुव के रूप से चार प्रकार का है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है – सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में नौ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है किन्तु वहां से प्रतिपात होने पर नवक का बंध होता है। इसलिये वह सादि है और उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि संक्रम तथा ध्रुव अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा से जानना चाहिये।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान के असंख्यात्वें भाग तक नौ प्रकार के दर्शनावरण की सत्ता वाले जीव छह प्रकार के दर्शनावरण के बंधक होते हैं, वे उस षट्क स्थान में नवक का संक्रमण करते हैं। यह षट्क रूप पतद्ग्रह कादाचित्क होने से सादि और अध्रुव है तथा अपूर्वकरण गुणस्थान के संख्यातवें भाग में निद्रा और प्रचला का बंधविच्छेद हो जाने पर उससे ऊपर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अंतिम समय तक उपशम श्रेणी में नौ ही प्रकार के दर्शनावरण कर्मों की सत्तावाले जीव जो चक्षुदर्शनावरण आदि चार प्रकार के दर्शनावरण कर्म के बंध करने वाले हैं, वे उन चार प्रकृतियों में दर्शनावरण की नौ प्रकृतियों को संक्रमित करते हैं। यह चार प्रकृतिक रूप पतद्ग्रह कादाचित्क होने से सादि और अध्रुव है।

नवकरूप संक्रमस्थान चार प्रकार का है - सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार कि यह संक्रमस्थान सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान से आगे उपशान्तमोहगुणस्थान में नहीं होता है, किन्तु वहां से प्रतिपात होने पर होता है। इसलिये वह सादि है और उस स्थान को प्राप्त नहीं होने वाले जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुवपना अभव्य और भव्य जीव की अपेक्षा से है।

क्षपकश्रेणी में अनिवृतिकरण काल का संख्यातवां भाग शेष रहने पर स्त्यानर्द्धित्रिक का क्षय हो जाने से आगे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अंतिम समय तक छह प्रकार के दर्शनावरण की सत्ता वाले जीव चक्षुः आदि दर्शनावरणचतुष्क को बांधते हुये उस दर्शनावरणचतुष्क में दर्शनावरणषट्क का

संक्रम करते हैं। ये दोनों ही संक्रम और पतद्ग्रह स्थान कादाचित्क होने से सादि और अध्रुव हैं। इससे आगे न तो संक्रम होता है और न पतद्ग्रहता ही होती है।

दर्शनावरणकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों को बतलाने के पश्चात् अब वेदनीय और गोत्र कर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का प्रतिपादन करते हैं। इसके लिये गाथा में कहा है – अन्नयरस्सि ..... इत्यादि। जिसका अर्थ यह है कि वेदनीय और गोत्रकर्म में किसी एक प्रकृति के बध्यमान होने पर अन्यतर – कोई एक अबध्यमान प्रकृति संक्रमित होती है, वह उसकी पतद्ग्रह है और दूसरी प्रकृति संक्रमस्थानरूप है। इनमें सातावेदनीय के बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को आदि लेकर सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानपर्यन्त[1] साता और असाता वेदनीय की सत्ता वाले जीवों के सातावेदनीय पतद्ग्रह है और सातावेदनीय संक्रमस्थान है। किन्तु असातावेदनीय का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि आदि प्रमत्तसंयतगुणस्थानपर्यन्त साता असाता वेदनीय की सत्ता वाले जीवों के असातावेदनीय पतद्ग्रह है और सातावेदनीय संक्रमस्थान है। ये दोनों साता और असाता रूप संक्रम और पतद्ग्रह सादि और अध्रुव हैं। क्योंकि इनका पुनः पुनः परिवर्तन होकर बंध होता रहता है तथा मिथ्यादृष्टि आदि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानपर्यन्त उच्चगोत्र का बंध करने वाले और उच्च नीच गोत्र की सत्ता वाले जीवों के उच्चगोत्र पतद्ग्रह है और नीचगोत्र संक्रमस्थान रूप है तथा नीचगोत्र का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थानवर्ती उच्च नीच गोत्र की सत्ता वाले जीवों के नीचगोत्र पतद्ग्रह है और उच्चगोत्र संक्रमस्थान रूप है। ये दोनों ही उच्च और नीच गोत्र रूप संक्रम और पतद्ग्रह स्थान पहले के समान (वेदनीयकर्म के समान) सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

मोहनीयकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थान

इस प्रकार आवरणद्विक, वेदनीय और गोत्र कर्मों के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब मोहनीयकर्म के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का विचार करते हैं। लेकिन इसके भी पूर्व संक्रम और असंक्रम स्थानों को बतलाते हैं –

अट्ठचउरहियबीसं, सत्तरसं सोलसं च पन्नरसं।
वज्जिय संकमठाणाइं होंति तेवीसइं मोहे॥ १०॥

शब्दार्थ – **अट्ठचउरहियवीसं** – आठ और चार अधिक बीस, **सत्तरसं** – सत्रह, **सोलसं** – सोलह, **च** – और, **पन्नरसं** – पन्द्रह, **वज्जिय** – छोड़कर, **संकमठाणाइं** – संक्रम स्थान, **होंति** – होते हैं, **तेवीसइं** – तेईस, **मोहे** – मोहनीयकर्म में।

---

१. सयोगी केवली गुणस्थान तक भी।

गाथार्थ – आठ और चार अधिक बीस अर्थात् अट्ठाईस चौबीस और सत्रह, सोलह और पन्द्रह इन पाँच स्थानों को छोड़ कर शेष तेईस संक्रमस्थान मोहनीय के होते हैं।

विशेषार्थ – आठ अधिक बीस अर्थात् अट्ठाईस और चार अधिक बीस अर्थात् चौबीस तथा सत्रह, सोलह और पन्द्रह इन पाँच स्थानों को छोड़कर शेष एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, बाईस, तेईस पच्चीस, छब्बीस और सताईस प्रकृति वाले तेईस स्थान मोहनीयकर्म के संक्रमस्थान होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि जीव का मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का पतद्ग्रह है, इसलिये मिथ्यात्व के अतिरिक्त शेष सत्ताईस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दोनों मिथ्यात्व में संक्रांत होती हैं (१-१) तथा सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वलना होने पर सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व का पतद्ग्रह है। इसलिये उसके सिवाय शेष छब्बीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं (२-१)। सम्यग्मिथ्यात्व के भी उद्वलित हो जाने पर छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के पच्चीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं (३-१)। अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि जो छब्बीस प्रकृतियों की सत्तावाला है, उसके पच्चीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। क्योंकि उसके मिथ्यात्व का संक्रम नहीं होता है। वह मिथ्यात्व चारित्रमोहनीय में संक्रांत नहीं होता है क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है (३-२)।

अथवा अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाले उपशमसम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात एक आवली से ऊपर वर्तमान जीव के सम्यक्त्व में मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रम होता है। इसलिये वह सम्यक्त्वप्रकृति पतद्ग्रह है। इस कारण उसे छोड़कर शेष सत्ताईस प्रकृतियों का संक्रम होता है (१-२) तथा अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाले उसी औपशमिक सम्यग्दृष्टि के एक आवली काल के भीतर वर्तमान रहते हुए सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रांत नहीं होता है। क्योंकि मिथ्यात्व के पुद्गल ही सम्यक्त्व के साथ होने वाली विशुद्धि के प्रभाव से सम्यग्मिथ्यात्वस्वरूप परिवर्तित हो जाते हैं। क्योंकि अन्य प्रकृति रूप से परिणामान्तर को प्राप्त होना संक्रम कहलाता है – **अन्यप्रकृतिरूपतया परिणामान्तरापादनं च संक्रमः** और संक्रमावलिकागत पुद्गल सर्वकरणों के अयोग्य होता है। अतः इस नियम के अनुसार सम्यक्त्व लाभ से एक आवलिका के भीतर वर्तमान जीव के द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व में संक्रमित नहीं होता है किन्तु केवल मिथ्यात्व ही संक्रमित किया जाता है। इसलिसे सम्यग्मिथ्यात्व के निकाल देने पर शेष छब्बीस प्रकृतियां संक्रात होती हैं (२-२)।

मोहनीय के संक्रम में चौबीस प्राकृतिक स्थान नहीं होता है क्योंकि चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाला सम्यग्दृष्टि जीव गिर कर मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ यद्यपि अनन्तानुबंधी कषायों को

फिर भी बांधने लगता है तथापि उनकी सत्ता होने पर भी उन्हें संक्रमित नहीं करता है। क्योंकि बंधावलिकागत पुद्गल सर्वकरणों के अयोग्य कहे गये हैं। मिथ्यात्व कर्म, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का पतद्ग्रह है। इसलिये उसके निकालने पर शेष तेईस प्रकृतियां संक्रात होती हैं(४-१)। अथवा चौबीस प्रकृतियों की सत्तावाले सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का पतद्ग्रह है। इसलिये उसके निकाल देने पर शेष तेईस प्रकृतियां संक्रात होती हैं (४-२)।

उसी जीव के मिथ्यात्व का क्षय होने पर बाईस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(५-१)। अथवा उपशमश्रेणी में वर्तमान और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोहनीय का अन्तरकरण कर देने पर संज्वलन लोभ का भी संक्रमण नहीं होता है। क्योंकि अन्तरकरण करने पर पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्क का आनुपूर्वी से संक्रम होता है यह वचन प्रमाण है। अथवा अनन्तानुबंधी चतुष्टय की विसंयोजना होने से या उपशम होने से संक्रम नहीं होता है। सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की पतद्ग्रह है। इसलिये संज्वलन लोभ अनन्तानुबंधी चतुष्क और सम्यक्त्व इन छह प्रकृतियों को अट्ठाईस प्रकृतियों में से निकाल देने पर शेष बाईस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(५-२)।

उपशमश्रेणी में वर्तमान उसी औपशमिक सम्यग्दृष्टि के नपुंसकवेद के उपशांत हो जाने पर इक्कीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(६-१)। अथवा बाईस प्रकृतियों की सत्तावाले जीव का सम्यक्त्व कहीं पर भी संक्रांत नहीं होता है। इसलिये इक्कीस प्रकृतिक स्थान संक्रम में प्राप्त होता है(६-२)। अथवा क्षपकश्रेणी में वर्तमान क्षपक के जब तक आठ मध्यम कषाय क्षय को प्राप्त नहीं होती हैं तब तक इक्कीस प्रकृतिक स्थान प्राप्त होता है(६-३)।

औपशमिक सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी पूर्वकथित इक्कीस प्रकृतियों में से स्त्रीवेद के उपशांत होने पर शेष बीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(७-१)। अथवा उपशमश्रेणी को प्राप्त हुए क्षायिक सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोहनीय का अन्तरकरण करने पर संज्वलन लोभ का भी पूर्वोक्त युक्ति से संक्रम नहीं होता है, इसलिसे उसके निकाल देने पर बीस प्रकृतियां संक्रम में प्राप्त होती हैं(७-२)।

तत्पश्चात् बीस प्रकृतियों में से नपुंसक वेद के उपशांत होने पर उन्नीस प्रकृतिक (८) और उन्नीस में से स्त्रीवेद के उपशांत होने पर अठारह प्रकृतियों का संक्रमस्थान प्राप्त होता है(९)।

उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त बीस प्रकृतियों में से छह नो कषायों के उपशांत हो जाने पर शेष चौदह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१०)। पुनः (इन चौदह प्रकृतियों में से) पुरुषवेद के उपशांत होने पर तेरह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(११-१)। तथा क्षपकश्रेणी में वर्तमान क्षपक के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों में से आठ कषायों के क्षय हो जाने पर शेष तेरह प्रकृतियां

संक्रांत होती हैं(११-२)।

उसी क्षपक के चारित्रमोहनीय का अन्तरकरण करने पर संज्वलन लोभ का पूर्वोक्त युक्ति से संक्रम नहीं होता है। इसलिये उसके निकाल देने पर शेष बारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१२-१)। अथवा उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियों में से छह नो कषायों के उपशांत होने पर शेष बारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१२-२)। इसके बाद पुरुषवेद के उपशांत होने पर पूर्वोक्त बारह प्रकृतियों में से इसको कम कर देने पर ग्यारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१३-१)। अथवा उपर्युक्त बारह प्रकृतियों में से क्षपक जीव के नपुंसकवेद के क्षय होने पर ग्यारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१३-२)। औपशमिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणी में पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों में से अप्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानावरण क्रोधद्विक के उपशांत होने पर शेष ग्यारह प्रकृतियां संक्रम में प्राप्त होती हैं(१३-३)।

क्षपकश्रेणी में ग्यारह प्रकृतियों में से स्त्रीवेद के क्षय होने पर शेष दस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१४-१)। उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ग्यारह प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध के उपशांत होने पर शेष दस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१४-२)।

उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिकसम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त (ग्यारह) प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण रूप क्रोधद्विक के उपशांत होने पर शेष नौ प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१५)। उसी जीव के संज्वलन क्रोध के उपशांत होजाने पर आठ प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१६-१)। अथवा उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त दस प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणरूप मानद्विक के उपशांत होने पर शेष आठ प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१६-२)।

उसी जीव के संज्वलन मान के उपशांत होने पर शेष सात प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१७)।

उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त आठ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणरूप मानद्विक के उपशांत होने पर शेष छह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१८)। उसी जीव के संज्वलन मान के उपशांत होने पर चार प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१९-१)। अथवा उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सात प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणरूप माया के उपशांत होने पर शेष पांच प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(१९-२)। उसी जीव के संज्वलन माया के उपशांत होने पर चार प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(२०-१)। अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपक के पूर्वोक्त दस प्रकृतियों में से हास्यादि छह नोकषायों के क्षय होने पर शेष चार प्रकृतियां संक्रांत होती

हैं(२०-२)। उसी जीव के पुरुषवेद का क्षय होने पर तीन प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(२१-१)। अथवा उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त पांच प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणरूप मायाद्विक के उपशांत होने पर तीन प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(२१-२)। उसी जीव के संज्वलन माया के उपशांत होने पर दो प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(२२-१)। अथवा उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त चार प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणरूप लोभद्विक के उपशांत होने पर शेष दो प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(२२-२)। अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपक के पूर्वोक्त तीन प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध के क्षय होने पर दो प्रकृतियां संक्रांत होती हैं(२२-३)। उसी जीव के संज्वलन मान के क्षय होने पर एक प्रकृति संक्रांत होती है(२३)।

इस प्रकार संक्रमस्थानों की प्राप्ति का विचार किये जाने पर अट्ठाईस, चौबीस, सत्रह, सोलह और पन्द्रह प्रकृति वाले संक्रमस्थान प्राप्त नहीं होते हैं इसलिये उनका प्रतिषेध किया गया है। उनके अतिरिक्त शेष रहे तेईस संक्रमस्थान मोहनीयकर्म में जानना चाहिये।

इन संक्रमस्थानों में पच्चीस प्रकृति वाला संक्रमस्थान सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव के रूप में चार प्रकार का है। इनमें से अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना करने पर सादि संक्रम होता है[१], अनादि मिथ्यादृष्टि के अनादि संक्रम होता है और ध्रुव, अध्रुव संक्रम क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये तथा शेष बाईस संक्रमस्थान कादाचित्क होने से सादि और अध्रुव होते हैं।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के संक्रमस्थानों और असंक्रमस्थानों की प्ररूपणा जानना चाहिये।

मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह अपतद्ग्रह स्थान

अब पतद्ग्रह और अपतद्ग्रह स्थानों का कथन करते हैं –

सोलस बारसगट्ठग, वीसग तेवीसगाइगे छच्च।
वज्जिय मोहस्स पडिग्गहा उ अट्ठारस हवन्ति॥११॥

शब्दार्थ – **सोलस** – सोलह, **बारसगट्ठग** – बारह आठ, **वीसग** – बीस, **तेवीसगाइगे**– तेईस आदि, **छच्च** – छह **वज्जिय** – छोड़कर, **मोहस्स** – मोहनीय कर्म के, **पडिग्गहा** – पतद्ग्रह, **उ** – और, **अट्ठारस** – अठारह, **हवन्ति** – होते हैं।

गाथार्थ – सोलह, बारह, आठ, बीस और तेईस आदि छह स्थानों को छोड़ कर मोहनीय

---

१. सम्यक्त्व और मिश्र की उद्वर्तना होने से दर्शनमोहत्रिक का संक्रम होना रुक जाता है तब २५ का स्थान सादि रूप होता है।

कर्म के अठारह पतद्ग्रहस्थान होते हैं।

विशेषार्थ – सोलह, बारह, आठ, बीस और तेईस आदि छह अर्थात् तेईस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस इन दस स्थानों को छोड़कर शेष एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, नौ, दस, ग्यारह, तेरह, चौदह, पन्द्रह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, इक्कीस और बाईस प्रकृतिक अठारह पतद्ग्रहस्थान होते हैं।

उनमें से किस पतद्ग्रहस्थान में कौनसी प्रकृतियां संक्रांत होती हैं ? इसको स्पष्ट करते हैं कि–

१ मिथ्यात्व गुणस्थान – अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व प्रकृति, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की पतद्ग्रह है, इसलिये उसको निकाल देने पर शेष सत्ताईस प्रकृतियां मिथ्यात्व, सोलह कषाय, तीन वेदों में से कोई एक वेद, भय, जुगुप्सा, हास्यरतियुगल, अरतिशोकयुगल इन दोनों में से कोई एक युगल रूप बाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं।

सम्यक्त्व का उद्वलन करने पर सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाले उसी मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व की पतद्ग्रह हो जाती है। इसलिये उसको कम करने पर शेष छब्बीस प्रकृतियां पूर्वोक्त बाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं।

सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना हो जाने पर छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाले उसी मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व में कुछ भी संक्रांत नहीं होता है, इसलिये वह किसी भी प्रकृति की पतद्ग्रह नहीं है। इसलिये पूर्वोक्त बाईस प्रकृतियों में से उसे निकाल देने पर शेष इक्कीस प्रकृतियों के समुदायरूप पतद्ग्रहस्थान में पच्चीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। अथवा छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाले अनादि मिथ्यादृष्टि के भी मिथ्यात्व प्रकृति किसी भी प्रकृति में संक्रांत नहीं होती है और न उसमें भी कोई अन्य प्रकृति संक्रांत होती है, इस प्रकार आधार आधेय भाव से रहित मिथ्यात्व प्रकृति को निकाल दिया जाता है। तब शेष रही पच्चीस प्रकृतियां पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं। चौबीस प्रकृति की सत्ता वाला जीव मिथ्यात्व में आता हुआ यद्यपि मिथ्यात्व के निमित्त से पुनः अनन्तानुबंधी कषायों को बांधने लगता है, तथापि बंधावलिकागत दलिक सकल करणों के अयोग्य होते हैं, इस नियम के अनुसार अनन्तानुबंधी के दलिकों के होते हुए भी उस समय वह संक्रांत नहीं होती है। मिथ्यात्व प्रकृति सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की पतद्ग्रह है, इसलिये अनन्तानुबंधी चतुष्क और मिथ्यात्व को छोड़कर शेष तेईस प्रकृतियां पूर्वोक्त बाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के बाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में सत्ताईस, छब्बीस और तेईस प्रकृतिक संक्रमस्थान होते हैं तथा पूर्व में इक्कीस प्रकृतिक पतद्ग्रह स्थान में पच्चीस प्रकृतिक स्थान का संक्रम कहा है, अतः मिथ्यादृष्टि में शेष संक्रम और पतद्ग्रह स्थान संभव नहीं हैं।

सरलता से समझने के लिये उक्त कथन का प्रारूप इस प्रकार है —

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रमकाल	स्वामी
२२ प्रकृतिक	मिथ्यात्व, १६ कषाय अन्यतर वेद भय,जुगुप्सा, युगलद्विक में से कोई एक	२७ प्रकृतिक	मिथ्यात्व मोहनीय के बिना	२८	पल्योपम का असंख्यातवां भाग	त्रिपुंजी मिथ्यात्वी
२२ प्रकृतिक		२६ प्रकृतिक	मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोह बिना	२७	"	उद्वलित सम. मोह. द्विपुंजी
२२ प्रकृतिक		२३ प्रकृतिक	मिथ्यात्व अनंतानुबंधी चतुष्क बिना	२८	एक आवलिका	अनन्ता. की प्रथम बंधावलिका में
२१ प्रकृतिक	मिथ्यात्व रहित शेष पूर्वोक्त	२५ प्रकृतिक	दर्शनत्रिक रहित	२६	अनादि अनंतादि ३ भंग	अनादि मिथ्यात्वी आदि

अब सास्वादन और मिश्रदृष्टि के पतद्ग्रह, संक्रम स्थानों को बतलाते हैं –

२.सास्वादन गुणस्थान – सास्वादन सम्यग्दृष्टि के शुद्ध दृष्टि का अभाव होने से दर्शनमोहत्रिक का संक्रम नहीं होता है। इसलिये उसके सदैव इक्कीस प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान में पच्चीस प्रकृतिरूप स्थान ही संक्रांत होता है।[1]

३. मिश्र गुणस्थान – सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव के भी शुद्ध दृष्टि का अभाव होने से दर्शनत्रिक का संक्रम नहीं होता है। इसलिये अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाले या सत्ताईस प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के पच्चीस प्रकृतिरूप संक्रम और चौबीस की सत्ता वाले जीव के पुनः इक्कीस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान बारह कषाय पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा और एक युगलरूप सत्रह प्रकृतियों के समुदाय रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है। जिसको निम्नलिखित प्रारूप द्वारा स्पष्टता से समझा जा सकता है –

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रम स्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
१७ प्रकृतिक	१२ कषाय पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा,	२५ प्रकृतिक	१६ कषाय और ९ नोकषाय = २५	२८/ २७	अन्तर्मुहूर्त	मिश्रदृष्टि
	कोई एक युगल = १७	२१ प्रकृतिक	१२ कषाय (अनंतानुबंधी को छोड़ कर) ९ नोकषाय = २१	२४	अन्तर्मुहूर्त	मिश्रदृष्टि

१. यहां २८ प्रकृतियों की सत्ता होती है और संक्रमकाल छह आवलिका प्रमाण है।

इस प्रकार सास्वादन और सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थानों के पतद्ग्रह व संक्रम स्थानों की प्ररूपणा जानना चाहिये। अविरत, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त विरत इन चारों में संक्रम की समानता होने से पतद्ग्रहस्थानों का एक साथ कथन करते हैं।

४ - ७ अविरत आदि अप्रमत्तविरत गुणस्थान – अविरत आदि अप्रमत्तविरत पर्यन्त चारों गुणस्थान वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टियों के सम्यक्त्व लाभ के प्रथम समय से लेकर आवलिकामात्र काल तक सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के पतद्ग्रहता रहती है किन्तु संक्रम नहीं होता है। इसलिये शेष छब्बीस प्रकृतियां अविरत जीवों के बारह कषाय, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा, कोई एक युगल, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व रूप उन्नीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होती हैं तथा उपशमसम्यग्दृष्टि देशविरत के प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क और संज्वलन कषायचतुष्क पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा, कोई एक युगल, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व पन्द्रह प्रकृतिक पतद्ग्रह रूप स्थान में तथा उपशम सम्यग्दृष्टि प्रमत्त एवं अप्रमत्त संयत के संज्वलनचतुष्क पुरुषवेद सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा और किसी एक युगल रूप ग्यारह प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं।

इन्हीं उपशम सम्यग्दृष्टि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि अप्रमत्त विरतपर्यन्त जीवों के एक आवली से परे (द्वितीयादि आवलिकाओं में) सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय संक्रम और पतद्ग्रह रूप में पाई जाती है, इसलिये सत्ताईस प्रकृतिक स्थान पूर्वोक्त तीनों ही पतद्ग्रहस्थानों में संक्रांत होता है तथा इन्हीं अविरत सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के अनन्तानुबंधी की उद्वलना हो जाने पर चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यक्त्व प्रकृति पतद्ग्रह हो जाती है, इसलिये शेष तेईस प्रकृतियां पूर्वोक्त उन्नीस आदि तीनों ही पतद्ग्रहस्थानों में संक्रांत होती हैं।

तत्पश्चात् मिथ्यात्व के क्षय हो जाने पर सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति पतद्ग्रह रूप से है और मिथ्यात्व संक्रम रूप से नहीं पाई जाती है, इसलिये शेष बाईस प्रकृतियां अविरत देशविरत और प्रमत्त अप्रमत्त संयतों के यथाक्रम से अठारह, चौदह और दस प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थानों में संक्रांत होती हैं।

तत्पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व के क्षय हो जाने पर सम्यक्त्व का भी संक्रम नहीं होता है और न पतद्ग्रह ही होती है। इसलिये इक्कीस प्रकृतियां अविरत, देशविरत और संयत जीवों के यथाक्रम से सत्रह, तेरह और नौ प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थानों में संक्रांत होती हैं।

उक्त समग्र कथन को निम्नलिखित प्रारूप द्वारा सरलता से समझा जा सकता है –

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
१९ प्रकृतिक[1]	१२ कषाय, पुरुषवेद, भय, जुगुप्सा अन्यतर युगल[2], सम्यक्त्व मोह. मिश्र मोह. = १९	२६ प्रकृतिक	१६ कषाय, ९ नो कषाय १ मिथ्यात्व = २६	२८	एक आवलिका	उपशम सम्यक्त्वी प्रथम आव. में
		२७ प्रकृतिक	१६ कषाय, ९ नोकषाय, १ मिश्र मोह., १ मिथ्या. = २७	२८	अन्तर्मुहूर्त क्षायोप. चतुर्थ गुणस्थान में रहे तब तक	उपशम सम्यक्त्व प्रथम आव. के बाद क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि
		२३ प्रकृतिक	अनन्ता. रहित २१ कषाय १ मिश्र मोह., १ मिथ्या. त्व = २३	२४	अन्तर्मुहूर्त	अनन्तानुबंधी की विसंयोजना के
					क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुण में रहे तब तक	बाद उपशम सम्य वेदक सम्यग्दृष्टि (अनन्तानुबंधी की विसंयोजना के बाद)
१८ प्रकृतिक	१२ कषाय, पु. वेद, भय, जुगुप्सा,	२२ प्रकृतिक	२१ कषाय, मिश्र	२३	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित अनन्ता.

१. अश्रेणीगत अविरत सम्यग्दृष्टि के १९, १८, १७ प्रकृतिक देशविरत के १५, १४, १३ प्रकृतिक संयत (प्रमत्त, अप्रमत्त संयत) के ११, १०, ९ प्रकृतिक कुल ९ पतद्ग्रहस्थान तथा इनमें २७, २६, २३, २२, २१ प्रकृतिक कुल ५ संक्रमस्थान हैं और मिथ्यात्व से ले कर अप्रमत्त संयत तक २२, २१, १९, १८, १७, १५, १४, १३, ११, १० और ९ प्रकृतिक। इस तरह ११ पतद्ग्रहस्थान और २७, २६, २५, २३, २२, २१ प्रकृतिक इस प्रकार ६ संक्रमस्थान जानना चाहिये।

२. हास्य - रति और अरति - शोक में से कोई दो प्रकृतियां।

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
	अन्यतर युगल, सम्यक्त्व मोह = १८		मोहनीय = २२			मिथ्यात्व वेदक
१७ प्रकृतिक	१२ कषाय, पु. वेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल = १७	२१ प्रकृतिक	१२ कषाय(अनन्तानु.) ९ नोकषाय = २१	२२-२१	अन्तर्मुहूर्त तेतीस सागरोपम अधिक	क्षपित मिथ्यात्व अनन्ता. मिश्र मोह क्षायिक सम्यग्दृष्टि
१५ प्रकृतिक	८ कषाय, पु. वेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्व, मिश्र मोह. = १५	२६ प्रकृतिक	२५ कषाय मिथ्यात्व = २६	२८	एक आवलिका	उपशम सम्यग्दृष्टि प्रथम आवलिका के
		२७ प्रकृतिक	,, मिश्र मिथ्यात्व = २७	२८	अन्तर्मुहूर्त देशोन पूर्व करोड़ वर्ष	उपशम सम्यग्दृष्टि प्रथम आवलिका बाद क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि
		२३ प्रकृतिक	,, २१ कषाय (अनंता.) रहित मिथ्यात्व मिश्र मो. = २३	२४	अन्तर्मुहूर्त देशोन पूर्व करोड़ वर्ष	विसंयोजित अनंता उपशम सम्यग्दृष्टि विसंयोजित अनंता वेदक सम्यग्दृष्टि
१४ प्रकृतिक	८ कषाय, पु. वेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्व मोह. = १४	२२ प्रकृतिक	२१ कषाय मिश्र मोहनीय = २२	२३	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित मिध्यात्व वेदक सम्यग्दृष्टि
१३ प्रकृतिक	सम्यक्त्व मोह. रहित पूर्वोक्त	२१ प्रकृतिक	२१ कषाय (अनंता.	२२-	अन्तर्मुहूर्त देशोन	क्षपित मिश्र वेदक

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
			रहित)	२१	पूर्व करोड़ वर्ष	सम्यग्दृष्टि क्षपित सम्यग्दृष्टि
११ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क, पु. वेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्व मो मिश्र मो. = ११	२६ प्रकृतिक	२५ कषाय मिथ्यात्व = २६	२८	एक आवलिका	उपशम सम्यग्दृष्टि प्रथम आवलि. में
		२७ प्रकृतिक	,, मिश्र मो. मिथ्यात्व = २७	२८	अन्तर्मुहूर्त	उपशम सम्यग्दृष्टि प्रथम आ. के बाद
		२३ प्रकृतिक	२१ कषाय मिश्र मो. मिथ्यात्व मो. = २३	२४	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित अनन्तानु. उपशम सम्यग्दृष्टि क्षपित अनन्तानु. वेदक सम्यग्दृष्टि
१० प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क, पु. वेद, भय, जुगुप्सा, अन्यतर युगल, सम्यक्त्व मोहनीय = १०	२२ प्रकृतिक	२१ कषाय मिश्र मोह. = २२	२३	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित मिथ्यात्व वेदक सम्यग्दृष्टि
९ प्रकृतिक	सम्यक्त्व मोहनीय वर्जित पूर्वोक्त	२१ प्रकृतिक	२१ कषाय मिश्र मोह. = २२			
			२१ कषाय	२२ – २१	अन्तर्मुहूर्त देशोनपूर्व कोटि	क्षपितमिश्र वेदक सम्यग्दृष्टि क्षपित सम्यग्दृष्टि

उपशमश्रेणी में औपशमिक सम्यग्दृष्टि की पतद्ग्रहविधि –

अब उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम का आश्रय करके पतद्ग्रहविधि का कथन करते हैं –

चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव की सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की पतद्ग्रह है। अतः उसे निकाल देने पर शेष तेईस प्रकृतियां पुरुषवेद , संज्वलनचतुष्क, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व रूप पतद्ग्रहसप्तक में संक्रांत होती हैं। उपशमश्रेणी में वर्तमान उसी जीव के अन्तरकरण करने पर संज्वलनलोभ का संक्रम नहीं होता है इसलिये उसे निकाल देने पर शेष बाईस प्रकृतियां पूर्वोक्त पतद्ग्रहसप्तक में संक्रांत होती हैं, उसी जीव के नपुंसकवेद के उपशांत हो जाने पर बीस प्रकृतियां पतद्ग्रहसप्तक में संक्रांत होती हैं।

इसके पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति में समय कम दो आवलिका शेष रह जाने पर पुरुषवेद पतद्ग्रह नहीं रहता है। क्योंकि ऐसा कर्ममनीषियों का कथन है –

दुसु आवलियासु पढमठिईसु सेसाऽवियवेदो। अर्थात् प्रथम स्थिति की दो आवलिका शेष रहने पर वेद भी पतद्ग्रह नहीं रहता है।

अतएव पूर्वोक्त सप्तक में से पुरुषवेद के निकाल देने पर शेष छह प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में पूर्वोक्त बीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। इसके बाद छह नोकषायों के उपशांत हो जाने पर शेष चौदह प्रकृतियां पूर्वोक्त छह प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं जब तक एक समय कम दो आवलिकाल शेष रहता है। तत्पश्चात् पुरुषवेद के उपशांत हो जाने पर शेष तेरह प्रकृतियां छह प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं और वे प्रकृतियां तब तक संक्रांत होती हैं जब तक अन्तर्मुहूर्तकाल समाप्त होता है।

तत्पश्चात् संज्वलनक्रोध की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर संज्वलन क्रोध भी पतद्ग्रह नहीं रहता है। क्योंकि ऐसा कर्मसिद्धांत का मत है –

तिसु आवलियासु समऊणियासु अपडिग्गहाउ संजलणा।

अर्थात् एक समय कम तीन आवलिकाओं के शेष रह जाने पर संज्वलन कषाय अपतद्ग्रह हो जाती हैं।

इस कारण पूर्वोक्त पतद्ग्रहषट्क में से उसे निकाल देने पर शेष पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में वे ही तेरह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध के उपशांत हो जाने पर शेष पूर्वोक्त ग्यारह प्रकृतियां पतद्ग्रहपंचक में संक्रांत होती हैं और एक समय

कम दो आवलिकाकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। इसके पश्चात् संज्वलन क्रोध के उपशांत हो जाने पर शेष दस प्रकृतियां उसी पतद्ग्रहपंचक में अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं।

तदनन्तर संज्वलनमान की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिकाकाल शेष रह जाने पर संज्वलनमान भी पतद्ग्रह नहीं रहता है। इसलिये पतद्ग्रहपंचक में से उसे न्यून कर देने पर शेष चतुष्क रूप पतद्ग्रह में वे ही पूर्वोक्त दस प्रकृतियां संक्रात होती हैं। वे प्रकृतियां तब तक संक्रांत होती रहती हैं जब तक एक समय कम दो आवलिकाकाल पूर्ण होता है।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण रूप मान के उपशांत हो जाने पर शेष आठ प्रकृतियां चतुष्क रूप पतद्ग्रहस्थान में ही संक्रांत होती हैं। तदनन्तर संज्वलनमान के उपशांत हो जाने पर सात प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे सातों प्रकृतियां चतुष्करूप पतद्ग्रह में अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं।

तत्पश्चात् संज्वलनमाया की प्रथम स्थिति एक समय कम तीन आवलिकाल शेष रह जाने पर संज्वलनमाया पतद्ग्रह नहीं रहती है। इसलिये उसे पूर्वोक्त पतद्ग्रहचतुष्क में से निकाल देने पर शेष त्रिक रूप पतद्ग्रहस्थान में पूर्वोक्त सात प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे एक समय कम दो आवलिकाल तक संक्रांत होती रहती हैं।

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप मायाद्विक के उपशांत हो जाने पर शेष पांच प्रकृतियां त्रिक रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं और वे भी तब तक जब तक कि एक समय कम दो आवलिकाल पूर्ण होता है। तत्पश्चात् संज्वलनमाया के उपशांत हो जाने पर शेष चार प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं।

तत्पश्चात् अनिवृतिबादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण रूप लोभद्विक के उपशांत हो जाने पर शेष रही मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। किन्तु ये दोनों संज्वलन लोभ में संक्रांत नहीं होती हैं। क्योंकि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है। इसलिये उसके (संज्वलनलोभ के भी पतद्ग्रहता नहीं होती है,) जिससे वे दोनों (मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय) ही उन दोनों में (मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय में) संक्रमित होती हैं। अर्थात् मिथ्यात्व का संक्रमण सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में तथा सम्यग्मिथ्यात्व का सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रम होता है।

इस प्रकार औपशमिक सम्यग्दृष्टि की उपशमश्रेणी में संक्रम और पतद्ग्रह की विधि जानना चाहिये। जिसका सरल सुबोध श्रेणी में स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रारूप में किया जा रहा है —

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
११ प्रकृतिक[१]	संज्वलन चतुष्क, पु. वेद, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, सम्यक्त्व, मिश्र मोहनीय	२३ प्रकृतिक	अनन्ता. रहित २१ कषाय मिथ्यात्व मिश्र मोह.	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण गुण
७ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क पु. वेद, सम्यक्त्व, मिश्र मोहनीय	२३ प्रकृतिक	,, ,, ,, ,,	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अनिवृत्तिकरण गुण.(अन्तरकरण से पूर्व)
		२२ प्रकृतिक	संज्वलन लोभरहित शेष पूर्वोक्त	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अनिवृत्तिकरण गुण.(अन्तरकरण काल में)
		२१ प्रकृतिक	नपुं. वेद रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अनिवृत्तिकरण गुण.(अन्तरकरण के बाद)
		२० प्रकृतिक	स्त्रीवेद रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
६ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क, सम्यक्त्व मिश्र मोहनीय	२० प्रकृतिक	स्त्रीवेद रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	समयोन आवलि-काद्विक	,, ,,
		१४ प्रकृतिक	हास्य षट्क ,, ,,	२४प्र.	,, ,,	,, ,,

१. अनंतानुबंधी २४ प्रकृति की सत्ता वाला उपशमश्रेणी प्रारंभक है। अतः ११ प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान भी यहां बताया है। यथास्थान आगे भी श्रेणीगत पतद्ग्रहस्थान के लिये इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रहप्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रमकाल	स्वामी
		१३ प्रकृतिक	पु. वेद रहित ,, ,,	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
५ प्रकृतिक	संज्वलन मान, माया, लोभ,	१३ प्रकृतिक	,, ,, ,, ,,	२४प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
	सम्यक्त्व मिश्र मोहनीय	११ प्रकृतिक	अप्रत्या. प्रत्या. क्रोध रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	,, ,, ,,	,, ,,
		१० प्रकृतिक	संज्वलन क्रोध रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
४ प्रकृतिक	संज्वलन, माया, लोभ, सम्यक्त्व मिश्र मोहनीय	१० प्रकृतिक	संज्वलन क्रोध रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		८ प्रकृतिक	अप्रत्या. प्रत्या. मान रहित	२४प्र.	,, ,, ,,	,, ,,
		७ प्रकृतिक	संज्वलन मान रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
३ प्रकृतिक	संज्वलन, लोभ, सम्यक्त्व,	७ प्रकृतिक	,, ,, ,, ,,	२४प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
	मिश्र मोहनीय	५ प्रकृतिक	अप्रत्या. प्रत्या. लोभ, व माया, मिश्र मोहनीय	२४प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		४ प्रकृतिक	संज्वलन माया रहित पूर्वोक्त	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	नौवें गुण. में दो आवलिका शेष रहने तक

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रमकाल	स्वामी
२ प्रकृतिक	सम्यक्त्व मिश्र मोहनीय	२ प्रकृतिक	मिश्र मोहनीय मिथ्यात्व	२४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	नौवें गुण. दो आवली तथा १०, ११ गुणस्थान।[१]

१. इस प्रकार ११, ७, ६, ५, ४, ३, २ यह ७ पतद्ग्रहस्थान और २३, २२, २१, २०, १४, १३, ११, १०, ८, ७, ५, ४, २ इस प्रकार १३ संक्रमस्थान उपशम श्रेणी में उपशम सम्यग्दृष्टि के होते हैं।

उपशमश्रेणी में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम और पतद्ग्रह की विधि

अब उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षापिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम और पतद्ग्रह की विधि बतलाते हैं —

अनन्तानुबंधीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक रूप सप्तक के क्षय हो जाने पर इक्कीस प्रकृतियों की सत्ता वाला होता हुआ क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणी को प्राप्त होता है, उसके अन्तर्मुहूर्तकाल तक पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्करूप पतद्ग्रहपंचक में इक्कीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं।

तत्पश्चात् अन्तरकरण करने पर संज्वलनलोभ का संक्रम नहीं होता है। इसलिये इक्कीस प्रकृतियों में से उसके कम कर देने पर बीस प्रकृतियां पंचक रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं और अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। पुनः नपुंसकवेद के उपशांत हो जाने पर उन्नीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे भी अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। पुनः स्त्रीवेद के उपशांत हो जाने पर शेष अठारह प्रकृतियां इसी पंचक रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं और वे भी अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं।

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति में एक समय कम दो आवलिका शेष रह जाने पर पुरुषवेद पतद्ग्रह नहीं रहता है। इसलिये पूर्वोक्त पंचक में से उसे निकाल देने पर चतुष्करूप पतद्ग्रह में वे ही अठारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् हास्यादि छह नो कषायों के उपशांत हो जाने पर शेष बारह प्रकृतियां चतुष्करूप उसी पतद्ग्रह में भी संक्रांत होती हैं और वे एक समय कम दो आवलिकाकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। तत्पश्चात् पुरुषवेद के उपशांत हो जाने पर ग्यारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे चतुष्करूप पतद्ग्रह में एक अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती हैं।

तत्पश्चात् संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिकाल शेष रह जाने पर संज्वलन क्रोध भी पतद्ग्रह नहीं रहता है। इसलिये उक्त चार में से उसे कम कर देने पर शेषत्रिक रूप पतद्ग्रह में वे ही पूर्वोक्त ग्यारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे भी तब तक, जब तक एक समय कम दो आवलिकाल है। इसके पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण रूप क्रोधद्विक के उपशांत हो जाने पर शेष नौ प्रकृतियां पूर्वोक्त त्रिक रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं और वे भी तब तक जब तक कि एक समय कम दो आवलिकाल पूर्ण होता है। तत्पश्चात् संज्वलन क्रोध के उपशांत हो जाने पर आठ प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे भी त्रिक रूप पतद्ग्रह में अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं।

तत्पश्चात् संज्वलन मान की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिकाल शेष रह जाने

पर संज्वलन मान भी पतद्ग्रह नहीं रहता है। इसलिये पूर्वोक्त त्रिक में से उसके निकाल देने पर शेष द्विक रूप पतद्ग्रह में पूर्वोक्त आठ प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे एक समय कम दो आवलिकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप मानद्विक के उपशांत हो जाने पर शेष छह प्रकृतियां द्विक रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं और वे एक समय कम दो आवलिकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। तत्पश्चात् संज्वलन मान के उपशांत हो जाने पर पांच प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे द्विक रूप पतद्ग्रह में अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं।

इसके पश्चात् संज्वलन माया की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिकाल शेष रह जाने पर संज्वलन माया की पतद्ग्रहता नहीं रहती है। इसलिये द्विक रूप पतद्ग्रह में से उसको निकाल देने पर शेष संज्वलन लोभ रूप एक ही पतद्ग्रह में वे पांचों प्रकृतियां संक्रांत होती हैं और वे भी एक समय कम दो आवलिकाल तक संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप मायाद्विक के उपशांत हो जाने पर शेष तीन प्रकृतियां संज्वलन लोभ में संक्रांत होती हैं और वे अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। तब अनिवृतिबादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में दोनों उपशांत हो जाती हैं। इसलिये कोई भी प्रकृति किसी में भी संक्रांत नहीं होती हैं।

इस प्रकार उपशम श्रेणी में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम और पतद्ग्रह विधि को जानना चाहिये। जिसे निम्नलिखित प्रारूप में सुलभता से समझा जा सकता है —

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रमकाल	स्वामी
९ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क, पु. वेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा	२१ प्रकृतिक	१२ कषाय, ९ नोकषाय	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण गुण.
५ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क, पु. वेद	२१ प्रकृतिक	,, ,,	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अनि. गुण. (अंतरकरण पूर्व)
		२० प्रकृतिक	संज्वलन लोभ रहित पूर्वोक्त	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, (अन्तरकरण में)
		१९ प्रकृतिक	११ कषाय, नपु. वेद रहित ८ नोकषाय	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, (अन्तरकरण बाद)
		१८ प्रकृतिक	११ कषाय, हास्य षट्क पुरुषवेद	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
४ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क	१८ प्रकृतिक	,, ,,	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		१२प्रकृतिक	११ कषाय पुरुषवेद	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		११ प्रकृतिक	११ कषाय	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
३ प्रकृतिक	संज्वलन मान, माया, लोभ	११ प्रकृतिक	११ कषाय	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		९ प्रकृतिक	अप्रत्या. प्रत्या. क्रोध रहित पूर्वोक्त	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		८ प्रकृतिक	संज्वलन क्रोध रहित पूर्वोक्त	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
२ प्रकृतिक	संज्वलन माया, लोभ	८ प्रकृतिक	संज्वलन क्रोध रहित पूर्वोक्त	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		६ प्रकृतिक	अप्रत्या. प्रत्या. मान रहित पूर्वोक्त	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		५ प्रकृतिक	संज्वलन मान र. पूर्वोक्त	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,
१ प्रकृतिक	संज्वलन लोभ	५ प्रकृतिक	संज्वलन मान रहित	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		३ प्रकृतिक	अप्रत्या. प्रत्या. माया रहित पूर्वोक्त	२१प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		२ प्रकृतिक	अप्रत्या. प्रत्या. लोभ	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,,

इस तरह ९, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक छह पतद्ग्रहस्थान और २१, २०, १९, १८, १२, ११, ९, ८, ६, ५, ३, २ प्रकृतिक १२ संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणी में होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि २१ प्रकृति की सत्ता वाला होता है और २१ प्रकृतिक संक्रमस्थान ९ प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में पाया जाता है। अतः प्रारम्भक होने से ९ प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान यहां बताया गया है।

क्षपकश्रेणी में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम और पतद्ग्रह की विधि –

अब क्षपकश्रेणी में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम और पतद्ग्रह की विधि का कथन करते हैं –

इक्कीस प्रकृति की सत्तावाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता है और जब वह अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान को प्राप्त होता है तब उसके पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क रूप पतद्ग्रह पंचक में सर्वप्रथम इक्कीस प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् आठ कषायों के क्षय हो जाने पर तेरह प्रकृतियां अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती हैं। पुनः अन्तरकरण करने पर संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता है इसलिये शेष बारह प्रकृतियां इसी पंचक रूप पतद्ग्रह में अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती हैं। पुनः नपुंसकवेद के क्षय हो जाने पर ग्यारह प्रकृतियां भी अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती हैं। पुनः स्त्रीवेद के क्षय हो जाने पर दस प्रकृतियां भी अन्तर्मुहूर्तकाल तक उसी पंचक रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं।

तत्पश्चात् पुरुषवेद की प्रथम स्थिति में एक समय कम दो आवलिकाल शेष रह जाने पर पुरुषवेद भी पतद्ग्रह नहीं रहता है। इसलिये पांच में से उसको कम कर देने पर शेष चतुष्क रूप पतद्ग्रह में वे ही दस प्रकृतियां एक समय कम दो आवलिकाल तक संक्रांत होती रहती हैं। पुनः छह नोकषायों के क्षय हो जाने पर शेष चार प्रकृतियां उसी चतुष्क रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् पुरुषवेद का क्षय हो जाता है। उस समय संज्वलन क्रोध की भी पतद्ग्रहता नहीं रहती है। इसलिये उसको निकाल देने पर शेष तीन प्रकृतियों में तीन प्रकृतियां अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती हैं। तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलिकाल से संज्वलन क्रोध क्षीण हो जाता हैं। उस समय संज्वलन मान की भी पतद्ग्रहता नहीं रहती है। इसलिये दो प्रकृतियां दो प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रांत होती हैं।

तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलिकाल रहने पर संज्वलन मान भी क्षीण हो जाता है। उसी समय संज्वलन माया की भी पतद्ग्रहता नहीं रहती है। इसलिये एक ही संज्वलन लोभ रूप प्रकृति में संज्वलन माया रूप एक प्रकृति संक्रमित होती हैं और अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रमित होती है। तत्पश्चात् दो आवलिकाल से संज्वलन माया भी क्षय हो जाती है। जिससे उसके ऊपर कोई भी प्रकृति किसी भी प्रकृति में संक्रमित नहीं होती है।

क्षपकश्रेणी में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम और पतद्ग्रह स्थानों का प्रारूप इस प्रकार है–

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
९ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क, पु. वेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा	२१ प्रकृतिक	१२ कषाय, ९ नोकषाय	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण गुण.
५ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क, पु. वेद	२१ प्रकृतिक	,, ,,	२१प्र.	अन्तर्मुहूर्त	अनि. करण गुण. द्वितीय भागपर्यन्त
		१३ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क ९ नोकषाय	१३प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, तृतीय भाग में
		१२ प्रकृतिक	संज्वलन क्रोधादित्रिक ९ नोकषाय	१३प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, अन्तरकरण में
		११ प्रकृतिक	संज्वलनक्रोधादित्रिक ८ नो कषाय (नपु. वेद रहित)	१२प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, चतुर्थ भाग में
		१० प्रकृतिक	संज्वलन क्रोधादित्रिक ७ नो कषाय (स्त्री वेद रहित)	११प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, पंचम भाग में
४ प्रकृतिक	संज्वलन चतुष्क	१० प्रकृतिक	,, ,, ,,	११प्र.	समयो. आव. द्विक	,, ,,
		४ प्रकृतिक	संज्वलन क्रोधादित्रिक पुरुषवेद	५प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, षष्ठ भाग में

पतद्ग्रहस्थान	पतद्ग्रह प्रकृतियां	संक्रमस्थान	संक्रम प्रकृतियां	सत्ता	संक्रम काल	स्वामी
३ प्रकृतिक	संज्वलन मानादि त्रिक	३ प्रकृतिक	संज्व. क्रोधादित्रिक	४प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, सप्तम भाग में
२ प्रकृतिक	संज्वलन मायादि द्विक	२ प्रकृतिक	संज्व. मान, माया	३प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, अष्टम भाग में
१ प्रकृतिक	संज्वलन लोभ	१ प्रकृतिक	संज्वलन माया	२प्र.	अन्तर्मुहूर्त	,, ,, नवम भाग में

इस प्रकार क्षपकश्रेणी में ९, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक छह पतद्ग्रहस्थान में १९, १३, १२, ११, १०, ४, ३, २, १ प्रकृतिक ९ संक्रमस्थान जानना चाहिये।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह स्थानों का निरूपण समझना चाहिये।

पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का संकलन –

अब मोहनीय कर्म के पूर्वोक्त पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का संकलन करते हुये कहते हैं –

छब्बीस - सत्तवीसण, संकमो होइ चउसु ठाणेसु।
बावीस - पन्नरसगे, एकारस - इगुणवीसाए॥१२॥

सत्तरस - एकवीसासु, संकमो होइ पन्नवीसाए।
नियमा चउसु गईसु, नियमा दिट्ठी कए तिविहे॥१३॥

बाबीस - पन्नरसगे, सत्तग - एक्कारसिगुणवीसासु।
तेवीसाए नियमा, पंच वि पंचिंदिएसु भवे॥१४॥

चोद्दसग - दसग - सत्तग - अट्ठारसगे य होइ बावीसा।
नियमा मणुयगईए, नियमा दिट्ठी कए दुविहे॥१५॥

तेरसग - नवग - सत्तग - पणग एक्कवीसासु।
एक्कावीसा संकमइ सुद्धसासाणमीसेसु॥१६॥

एत्तो अविसेसा, संकमंति उवसामगे व खवगे वा।
उवसामगेसु वीसा य, सत्तगे छक्क पणगे य॥१७॥

पंचसु एगुणवीसा, अट्ठारस पंचगे चउक्के य।
चउदस छसु पगईसु तेरसगं छक्क-पणगंमि॥१८॥

पंच - चउक्के बारस, एक्कारस पंचगे तिग चउक्के।
दसगं चउक्क-पणगे, नवगं च तिगंमि बोधव्वं॥१९॥

अट्ठ दुग तिग चउक्के सत्त चउक्के तिगे य बोधव्वा।
छक्कं दुगम्मि नियमा, पंच तिगे एक्कगदुगे य॥२०॥

चत्तारि तिग-चउक्के, तिन्नि तिगे एक्कगे य बोधव्वा।
दो दुसु एक्काए, विय एक्का एक्काए बोधव्वा॥२१॥

शब्दार्थ – **छब्बीस सत्तवीसण** – छब्बीस और सत्ताईस का, **संकमो** – संक्रम, **होइ** – होता है, **चउसुठाणेसु** – चार स्थानों में, **बावीस** – बाईस, **पन्नरसगे** – पन्द्रह में, **एकारस** – ग्यारह, **इगुणवीसाए** – उन्नीस।

सत्तरसएकवीसासु – सत्रह और इक्कीस में, **संकमो** – संक्रम, **होइ** – होता है, **पन्नवीसाए**– पच्चीस का, **नियमा** – निश्चित रूप से, **चउसु गईसु** – चारों गतियों में, **दिट्ठी** – दर्शनमोह, **कए** – करने पर, **तिविहे** – तीन प्रकार।

बावीस पन्नरसगे – बाईस और पन्द्रह में, **सत्तगएक्कारसिगुणवीसासु** – सात ग्यारह और उन्नीस में, **तेवीसाए** – तेईस का, **नियमा** – निश्चय से, **पंचवि** – पांचों, **पंचिंदिएसु** – पंचेन्द्रिय में, **भवे**– होता है।

चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे – चौदह, दस, सात, अठारह में, **य** – और, **होइ** – होता है, **बावीसा** – बाईस का, **नियमा** – निश्चय से, **मणुयगईए** – मनुष्यगति में, **नियमा** – निश्चय से, **दिट्ठी** – दर्शनमोह, **कए** – करने पर, **दुविहे** – दो प्रकार।

तेरसग नवग सत्तग सत्तरस पणग एक्कवीसासु – तेरह, नौ, सात, सत्तरह, पांच और इक्कीस में, **एक्ककवीसा** – इक्कीस, **संकमई** – संक्रमित करता है, **सुद्धसासाण मीसेसु** – शुद्ध (सम्यग्दृष्टि) सास्वादन और मिश्र दृष्टि में।

एत्तो – यहां से आगे, **अविसेसा** – अविशेष, **संकमन्ति** – संक्रम में प्राप्त होते हैं, **उवसामगे** – उपशामक, **व** – अथवा, **खवगे** – क्षपक में, **वा** – अथवा, **उवसामगेसु** – उपशामक में, **वीसा** – वीस, **य** – और, **सत्तगे छक्क पणगे** – सात, छह, पांच में, **य** – और।

पंचसु – पांच में, **एगुणवीसा** – उन्नीस, **अट्ठारस** – अठारह, **पंचगे चउक्के** – पांच चार में, **य** – और, **चउदस** – चौदह, **छसुपगईसु** – छह प्रकृतियों में, **तेरसगं** – तेरह, **छक्कपणगंमि** – छह और पांच में।

पंच चउक्के – पांच, चार में, **बारस** – बारह, **एक्कारस** – ग्यारह, **पंचगे तिग चउक्के** – पांच तीन और चार में, **दसगं** – दस का, **चउक्क-पणगे** – चार और पांच में, **नवगं** – नौ का, **च**– और, **तिगंमि** – तीन में, **बोधव्वं** – जानना चाहिये।

अट्ठ – आठ, **दुगतिगचउक्के** – दो तीन चार में, **सत्त** – सात का, **चउक्के तिगे** – चार तीन में, **य** – और, **बोधव्वा** – जानना चाहिये, **छक्कं** – छह का, **दुगम्मि** – दो में, **नियमा** – नियम से, **पंच** – पांच का, **तिगेएक्कगदुगे य** – तीन एक और दो में।

चत्तारि – चार का, **तिग चउक्के** – तीन और चार में, **तिन्नि** – तीन का, **तिगेएक्कगे** – तीन एक में, **य** – और, **बोधव्वा** – जानना चाहिये, **दो** – दो का, **दुसुएक्काए** – दो और एक में, **वियएक्का** – दो और एक का, **एक्काए** – एक में, **बोधव्वा** – जानना।

गाथार्थ – छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियों का संक्रम बाईस, पन्द्रह, ग्यारह और उन्नीस प्रकृतिरूप चार स्थानों में होता है।

पच्चीस प्रकृतिरूप स्थान का सत्रह और इक्कीस प्रकृतियों में संक्रम होता है। यह संक्रम नियम से चारों गतियों में होता है और नियम से दर्शनमोह के तीन भेद करने पर जानना चाहिये।

तेईस का संक्रम बाईस पन्द्रह, सात, ग्यारह और उन्नीस इन पांच स्थान में होता है और यह सभी पांचों स्थान पंचेन्द्रिय जीवों में ही होते हैं।

बाईस प्रकृतिक स्थान चौदह, दस, सात और अठारह प्रकृतिरूप स्थान में संक्रांत होता है और निश्चितरूप से मनुष्यगति में ही होता है तथा दर्शनमोहनीय के दो प्रकार किये जाने पर होता है।

इक्कीस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान तेरह, नौ, सात, सत्रह, पांच और इक्कीस प्रकृतिरूप स्थानों में संक्रांत होता है और यह शुद्ध दृष्टि, सास्वादन और मिश्रदृष्टि जीवों में होता है।

इससे आगे अवशिष्ट संक्रमस्थान उपशमश्रेणी में और क्षपकश्रेणी में संक्रांत होते हैं। उनमें भी उपशमश्रेणी में सात, छह और पांच में बीस प्रकृतिरूप स्थान का संक्रम होता है।

उन्नीस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में अठारह प्रकृतिरूप संक्रमस्थान पांच और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में चौदह प्रकृतिरूप संक्रमस्थान छह प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में और तेरह प्रकृतिरूप संक्रमस्थान छह और पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होते हैं।

बारह प्रकृति रूप संक्रमस्थान पांच और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में, ग्यारह प्रकृतिरूप संक्रमस्थान पांच, तीन और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में, दस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान चार और पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में और नौ प्रकृतिरूप संक्रमस्थान तीन प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत जानना चाहिये।

आठ प्रकृतिरूप संक्रम स्थान दो, तीन और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में सात प्रकृतिरूप संक्रमस्थान चार और तीन प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में छह प्रकृतिरूप संक्रमस्थान दो प्रकृतिरूप पतद्ग्रह स्थान में और पांच प्रकृतिरूप संक्रमस्थान तीन, एक और दो प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में नियमतः संक्रांत होते हैं।

चार प्रकृतियां तीन और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में, तीन प्रकृतियां तीन और एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं तथा दो प्रकृतियां दो और एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में तथा एक प्रकृति

एक में संक्रांत होती है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ — बाईस प्रकृतिक, पन्द्रह प्रकृतिक, ग्यारह प्रकृतिक और उन्नीस प्रकृतिक इन चार पतद्ग्रहस्थानों में छब्बीस और सत्ताईस प्रकृतियों का संक्रम होता है। जिस का क्रम इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि के बाईस में, देशविरत के पन्द्रह में, प्रमत्त और अप्रमत्त विरत के ग्यारह में और अविरत सम्यग्दृष्टि के उन्नीस में संक्रम होता है।

पच्चीस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान का सत्रह और इक्कीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थानों में संक्रम होता है। सत्रह प्रकृतिकरूप स्थान में मिश्रदृष्टि के, इक्कीस प्रकृतिकरूप स्थान में मिथ्यादृष्टि के और सास्वादन सम्यग्दृष्टि के संक्रम होता है। यह पच्चीस प्रकृतिकरूप स्थान का संक्रम सत्रह और इक्कीस प्रकृतिकरूप स्थानों में नियम से चारों ही गतियों में पाया जाता है। सास्वादन सम्यग्दृष्टि के सत्रह प्रकृतिक स्थान में और इक्कीस प्रकृतिकरूप स्थान में पच्चीस प्रकृतिकरूप स्थान का संक्रम नियम से दर्शनमोहनीय के तीन प्रकार (पुंज) करने पर जानना चाहिये। मिथ्यादुष्टि गुणस्थान में तो इक्कीस प्रकृतिक स्थान में पच्चीस प्रकृतियों का संक्रम अनादि मिथ्यादृष्टि के भी[१] होता है।

तेईस प्रकृतिरूप स्थान का संक्रम बाईस, पन्द्रह, सात, ग्यारह और उन्नीस प्रकृतिरूप पांच पतद्ग्रह स्थानों में होता है। उनमें से बाईस में मिथ्यादृष्टि के, पन्द्रह में देशविरत के सात में उपशमश्रेणी में वर्तमान और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के, ग्यारह में प्रमत्त और अप्रमत्त विरत के और उन्नीस में अविरतसम्यग्दृष्टि के संक्रम होता है। ये पांचों ही पतद्ग्रहस्थान पंचेन्द्रियों में ही होते हैं।

बाईस प्रकृतिक स्थान चौदह, दस, सात, ग्यारह और अठारह प्रकृतिरूप पतद्ग्रह स्थान में संक्रम के योग्य है। उनमें से देशविरत के चौदह प्रकृतिरूप स्थान में, प्रमत्त और अप्रमत्त विरत के दस प्रकृतिरूप स्थान में, उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के सात में और अविरतसम्यग्दृष्टि के अठारह प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रम होता है। बाईस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान नियम से मनुष्यगति में होता है, अन्यत्र नहीं और वह नियम से सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकार की प्रकृतियों के होने पर ही होता है।

तेरह, नौ, सात, सत्रह पांच और इक्कीस प्रकृतिरूप छह पतद्ग्रहस्थानों में इक्कीस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान संक्रांत होता है। किन जीवों के होता है ? तो वह शुद्ध सास्वादन और मिश्र में होता है — सुद्ध सासाण मीसेसु। अर्थात् शुद्ध यानि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि विशुद्ध सम्यग्दर्शन वालों के, सास्वादन सम्यग्दृष्टियों

---

१. यहां 'भी' शब्द का प्रयोग इसलिये किया है कि सम्यक्त्व, मिश्र की उद्वलना किए हुये २३ की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के भी २१ प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में २५ प्रकृतियों का संक्रम होता है।

के और मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व दृष्टियों के। इनमें से देशविरत के तेरह प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में प्रमत्त और अप्रमत्त विरत के नवकरूप पतद्ग्रह में उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के सप्त प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में, अविरत सम्यग्दृष्टि और मिश्र दृष्टि के सत्रह प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में, उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अथवा क्षपकश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रम होता है। सास्वादन सम्यग्दृष्टि के इक्कीस प्रकृतिरूप पतद्ग्रह स्थान में संक्रम होता है। जिन आचार्यों ने चौबीस प्रकृतियों की सत्तावाला होता हुआ उपशमश्रेणी से गिरता और मिथ्यात्व के अभिमुख सास्वादन सम्यग्दृष्टि माना है, उनके मत में सास्वादन के इक्कीस प्रकृतिरूप स्थान का इक्कीस प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रम कहा है। अन्यथा अनन्तानुबंधी के उदय सहित सास्वादन सम्यग्दृष्टि के इक्कीस प्रकृतिरूप पतद्ग्रह स्थान में पच्चीस प्रकृतिरूप स्थान ही संक्रम में प्राप्त होता है। जो कि पूर्व में कहा जा चुका है।

इससे शेष रहे सर्व सत्रह संक्रम स्थान उपशम और क्षपकश्रेणी में संक्रमित होते हैं। इनमें बीस प्रकृतिवाला संक्रमस्थान सात, छह और पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है और वे सब उपशमश्रेणी वाले जीवों में पाये जाते हैं। उनमें भी सात और छह प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान उपशम श्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के और पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रह उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पाया जाता है।

पांच प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान में उन्नीस प्रकृति रूप स्थान संक्रांत होता है। यह उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पाया जाता है तथा उसी जीव के अठारह प्रकृति रूप संक्रमस्थान पांच प्रकृतिकरूप और चार प्रकृतिकरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है। चौदह प्रकृतिरूप संक्रम स्थान छह प्रकृतिकरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है। ये उपशमश्रेणी में वर्तमान उपशम सम्यग्दृष्टि के पाये जाते हैं तथा तेरह प्रकृतिक रूप संक्रमस्थान छह प्रकृति रूप और पांच प्रकृति रूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है। यह छह प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थान उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के पाया जाता है तथा पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान क्षपकश्रेणी में वर्तमान जीव के पाया जाता है।

पांच और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में बारह प्रकृतियां संक्रांत होती हैं। वे इस प्रकार कि ये बारह प्रकृतियां क्षपकश्रेणी में पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं और उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं तथा ग्यारह प्रकृतियां पांच, चार, तीन प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं। इनमें से उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षपकश्रेणी में वर्तमान (क्षायिक सम्यग्दृष्टि) जीव के पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रह स्थान में ग्यारह का संक्रम होता है तथा उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के तीन और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रम होता है तथा दस प्रकृतिरूप संक्रमस्थान का चार और पांच प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रम होता है। यह

उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के और क्षपकश्रेणी में वर्तमान जीव के पाया जाता है। नौ प्रकृतिरूप संक्रमस्थान तीन प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है। यह उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पाया जाता है।

आठ प्रकृतियां, दो, तीन और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं। इनमें से उपशम श्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के दो और तीन प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं तथा सात प्रकृतियां तीन और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रह स्थान में संक्रांत होती हैं। ये संक्रमस्थान उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के ही दो, तीन और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रह स्थान में जानना चाहिये तथा छह प्रकृतिरूप संक्रमस्थान दो प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में ही नियम से संक्रांत होता है और वह उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के होता है तथा पांच प्रकृतियां तीन एक और दो प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं। उनमें से उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के तीन प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं और उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षापिक सम्यग्दृष्टि के दो और एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में पांच प्रकृतियां संक्रांत होती हैं।

चार प्रकृतिरूप संक्रमस्थान तीन प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है। इनमें से उपशमश्रेणी में वर्तमान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के तीन प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में तथा क्षपकश्रेणी में चार प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रम होता हैं तथा तीन प्रकृतियां तीन और एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं। इनमें से तीन में क्षपकश्रेणी के भीतर और एक में क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणी के भीतर संक्रम होता है तथा दो प्रकृतियां दो और एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होती हैं। इनमें से दो में क्षपकश्रेणी के भीतर और उपशम सम्यग्दृष्टि के उपशमश्रेणी के भीतर संक्रम होता है तथा एक में उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के संक्रम होता है तथा एक प्रकृति का एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में ही संक्रम होता है और वह क्षपकश्रेणी में ही जानना चाहिये।[1]

पतद्ग्रह स्थानों में संक्रम स्थानों के संकलन करने का उपाय

अब पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का संकलन करने के लिये मार्गण (अन्वेषण) का उपाय बतलाते हैं —

अणुपुव्वि अणाणुपुव्वी, झीणमझीणे य दिट्ठिमोहम्मि।
उवसामगे य खवगे, य संकमे मग्गणोवाया ॥ २२॥

शब्दार्थ — **अणुपुव्वि** — आनुपूर्वी से, **अणाणुपुव्वी** — अनानुपूर्वी, **झीणमझीणे** — क्षीण

१. उक्त गाथाओं के अनुसार मोहनीय कर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों और स्वामी की संकलता परिशिष्ट में देखिये।

अक्षीण होने पर, **य** – और, **दिट्ठिमोहम्मि** – दर्शन मोहनीय के, **उवसामगे** – उपशामक में, **य** – और, **खवगे** – क्षपक में, **य** – और, **संकमे** – संक्रम के, **मग्गणोवाया** – मार्गण के उपाय हैं।

गाथार्थ – आनुपूर्वी से अनानुपूर्वी से और उभय से दर्शनमोहनीय के क्षीण और अक्षीण होने पर उपशामक और क्षपकश्रेणी में संक्रमस्थानों की मार्गणा के उपाय हैं।

विशेषार्थ – पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों की संकलना का विचार करने के जो उपाय हैं, अब उनको स्पष्ट करते हैं – क्या यह संक्रमस्थान आनुपूर्वी[१] से संक्रम में घटित होता है अथवा अनानुपूर्वी[२] से अथवा दोनों प्रकारों से ?[३] दर्शनमोहनीय के क्षय होजाने पर घटित होते हैं अथवा क्षय नहीं होने पर अथवा दोनों अवस्थाओं में घटित होते हैं ? तथा ये उपशमक के घटित होते हैं अथवा क्षपक के अथवा दोनों के ?[४]

उक्त कथन का सारांश यह है कि उपर्युक्त प्रश्नों को ध्यान में रखकर पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों का अन्वेषण करना चाहिये।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों की विधि का विस्तार से विचार करना चाहिये।

नामकर्म के संक्रमस्थान और पतद्ग्रहस्थान

अब नामकर्म के संक्रमस्थान और पतद्ग्रहस्थानों का वर्णन किया जाता है। उनमें से पहले संक्रमस्थान बतलाते हैं। वे बारह होते हैं, जो इस प्रकार हैं –

तिदुगेगसयं छप्पण - चउतिगनउई य इगुणनउईया।
अट्ठचउदुगेक्कसीई, संकमा बारस य छट्ठे ॥ २३॥

शब्दार्थ – **तिदुगेगसयं** – तीन, दो, एक अधिक सौ, **छप्पण चउतिगनउई** – छह, पांच, चार, तीन अधिक नव्वै, **य** – और, **इगुणनउईया** – एक कम नव्वै, **अट्ठ चउदुगेक्कसीई** – आठ, चार, दो और एक अधिक अस्सी, **संकमा** – संक्रम स्थान, **बारस** – बारह, य – और, **छट्ठे** – छट्ठे कर्म में।

गाथार्थ – छट्ठे कर्म में अर्थात् नामकर्म में तीन अधिक सौ आदि अर्थात् एक सौ तीन , एक सौ दो, एक सौ एक, छियानवै, पंचानवै, चौरानवै, तेरानवै, नवासी, अठासी, चौरासी, बियासी और इक्यासी

---

१. पूर्वानुपूर्वी अथवा पश्चातानुपूर्वी से, प्ररूपणा करना आनुपूर्वी प्ररूपणा है।

२. अनुक्रम रहित संक्रमस्थानों की अमुक-अमुक पतद्ग्रहस्थान में प्राप्ति कहना अनानुपूर्वी प्ररूपणा है।

३. उभय प्रकार (आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी) से विचार करना उभय प्ररूपणा है।

४. उक्त कथन का सारांश यह है कि पतद्ग्रह और संक्रमस्थानों को स्थापित करके उनके विचार करने की विधि यह है।

प्रकृतिक बारह संक्रमस्थान हैं।

विशेषार्थ – छट्ठे नामकर्म में बारह संक्रमस्थान होते हैं, यथा – एक सौ तीन , एक सौ दो, एक सौ एक, छियानवै, पंचानवै, चौरानवै, तेरानवै, नवासी, अठासी, चौरासी, बियासी और इक्यासी प्रकृतिक। नामकर्म की सर्वप्रकृतियां एक सौ तीन होती हैं, यथा - गतिचतुष्क, जातिपंचक, शरीरपंचक, संघातपंचक, बंधनपंचदशक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, अंगोपांगत्रिक, वर्णपंचक, गंधद्विक, रसपंचक, स्पर्शअष्टक, अगुरुलघु आनुपूर्वीचतुष्क, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, विहायोगतिद्विक, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, साधारण, प्रत्येक, पर्याप्त, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, दुःस्वर, सुस्वर, आदेय, अनादेय, अयशः कीर्ति, यशः कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। यह एक सौ तीन प्रकृतिक संक्रमस्थान है।

इनमें से तीर्थंकर को छोड़कर एक सौ दो प्रकृतिरूप स्थान होता है। अथवा यशःकीर्ति रहित एक सौ दो प्रकृतिक स्थान होता है। तीर्थंकर, यशःकीर्ति रहित एक सौ एक प्रकृतिक स्थान होता है।

एक सौ तीन में से आहारकसप्तक को कम करने पर छियानवै प्रकृतिक स्थान होता है। उसमें से तीर्थंकर रहित पंचानवै प्रकृतिक अथवा यशःकीर्ति रहित पंचानवै प्रकृतिक स्थान होता है तथा छियानवै प्रकृतिक स्थान में से यशःकीर्ति और तीर्थंकर नाम को कम करने पर चौरानवै प्रकृतिक स्थान होता है। तीर्थंकर नाम रहित पंचानवै प्रकृतिक स्थान में से देवगति और देवानुपूर्वी को कम करने पर अथवा नरकगति और नरकानुपूर्वी को कम करने पर तैरानवै प्रकृतिक स्थान होता है।

एक सौ तीन प्रकृतिक स्थान में से नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति को छोड़कर शेष चार जाति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप उद्योत, इन तेरह प्रकृतियों के क्षय हो जाने तथा यशःकीर्तिनाम को कम कर देने पर नवासी प्रकृतिक स्थान होता है। यही तीर्थंकर रहित अठासी प्रकृतिक स्थान होता है।

तेरानवै प्रकृतिक स्थान में से वैक्रियसप्तक और नरकगति, नरकानुपूर्वी के उद्वलन करने पर शेष रही चौरासी प्रकृति रूप स्थान होता है। उनमें से मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी के उद्वलन करने पर बियासी प्रकृतिक स्थान होता है। अथवा छियानवै प्रकृतिक स्थान में से पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर और यशःकीर्ति को कम कर देने पर बियासी प्रकृतिक स्थान होता है और इसी में तीर्थंकर प्रकृति रहित इक्यासी प्रकृतिक स्थान होता है।

इस प्रकार नामकर्म के ये बारह संक्रमस्थान होते हैं। अब नामकर्म के पतद्ग्रहस्थानों का प्रतिपादन करते हैं –

तेवीस - पंचवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस-गुणतीसा।
तीसेक्क तीसएगं, पडिग्गहा अट्ठ नामस्स॥ २४॥

शब्दार्थ – **तेवीस** – तेईस, **पंचवीस** – पच्चीस, **छब्बीसा** – छब्बीस, **अट्ठवीस** – अट्ठाईस, **गुणतीसा** – उनतीस, **तीसेक्कतीसएगं** – तीस, इकतीस, एक, **पडिग्गहा** – पतद्ग्रहस्थान, **अट्ठ** – आठ, **नामस्स** – नामकर्म के।

गाथार्थ – तेईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिरूप ये आठ नामकर्म के पतद्ग्रहस्थान होते हैं।

विशेषार्थ – गाथार्थ के अनुसार ही जानना चाहिये।

पतद्ग्रहस्थानों में संक्रांत होने वाली प्रकृतियां

नामकर्म के संक्रमस्थानों और पतद्ग्रहस्थानों की प्रकृति संख्या बतलाने के बाद कौन-कौन सी प्रकृतियां किस-किस पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होती हैं अब इसका विचार करते हैं –

एक्कगदुगसय पणचउ-नउई ता तेरसूणिया वावि।
परभवियबंधवोच्छेय, उपरि सेढीए एक्कस्स॥२५॥
तिगदुगसयं छपंचग-नउई य जइस्स एक्कतीसाए।
एगंतसेढिजोगे, वज्जिय तीसिगुणतीसासु ॥२६॥
अट्ठावीसाए वि, ते बासीइतिसयवज्जिया पंच।
ते च्चिय बासीइजुया, सेसेसुं छन्नउई य वज्जा॥२७॥

शब्दार्थ – **एक्कगदुगसय** – एक और दो अधिक सौ, **पणचउनउई** – पांच चार अधिक नव्वै, **ता** – उसके बाद, **तेरसूणियावावि** – तेरह कम वे ही, **परभवियबंधवोच्छेय** – परभव सम्बन्धी बंधविच्छेद होने के, **उपरि** (ऊपर) बाद, **सेढीए** – श्रेणी में, **एक्कस्स** – एक का।

तिगदुगसयं – तीन दो अधिक सौ, **छपंचगनउई** – छह, पांच अधिक नव्वै, **य** – और, **जइस्स**– यति के, **एक्कतीसाए** – इकतीस में, **एगंतसेढिजोगे** – एकान्त श्रेणी योग्य, **वज्जिय** – छोड़कर, **तीसिगुणतीसासु** – तीस और उनतीस में।

अट्ठावीसाए – अट्ठाईस में, **वि** – भी, **ते** – पूर्वोक्त वे, **बासीइ** – बियासी, **तिसय** – एक सौ तीन, **वज्जिया** – छोड़कर, **पंच** – पांच, **ते** – वे, **च्चिय** – ही, **बासीइजुया** – बियासी सहित, **सेसेसुं** – शेष में, **छन्नउई** – छियानवै, **य** – और, **वज्जा** – छोड़कर।

गाथार्थ – श्रेणी को प्राप्त जीव के परभव सम्बंधी प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाने के बाद एक प्रकृतिक पतद्ग्रह स्थान में एक सौ एक, एक सौ दो, पंचानवै, चौरानवै और उसके बाद तेरह कम वे ही स्थान अर्थात् अठासी, नवासी, बियासी और इक्यासी कुल मिलाकर ये आठ प्रकृतिस्थान संक्रांत होते हैं।

यति के (अप्रमत्तविरत और अपूर्वकरण गुणस्थान वाले के) इकतीस प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में एक सौ तीन, एक सौ दो और छियानवै और पंचानवै प्रकृतिरूप ये चार संक्रमस्थान हैं तथा तीस और उनतीस प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में एकान्त श्रेणी योग्य पांच स्थानों को छोड़ कर शेष सात संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं।

अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में भी पूर्वोक्त सात स्थानों में से बियासी और एक सौ तीन प्रकृतिक संक्रमस्थान को छोड़ कर शेष पांच संक्रमस्थान संक्रान्त होते हैं और शेष पतद्ग्रहस्थानों में बियासी प्रकृतिरूप संक्रमस्थान सहित और छियानवै प्रकृतिक स्थान से रहित वे ही पांच संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं।

विशेषार्थ – पारभविक अर्थात् परभव में ही जिनका वेदन होता है, ऐसी नामकर्म की देवगति-प्रायोग्य इकतीस आदि प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने पर, उसके आगे दोनों ही उपशम और क्षपक श्रेणी में एक यश:कीर्ति प्रकृति के बंधते हुए उसमें आठ संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं, यथा एक सौ एक, एक सौ दो पंचानवै, चौरानवै ये चार तथा इन्हीं चारों संक्रमस्थानों को तेरह से न्यून करने पर चार संक्रमस्थान होते हैं, यथा अठासी, नवासी, बियासी और इक्यासी।

इनमें एक सौ तीन प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के यश:कीर्ति बध्यमान पतद्ग्रहप्रकृति है, इसलिये उसको कम करने पर शेष एक सौ दो प्रकृतिरूप संक्रमस्थान यश:कीर्तिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है।

इसी प्रकार एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के एक सौ एक प्रकृतिरूप संक्रमस्थान एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

छियानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के यश:कीर्ति प्रकृति पतद्ग्रहरूप है, इसलिये उसके निकाल देने पर शेष पंचानवै प्रकृतिरूप संक्रमस्थान उस एक यश:कीर्ति पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

इसी प्रकार पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के चौरानवै प्रकृतिरूप संक्रमस्थान एक प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है।

एक सौ तीन प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के नामकर्म की पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों[1] के क्षय हो जाने पर यश:कीर्ति पतद्ग्रह है। इसलिये उसके निकाल देने पर नवासी प्रकृतिरूप संक्रमस्थान एक यश:कीर्ति रूप

---

१. नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण आतप, उद्योत - १३।

पतद्ग्रह में संक्रांत होता है।

एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर अठासी प्रकृतिरूप संक्रमस्थान एक प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रांत होता है।

छियानवै प्रकृति की सत्ता वाले जीव के नामकर्म की पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियां क्षय हो जाने पर बियासी प्रकृतिक संक्रमस्थान और पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के नामकर्म की तेरह प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर इक्यासी प्रकृतिक संक्रमस्थान एक यशःकीर्ति प्रकृतिरूप पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

इस प्रकार एक प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होने वाले आठ संक्रमस्थान जानना चाहिये – १०२, १०१, ९५, ९४, ८९, ८८, ८२, ८१ प्रकृतिक।

इकतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में जो चार संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं, वे इस प्रकार हैं –

यति-अप्रमत संयत और अपूर्वकरण संयत के देवगति पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियअंगोपांग, देवानुपूर्वी, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, तैजसकार्मण शरीर, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, तीर्थंकर और आहारकद्विक रूप इकतीस प्रकृतियों को बांधते हुये इस इकतीस प्रकृतियों के समुदाय रूप पतद्ग्रह स्थान में एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै और पंचानवै प्रकृतिक चार संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है –

एक सौ तीन प्रकृतिक संक्रमस्थान तीर्थंकर और आहारकद्विक की बंधावलिका के बीत जाने पर इकतीस प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रांत होता है, किन्तु तीर्थंकर नामकर्म की बंधावलिका के नहीं बीतने पर एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है।[1]

आहारकसप्तक[2] की बंधावलिका के नहीं बीतने पर छियानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान इकतीस प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रांत होता है तथा तीर्थंकर और आहारकसप्तक की बंधावलिका के नहीं बीतने पर पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान इकतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

तीस और उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रह स्थानों में संक्रांत होने वाले संक्रम स्थान इस प्रकार हैं –

एगतंसेढिजोगे इत्यादि अर्थात् जो संक्रमस्थान एकान्त रूप से श्रेणी के ही योग्य हैं, ऐसे एक सौ

---

१. तीर्थंकर नाम का बंध प्रारम्भ होने से १०३ प्रकृति की सत्ता तो हुई, किन्तु बंधावलिका सर्वकरणासाध्य होने से वह एक आवलिका तक संक्रमित नहीं होने से १०२ प्रकृतियों का संक्रम कहा है।

२. सत्ता की अपेक्षा यहां आहारकसप्तक का उल्लेख किया है। अन्यथा बंधापेक्षा तो आहारकद्विक कहना चाहिये।

एक, चौरानवै, नवासी, अठासी और इक्यासी, ये पांचों ही संक्रमस्थान श्रेणी में वर्तमान जीव के द्वारा एकमात्र यशःकीर्ति को बांधते हुये संक्रम्यमाण रूप से प्राप्त होते हैं, अन्यत्र नहीं। इसलिये उनको छोड़कर शेष एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तिरानवै, चौरासी और बियासी प्रकृतिरूप ये सात संक्रमस्थान तीस प्रकृतिक और उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रांत होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

एक सौ तीन प्रकृतियों की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि देव के तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, स्थिर, अस्थिर में से कोई एक, शुभ अशुभ में से कोई एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति और तीर्थंकररूप मनुष्यगति प्रायोग्य तीर्थंकर नाम सहित तीस प्रकृतियों को बांधते हुये तीस प्रकृतिक पतद्ग्रह में एक सौ तीन प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है।

एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले अप्रमत्तसंयत या अपूर्वकरणसंयत के देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियअंगोपांग, देवानुपूर्वी पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त,विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, तैजसशरीर कार्मणशरीर, वर्णादि चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, आहारकद्विक लक्षण वाली देवगति प्रायोग्य तीस प्रकृतियों को बांधते हुये तीस प्रकृतिक पतद्ग्रह में एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है।

अथवा एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों के उद्योत सहित द्वीन्द्रिय आदि के योग्य तैजसशरीर, कार्मणशरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादिचतुष्क, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, द्वीन्द्रियादिचतुष्क में से कोई एक जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर में से कोई एक, शुभ अशुभ में से कोई एक, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति में से कोई एक, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, कोई एक संस्थान, कोई एक संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, पराघात, उद्योत और उच्छ्वास रूप तीस प्रकृतियों को बांधते हुये तीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है।

छियानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले देव और नारकों के मनुष्यगतिप्रायोग्य तीर्थंकर नाम सहित पूर्वोक्त तीस प्रकृतियों को बांधते हुये तीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में छियानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है।

पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरणसंयत के आहारकद्विक सहित देवगतिप्रायोग्य पूर्वोक्त तीस प्रकृतियों को बांधते हुये आहारकसप्तक की बंधावलिका नहीं बीतने पर पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान तीस प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रांत होता है।

अथवा पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय जीवों के द्वीन्द्रियादि योग्य उद्योत सहित पूर्वोक्त तीस प्रकृतियों को बांधते हुये पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान तीस प्रकृतिक पतद्ग्रह में संक्रांत होता है।

तिरानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले, चौरासी प्रकृतियों की सत्ता वाले और बियासी प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रियादि जीवों के विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचगति के योग्य उच्छ्वास (उद्योत) सहित तीस प्रकृतियों को बांधते हुये यथाक्रम से तेरानवै प्रकृतिक, चौरासी प्रकृतिक और बियासी प्रकृतिक संक्रमस्थान तीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

ये ही पूर्वोक्त सातों संक्रमस्थान उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में भी संक्रांत होते हैं। जो इस प्रकार हैं –

एक सौ तीन प्रकृतियों की सत्ता वाले अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के देवगतिप्रायोग्य तीर्थंकरनाम सहित देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से कोई एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश:कीर्ति-अयश:कीर्ति में से कोई एक, समचतुरस्रसंस्थान, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु उपघात, निर्माण और तीर्थंकर इन उनतीस प्रकृतियों को बांधते हुए उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में एक सौ तीन प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है।

इन्हीं अविरत आदि गुणस्थान वाले जीवों के पूर्वोक्त उनतीस प्रकृतियों को बांधते हुए तीर्थंकरनामकर्म की बंधावलिका के नहीं बीतने पर एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान उसी उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

अथवा एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों के द्वीन्द्रियादि के योग्य पूर्वोक्त तीस प्रकृतियों में से उद्योतरहित उनतीस प्रकृतियों को बांधते हुए एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

छियानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के पूर्वोक्त देवगति प्रायोग्य तीस प्रकृतियों में से आहारकद्विक के निकाल देने पर और तीर्थंकरनाम को मिलाने पर जो उनतीस प्रकृतियां होती हैं, उनको बांधते हुए छियानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान उसी उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

अथवा तीर्थंकरनाम की सत्तावाले मिथ्यादृष्टि अपर्याप्त अवस्था में वर्तमान नारकी के मनुष्यगति प्रायोग्य मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, यश:कीर्ति-अयश:कीर्ति में से कोई एक, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, छह संहननों में से कोई एक

संहनन, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, निर्माण, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, सुस्वर-दुःस्वर में से कोई एक, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति में से कोई एक, इन उनतीस प्रकृतियों को बांधते हुए छियानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

छियानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवों के पूर्वोक्त तीर्थंकरनाम सहित देवगतिप्रायोग्य उनतीस प्रकृतियों को बांधते हुए तीर्थंकरनाम की बंधावलिका के नहीं बीतने पर उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है। अथवा पंचानवै प्रकृतियों की सत्तावाले एकेन्द्रियादि जीवों के द्वीन्द्रियादि के योग्य जो तीस प्रकृतियां पहले कही गई हैं, उनमें से उद्योतरहित उन्हीं उनतीस प्रकृतियों को बांधते हुए भी उनतीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होता है।

तेरानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान, चौरासी प्रकृतिक संक्रमस्थान और बियासी प्रकृतिक स्थान जिस प्रकार तीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होते हुए ऊपर कहे हैं, उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये।

अब अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होने वाले संक्रमस्थानों का कथन करते हैं –

अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में बियासी और एक सौ तीन प्रकृतिक संक्रमस्थान को छोड़ कर पूर्वोक्त शेष एक सौ दो प्रकृतिक, छियानवै प्रकृतिक, पंचानवै प्रकृतिक और चौरासी प्रकृतिक ये पांच संक्रमस्थान संक्रात होते हैं जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

मिथ्यादृष्टि नरकगतिप्रायोग्य नरकगति, नरकानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग, हुंडकसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से कोई एक, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, तैजसशरीर, कार्मणशरीर और निर्माण इन अट्ठाईस प्रकृतियों को तथा मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि जीव के देवगतिप्रायोग्य तैजसशरीर, कामर्णशरीर, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से कोई एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से कोई एक, इन अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते हुए एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान अट्ठाईस प्रकृतिरूप पतद्ग्रह में संक्रांत होता है।

जिसने पूर्व में नरकायु का बंध कर लिया हो और जो नरक में जाने के अभिमुख है और मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हुआ है ऐसे तीर्थंकरनाम सहित छियानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले मनुष्य के नरकगति-प्रायोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते हुए अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में छियानवै प्रकृतिक

संक्रमस्थान संक्रांत होता है।

जिस प्रकार एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान को बतलाया है उसी तरह पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान को भी जानना चाहिये, लेकिन इतना अन्तर है कि एक सौ दो प्रकृतिक संक्रमस्थान के बदले पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान कहना चाहिये।[१]

तेरानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि जीव के देवगतिप्रायोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते हुये वैक्रियसप्तक, देवगति और देवानुपूर्वी की बंधावलिका से आगे वर्तमान जीव के तेरानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

अथवा पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के देवगतिप्रायोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते हुये देवगति और देवानुपूर्वी की बंधावलिका के भीतर वर्तमान जीव के तेरानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

अथवा तेरानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि जीव के नरकगतिप्रायोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते हुये नरकगति नरकानुपूर्वी और वैक्रियसप्तक की बंधावलिका से परे वर्तमान जीव के तेरानवै प्रकृतिक स्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

अथवा पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के नरकगतिप्रायोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियाँ बांधते हुये नरकगति और नरकानुपूर्वी की बंधावलिका के भीतर वर्तमान जीव के तेरानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

तेरानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के देवगतिप्रायोग्य अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते हुये देवगति, देवानुपूर्वी और वैक्रियसप्तक की बंधावलिका के भीतर वर्तमान जीव के चौरासी प्रकृतिक संक्रमस्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है। अथवा तेरानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के नरकगतिप्रायोग्य पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों को बांधते हुये नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियसप्तक की बंधावलिका के भीतर वर्तमान जीव के चौरासी प्रकृतिक संक्रमस्थान अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

इस प्रकार अट्ठाईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होने वाले संक्रमस्थानों को जानना चाहिये।

अब छब्बीस प्रकृतिक आदि पतद्ग्रहस्थानों में संक्रांत होने वाले संक्रमस्थानों का कथन करते हैं—

---

१. उक्त कथन का आशय यह है कि ९५ प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि जीव के नरक प्रायोग्य २८ प्रकृतियों का बंध होने पर २८ में ९५ का संक्रम होता है। अथवा ९५ की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव के देव प्रायोग्य २८ प्रकृतियों का बंध होने पर २८ प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में ९५ प्रकृतिक स्थान संक्रान्त होता है।

तेच्चिय इत्यादि अर्थात् छब्बीस, पच्चीस और तेईस प्रकृति रूप पतद्ग्रहस्थानों में वे ही एक सौ दो आदि छियानवै प्रकृति रहित और बियासी प्रकृति सहित पांच संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं, यथा – एक सौ दो, पंचानवै, तिरानवै, चौरासी और बियासी प्रकृतिक संक्रमस्थान। इनमें से पहले छब्बीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रमित होने का विचार करते हैं –

नारकों को छोड़कर एकेन्द्रिय आदि जीवों के एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता वाले और पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले तैजसशरीर, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादिचतुष्क, एकेन्द्रियजाति, हुंडकसंस्थान, औदारिकशरीर, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, पराघात, उच्छ्वास, आतप और उद्योत में से कोई एक, इन एकेन्द्रिय योग्य छब्बीस प्रकृतियों को बांधते हुये एक सौ दो और पंचानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान छब्बीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है। देवों को छोड़कर उन्हीं एकेन्द्रिय आदि तेरानवै प्रकृतियों की सत्ता वाले जीवों के और देव, नारक जीवों को छोड़कर चौरासी प्रकृतियों की सत्ता वाले उन्हीं एकेन्द्रियादि जीवों के पूर्वोक्त छब्बीस प्रकृतिक स्थान को बांधते हुये तेरानवै प्रकृतिक संक्रमस्थान और चौरासी प्रकृतिक संक्रमस्थान उसी छब्बीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होते हैं तथा देव, नारक और मनुष्य को छोड़कर उन्हीं एकेन्द्रिय आदि बियासी प्रकृतियों की सत्ता वाले जीवों के पूर्वोक्त छब्बीस प्रकृतिक स्थान को बांधते हुये बियासी प्रकृतिक संक्रमस्थान छब्बीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होता है।

पच्चीस और तेईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में उक्त पांचों संक्रमस्थान इस प्रकार जानना चाहिये –

एकेन्द्रियपर्याप्तप्रायोग्य पूर्वोक्त छब्बीस प्रकृतियों को आतप अथवा उद्योत से रहित पच्चीस प्रकृतियों को बांधने वाले एक सौ दो, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बियासी प्रकृतियों की सत्ता वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि जीवों के यथाक्रम से उसी पच्चीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में एक सौ दो, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बियासी प्रकृतिक संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं।

अथवा अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य के योग्य तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, द्वीन्द्रियादि कोई एक जाति, हुंडकसंस्थान, सेवार्तसंहनन, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्तिरूप पच्चीस प्रकृतियों के बंधक एक सौ दो प्रकृतियों की सत्तावाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के पच्चीस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में एक सौ दो आदि पांच संक्रमस्थान संक्रांत होते हैं।

अपर्याप्त एकेन्द्रियादि प्रायोग्य वर्णादिचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुंडकसंस्थान, औदारिकशरीर, एकेन्द्रिय जाति तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, बादर, सूक्ष्म में से कोई एक, स्थावर,

पर्याप्त, प्रत्येक और साधारण में से कोई एक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति इन तेईस प्रकृतियों को बांधने वाले एक सौ दो, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बियासी प्रकृतियों की सत्तावाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के यथाक्रम से एक सौ दो आदि पांचों संक्रमस्थान तेईस प्रकृतिक पतद्ग्रहस्थान में संक्रांत होते हैं।

इस प्रकार प्रकृतिसंक्रम का कथन जानना चाहिये।[१]

स्थितिसंक्रम

अब स्थितिसंक्रम के कथन का अवसर प्राप्त है। उसमें छह अर्थाधिकार हैं - १. भेद, २. विशेष लक्षण, ३. उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम प्रमाण, ४. जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण, ५. सादि-अनादि आदि प्ररूपणा, ६. स्वामित्व प्ररूपणा।

इनमें से पहले भेद और विशेष लक्षण का प्रतिपादन करते हैं –

ठिइसंकमो त्ति वुच्चइ, मूलुत्तरपगईउ य जा हि ठिई।
उव्वट्टियाउ ओवट्टिया, व पगइं निया वऽण्णं॥ २८॥

शब्दार्थ – **ठिइसंकमोत्ति** – स्थितिसंक्रम, **वुच्चइ** – कहलाता है, **मूलुत्तरपगईउ** – मूल और उत्तर प्रकृतियों की, **य** – और, **जा हि ठिई** – जो स्थिति है, **उवट्टियाउ** – उद्वर्तना करना, **ओवट्टिया**– अपवर्तना, **व** – अथवा, **पगइं** – प्रकृति को, **निया** – लाकर, **वऽण्णं** – अथवा अन्य प्रकृतिरूप से।

गाथार्थ – मूल और उत्तर प्रकृतियों की जो स्थिति होती है, उसकी उद्वर्तना करना अथवा अपवर्तना करना अथवा अन्य प्रकृतिरूप से परिणमाना स्थितिसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ – मुलुत्तरपगईउ इस पद में षष्ठी विभक्ति के अर्थ में पंचमी विभक्ति प्रयुक्त की गई है। इसलिये इसका अर्थ यह है कि आठ मूल प्रकृतियों की जो स्थिति है अथवा एक सौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियों की जो स्थिति है वह उद्वर्तित की गई, -अल्प स्थिति से दीर्घ की गई अथवा अपवर्तित की गई-दीर्घ स्थिति से अल्प की गई अथवा अन्य प्रकृति में परिणत की गई अर्थात् पतद्ग्रह प्रकृति की स्थितियों के मध्य में ले जाकर निक्षिप्त की जाती है, उसे स्थितिसंक्रम कहा जाता है।[२]

---

१. कर्म प्रकृतियों के संक्रम योग्य गुणस्थानों को परिशिष्ट में देखिये।

२. स्थितिर्मूलप्रकृतीनां उत्तरप्रकृतीनां संबंधिनी ह्रस्वीभूता सती दीर्घीकृता वा दीर्घीभूता सती ह्रस्वीकृता, अन्यां वा प्रकृतिं नीता पतद्ग्रहप्रकृतिस्थितिषु नीत्वा निवेशिता स स्थितिसंक्रम उच्यते।

इसका अभिप्राय यह है कि स्थितिसंक्रम दो प्रकार का होता है — १- मूल प्रकृति स्थितिसंक्रम, २- उत्तर प्रकृति स्थितिसंक्रम। इनमें से मूल प्रकृति स्थितिसंक्रम आठ प्रकार का है - यथा - ज्ञानावरण का स्थितिसंक्रम, दर्शनावरण का स्थितिसंक्रम, यावत् अन्तराय का स्थितिसंक्रम। उत्तर प्रकृति स्थितिसंक्रम एक सौ अट्ठावन प्रकार का है यथा - मतिज्ञानावरण का स्थितिसंक्रम, श्रुतज्ञानावरण का स्थितिसंक्रम, यावत् वीर्यान्तराय का स्थितिसंक्रम। इस प्रकार तदेवं 'मूलूत्तर पगईउ' इत्यादि पद से स्थितिसंक्रम के भेदों का कथन किया गया।

'उव्वट्टियाउ' इत्यादि पदों के द्वारा स्थितिसंक्रम का विशेष लक्षण कहा है। वह स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का होता है - १. उद्वर्तनारूप, २. अपवर्तनारूप और ३. अन्यप्रकृतिकरणरूप। इन तीनों का अभिप्राय इस प्रकार है कि —

१ कर्मपरमाणुओं के अल्पस्थितिकाल को बढ़ाकर दीर्घकालरूप से स्थापित करना उद्वर्तनासंक्रम है -**तत्रकर्मपरमाणूनां ह्रस्वस्थितिकालतामपहाय दीर्घकालतया व्यवस्थापनमुद्वर्तना।**

२ कर्मपरमाणुओं के दीर्घस्थितिकाल को घटाकर अल्पस्थितिकाल रूप से स्थापित करना अपवर्तना संक्रम है - **कर्मपरमाणूनामेव दीर्घस्थितिकालतामपहाय ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापनमपवर्तना।**

३ संक्रमण की जाने वाली प्रकृति की स्थितियों को पतद्ग्रहप्रकृति में ले जाकर स्थापित करना वह प्रकृत्यन्तरनयन रूप संक्रम है - **यत्पुनः संक्रम्यमाण प्रकृतिस्थितीनां पतद्ग्रहप्रकृतौ नीत्वा निवेशनं तत्प्रकृत्यन्तरनयनं।**

स्थितियों को अन्यत्र स्थापित करना, इसका अर्थ यह है कि स्थितियुक्त कर्म परमाणुओं को अन्यत्र स्थापित करना समझना चाहिये। क्योंकि कर्मदलिकों को छोड़कर स्थिति का अन्यत्र ले जाना सम्भव नहीं है। यह विशेष लक्षण सामान्य लक्षण के होने पर ही जानना चाहिये किन्तु अपवाद होने से सर्वथारूप से नहीं। क्योंकि मूलप्रकृतियों के परस्पर संक्रम का निषेध किया गया है। इसलिये उनका अन्यप्रकृत्यन्तरनयन लक्षण वाला स्थितिसंक्रम नहीं होता है किन्तु उद्वर्तना और अपवर्तना लक्षण रूप दो ही संक्रम होते हैं। उत्तर प्रकृतियों के तीनों ही संक्रम जानना चाहिये।

उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का परिमाण

इस प्रकार स्थितिसंक्रम और विशेष लक्षण का कथन करने के बाद अब उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के परिमाण का प्रतिपादन करते हैं —

तीसासत्तरि चत्ता - लीसा वीसुदहिकोडिकोडीणं।
जेट्ठा आलिगदुगहा, सेसाण वि आलिगतिगूणा (णो)॥ २९॥

शब्दार्थ – **तीसा** – तीस, **सत्तरि** – सत्तर, **चत्तालीसा** – चालीस, **वीसुदहिकोडिकोडीणं**– बीस कोडाकोडी, **सागरोपम** – प्रमाण, **जेट्ठा** – उत्कृष्ट, **आलिगदुगहा** – दो आवलि, **सेसाणवि** – बाकी की प्रकृतियों का भी, **आलिगतिगूणा** – तीन आवलिहीन।

गाथार्थ – जिन प्रकृतियों की तीस, सत्तर, चालीस और बीस, कोडाकोडी सागरप्रमाण स्थिति बंधती है, उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम दो आवलिकाहीन अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण होता है और शेष प्रकृतियों का तीन आवलिहीन ही जानना चाहिये।

विशेषार्थ – बंध का आश्रय करके सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रतिपादन बंधनकरण में किया जा चुका है। यहां पर पुनः संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति का विचार किया जा रहा है। वह दो प्रकार से प्राप्त होती है - १. बंधोत्कृष्ट और २. संक्रमोत्कृष्ट। जो केवल बंध से ही उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, वह बंधोत्कृष्ट कहलाती है - **या बंधादेवकेवलादुत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते सा बंधोत्कृष्टा** तथा जो बंध होने पर अथवा बंध नहीं होने पर संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, वह संक्रमोत्कृष्टा कहलाती है – **या पुनर्बंधेऽबंधे वा सति संक्रमादुत्कृष्टा स्थितिर्भवति सा संक्रमोत्कृष्टा।**

जिन उत्तर प्रकृतियों की अपनी-अपनी मूल प्रकृति की अपेक्षा स्थिति की न्यूनता नहीं है, किन्तु समानता ही पाई जाती है, उन्हें बंधोत्कृष्टा प्रकृतियां जानना चाहिये। ऐसी प्रकृतियां सत्तानवै हैं, यथा –

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अन्तरायपंचक, आयुचतुष्क, असातावेदनीय, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, तैजससप्तक, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, नीलवर्ण और तिक्तरस को छोड़कर अशुभ वर्णादिसप्तक, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास आतप , उद्योत निर्माण, छट्ठा संस्थान और संहनन, अशुभ विहायोगति, स्थावर त्रसचतुष्क, अस्थिरषट्क, नीचगोत्र, सोलह कषाय और मिथ्यात्व। यद्यपि इनमें मनुष्यायु और तिर्यंचायु अपनी मूल प्रकृति की अपेक्षा समान स्थिति वाली नहीं होती हैं, तथापि संक्रमोत्कृष्टता का अभाव होने से इन दोनों को बंधोत्कृष्टा कहा गया है।

उक्त बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों के सिवाय शेष इकसठ प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्ट जानना चाहिये। उनके नाम इस प्रकार हैं –

सातावेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्व, नव नोकषाय, आहारकसप्तक, शुभ वर्णादि ग्यारह, नीलवर्ण, तिक्तरस, देवद्विक, मनुष्यद्विक, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, अन्तिम संस्थान को छोड़कर बाकी के पांच संस्थान, अन्तिम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन, प्रशस्त विहायोगति, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, स्थिर शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर नाम और उच्चगोत्र।

उक्त दोनों विभागों में से तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाली मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियां,

सत्तर कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाला मिथ्यात्व कर्म, चालीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाली सोलह कषाय और बीस कोडाकोडी सागरोपम स्थितिवाली नरकद्विक आदि बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम 'आलियदुगहति' अर्थात् दो आवलिका प्रमाण काल से ही होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

बंधी हुई स्थिति बंधावलिका व्यतीत हो जाने पर संक्रांत होती है। क्योंकि उदयावलिका सकल करणों के अयोग्य होती है। इस कारण उदयावलिका से ऊपर वाली स्थितियां संक्रांत होती हैं। इसलिये बंधोत्कृष्टा जो मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियां हैं उनका उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम दो आवलिका प्रमाण काल से हीन ही प्राप्त होता है। यहां उदयवती अथवा अनुदयवती प्रकृतियों के उदय समय से लेकर आवलि प्रमाण स्थितियों को उदयावलिका (उदयावलि) नाम से पूर्व ग्रंथ में कहा गया है।

यद्यपि 'तीसा सत्तरि चत्तालीसा' इस ग्रंथवाक्य से यहां पर सत्तर कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाली मिथ्यात्व प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम दो आवलिकाल से हीन कहा है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्तहीन जानना चाहिये। क्योंकि मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को बांध कर जघन्य रूप से भी अन्तर्मुहूर्तकाल तक मिथ्यात्व में ही रहता है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त कर मिथ्यात्व की अन्तर्मुहूर्त कम स्थिति को सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रांत करता है, इसलिये अन्तर्मुहूर्त कम ही उत्कृष्टस्थिति संक्रम होता है। जिसका स्पष्टीकरण आगे 'मिच्छत्तमुक्कोसो' इत्यादि गाथा में किया जा रहा है। तथापि यहां पर 'सत्तरि' पद समस्त बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की व्याप्तिपूर्वक बिना किसी विशेषता के दो आवलिकाहीन उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम दिखलाने के लिये किया गया है।

'सेसाणमावलिगतिगूणो त्ति' अर्थात् शेष संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम तीन आवलिका से हीन होता है। जिसका अभिप्राय यह है –

बंधावलि के व्यतीत हो जाने पर आवलिका से ऊपर का सभी स्थितिबंध दूसरी प्रकृति में आवलिका प्रमाण काल के ऊपर संक्रांत होता है। उसमें संक्रांत होती हुई भी वह प्रकृति आवलिका मात्र काल तक सकल करणों के अयोग्य होती है। अतः संक्रमावली काल के व्यतीत हो जाने पर उदयावलिका से ऊपर वाली स्थिति उससे अन्यत्र अर्थात् दूसरी अन्य प्रकृति में संक्रांत होती है। इसलिये संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम तीन आवलिकाल से हीन ही प्राप्त होता है। जैसे –

नरकद्विक की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांध कर बंधावलिका के व्यतीत हो जाने पर आवलिका काल से ऊपर की उस सभी स्थिति को मनुष्यद्विक को बांधता हुआ उस मनुष्यद्विक में संक्रांत करता है और संक्रांत होती हुई तीन आवलिका मात्र काल तक सकल करणों के अयोग्य है। इस नियम के अनुसार संक्रमावलि के व्यतीत हो जाने पर उदयावलि से ऊपर की उस सभी स्थिति को देवद्विक को बांधता हुआ उसमें संक्रांत करता है। इसी प्रकार अन्य संक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट

स्थितिसंक्रम आवलिकात्रिक से हीन जानना चाहिये।

इस प्रकार जिन प्रकृतियों की बंध होने पर संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति होती है उन्हीं प्रकृतियों का वह उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम परिमाण जानना चाहिये।

संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रमपरिमाण

अब जिन प्रकृतियों की बंध के बिना केवल संक्रम से ही उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिसंक्रमपरिमाण का निरूपण करते हैं –

मिच्छत्तस्सुक्कासो, भिन्नमुहुत्तूणगो उ सम्मत्ते।
मिस्सेवंतो कोडाकोडी आहारतित्थयरे॥ ३०॥

शब्दार्थ – **मिच्छत्तस्सुक्कासो** – मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम, **भिन्नमुहुत्तूणगो** – अन्तर्मुहूर्तहीन, **उ** – और, **सम्मत्ते** – सम्यक्त्व मोहनीय, **मिस्सेव** – मिश्र मोहनीय का, **अंतोकोडाकोडी**– अन्तः कोडाकोडी सागरोपम, **आहारतित्थयरे** – आहारक और तीर्थंकर नाम का।

गाथार्थ – *मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम अन्तर्मुहूर्तहीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तथा सम्यक्त्व* और मिश्र प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम दो आवलिका अधिक अन्तर्मुहूर्तहीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तथा आहारकसप्तक और तीर्थंकर नामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है।

विशेषार्थ – मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम भिन्नमुहूर्तोन – अन्तर्मुहूर्तहीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण है तथा सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम भिन्नमुहूर्तोन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण है। गाथा में पठित तु (उ) शब्द अधिक अर्थ का संसूचक है। इसलिये उसे दो आवलिकाल और अन्तर्मुहूर्त से हीन जानना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है –

दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान होता हुआ मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ मिथ्यात्व को छोड़ कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तब मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति जो सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण अभी बाकी है, उसे अन्तर्मुहूर्त न्यून शेष स्थिति को सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रांत करता हैऔर वह संक्रांत होती हुई स्थितिसंक्रम आवलि के व्यतीत हो जाने पर उदयावलि के ऊपर की सम्यक्त्व की स्थिति को अपवर्तनाकरण से स्वस्थान में संक्रांत[1] करता है। सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति को भी संक्रमावलि के व्यतीत हो

---

१. प्रकृति के परमाणु अन्य प्रकृतिरूप परिणमित न होकर हीन या अधिक स्थिति वाले अपने ही परमाणुओं में संक्रान्त हों, उसे स्वस्थान संक्रम कहते हैं।

जाने पर उदयावलि से ऊपर की स्थिति को सम्यक्त्व में संक्रांत करता है और अपवर्तित भी करता है। इस प्रकार मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम अन्तर्मुहूर्तहीन और सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व का अन्तर्मुहूर्त और दो आवलिहीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण जानना चाहिये।[१]

प्रश्न – यहां तीर्थंकरनाम और आहारकसप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबंध अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कहा है और इनका स्थितिसत्व भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही होता है। इसलिये क्या ये प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्टा हैं अथवा बंधोत्कृष्टा ?

उत्तर – इस संशय को दूर करने के लिये ही तो 'अंतो कोडाकोडी' इत्यादि पद दिया है कि आहारकसप्तक और तीर्थंकर नामकर्म में संक्रम से स्थितिसत्व अन्तःकोडाकोडी सागरोपम होता है। अतएव ये संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां हैं। यद्यपि बंध में भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सत्व कहा है, तथापि बंधोत्कृष्टा स्थिति से संक्रमोत्कृष्टा स्थिति संख्यातगुणी जाननी चाहिये। जैसा कि चूर्णि में कहा है –

बंधट्ठिईओ संतकम्मठिई संखिज्जगुणा।

अर्थात् बंधस्थिति से सत्कर्मस्थिति संख्यातगुणी होती है।

प्रश्न – नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है, इसलिये आहारकद्विक और तीर्थंकर प्रकृति में भी संक्रम से प्राप्त होने वाली उत्कृष्ट स्थिति बंधावलि और उदयावलि से रहित बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही प्राप्त होती है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि तीर्थंकर और आहारक की संक्रम से भी उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण होती है ?

उत्तर अभिप्राय को नहीं समझने के कारण आपका उक्त कथन अयुक्त है। क्योंकि तीर्थंकरनाम और आहारक के बंधकाल में ही अन्य प्रकृति की स्थिति संक्रांत होती है, अन्य समय नहीं और इन दोनों प्रकृतियों का बंध यथाक्रम से विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के और विशुद्ध संयत के होता है। विशुद्ध सम्यग्दृष्टि और विशुद्ध संयत जीवों के आयुकर्म को छोड़कर शेष सभी कर्मों का स्थितिसत्व भी अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही होता है, अधिक नहीं। इसलिये संक्रम भी इतना ही प्राप्त होता है, अधिक नहीं। अतः आपका कथन युक्तिसंगत नहीं है।

संक्रमकाल में प्राप्त स्थिति

अब सभी प्रकृतियों की चाहे वे बंधोत्कृष्टा हों या संक्रमोत्कृष्टा, उनकी संक्रमणकाल में जितनी स्थिति पाई जाती है, उसका निर्देश करते हैं –

---

१. यह कथन कार्मग्रन्थिक मतानुसार समझना चाहिये।

सव्वासिं जट्ठिइगो, आवलिगो सो अहाउगाणं तु।
बंधुक्कोसुक्कोसो, साबाहठिईए जट्ठिइगो॥३१॥

शब्दार्थ – **सव्वासिं** – सभी प्रकृतियों का, **जट्ठिइगो** – यत्स्थिति संक्रम, **आवलिगो** – आवलिका सहित, **सो** – वह, **अह** – अब, **आउगाणं** – आयुकर्म की, **तु** – और, **बंधुक्कोस** – बंधोत्कृष्ट, **उक्कोसो** – उत्कृष्ट, **साबाहठिईए** – अबाधा सहित, **जट्ठिइगो** – यत्स्थिति।

गाथार्थ – सभी प्रकृतियों का यत्स्थितिसंक्रम एक आवलि सहित होता है और आयुकर्म की जो बंधोत्कृष्टा स्थिति है, वही अबाधासहित यत्स्थिति है।

विशेषार्थ – सभी प्रकृतियों का यत्स्थितिसंक्रम एक अवालिका सहित जानना चाहिये। संक्रमणकाल में जो स्थिति विद्यमान होती है, वह यत्स्थिति कहलाती है - **संक्रमणकाले या स्थितिर्विद्यते सा यत्स्थितिः इत्युच्यते।** वह यत्स्थिति जिस संक्रम की होती है, वह संक्रम यत्स्थितिक कहलाता है। यहां पर या स्थितिर्विद्यते यस्यासौ यत्स्थितिक इति, इस प्रकार का बहुव्रीहि समास है। वह आवलिकाल से सहित आवलिकाल जानना चाहिये। उक्त कथन का तात्पर्य यह है –

पूर्व में कहा गया संक्रम एक आवलि से सहित होता हुआ जितना होता है, उतनी स्थिति उस प्रकृति की संक्रमकाल में ही होती है। उससे बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की एक आवलि से हीन और संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की दो आवलि से हीन शेष सर्वस्थिति संक्रमकाल में विद्यमान जानना चाहिये। वह इस प्रकार है –

संक्लेशादि[१] कारण के वश उत्कृष्ट स्थिति को बांध कर बंधावलिका के व्यातीत हो जाने पर उदयावलि से ऊपर की स्थिति को अन्य प्रकृति में संक्रमण करना प्रारम्भ करता है। इसलिये बंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की एक आवलि से हीन शेष सर्वस्थिति संक्रमकाल में पाई जाती है। किन्तु संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की बंधावलि और संक्रमावलि के बीत जाने पर उदयावलि से आगे वर्तमान स्थिति अन्य प्रकृति में संक्रांत की जाती है। इसलिये संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों की दो आवलि से हीन शेष सर्वस्थिति संक्रमकाल में पाई जाती है।

प्रश्न – आयुकर्म की चारों प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बंधोत्कृष्टा है अथवा संक्रमोत्कृष्टा है ?

उत्तर – बंधोत्कृष्टा ही है। इसके लिये गाथा में संकेत दिया है – 'अहाउगाणमित्यादि' अर्थात् आयुकर्म की बंधोत्कृष्टा स्थिति ही सम्भव है, संक्रमोत्कृष्टा नहीं। क्योंकि –

मोहदुगाउगमूलप्पगडीण न परोप्परंमि संकमणं। अर्थात् मोहद्विक, आयुकर्म और मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रम नहीं होता है तथा 'साबाहठिई' इत्यादि, अर्थात् आयुकर्म की प्रकृतियों की अबाधा सहित जो

१. यहां आदि शब्द ग्रहण करने का कारण यह है कि बंधोत्कृष्टा शुभ आयुत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति विशुद्धि के द्वारा बांधी जाती है। अतः विशुद्धि का ग्रहण करने के लिये आदि शब्द लिया जाना संभव है - 'मुत्तंनर अमरतिरि आऊं' इति वचनात्।

सर्वस्थिति है, उसे यत्स्थिति जानना चाहिये। केवल 'बंधुक्कोसाणं आवलिगूणा ठिई जट्ठिइ' इस वचन के अनुसार वह बंधावलिका से हीन जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

आयुबंध के प्रवर्तमान होने के प्रथम समय में जो बांधा गया दलिक है, वह बंधावलि के व्यतीत हो जाने पर ही उद्वर्तित होता है। इसलिये उदवर्तना रूप संक्रम में बंधावलि से हीन अबाधा सहित यत्स्थिति प्राप्त होती है। अथवा निर्व्याघातभाविनी अपवर्तना[1] भी आयुकर्म की बंधावलिका के बीत जाने पर सर्वदा[2] ही प्रवर्तित होती है। इसलिये उसकी अपेक्षा ऊपर कही गई यत्स्थिति जानना चाहिये।

जघन्य स्थितिसंक्रम

इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति का परिमाण का विचार किया गया। अब जघन्य स्थितिसंक्रम के परिमाण के प्रतिपादन का अवसर प्राप्त है। जघन्य स्थितिसंक्रम दो प्रकार का है – १. स्वप्रकृति और २. परप्रकृति। इनमें से पहले स्वप्रकृति में जघन्य स्थितिसंक्रम का कथन करते हैं –

आवरण विग्घदंसण - चउक्कलोभंतवेयगाऊणं।
एगा ठिई जहन्नो, जट्ठिई समयाहिगावलिगा॥३२॥
निद्दादुगस्स एक्का, आवलिगदुगं असंखभागो य।
जट्ठिइ हासच्छक्के, संखिज्जाओ समाओ य॥३३॥
सोणमुहुत्ता जट्ठिइ, जहन्नबंधो उ पुरिससंजलणे।
जट्ठिइ सगऊणजुत्तो, आवलीगदुगूणओ तत्तो॥ ३४॥

शब्दार्थ – **आवरणविग्ध** – ज्ञानावरण और अन्तराय, **दंसधचउक्क** – दर्शनावरणचतुष्क, **लोभंत** – अंतिम (संज्वलन) लोभ, **वेयगाऊणं** – वेदक सम्यक्त्व और आयुचतुष्क, **एगाठिई** – एक समय प्रमाण स्थिति, **जहन्नो** – जघन्य स्थितिसंक्रम, **जट्ठिई** – यत्स्थिति, **समयाहिगावलिगा** – एक समयाधिक आवलिका प्रमाण।

निद्दादुगस्स – निद्राद्विक का, **एक्का** – एक समय प्रमाण, **आवलिगदुगं** – दो आवलि प्रमाण, **असंखभागो** – असंख्यातवें भागाधिक, **य** – और, **जट्ठिइ** – यत्स्थिति, **हासच्छक्के** – हास्य षट्क में, **संखिज्जाओ** – संख्याता, **समाओ** – समय (वर्ष), **य** – और।

सोणमुहुत्ता – अन्तर्मुहूर्तकाल सहित (अधिक), **जट्ठिइ** – यत्स्थिति, **जहन्नबंधो** – जघन्य

---

१. स्थितिघात विहीन अपवर्तना को निर्व्याघातभाविनी अपवर्तना कहते हैं।

२. सर्वदा अर्थात् बंधकाल और जघन्य काल दोनों में।

स्थितिबंध, **उ** – तथा, **पुरिस संजलणे** – पुरुषवेद और संज्वलन त्रिक में, **जट्ठिइ** – यत्स्थिति, **सगऊणजुत्तो**– स्व की कम की गई (अबाधा) युक्त, **आवलीदुगूणओ** – दो आवलिका हीन, **तत्तो** –उसमें से।

गाथार्थ – आवरण अर्थात् ज्ञानावरण (पंचक)और अन्तराय (पंचक), दर्शनावरणचतुष्क, संज्वलन लोभ, वेदक सम्यक्त्व और चारों आयुकर्म की प्रकृतियों का एक समय प्रमाण जघन्य स्थितिसंक्रम है तथा एक समयाधिक आवलिका प्रमाण यत्स्थिति है।

निद्राद्विक का एक समय प्रमाण जघन्य स्थितिसंक्रम है और यत्स्थिति आवलि के असंख्यातवें भाग से अधिक दो आवलिकाल प्रमाण है तथा हास्यषट्क का जघन्य स्थितिसंक्रम संख्यात वर्ष प्रमाण है।

तथा अन्तर्मुहूर्त अधिक संख्यात वर्ष प्रमाण उनकी (हास्यादि षट्क की) यत्स्थिति है तथा पुरुषवेद और संज्वलनत्रिक का जघन्य स्थितिसंक्रम अबाधारहित जघन्य स्थिति प्रमाण है और यत्स्थिति स्व अबाधायुक्त और दो आवलिका रहित जघन्य स्थितिबंध प्रमाण है।

विशेषार्थ – आवरण त्ति-अर्थात् ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियां, विघ्न-अन्तराय कर्म की पांचों प्रकृतियां, दर्शनावरण कर्म की चार प्रकृतियां (चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण), संज्वलन लोभ, वेदक, सम्यक्त्व और चारों आयुकर्म, इन सब बीस प्रकृतियों की अपनी-अपनी सत्वव्युच्छित्ति के समय एक समय अधिक आवलि प्रमाण स्थिति के शेष रह जाने पर उदयावलि सकल करणों के अयोग्य है - इस नियम के अनुसार उदयावलि से ऊपर की एक समय प्रमाण स्थिति अपवर्तना संक्रमण कं द्वारा अधस्तन समयाधिक आवलिका के त्रिभाग में संक्रांत होती है। इसलिये उस समय सम्पूर्ण स्थिति का परिमाण एक समय अधिक आवलिकाल प्रमाण होता है। इसी बात को प्रकट करने के लिये गाथा में 'जट्ठिई समयाहिगावलिया' यह पद दिया गया है।

निद्रा और प्रचला रूप निद्राद्विक का जघन्य स्थितिसंक्रम अपने संक्रम के अन्त में स्वस्थिति की उपरितन एक समय मात्र स्थिति प्रमाण है। वह आवलि के अधस्तन त्रिभाग में निक्षिप्त की जाती है। उस समय यत्स्थिति अर्थात सर्वस्थिति दो आवलिपूर्ण और तीसरी आवलिका असंख्यातवां भाग प्रमाण है। इस विषय में ऐसा ही वस्तुस्वभाव है कि निद्राद्विक की स्थिति में आवलि के असंख्यातवें भाग से अधिक दो आवलि शेष रह जाने पर उपरितन एक समय मात्र प्रमाण वाली स्थिति संक्रांत होती है। किन्तु मतिज्ञानावरण आदि के समान एक समय अधिक आवलि के शेष रहने पर संक्रम नहीं होता है।

अब जिन प्रकृतियों का पर प्रकृतियों में जघन्य स्थितिसंक्रम संभव है, उनका प्रतिपादन करते हैं कि हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, रूप हास्यषट्क की क्षपक द्वारा अपवर्तनाकरण से संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति कर दी जाती है। तब अपने निर्लेपन (क्षय) काल में संज्वलन क्रोध में प्रक्षिप्त की जाती है। अतः

हास्यषट्क का जघन्य स्थितिसंक्रम संख्यात वर्ष का है तथा संक्रमण काल में जो संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति है वही अन्तर्मुहूर्त अधिक यत्स्थिति है अर्थात् सर्वस्थिति है। जिसका स्पष्टीकरण यह है –

अन्तरकरण में वर्तमान जीव उस संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति का संज्वलन क्रोध में संक्रमण करता है। अन्तरकरण के समय उस कर्मदलिक का वेदन नहीं करता है, किन्तु उससे ऊपर करता है। इसलिये अन्तरकरण के काल से अधिक संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति हास्यषट्क की जघन्य स्थितिसंक्रम काल में यत्स्थिति प्राप्त होती है।

जहन्नबंधो इत्यादि अर्थात पुरुषवेद और संज्वलन कषायों का जो जघन्य स्थितिबंध पहले कहा है, यथा पुरुषवेद का आठ वर्ष, संज्वलन क्रोध का दो माह, संज्वलन मान का एक मास और संज्वलन माया का अर्धमास, वही जघन्य स्थितिबंध अबाधा काल से हीन उन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम है। अबाधा काल से रहित स्थिति ही अन्यत्र संक्रांत होती है, क्योंकि उसमें ही कर्मदलिक पाये जाते हैं, अबाधाकाल से हीन कर्मस्थिति कर्मनिषेक होता है, ऐसा सिद्धान्त वचन है। जघन्य स्थिति बंध में अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है और जघन्य स्थिति के संक्रमणकाल में अबाधाकाल के भीतर पूर्वबद्ध कर्म की सत्ता नहीं पाई जाती है, क्योंकि उस समय उस सभी का क्षय हो जाता है। इसलिये इन पुरुषवेद आदि का अन्तर्मुहूर्तहीन जो अपना-अपना जघन्य स्थितिबंध है वही जघन्य स्थितिसंक्रम है और इस समय इन कर्मों की जो यत्स्थिति है – सर्वस्थिति है, वह अपने-अपने अबाधारूप अन्तर्मुहूर्त प्रमाण से युक्त है अर्थात् अबाधाकाल सहित जघन्य स्थितिबंध है। इसलिये उसे फिर दो आवलिकाल से हीन जानना चाहिये।

इसका अभिप्राय यह है कि जघन्य स्थितिसंक्रम में अबाधा काल प्रक्षिप्त किया जाता है और इस प्रक्षेप के अनन्तर दो आवलि प्रमाण काल से निकाला जाता है, उसके निकालने पर जितनी स्थिति शेष रहती है, उतनी जघन्य स्थिति संक्रमकाल में सर्वस्थिति है।

प्रश्न – दो आवलि प्रमाण काल क्यों निकाला जाता है ?

उत्तर – उक्त प्रकृतियों के बंधविच्छेद के पश्चात् बंधावलिका के व्यतीत हो जाने पर चरम समय में बंधी हुई पुरुषवेद आदि प्रकृतियों की प्रदेशलता संक्रमण के लिये प्रारम्भ की जाती है और एक आवलिका प्रमाण काल से वह लता संक्रांत होती है। संक्रमावलिका के चरम समय में जघन्य स्थितिसंक्रम प्राप्त होता है। इसलिये बंधावलिका और संक्रमावलिका रहित ही अबाधा सहित जघन्य स्थितिबंध जघन्य स्थिति के संक्रम काल में यत्स्थिति-सर्वस्थिति रूप होता है।

अब जिन कर्मों की सत्ता केवली के पाई जाती है, उनकी जघन्य स्थिति के संक्रमण का निरूपण करते हैं –

जोगंतियाण अंतो - मुहत्तिओ सेसियाण पल्लस्स।
भागो असंखियतमो, जट्ठिइगो आलिगाइ सह॥३५॥

शब्दार्थ – **जोगंतियाण** – सयोगी गुणस्थान के अन्त समय तक, **अंतोमुहत्तिओ** – अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, **सेसियाण** – बाकी की, **पल्लस्स** – पल्योपम का, **भागो** – भाग प्रमाण, **असंखियतमो** – असंख्यातवां, **जट्ठिइगो** – यत्स्थिति, **आलिगाइ** – आवलिका, **सह** – सहित।

गाथार्थ – सयोगी केवली के अन्त समय तक जो प्रकृतियां पाई जाती हैं उनका जघन्य स्थितिसंक्रम (उदयावलिहीन) अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इन दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों की यत्स्थिति संक्रमण काल में एक आवलिका सहित जघन्य स्थितिसंक्रमण प्रमाण होती है।

विशेषार्थ – योगी अर्थात सयोगी - केवली में संक्रम की अपेक्षा जिन प्रकृतियों का अन्त पाया जाता है, वे 'योग्यन्तिक' कहलाती हैं। उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं –

नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रिय जाति को छोड़कर शेष चार जातियां, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत। इन तेरह प्रकृतियों को छोड़कर नामकर्म की शेष नव्वै प्रकृतियां तथा सातावेदनीय, असातावेदनीय, उच्चगोत्र और नीचगोत्र इन चौरानवै प्रकृतियों की सयोगी केवलि के चरम समय में सर्व-अपवर्तनाकरण[१] के द्वारा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति रह जाती है। वह अपवर्तित की जाती हुई उदयावलिका से रहित जघन्य स्थितिसंक्रम है। क्योंकि उदयावलिका सकल करणों के अयोग्य है, इस कारण उसका अपवर्तन नहीं होता है। अतः उस आवलि से सहित अपवर्तना रूप जघन्य स्थितिसंक्रम काल में उनकी यत्स्थिति है। अर्थात् उदयावलिका सहित अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति उनकी यत्स्थिति है।

शंका – इन प्रकृतियों की अयोगी केवली एक समय अधिक आवलिकाल प्रमाण शेष रही स्थिति में वर्तमान जघन्य स्थितिसंक्रमण किस कारण से नहीं करते हैं, जैसा कि मतिज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षीणकषाय गुणस्थान में होता है ?

समाधान – अयोगी केवली भगवान सूक्ष्म और बादर सभी प्रकार के योग के प्रयोग से रहित, मेरु के समान निष्प्रकम्प रहते हैं, अतः वे आठ करणों में से किसी एक भी करण को नहीं करते हैं। क्योंकि वे निष्क्रिय अर्थात सर्व प्रकार की क्रिया से रहित होते हैं। केवल उदय प्राप्त कर्मों का वेदन करते हैं। इसलिये

---

१. संक्रमक्रम के अन्त समय में शेष रहे सब परमाणुओं के समुदाय को एक साथ संक्रान्त कर देना सर्वापवर्तना कहते हैं। इसको सर्वसंक्रम भी कहते हैं।

सयोगी केवली के ही इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम प्राप्त होता है।[१]

सेसियाण इत्यादि अर्थात ऊपर कही गई प्रकृतियों से अवशिष्ट जो प्रकृतियां हैं, यथा - स्त्यानर्द्धित्रिक, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधीचतुष्क, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रिय जाति को छोड़कर शेष चार जातियां स्थावर, सूक्ष्म, आतप, उद्योत और साधारण इन बत्तीस प्रकृतियों का अपने-अपने क्षपण काल में जो चरम संक्रमण होता है, वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र प्रमाण जघन्य स्थितिसंक्रम है। यत्स्थिति तो अर्थात् सर्व स्थिति वही जघन्य स्थिति एक आवलिकाल से अधिक जानना चाहिये।

उक्त कथन का यह आशय है कि स्त्रीवेद और नपुंसकवेद को छोड़कर शेष तीस प्रकृतियों की एक अधोवर्ती आवलि को छोड़कर शेष उपरितन पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र प्रमाण चरम खंड को अन्यत्र संक्रमाता है। इसलिये उन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति संक्रम काल में जो यत्स्थिति है, वही एक आवलि से अधिक जघन्य स्थितिसंक्रम जानना चाहिये। स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की यत्स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण जानना चाहिये। क्योंकि उनके चरम स्थितिखंड को अन्तरकरण में स्थित रहता हुआ जीव नहीं संक्रमाता है और अन्तरकरण में उनके कर्मदलिक विद्यमान नहीं रहते हैं। अथवा उनका वेदन नहीं होता है। किन्तु अन्तरकरण के ऊपर वे दलिक विद्यमान या वेद्यमान होते हैं। अन्तरकरण का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसलिये उन स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का जघन्य स्थितिसंक्रम अन्तर्मुहूर्त युक्त यत्स्थिति प्रमाण जानना चाहिये। शेष प्रकृतियों का अन्तरकरण नहीं होता है। इसलिये उनकी यत्स्थिति एक आवलिकाल से युक्त जघन्य स्थितिसंक्रम प्रमाण जानना चहिये।

इस प्रकार जघन्य स्थितिसंक्रम के प्रमाण का विचार किया गया।

सादि अनादि प्ररूपणा

अब सादि अनादि प्ररूपणा का अवसर प्राप्त है। वह प्ररूपणा दो प्रकार की है - १. मूल प्रकृतियों सम्बंधी सादि अनादि प्ररूपणा और उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा। इनमें से पहले मूल प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा करते हैं -

मूलठिई अजहन्नो, सत्तण्ह तिहा चउव्विहो मोहे।
सेसविगप्पा तेसिं, दुविगप्पा संकमे होंति॥ ३६॥

शब्दार्थ - **मूलठिई** - मूल स्थिति, **अजहन्नो** - अजघन्य, **सतण्ह** - सात का, **तिहा** - तीन

१. इसका आशय यह है कि सयोगी गुणस्थान में वीर्य प्रवृत्ति रूप करण होने से वहां स्थितिसंक्रम होता है, जो करण रूप है, किन्तु अयोगी गुणस्थान में योग का अभाव होने से मात्र स्तिबुकसंक्रम होता है जो संक्रम करण रूप नहीं है।

प्रकार का, **चदव्विहो** – चार प्रकार का, **मोहे** – मोहनीय में, **सेसविगप्पा** – बाकी के विकल्प, **तेसिं** – उनके, **दुविगप्पा** – दो प्रकार के, **संकमे** – संक्रम में, **होंति** – होते हैं।

गाथार्थ – संक्रम में सात मूलकर्मों का अजघन्य स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का है, और मोहनीयकर्म का अजघन्य स्थितिसंक्रम चार प्रकार का है, इन सभी कर्मों के शेष विकल्प दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ – इस प्रकरण में जघन्य से अन्य जितनी स्थिति है उत्कृष्ट स्थिति तक, वह सब अजघन्य और उत्कृष्ट से अन्य सभी जघन्य तक की स्थिति अनुत्कृष्ट कहलाती है। इनमें मोहनीयकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का अजघन्य स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का है, यथा – अनादि संक्रम, ध्रुव संक्रम और अध्रुव संक्रम। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का जघन्य स्थितिसंक्रम क्षीणकषायगुणस्थान की एक समय अधिक एक आवलि प्रमाण शेष रही स्थिति में वर्तमान जीव के होता है। नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु कर्मों का जघन्य स्थितिसंक्रम सयोगी केवली के चरम समय में एक आवलि रहित अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। वह सादि और अध्रुव संक्रम है। उससे जो अन्य सभी स्थितिसंक्रम अजघन्य हैं वे अनादि हैं। अभव्यों के ध्रुव संक्रम और भव्यों के अध्रुव संक्रम होता है।

'चउव्विहो मोहेत्ति' अर्थात मोहनीय कर्म में अजघन्य स्थितिसंक्रम चार प्रकार का है, यथा – सादि, अनादि ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि मोहनीय कर्म का जघन्य स्थितिसंक्रम सूक्ष्म संपराय क्षपक के एक समय अधिक आवलि प्रमाण की स्थिति के शेष रह जाने पर होता है, इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उस जघन्य संक्रम से अन्य सभी अजघन्य कहलाता है और वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होता है। किन्तु वहां से प्रतिपात होने पर होता है, इसलिये वह सादि है। इस स्थान को प्राप्त नहीं होने वाले जीव के जो संक्रम होता है वह अनादि है। अध्रुव और ध्रुव संक्रम क्रमशः भव्य और अभव्य की अपेक्षा से जानना चाहिये।

उन कर्मों के संक्रम के विषय में उत्कृष्ट अनुभाग, अनुत्कृष्ट अनुभाग और जघन्य अनुभाग रूप शेष विकल्प के दो रूप होते हैं, यथा – सदि और अध्रुव संक्रम। वे इस प्रकार समझना चाहिये – जो जीव उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है, वही उत्कृष्ट स्थिति संक्रम को करता है और उत्कृष्ट संक्लेश में रहने वाला उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है। किन्तु उत्कृष्ट संक्लेश सदा नहीं पाया जाता है, परन्तु अन्तराल-अन्तराल में पाया जाता है। इसलिये शेषकाल में अर्थात् जब उत्कृष्ट संक्लेश नहीं होता है तब अनुत्कृष्ट संक्रम होता है। इसलिये ये *दोनों ही संक्रम सादि और अध्रुव हैं। जघन्य संक्रम सादि और अध्रुव होता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है।*

उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा

मूल प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा करने के बाद अब उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि

प्ररूपणा करते हैं –

धुवसंतकम्मिगाणं, तिहा चउद्धा चरित्तमोहाणं।
अजहन्नो सेसेसु य, दुहेतरासिं च सव्वत्थ॥ ३७॥

शब्दार्थ – **धुवसंतकम्मिगाणं** – ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का, **तिहा** – तीन प्रकार का, **चउद्धा**– चार प्रकार का, **चरित्तमोहाणं** – चारित्रमोहनीय का, **अजहन्नो** – अजघन्य, **सेसेसु** – शेष संक्रमों में, **य** – और, **दुहा** – दो प्रकार का, **इतरासिं** – इतर (अध्रुवसत्ताका) प्रकृतियों का, **च** – और, **सव्वत्थ** – सर्वत्र (सर्व स्थितिसंक्रमों में)।

गाथार्थ – ध्रुव सत्तावाली प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम तीन प्रकार का है और चारित्रमोहनीय प्रकृतियों का चार प्रकार का होता है। ध्रुव सत्तावाली प्रकृतियों से इतर अर्थात् अध्रुव सत्तावाली तथा शेष सभी प्रकृतियों के सर्वस्थितिसंक्रम दो प्रकार के (सादि और अध्रुव) जानना चाहिये।

विशेषार्थ – जिन प्रकृतियों की सत्ता ध्रुव रूप से पाई जाती है उन्हें ध्रुवसत्कर्मिक कहते हैं – **ध्रुवं सत्कर्म यासां ता ध्रुवसत्कर्मिकाः**। उनकी संख्या एक सौ तीस है, यथा - नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तीर्थंकर नाम, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, उच्चगोत्र और चारों आयुकर्म ये अट्ठाईस, अध्रुव सत्तावाली प्रकृतियां हैं, इनको सभी एक सौ अट्ठावन प्रकृतियों में से कम कर देने पर शेष जो एक सौ तीस प्रकृतियां रहती हैं, वे ध्रुव सत्तावाली प्रकृतियां हैं। इनमें से चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियां कम करना चाहिये। क्योंकि उनका कथन पृथक् रूप से किया गया है। इसलिये शेष रही एक सौ पांच प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसंक्रम अपने-अपने क्षपण काल के अंत में होता है। अतः वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी संक्रम अजघन्य हैं और वे अनादि हैं। अध्रुव और ध्रुव संक्रम भव्य और अभव्य की अपेक्षा से जानना चाहिये।

चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसंक्रम चार प्रकार का होता है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है - उपशमश्रेणी में सभी चारित्रमोहनीय प्रकृतियों के उपशांत हो जाने पर संक्रम का अभाव होता है। पुनः उपशमश्रेणी से गिरने पर वह अजघन्य स्थितिसंक्रम को आरंभ करता है। इसलिये वह सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के पुनः अनादि संक्रम होता है। अध्रुव और ध्रुव संक्रम भव्य और अभव्य की अपेक्षा से होता है।

'सेसेसु य दुहा' अर्थात् शेष जो उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य स्थितिसंक्रम हैं, उनमें दो प्रकार की प्ररूपणा करनी चाहिये, यथा - सादि और अध्रुव। इनमें उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट का विचार जैसा मूल प्रकृतियों के प्रसंग में किया है उसी प्रकार यहां पर भी करना चाहिये। जघन्य स्थितिसंक्रम अपने अपने क्षपण के अवसर

में पाया जाता है, इसलिये वे सादि और अध्रुव हैं।

'इयरासिं इत्यादि' अर्थात् इतर जो अध्रुव सत्ता वाली ऊपर कही गई अट्ठाईस प्रकृतियां हैं, उनकी सर्वत्र अर्थात् सभी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य संक्रमों में दो प्रकार की प्ररूपणा करना चाहिये, यथा – सादि और अध्रुव। यह सादित्व और अध्रुवत्व इन प्रकृतियों को अध्रुव सत्ता वाली होने से ही जानना चाहिये।

इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियों की सादि और अनादि आदि प्ररूपणा समझना चाहिये।

स्वामित्व प्ररूपणा

अब क्रमप्राप्त स्वामित्व का कथन करते हैं। वह दो प्रकार का है - १. उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम स्वामित्व और २. जघन्य स्थितिसंक्रम स्वमित्व। इनमें से पहले उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम स्वामित्व का प्रतिपादन करते हैं –

बन्धाओ उक्कोसो, जासिं गंतूण आलिगं परओ।
उक्कोससामिओ संकमाउ (मेण) जासिं दुगं तासिं॥ ३८॥

शब्दार्थ – **बन्धाओ** – बंध से, **उक्कोसो** – उत्कृष्ट से, **जासिं** – जिनका, **गंतूण** – अतिक्रमण करने के, **आलिगं** – आवलिका, **परओ** – पीछे, बाद में, **उक्कोससामिओ** – उत्कृष्ट स्थिति, संक्रम का स्वामी, **संकमाउ** – संक्रम से, **जासिं** – जिनकी, **दुगं** – दो (आवलिका), **तासिं** – उन (प्रकृतियों) की।

गाथार्थ – जिन प्रकृतियों का बंध से उत्कृष्ट स्थितिबंध है, उनका एक आवलिका बीतने के बाद उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का स्वमित्व होता है और जिन प्रकृतियों का संक्रम से उत्कृष्ट स्थितिबंध प्राप्त होता है, उनका दो आवलि काल बीतने के पश्चात् उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का स्वामित्व प्राप्त होता है।

विशेषार्थ – जिन प्रकृतियों का बंध से उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उन प्रकृतियों को वे ही देव, नारक, तिर्यंच मनुष्य उत्कृष्ट स्थितिबंधक होते हैं और 'गंतूण आलिगं परउत्ति' अर्थात बंधावलिका का अतिक्रमण कर उससे परे अर्थात बंधावलिका के व्यतीत हो जाने पर जीव उस उत्कृष्ट स्थिति के संक्रमस्वामी होते हैं यानि उत्कृष्ट स्थिति का संक्रम करते हैं। किन्तु जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति संक्रम से पाई जाती है, उनका द्विक अर्थात् बंधावलिका और संक्रमावलिका स्वरूप दो आवलिका में अतिक्रमण करके उससे परे उत्कृष्ट स्वामित्व प्राप्त होता है। अर्थात् बंधावलिका और संक्रमावलिका के व्यतीत हो जाने पर वे जीव उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के स्वामी होते हैं।

अब सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम के स्वामी का कथन करते हैं –

तस्संतकम्मिगो बंधि-ऊण उक्कोसगं मुहुत्तंतो।
सम्मत्तमीसगाणं, आवलिया सुद्धदिट्ठी उ॥ ३९॥

शब्दार्थ – **तस्संतकम्मिगो** - उन की सत्ता वाला, **बंधिऊण** - बांधकर, **उक्कोसगं** - उत्कृष्ट स्थिति, **मुहुत्तंतो** - अन्तर्मुहूर्त हीन, **सम्मत्तमीसगाणं** - सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की, **आवलिया** - आवलिका, **सुद्धदिट्ठी** - विशुद्ध सम्यक्त्वी, **उ** - और।

गाथार्थ – इन दोनों (सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय) प्रकृतियों की सत्ता वाला जीव मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर अन्तर्मुहूर्त हीन स्थिति को संक्रमता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय की एक आवलिका हीन स्थिति को संक्रमता है।

विशेषार्थ – सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व की सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर उसके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् मिथ्यात्व से च्युत होकर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। इसलिये वह शुद्धदृष्टि अर्थात सम्यग्दृष्टि जीव एक अन्तर्मुहूर्त कम मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रमाता है। इसलिये संक्रमावलिका के बीत जाने पर उदयावलि से ऊपर की सम्यक्त्व की स्थिति को अपवर्तनाकरण से स्वस्थान में संक्रमाता है और सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति को भी संक्रमावलि के बीत जाने पर उदयावलि से ऊपर सम्यक्त्व में संक्रमाता है और अपवर्तित भी करता है। इसलिये इस प्रकार दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम का स्वामी सम्यग्दृष्टि जीव ही होता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति के संक्रम के स्वामियों को समझना चाहिये। अब जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी का प्रतिपादन करते हैं –

दंसणचउक्कविग्घा - वरणं समयाहिगालिगा छउमो।
निद्दाणावलिगदुगे, आवलिय असंखतमसेसे॥ ४०॥

शब्दार्थ – **दंसणचउक्क** – दर्शनचतुष्क, **विग्घावरणं** – अंतराय और ज्ञानावरण, **समयाहिगालिगा**– समयाधिक आवलिका प्रमाण, **छउमो** – छद्मस्थ (क्षीणकषायी), **निद्दाणं** – निद्राद्विक, **आवलिदुगे** – दो आवलि, **आवलिय असंखतम** – आवलि के असंख्यातवें भाग, **सेसे** – शेष रहने पर।

गाथार्थ – दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक और ज्ञानावरणपंचक का स्वामी एक समय आवलि शेष रहे ऐसा छद्मस्थ है और निद्राद्विक का आवलि का असंख्यातवां भाग अधिक दो आवलि शेष रह जाने पर वही छद्मस्थ स्वामी होता है।

विशेषार्थ – चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण की, विघ्न अर्थात् अन्तरायकर्म की पांचों प्रकृतियों की और ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का संक्रमण करने का स्वामी छद्मस्थ जीव होता है। अर्थात् क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ जीव अपने गुणस्थान का एक समय अधिक एक आवलिकाल शेष रह जाने पर उक्त कर्मों की जघन्य स्थिति का संक्रम करता है तथा निद्राद्विक अर्थात् निद्रा और प्रचला का भी वही क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ अपने गुणस्थान का दो आवलिकाल पूर्ण और तीसरी आवलि का असंख्यातवां भाग शेष रहने पर जघन्य स्थिति के संक्रम का स्वामी होता है।

अब वेदक सम्यक्त्व की जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी का कथन करते हैं –

समयाहिगालिगाए, सेसाए वेयगस्स कयकरणे।
सक्खवगचरमखंडग - संछुभणा दिट्ठिमोहाणं॥ ४१॥

शब्दार्थ – **समयाहिगालिगाए** – समयाधिक आवलिका, **सेसाए** – शेष रहने पर, **वेयगस्स**– वेदक सम्यक्त्व का, **कयकरणे** – कृत्त – करण वाला, **सक्खवगचरमखंडगसंछुभणा** – उस प्रकृति के चरम खंड का प्रक्षेपण करता हुआ, **दिट्ठिमोहाणं** – दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का।

गाथार्थ – सम्यक्त्वमोहनीय की एक समय अधिक आवलिकाल प्रमाण शेष स्थिति में वर्तमान कृतकरण वाला जीव सम्यक्त्वमोहनीय की जघन्य स्थिति के संक्रम का स्वामी होता है तथा दर्शनमोहनीय की शेष रही दोनों (मिथ्यात्व तथा मिश्र) प्रकृतियों की जघन्य स्थिति के संक्रम का स्वामी उन प्रकृतियों के अपने चरम खंड का संक्रम करने वाला जीव होता है।

विशेषार्थ – दर्शनमोहनीय का क्षपक मनुष्य जघन्य से भी आठ वर्ष से ऊपर की आयु में वर्तमान होता हुआ मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके सम्यक्त्व मोहनीय को सर्वापवर्तना से अपवर्तित कर सम्यक्त्व का वेदन करता हुआ तदनन्तर क्षपण से शेष सम्यक्त्व के रहने पर कोई जीव चारों गतियों में से किसी एक गति में आ जाता है। इसलिये चारों गतियों में से कोई एक गति वाला जीव सम्यक्त्व को एक समय अधिक आवलि प्रमाण शेष स्थिति में वर्तमान होता हुआ कृतकरण अर्थात् उसके क्षपण करने में उद्यत जीव जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी होता है।

मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति के संक्रम करने वाले स्वामी को बतलाने के लिये गाथाओं में कहा गया है - सक्खवगचरमखंडग, इत्यादि अर्थात दर्शनमोहनीय के भेद रूप जो मिथ्यात्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व हैं, उनके क्षपण काल में जो चरम खंड का 'संछुभण होता है' अर्थात सर्वापवर्तनाकरण के द्वारा अपवर्तित कर परस्थान में पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र चरम खंड का प्रक्षेपण होता है, उसमें

प्रवर्तमान अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत या अप्रमत्तविरत मनुष्य जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी होता है।

समउत्तरालिगाए, लोभे सेसाए सुहुमरागस्स।
पढमकसायाण विसंजोयण संछोभणाए उ ॥४२॥
चरिम सजोगे जा अत्थि तासि सो चेव सेसगाणं तु।
खवगक्कमेण अनियट्टिबायरो वेयगो वेए ॥४३॥

शब्दार्थ – **समउत्तरालिगाए** – समयाधिक आवलिका प्रमाण, **लोभे सेसाए** – लोभ की स्थिति रहने पर, **सुहुमरागस्स** – सूक्ष्मसंपराय वाला, **पढमकसायाण** – प्रथम (अनन्तानुबंधी) कषाय का, **विसंजोयणसंछोभणाए** – विसंयोजना करने पर अन्त्य प्रक्षेप करने वाला, **उ** – और।

चरिमसजोगे – सयोगी केवली के चरम समय में, **जा** – जो, **अन्थि** – है, **तासि** – उनका, **सो चेव** – वही, **सेसगाणं** – शेष प्रकृतियों का, **तु** – और, **खवगक्कमेण** – अनुक्रम से क्षय करने वाला, **अनियट्टिबायरो** – अनिवृत्तिबादर गुणस्थान वाला, **वेयगो** – वेदन करने वाला, **वेए** – वेद का।

गाथार्थ – समयाधिक आवलिका प्रमाण लोभ की स्थिति शेष रहने पर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती जीव लोभ के जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी है तथा प्रथम अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करते हुये अन्त्य प्रक्षेप करने वाला जघन्य स्थिति का संक्रम करता है।

सयोगी केवली के चरम समय में जो प्रकृतियां विद्यमान होती हैं, उन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम को करने वाला वही है और शेष प्रकृतियों का अनुक्रम से क्षय करने वाला अनिवृत्तिबादर गुणस्थानवर्ती और वेद का तो उस वेद का वेदन करने वाला जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी है।

विशेषार्थ – सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान का स्वामी अपने गुणस्थान की समयाधिक आवलि प्रमाण शेष रही स्थिति में वर्तमान जीव के लोभ का – संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिसंक्रम होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान की समयाधिक आवलि प्रमाण शेष रही स्थिति में वर्तमान सूक्ष्मसंपराय संयत संज्वलन लोभ की जघन्य स्थिति के संक्रम का स्वामी होता है।

अनन्तानुबंधी कषायों के जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी का प्रतिपादन करने के लिये पढमकसायाण इत्यादि पद कहा है। उसका यह अर्थ है कि प्रथम कषाय जो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं, उनके विसंयोजन में अर्थात विनाश करने में जो पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण चरम खंड का संक्षोभण अर्थात प्रक्षेपण होता है, उसमें वर्तमान चारों गतियों में से किसी एक गति का सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी होता है।

जो सयोग्यन्तिक चौरानवै प्रकृतियां पहले कहीं गई हैं, उनके जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी चरम अपवर्तना में वर्तमान वे ही सयोगी केवली होते हैं।

शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी का कथन करने के लिये गाथा में सेसगाणं इत्यादि पद कहा है। जिसका आशय यह है कि शेष अर्थात् स्त्यानर्द्धित्रिक नामत्रयोदशक, आठ मध्यम कषाय, नव नोकषाय और संज्वलन, क्रोध, मान, माया इन छत्तीस प्रकृतियों का क्षपण क्रम से अर्थात् जिस क्रम से उनका क्षय होता है उस परिपाटी से पल्योपम के असंख्यातवें भाग आदि प्रमाण वाले चरम संक्षोभण में वर्तमान अनिवृत्तिबादरसंयत जघन्यस्थिति के संक्रम का स्वामी होता है।

'वेयगोवेदेत्ति' वेद का वेदक जीव वेद की जघन्य स्थिति के संक्रम का स्वामी है। जिसका आशय यह है कि पुरुषवेद के उदय में वर्तमान अनिवृत्तिबादरसंपराय संयत पुरुषवेद का, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय में वर्तमान अनिवृत्तिबादरसंपराय संयत नपुंसकवेद का चरम संक्रम करता हुआ जघन्य स्थितिसंक्रम का स्वामी जानना चाहिये। अन्य वेद से क्षपकश्रेणी पर चढे हुये जीव के अन्य वेद का जघन्य स्थितिसंक्रम नहीं पाया जाता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये —

जिस वेद से जीव क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता है, उस वेद की स्थिति से बहुत से पुद्गल परमाणु उदीरणा, अपवर्तना आदि के द्वारा झड़ते हैं। इसलिये यद्यपि नपुंसकवेद से क्षपकश्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इन दोनों का युगपत् क्षय करता है, तथापि नपुंसकवेद का ही उसके जघन्य स्थितिसंक्रम पाया जाता है, स्त्रीवेद का नहीं। क्योंकि उसके उस समय स्त्रीवेद के उदय और उदीरणा का अभाव है। स्त्रीवेद से क्षपकश्रेणी को प्राप्त हुआ जीव नपुंसकवेद के क्षय के अनन्तर अन्तर्मुहूर्तकाल से स्त्रीवेद का क्षय करता है और इतने काल की उदय और उदीरणा के द्वारा बहुत सी स्थिति टूट जाती है। यद्यपि पुरुषवेद से भी क्षपक श्रेणी को प्राप्त हुये जीव के इतना काल पाया जाता है, तथापि स्त्रीवेद सम्बंधी उदय और उदीरणा उसके नहीं होती हैं। इसलिये स्त्रीवेद से क्षपकश्रेणी को प्राप्त जीव के ही स्त्रीवेद का जघन्य स्थितिसंक्रम होता है, शेष वेद का नहीं तथा पुरुषवेद से क्षपकश्रेणी को प्राप्त जीव हास्यादिषट्क के अनन्तर पुरुषवेद का क्षय करता है और अन्य वेद से क्षपकश्रेणी चढ़ा हुआ जीव हास्यादि षट्क के साथ पुरुषवेद का क्षय करता है। उदय हुये वेद की उदीरणा भी प्रवर्तित होती है। जिससे बहुत सी स्थिति टूट जाती है। इसलिये पुरुषवेद से श्रेणी पर आरूढ़ पुरुषवेद के पुरुषवेद की ही जघन्य स्थिति का संक्रम होता है अन्य का नहीं और इसके साथ ही स्थितिसंक्रम का विवेचन पूर्ण होता है।[१]

---

१. उत्कृष्ट, जघन्य स्थिति, यत्स्थिति प्रमाण एवं स्वामी आदि का सरलता से बोध कराने वाला प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

अनुभागसंक्रम

अब अनुभागसंक्रम के कथन करने का अवसर प्राप्त है। उसके विचार के यह छह अधिकार हैं – १. भेद स्पर्धक प्ररूपणा, २. विशेष लक्षण प्ररूपणा, ३. उत्कृष्टानुभाग संक्रम प्ररूपणा, ४. जघन्यानुभाग संक्रम प्रमाण प्ररूपणा, ५. साद्यनादि प्ररूपणा, ६. स्वामित्व प्ररूपणा। इनमें से पहले भेद स्पर्धक प्ररूपणा करते हैं –

मूलुत्तरपगइगतो अणुभागे संकमो जहा बंधे।
फड्डुगनिद्देशो सिं, सव्वेयरघायऽघाईणं॥ ४४॥

शब्दार्थ – **मूलुत्तरपगइगतो** – मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद कहे हैं, उसी प्रकार, **अणुभागे संकमो** – अनुभागसंक्रम में, **जहा बंधे** – जैसा बंध शतक में, **फड्डग निद्देसो** – स्पर्धक प्ररूपणा, **सिं**– यह, **सव्वेयरघायऽघाईणं** – सर्वघाती, देशघाती और अघाती प्रकृतियों की।

गाथार्थ – जिस प्रकार बंधशतक में मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद कहे हैं उसी प्रकार अनुभागसंक्रम में भी जानना तथा सर्वघाती, देशघाती और अघाती प्रकृतियों की स्पर्धक प्ररूपणा भी बंधशतक के समान जानना चाहिये।

विशेषार्थ – अनुभागसंक्रम विषयक दो भेद हैं – १. मूल प्रकृति अनुभागसंक्रम और २. उत्तर-प्रकृति अनुभागसंक्रम। ये मूल और उत्तर प्रकृतिक भेद जैसे बंधशतक नामक ग्रंथ में कहे गये हैं, उसी प्रकार से यहां भी जानना चाहिये। इस प्रकार यह अनुभाग के विषय में भेद प्ररूपणा है।

स्पर्धक प्ररूपणा

स्पर्धक की प्ररूपणा करने के लिये गाथा में कहा है – फड्डगनिद्देसोसिं इत्यादि। अर्थात् इन सर्वघातिनी, देशघातिनी और अघातिनी प्रकृतियों के स्पर्धकों का निर्देश शतक ग्रन्थानुसार समझ लेना चाहिये। तथापि संक्षेप में यहां कुछ निर्देश किया जाता है कि केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, आदि की बारह कषाय, निद्रा पंचक, मिथ्यात्व इन बीस प्रकृतियों के रस स्पर्धक सर्वघाती होते हैं, जो अपने घात करने योग्य केवलज्ञानादि गुणों का सर्वथाघात करते हैं, जिससे इन्हें सर्वघाती कहते हैं। ये सर्वघाती स्पर्धक ताम्रभाजन के समान निष्छिद्र, घी के समान अतिस्निग्ध चिकने, द्राक्षा के समान सूक्ष्मतम प्रदेशों से उपचित्त और स्फटिक मणि या अभ्रक के समान अत्यन्त निर्मल होते हैं। कहा भी है –

जो घाइय सविसयं सयलं सो होइ सव्वघाइरसो।
सो निच्छिड्डो निद्धो तणुओ फलिहब्भहर विमलो॥

अर्थात् जो अपने विषयभूत गुण को पूर्णरूपेण घात करता है, वह सर्वघाती रस है। वह निष्छिद्र,

स्निग्ध, तनुप्रदेशी और स्फटिक अभ्रक के समान निर्मल होता है।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, संज्वलनचतुष्क, नव नोकषाय और अन्तराय पंचक इन पच्चीस प्रकृतियों के रसस्पर्धक देशघाती होते हैं। ये अपने विषयभूत ज्ञानादिगुणों – मतिज्ञानादिगुणों के एक देश का घात करते हैं। इस प्रकार के स्वभाव वाले कर्मों को देशघाती कहते हैं, जैसे – कुछ अनेक बड़े-बड़े सैकड़ों छिद्रों से व्याप्त होते हैं, यथा बांस से बनाई गई चटाई। कितने ही मध्यम अनेक (सैकड़ों) छिद्रों से, जैसे ऊनी कम्बल और कितने ही अत्यन्त सूक्ष्म सैकड़ों छिद्रों से, जैसे कि सूक्ष्म रेशमी वस्त्र आदि तथा ये देशघाती रस स्पर्धक अल्प स्नेह वाले और विशेष निर्मलता से रहित होते हैं। जैसा कि कहा है –

देशविघाइत्तणओ इयरो कडकंबलंसुसंकासो।
विविहबहुछिद्दभरिओ अप्पसिणेहो अविमलो य॥

अर्थात् – देशघाती स्पर्धक कट (चटाई) कंबल और अंशुक (वस्त्र विशेष) के समान विविध प्रकार के बहुत छिद्रों से व्याप्त होते हैं, अल्प स्नेह अविमल (निर्मलता रहित) होते हैं।

वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारों कर्म सम्बंधी एक सौ ग्यारह प्रकृतियों के रसस्पर्धक अघाती जानना चाहिये। केवल वेद्यमान सर्वघाति रसस्पर्धकों के संबंध से वे भी सर्वघाती होते हैं, जैसे कि लोक में स्वयं चोर नहीं है, फिर भी चोरों के साथ संबंध रखने से चोर कहा जाता है। कहा भी है –

जाण न विसओ घाइत्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो।
जाइ घाइसगासेण चोरया वेहऽचोराणं॥

अर्थात् – आत्मगुणों का घात करना जिनका विषय नहीं है, उन कर्मों के भी रसस्पर्धक घाति कर्मों के संबंध से सर्वघाति रस वाले हो जाते हैं। जैसे कि इस लोक में जो चोर नहीं हैं वे भी चोर के सम्पर्क से चोर कहे जाते हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म के स्पर्धक

अब दर्शनमोहनीय कर्म के स्पर्धकों की प्ररूपणा करते हैं –

सव्वेसु देसघाईसु, सम्मत्तं तदुवरिंतु वा मिस्सं।
दारुसमाणस्साणंतमोत्ति मिच्छत्तमुप्पिमओ॥ ४५॥

शब्दार्थ – **सव्वेसु** – समस्त, **देसघाईसु** – देशघाती स्पर्धकों में, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व मोहनीय के, **तदुवरिं** – उससे ऊपर, **तु** – तो, **वा** – और, **मिस्सं** – मिश्र मोहनीय के, **दारुसमाणस्साणंतमोत्ति**–

दारु के समान (द्विस्थानक) सर्वघाति स्पर्धकों के अनन्तवें भाग प्रमाण, **मिच्छत्तं** – मिथ्यात्व के, **उप्पिं** – ऊपर, **अओ** – उससे।

गाथार्थ – सम्यक्त्व मोहनीय समस्त देशघाति स्पर्धकों में है, उनसे ऊपर जो दारु के समान (द्विस्थानक) सर्वघाति स्पर्धकों के अनन्तवें भाग प्रमाण स्पर्धक मिश्र मोहनीय के और उससे ऊपर (सर्वघाती) स्पर्धक मिथ्यात्व मोहनीय के होते हैं।

विशेषार्थ – सत्ता की अपेक्षा दर्शनमोहनीय के रसस्पर्धक दो प्रकार के होते हैं – १. देशघाती और २. सर्वघाती। इनमें से जो देशघाती स्पर्धक हैं वे एकस्थानक और द्विस्थानक रस के संयुक्त होते हैं। वे सब स्पर्धक सम्यक्त्व प्रकृति में होते हैं और 'तदुवरिं तु वा मिस्सं' उसके ऊपर मिश्रमोहनीय के स्पर्धक होते हैं अर्थात जहां पर देशघाती रसस्पर्धक समाप्त होते हैं, उनसे ऊपर सम्यग्मिथ्यात्व के रसस्पर्धक होते हैं जो सर्वघाती ही होते हैं और द्विस्थानक रस से संयुक्त होते हैं। ये सम्यग्मिथ्यात्व के रसस्पर्धक तब तक जानना चाहिये जब तक कि 'दारुसमाणस्साणंतमोत्ति' अर्थात् दारु, (लकड़ी) के समान द्विस्थानक रस है, तत्सम्बंधी स्पर्धकों का अनन्तवां भाग जहां समाप्त होता है और जहां सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धक समाप्त होते हैं, वहां से लेकर शेष द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस से युक्त जितने भी स्पर्धक होते हैं, वे सभी मिथ्यात्व के जानना चाहिये।

इस प्रकार स्पर्धक प्ररूपणा का आशय समझना चाहिये।

विशेष लक्षण प्ररूपणा

अब विशेष लक्षण प्ररूपणा करते हैं –

तत्थट्ठपयं उव्वट्टिया व ओवट्टिया व अविभागा।
अणुभागसंकमो एस अन्नपगइं निया वावि॥ ४६॥

शब्दार्थ – **तत्थट्ठपयं** – इसमें यह अर्थपद है (लक्षण रूप विशेष आशय), **उव्वट्टिया** – उद्वर्तना, **व** – अथवा, **ओवट्टिया** – अपर्वतना, **व** – अथवा, **अविभागा** – रसाविभाग, **अणुभागसंकमो**– अनुभाग संक्रम, **एस** – यह, **अन्नपगइं** – अन्य प्रकृति, **निया** – परिणमित, **वावि** – अथवा।

गाथार्थ – इसमें यह अर्थपद है अर्थात् अनुभागसंक्रम का यह विशेष लक्षण है कि रसाविभागों की उद्वर्तना अथवा अपवर्तना अथवा अन्य प्रकृतिरूप परिणमन अनुभागसंक्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ – इस अनुभागसंक्रम में यह अर्थपद है अर्थात् यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने वाला पद है – जो उद्वर्तित अर्थात् अधिक परिमाण किये हुये अथवा अपवर्तित अर्थात् अल्प परिमाण किये हुये अथवा अन्य प्रकृतिगत अर्थात् अन्य प्रकृति स्वभाव रूप से परिणमित हुये अविभाग अनुभाग हैं, ये सभी

अनुभागसंक्रम हैं। इनमें से मूल प्रकृतियों के उद्वर्तना और अपवर्तना रूप दो ही संक्रम होते हैं किन्तु अन्य प्रकृतिपरिणमनरूप संक्रम नहीं होता है। क्योंकि मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रम का अभाव है। उत्तर प्रकृतियों के तीनों ही प्रकार के संक्रम होते हैं।

इस प्रकार अनुभागसंक्रम का विशेष लक्षण समझना चाहिये।

उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम प्रमाण

अब उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग संक्रम के प्रमाण का प्रतिपादन करते हैं –

दुविह पमाणे जेट्ठो, सम्मत्तदेसघाइ दुट्ठाणा।
नरतिरियाऊआयव-मिस्से वि य सव्वघाइम्मि॥ ४७॥
सेसासु चउट्ठाणे, मंदो संमत्तपुरिससंजलणे।
एगट्ठाणे सेसासु, सव्वघाइंमि दुट्ठाणे॥ ४८॥

शब्दार्थ – **दुविहपमाणे** – द्विविध प्रमाण (स्थान और घातिक प्रमाण रूप) **जेट्ठो** – उत्कृष्ट, **सम्मत्त** – सम्यक्त्व का, **देसघाइ** – देशघाती, **दुट्ठाणा** – द्विस्थानक, **नरतिरियाऊ** – मनुष्य और तिर्यंचायु, **आयव** – आतप, **मिस्सेवि** – मिश्र का भी, **य** – और, **सव्वघाइम्मि** – सर्वघाती।

सेसासु – शेष प्रकृतियों का, **चउट्ठाणे** – चतुःस्थानक, **मंदो** – जघन्य, **संमत्तपुरिसंजलणे**– सम्यक्त्व, पुरुषवेद, संज्वलनचतुष्क का, **एगट्ठाणे** – एक स्थानक, **सेसासु** – शेष प्रकृतियों का, **सव्वघाइंमि** – सर्वघाती, **दुट्ठाणे** – द्विस्थानक।

गाथार्थ – द्विविध प्रमाण (स्थानकप्रमाण और घातिप्रमाण) रूप उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सम्यक्त्व मोहनीय का देशघाती और द्विस्थानक रस वाला है तथा मनुष्यायु, तिर्यंचायु, आतप और मिश्रमोहनीय का भी द्विस्थानक रस है किन्तु सर्वघाती है।

शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम चतुःस्थानक और सर्वघाती रस वाला होता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय, पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क का मंद अर्थात् जघन्य अनुभागसंक्रम एक स्थानक और देशघाति रूप है। इनके अतिरिक्त शेष प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम सर्वघाती और द्विस्थानक रस वाला होता है।

विशेषार्थ – द्विविध प्रमाण में अर्थात स्थानप्रमाण और घातित्वप्रमाण में ज्येष्ठ अर्थात् उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सम्यक्त्व प्रकृति का देशधारी द्विस्थानक रसस्पर्धक में संक्रमण होने पर जानना चाहिये। जिसका आशय यह है कि सम्यक्त्व प्रकृति के घातित्व का आश्रयकर अर्थात देशघाती स्थान की अपेक्षा

सर्वोत्कृष्ट द्विस्थानक रस से संयुक्त स्पर्धक पटल जब संक्रांत होता है तब उसका उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम होता है।

मनुष्यायु, तिर्यंचायु, आतप और सम्यग्मिथ्यात्व इन चार प्रकृतियों का स्थान की अपेक्षा अर्थात सर्वोत्कृष्ट द्विस्थानक रस से युक्त घातिपने का आश्रय करके सर्वघाति रस स्पर्धक में उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम होता है। यहां पर भी यह तात्पर्यार्थ है कि जब मनुष्यायु, तिर्यंचायु, आतप और सम्यग्मिथ्यात्व के सर्वोत्कृष्ट द्विस्थानक रस से युक्त रसस्पर्धक संक्रांत होते हैं, तब वह उनका उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम है। यहां पर मनुष्यायु, तिर्यंचायु और आतप इन प्रकृतियों का 'दुतिचउट्ठाणा उ सेसाउ' इस वचन के अनुसार द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस संभव होने पर भी जो द्विस्थानक रस स्पर्धक का ही उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम कहा गया है, वह यह सूचित करता है कि उन कर्मों का उस प्रकार का स्वभाव होने से ही त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस वाले स्पर्धकों को उद्वर्तना रूप अपवर्तना रूप और अन्य प्रकृतिनयन (परिणमन) रूप तीनों ही प्रकार का संक्रम नहीं होता है।

'सेसाउ चउट्ठाणे' अर्थात ऊपर कही गई प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों के स्थान की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट चतुःस्थानक रस और घातित्व की अपेक्षा सर्वघातिरस जब संक्रांत होता है, तब वह उनका उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम जानना चाहिये।

इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम का प्रमाण समझना चाहिये। अब जघन्य अनुभागसंक्रम के प्रमाण का प्रतिपादन करते हैं –

'मंदो त्ति' अर्थात् जब सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति, पुरुषवेद और संज्वलन कषायों का एक स्थानक रस में संक्रमण होता है तब वह मंद यानि जघन्य अनुभागसंक्रम जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है –

सम्यक्त्व प्रकृति का सर्व विशुद्ध एक स्थानक रस जब संक्रांत होता है, तब वह उसका जघन्य अनुभागसंक्रम है। पुरुषवेद और संज्वलन कषायों के क्षपणकाल में जो एक समय कम आवलिकाद्विक बद्ध एक स्थानक रस वाले स्पर्धक हैं, वे जब संक्रांत होते हैं, तब वह उनका जघन्य अनुभागसंक्रम जानना चाहिये।[१]

'सेसासु इत्यादि' अर्थात ऊपर कही गई प्रकृतियों के सिवाय शेष जो सभी प्रकृतियां हैं, उनमें द्विस्थानक रस से युक्त सर्वघाति रस स्पर्धक के संक्रमण होने पर जघन्य अनुभागसंक्रम जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है –

सम्यक्त्वमोहनीय, पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क से अन्य जो शेष प्रकृतियां हैं, उनके रसस्पर्धक

१. इन छह प्रकृतियों का अध्याहार से घातित्व आश्रयी जघन्य अनुभागसंक्रम देशघाति रस संक्रान्त होना समझना चाहिये।

घातित्व की अपेक्षा सर्वघाति और स्थान की अपेक्षा द्विस्थानक रस से युक्त मंद अनुभाग वाले जो रसस्पर्धक हैं, वे जब संक्रांत होते हैं, तब वह उनका जघन्य अनुभागसंक्रम है। यहां यद्यपि मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और अन्तराय पंचक इन प्रकृतियों का बंध के समय एक स्थानक भी रस प्राप्त होता है, तथापि क्षयकाल में पूर्वबद्ध द्विस्थानक भी रस संक्रांत होता है, केवल एक स्थानक रस संक्रांत नहीं होता है। इसलिये यह जघन्यसंक्रम के विषय रूप से इनका एक स्थानक रस नहीं कहा है।

इस प्रकार जघन्य अनुभागसंक्रम का परिमाण जानना चाहिये।

सादि अनादि प्ररूपणा

अब सादि अनादि प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है - १. मूल प्रकृति सादि अनादि प्ररूपणा और २. उत्तर प्रकृति सादि अनादि प्ररूपणा। जिनका यहां विवेचन करते हैं –

अजहण्णो तिण्णि तिहा, मोहस्स चउव्विहो अहाउस्स।
एवमणुक्कोसो, सेसिगाण तिविहो अणुक्कोसो॥ ४९॥
सेसा मूलपगईसु, दुविहा, अह उत्तरासु अजहण्णो।
सत्तरसण्ह चउद्धा, तिविकप्पो सोलसण्हं तु॥ ५०॥
तिविहो छत्तीसाए, णुक्कोसोऽह नवगस्स च चउद्धा।
एयासिं सेसा सेस-गाण सव्वे य दुविगप्पा॥ ५१॥

शब्दार्थ – **अजहण्णो** – अजघन्य, **तिण्णि** – तीन का (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय), **तिहा** – तीन प्रकार का, **मोहस्स** – मोहनीय कर्म का, **चउव्विहो** – चार प्रकार का, **अहाउस्स** – तथा आयुकर्म का, **एवमणुक्कोसो** – इसी प्रकार अनुत्कृष्ट, **सेसिगाण** – शेषकर्मों का, **तिविहो** – तीन प्रकार का, **अणुक्कोसो** – अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम।

सेसा – शेष अनुभागसंक्रम, **मूलपगईसु** – मूल प्रकृतियों का, **दुविहा** – दो प्रकार का, **अह** – अब, **उत्तरासु** – उत्तर प्रकृतियों का, **अजहण्णो** – अजघन्य, **सत्तरसण्ह** – सत्रह प्रकृतियों का, **चउद्धा**– चार प्रकार का, **तिविकप्पो** – तीन प्रकार का, **सोलसण्हं** – सोलह प्रकृतियों का, **तु** – और।

तिविहो – तीन प्रकार का, **छत्तीसाए** – छत्तीस प्रकृतियों का, **अणुक्कोसो** – अनुत्कृष्ट अनुभाग-संक्रम, **अह** – तथा, **नवगस्स** – नौ प्रकृतियों का, **य** – और, **चउद्धा** – चार प्रकार का, **एयासिं** – इनके, **सेसा** – बाकी के, **सेसगाण** – शेष प्रकृतियों के, **सव्वे** – सब अनुभागसंक्रम, **य** – और, **दुविगप्पा** – दो विकल्प (भंग)

गाथार्थ – तीन मूल कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) का अजघन्य अनुभागसंक्रम तीन प्रकार का है मोहनीय का अजघन्य अनुभागसंक्रम चार प्रकार का है तथा आयुकर्म का अनुत्कृष्टसंक्रम इसी प्रकार का अर्थात चार प्रकार का है। शेष कर्मों (वेदनीय नाम गोत्र) का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम तीन प्रकार का है।

मूल प्रकृतियों के शेष अनुभागसंक्रम दो प्रकार के हैं तथा उत्तर प्रकृतियों में सतरह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम चार प्रकार का है और सोलह प्रकृतियों का तीन प्रकार का है।

छत्तीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम तीन प्रकार का तथा नौ प्रकृतियों का चार प्रकार का होता है। इन प्रकृतियों के शेष तीन संक्रम और इनके सिवाय शेष प्रकृतियों के सब अनुभागसंक्रम दो-दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ – ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का अजघन्य अनुभाग संक्रम तीन प्रकार का है, यथा – १. अनादि, २. अध्रुव और ३. ध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव के इन कर्मों की समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति के शेष रह जाने पर जो जघन्य अनुभागसंक्रम होता है, वह सादि और अध्रुव है। उससे ऊपर अन्य सभी संक्रम अजघन्य है, वह अनादि है। अध्रुव और ध्रुव संक्रम क्रमशः भव्य और अभव्य की उपेक्षा से हैं।

मोहनीय कर्म का अजघन्य अनुभागसंक्रम चार प्रकार का है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती क्षपक के मोहनीय कर्म की समयाधिक आवलि प्रमाण स्थिति के शेष रह जाने पर जघन्य अनुभागसंक्रम होता है, इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उससे अतिरिक्त अन्य सभी संक्रम अजघन्य हैं। वह अजघन्य संक्रम उपशमश्रेणी में वर्तमान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशान्तमोहगुणस्थान में नहीं होता है, किन्तु उपशान्तमोहगुणस्थान से गिरते हुये जीव के पुनः होता है। इसलिये वह सादि है, उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है तथा ध्रुव और अध्रुव पूर्व के समान जानना चाहिये। अर्थात अभव्य और भव्य की अपेक्षा क्रमशः ध्रुव और अध्रुव भंग जानना चाहिये।

आयुकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभाग संक्रम चार प्रकार का होता है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव। जिनका तात्पर्य इस प्रकार है –

अप्रमत्त संयत देवायु के उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर बंधावलिका से परे संक्रमण करना प्रारम्भ करता है और वह तब तक संक्रमण करता है, जब तक कि अनुत्तर विमानवासी देव के भव में तेतीस सागरोपम व्यतीत होते हैं और एक आवलि प्रमाण स्थिति शेष रहती है। उससे अन्य सभी आयु का अनुभागसंक्रम

अनुत्कृष्ट होता है और वह सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव संक्रम क्रमशः अभव्य और भव्य की उपेक्षा से होते हैं।

पूर्वोक्त मूलकर्मों से शेष रहे नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीयकर्म का अनुत्कृष्टसंक्रम तीन प्रकार का होता है, यथा – अनादि, अध्रुव और ध्रुव। जिसको इस प्रकार जानना चाहिये कि -

सूक्ष्मसंपराय क्षपक द्वारा अपने गुणस्थान के चरम समय में नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मों का सर्वोत्कृष्ट अनुभाग बांधा जाता है। वह बंधावली के व्यतीत होने पर सयोगी केवली के चरम समय तक संक्रांत होता है, इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी अनुत्कृष्ट है। उसके आदि का अभाव होने से वह अनादि है। ध्रुव, अध्रुव संक्रम पूर्व के समान जानना चाहिये अर्थात अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है।

मूल प्रकृतियों के बारे में ऊपर कहे गये विकल्पों से शेष रहे विकल्पों में दो प्रकार की प्ररूपणा करनी चाहिये, यथा – सादि और अध्रुव। उनमें से चारों घातिकर्मों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य अनुभागसंक्रमों में से जघन्य सादि और अध्रुव संक्रम का कथन कर दिया है। उत्कृष्ट संक्रम मिथ्यादृष्टि के कदाचित होता है। अन्य समय में तो उसके भी अनुत्कृष्ट होता है, इसलिये ये दोनों ही सादि और अध्रुव हैं।[1] शेष चारों ही अघाति कर्मों के जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट संक्रमों के मध्य में उत्कृष्ट संक्रम कह दिया गया है। जघन्य अनुभाग संक्रम उस सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय के पाया जाता है, जिसने कि बहुत सा अनुभागसत्त्व का घात कर दिया है, जो अन्य के नहीं पाया जाता है। बहुत अनुभाग सत्त्व के घात के अभाव में तो उसके भी अजघन्य अनुभागसंक्रम होता है। इसलिये ये दोनों ही सदि और अध्रुव हैं।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा प्रारम्भ करने के लिये गाथा में अह उत्तरासु ..... इत्यादि पद दिये है। अर्थात इन पदों से उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा का प्रारम्भ किया जा रहा है।

उत्तर प्रकृतियों में से सत्रह प्रकृतियों का अर्थात अनन्तानुबंधीचतुष्क, संज्वलनचतुष्क और नव नोकषायों का अजघन्य अनुभागसंक्रम चार प्रकार का होता है, यथा – सादि, अनादि ध्रुव और अध्रुव।

---

१. उत्कृष्ट संक्रम में सादि और अध्रुव भंग बताने का कारण यह है पहले बंधनकरण में बताया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभाग को अधिक से अधिक दो समय तक बांधता है उसके बाद अनुत्कृष्ट बंध होता है और बंधावलिका व्यतीत होने के बाद वह उत्कृष्ट अनुभाग को संक्रान्त करता है। अतः जैसे उत्कृष्ट बंध सादि और अध्रुव उसी तरह संक्रम को भी समझना चाहिये। क्योंकि संक्रम बंध सापेक्ष है। अर्थात बंध होने के अनन्तर तत्तत् प्रकृति का संक्रम होता है।

जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

इन सत्रह प्रकृतियों में से अनन्तानुबंधीचतुष्क को छोड़कर शेष तेरह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम अपने-अपने क्षय के अन्तिम अवसर में जघन्य स्थिति के संक्रम काल में प्राप्त होता है और अनन्तानुबंधी कषायों की उद्वलना संक्रमण के द्वारा उद्वलना करके फिर भी मिथ्यात्व के निमित्त से उनके बंधन के पश्चात बंधावलिकाल व्यतीत हो जाने पर दूसरी आवलि के प्रथम समय में जघन्य अनुभागसंक्रम होता है। इससे अन्य पुनः सभी संक्रम इन सत्रह प्रकृतियों के अजघन्य जानना चाहिये और वह अजघन्य संक्रम उपशमश्रेणी में उपशान्त हुई इन प्रकृतियों का नहीं होता है और वहां से प्रतिपात होने पर होता है। इसलिये वह सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के वह अनादि है। अध्रुव और ध्रुव संक्रम क्रमशः भव्य और अभव्य की अपेक्षा से जानना चाहिये तथा ज्ञानावरणपंचक स्त्यानर्द्धित्रिक को छोड़कर शेष छह दर्शनावरण और अन्तरायपंचक इन सोलह प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागसंक्रम तीन प्रकार का है – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस तरह समझना चाहिये –

इन सोलह प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम क्षीणकषाय गुणस्थान के समयाधिक आवली प्रमाण शेष रहे काल में वर्तमान क्षीणकषाय संयत के पाया जाता है। उससे अन्य सभी अजघन्य अनुभागसंक्रम है और उसकी आदि नहीं है। इसलिये वह अनादि है। अध्रुव और ध्रुव संक्रम क्रमशः भव्य और अभव्य की अपेक्षा से होते हैं।

अब उक्त इकतीस प्रकृतियों से शेष रही प्रकृतियों के अनुभागसंक्रम के प्रकारों को बतलाते हैं।

सातावेदनीय, पंचेन्द्रिय जाति, तैजससप्तक, समचतुरस्रसंस्थान, शुक्ल, लोहित, हारिद्र वर्ण, सुरभि गंध, कषाय, अम्ल, मधुररस, मृदु, लघु, उष्ण, शीत (स्निग्ध उष्ण)ये शुभ वर्णादि एकादश, अगुरुलघु, उच्छ्वास, पराघात, प्रशस्त विहायोगति, त्रसदशक और निर्माण इन छत्तीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम तीन प्रकार का होता है, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार समझना चाहिये –

इन छतीस प्रकृतियों का क्षपक जीव अपनी-अपनी प्रकृति के बंधविच्छेद काल में उत्कृष्ट अनुभाग बांधता है और बांधकर बंधावलि के बीत जाने पर संक्रमण करना आरम्भ करता है और उसे तब तक संक्रमाता है, जब तक कि सयोगी केवली को छोड़कर शेष जीवों के इन प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभाग ही संक्रांत होता है और उनकी आदि नहीं है, इसलिये वह अनादि है। ध्रुव और अध्रुव संक्रम क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा से समझना चाहिये।

'नवगस्स य चउद्ध' अर्थात नौ प्रकृतियों – उद्योत, वज्रऋषभनाराचसंहनन, औदारिकसप्तक का अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम चार प्रकार का होता है – सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव। वह इस प्रकार जानना

चाहिये–

उद्योत को छोड़कर शेष उक्त आठ प्रकृतियों का अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला सम्यग्दृष्टि देव उत्कृष्ट अनुभाग बांधकर बंधावलिका के बीत जाने पर संक्रम करता है। उद्योत नामकर्म का तो उत्कृष्ट अनुभाग बंध सप्तम नरक पृथ्वी में वर्तमान और सम्यक्त्व प्राप्त करने के अभिमुख हुआ मिथ्यादृष्टि नारक जीव करता है। तत्पश्चात बंधावलिका के व्यतीत हो जाने पर उसे संक्रमाता है और उसे जघन्य से अन्तर्मुहूर्त तक तथा उत्कर्ष से दो छियासठ सागरोपम अर्थात १३२ सागरोपमों तक संक्रमाता है। यहां यद्यपि सप्तम नरक पृथ्वी में अन्तर्मुहूर्त में अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, तथापि आगामी भव में अन्तर्मुहूर्त के पश्चात ही जो सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, वह जीव यहां ग्रहण किया गया है। इसलिये अपान्तराल में अल्पमिथ्यात्व काल प्राप्त होता है, फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में उसकी विवक्षा नहीं की गई है। इसलिये यहां भी दो छियासठ (१३२ सागरोपम) काल तक संक्रमाता है, ऐसा कहा है। उस उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम से प्रतिपतित जीव के अनुत्कृष्ट अनुभागसंक्रम होता है और वह सादि है। उस स्थान को प्राप्त जीव के अनादि संक्रम होता है। ध्रुव और अध्रुव संक्रम अभव्य और भव्य की अपेक्षा से होते हैं।

'एयासिं इत्यादि' अर्थात इन सत्रह, सोलह, छत्तीस और नौ प्रकृतियों के कथन करने से शेष रहे विकल्प तथा उक्त सत्रह आदि से भिन्न शेष अस्सी (८०) प्रकृतियों के सभी-उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागसंक्रम दो-दो प्रकार के जानना चाहिये, यथा – सादि और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है –

पूर्वोक्त सत्रह और सोलह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव के पाया जाता है। शेषकाल में तो उसके भी अनुत्कृष्ट ही अनुभागसंक्रम प्राप्त होता है। अतएव वे दोनों सादि और अध्रुव हैं। जघन्य संक्रम का कथन पूर्व में किया जा चुका है।

छत्तीस और नवक प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग संक्रम बहुत से अनुभाग सत्त्व का घात करने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव में पाया जाता है। बहुत से अनुभाग सत्त्व के घात के अभाव में तो उसके भी अजघन्य अनुभाग संक्रम होता है। इसलिये ये दोनों सादि और अध्रुव हैं। उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का विचार पूर्व में हो चुका है। शेष वैक्रियसप्तक, देवद्विक उच्चगोत्र, आतप, तीर्थंकर नाम, आहारकसप्तक मनुष्यद्विक, नरकायु को छोड़कर शेष तीन आयु इन चौबीस शुभ प्रकृतियों का विशुद्धि में वर्तमान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम पाया जाता है। तथा स्त्यानर्द्धित्रिक, असातावेदनीय, दर्शनमोहनीयत्रिक, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायअष्टक, नरकायु, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रियजाति को छोड़कर शेष जातिचतुष्क, प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष पांच संस्थान, प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन, अशुभ वर्णादि नवक, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, स्थावरदशक और नीच गोत्र इन छप्पन अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट

अनुभाग संक्लेश में वर्तमान जीव (संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव) के पाया जाता है। शेषकाल में अनुत्कृष्ट अनुभाग पाया जाता है। इसी प्रकार संक्रम भी जानना चाहिये। इसलिये ये दोनों ही सादि और अध्रुव हैं। इन प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग संक्रम पुनः बहुत से अनुभागसत्त्व के घात करने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के पाया जाता है। बहुत से अनुभाग सत्त्व के घात के अभाव में तो उस जीव के भी अजघन्य संक्रम पाया जाता है। इसलिये ये दोनों भी सादि और अध्रुव हैं।

इस प्रकार अनुभागसंक्रम की सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये।

स्वामित्व प्ररूपणा

अब स्वामित्व प्ररूपणा करने का क्रम प्राप्त है। स्वामित्व के दो प्रकार हैं – १. उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम स्वामित्व और २. जघन्य अनुभागसंक्रम स्वामित्व। इनमें से उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामित्व को कहने के लिये उसके काल प्रमाण का नियम बतलाते हैं –

उक्कोसगं पबंधिय, आवलियमइच्छिऊण उक्कोसं।
जाव न घाएइ, तगं, संकमइ य आमुहुत्तंतो॥ ५२॥

शब्दार्थ – **उक्कोसगं** – उत्कृष्ट अनुभाग को, **पबंधिय** – बांधकर, **आवलियं** – आवलिका, **अइच्छिऊण** – अतिक्रमण करके, **उक्कोसं** – उत्कृष्ट भाग को, **जाव** – तक, **न घाएइ** – घात न करे, **तगं**– तब तक, **संकमइ** – संक्रमित करता है, **य** – और, **आमुहुत्तंतो** – अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त।

गाथार्थ – उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर एक आवलिका अतिक्रमण करके तब तक उस उत्कृष्ट अनुभाग को अन्तर्मुहूर्तकाल तक संक्रमित करता है जब तक उसका घात नहीं करता है।

विशेषार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर उससे एक आवलिका का अतिक्रमण कर अर्थात बंधावलिका से परे उस उत्कृष्ट अनुभाग को तब तक संक्रांत करता है जब तक कि उसका क्षय नहीं करता है।

प्रश्न – कितने काल तक पुनः उसका विनाश नहीं करता है ?

उत्तर – अन्तर्मुहूर्तकाल तक उसका विनाश नहीं करता है। अर्थात अन्तर्मुहूर्तकाल से परे मिथ्यादृष्टि जीव शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को संक्लेश के द्वारा और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को विशुद्धि के द्वारा अवश्य विनाश कर देता है।

इस प्रकार काल का प्रमाण उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम के स्वामी का है। अब उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों का निरूपण करते हैं –

असुभाणं अन्नयरो, सुहुम अपज्जगाइ मिच्छो य।
वज्जिय असंखवासाउए य मणुओववाए य॥ ५३॥
सव्वत्थायावुज्जोय - मणुयगइपंचगाण आऊणं।
समयाहिगालिगा, सेसगत्ति सेसाण जोगतां॥ ५४॥

शब्दार्थ – **असुभाणं** – अशुभ प्रकृतियों का, **अन्नयरो** – अन्यतर (कोई भी) जीव, **सुहुम** – सूक्ष्म, **अपज्जगाइ** – अपर्याप्तक, **मिच्छो** – मिथ्यादृष्टि, **य** – और, **वज्जिय** – छोड़कर, **असंखवासाउए**– असंख्यातवर्षायुष्क मनुष्य तिर्यंच, **मणुओववाए** – मनुष्य में उत्पन्न होने वाले देव, **य** – और।

सव्वत्थ – सर्वत्र, (सभी जीवों के) **आयावुज्जोय** – आतप, उद्योत – **मणुयगइपंचगाण** – मनुष्य गति पंचक, **आऊणं** – आयु का, **समयाहिगालिगा** – समयाधिक आवलिका, **सेसगत्ति** – शेष रहे, वहां तक, **सेसाण** – शेष प्रकृतियों का, **जोगंता** – सयोगी केवली जीवों तक।

गाथार्थ – असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तथा तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले देव को छोड़कर सूक्ष्म अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि आदि कोई भी एक जीव अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम का स्वामी है।

आतप, उद्योत और मनुष्यगतिपंचक, इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम सर्वत्र अर्थात सब जीव भेदों में होता है। आयुकर्म का उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम समयाधिक आवलिकाल प्रमाण स्थिति शेष रहने तक होता है और शेष प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम सयोगि केवली तक के जीवों के होता है।

विशेषार्थ – अशुभ प्रकृतियों का अर्थात ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, असातावेदनीय, अट्ठाईस मोहनीय की प्रकृतियां[१], नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रिय जाति को छोड़कर शेष चार जाति प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष पांच संस्थान और प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन, नील, कृष्णवर्ण, दुरभिगंध, तिक्त कटुकरस, सूक्ष्म, शीत, कर्कश, गुरुस्पर्श, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर सूक्ष्म, साधारण अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र और अन्तरायपंचक इन अठासी अशुभ प्रकृतियों का कोई एक सूक्ष्म अपर्याप्तक आदि तथा आदि शब्दों से पर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकों में से कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम करता है। लेकिन उसमें यह अपवाद है कि असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंच और जो देव अपने भव से च्युत होकर मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं, उन आनत,

---

१. शुभानुभागयुक्त सर्वदलिकों के संक्रम का निष्ठापन मिथ्यात्व में होता है किन्तु उत्कृष्ट अनुभागयुक्त सर्वशुभदलिकों का संक्रम सम्यक्त्व में नहीं होता है। इसलिये यहाँ मिथ्यादृष्टि जीव का ग्रहण किया गया है।

प्राणत आदि कल्पों के देवों को छोड़ देना चाहिये। ये मिथ्यादृष्टि होने पर भी उत्कृष्ट संक्लेश का अभाव होने से उक्त स्वरूप वाली अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग को नहीं बांधते हैं। इसलिये उनके उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम का अभाव कहा गया है।

उपर्युक्तोल्लिखित अठासी प्रकृतियों से शेष रही प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों को बतलाने के लिये गाथा में कहा है — सव्वत्थ -- इत्यादि। जिसका आशय यह है —

सर्वत्र अर्थात सभी सूक्ष्म अपर्याप्त आदि नारकी पर्यन्त जीवों में, असंख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यंच और मनुष्यों में ही उत्पन्न होने वाले आनत प्राणत आदि कल्पों के मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि देवों में आतप, उद्योत, मनुष्यगतिपंचक, अर्थात मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराचसंहनन लेकिन विवक्षावशात् यहां औदारिकद्विक से औदारिकसप्तक का ग्रहण किया जाता है, इसलिये सब मिलाकर बारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

सम्यग्दृष्टि जीव शुभ अनुभाग का विनाश नहीं करता है किन्तु विशेष रूप से दो छियासठ सागरोपम काल तक परिपालन करता है। इसलिये उत्कर्ष से उतने काल तक उत्कृष्ट अनुभाग का विनाश नहीं करके पश्चात सर्वत्र यथायोग्य जीवों में उत्पन्न होता है इसलिये मिथ्यादृष्टि जीवों में भी इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम अन्तर्मुहूर्तकाल तक पाया जाता है। आतप और उद्योत का उत्कृष्ट अनुभाग मिथ्यादृष्टि जीव के द्वारा बांधा जाता है। इसलिये वहां इन दोनों के उत्कृष्ट अनुभाग के संक्रम का अभाव नहीं है और मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त हुए सम्यग्दृष्टि जीव में भी पाया जाता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि होता हुआ वह इन दोनों प्रकृतियों के शुभ होने से उनके उत्कृष्ट अनुभाग का विनाश नहीं करता है। इसलिये दो छियासठ सागरोपम तक उत्कर्ष से इन दोनों प्रकृतियों का वहां संक्रम जानना चाहिये।

चारों आयुकर्मों का उत्कृष्ट अनुभाग बांधकर और बंधावलिका के बीत जाने पर जब तक समयाधिक आवलि प्रमाण स्थिति रहती है तब तक उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम पाया जाता है। शेष शुभ प्रकृतियों का अर्थात् सातावेदनीय, देवद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तैजससप्तक, समचतुरस्र संस्थान, शुक्ल, लोहित, हारिद्र वर्ण, सुरभि गंध, कषाय, आम्ल मधुररस, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्णस्पर्श प्रशस्त विहायोगति, उच्छ्वास, अगुरुलघु, पराघात, त्रसदशक, निर्माण, तीर्थंकर नाम और उच्च गोत्र इन चउवन प्रकृतियों को अपने-अपने बंधविच्छेद के समय उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर बंधावलिका से परे उत्कृष्ट अनुभाग को सयोगी केवली गुणस्थान के चरम समय तक संक्रमाता है। इस प्रकार इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी प्रायः अपूर्वकरण आदि से लेकर सयोगी केवलीपर्यन्त जानना चाहिये।

इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामियों का वर्णन जानना चाहिये।

जघन्य अनुभागसंक्रमस्वामी

अब जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामी का प्रतिपादन करने के प्रसंग में जघन्य अनुभागसंक्रम की भावना का परिज्ञान कराते हैं –

खवगस्संतर करणे, अकए घाईण सुहुमकम्मुवरिं।
केवलिणो णंतगुणं, असन्निओ सेस असुभाणं॥ ५५॥

शब्दार्थ – **खवगस्स** – क्षपक के, **अंतरकरणे** – अन्तरकरण, **अकए** – न किया हो, **घाईण**– घाति प्रकृतियों की अनुभाग सत्ता, **सुहुमकम्मुवरिं** – सूक्ष्म एकेन्द्रिय अनुभाग सत्ता से, **केवलिणो**– केवली को, **णंतगुणं** – अनन्तगुणी, **असन्निओ** – असंज्ञी पंचेन्द्रिय से, **सेस** – बाकी की, **असुभाणं** – अशुभ प्रकृतियों की।

गाथार्थ – क्षपक जीव के जब तक अन्तरकरण न किया हो वहां तक घातिकर्मों की अनुभागसत्ता सूक्ष्म एकेन्द्रिय की अनुभाग सत्ता से अनन्तगुणी होती है तथा केवली के बाकी की अशुभ प्रकृतियों की अनुभागसत्ता असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की अनुभाग सत्ता से अनन्तगुणी होती है।

विशेषार्थ – जब तक अन्तरकरण नहीं किया जाता है तब तक क्षपक जीव के सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियों सम्बंधी अनुभाग सूक्ष्म एकेन्द्रिय की अनुभागसत्ता से अनन्तगुणा होता है। किन्तु अन्तरकरण कर लेने पर सूक्ष्म एकेन्द्रिय के भी अनुभागसत्व से क्षपक की अनुभाग सत्ता हीन हो जाती है – तथा शेष भी - अघातिनी अशुभ प्रकृतियों की अर्थात् असातावेदनीय, प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष पांच संस्थान, प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन कृष्ण नील वर्ण, दुरभिगंध, तिक्त कटुक रस, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत स्पर्श, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अस्थिर, अशुभ, अपर्याप्त, अयशःकीर्ति और नीच गोत्र इन तीस प्रकृतियों की केवली की अनुभागसत्ता असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अनुभागसत्ता से अनन्तगुणी जानना चाहिये। ऐसा होने पर सर्वघातिनी और देशघातिनी प्रकृतियों के जघन्य अनुभागसंक्रम का होना क्षपक जीव के अन्तरकरण करने पर जानना चाहिये। शेष अर्थात ऊपर कही गई अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसंक्रम सयोगी केवली में संभव नहीं है, किन्तु 'हत प्रभूत सत्कर्मा' अर्थात बहुत सी अनुभाग सत्ता का घात करने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि के होता है। क्योंकि उसी का आगे कथन किया गया है।

यहां पर 'संकमई य आमुहुत्तंतो' इस वचन के अनुसार सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त के बाद सभी प्रकृतियों के अनुभाग का घात करते हैं, यह प्रसंग प्राप्त होता है, अतः इस विषयक अपवाद का कथन करते हैं –

सम्मद्दिट्ठी न हणइ, सुभाणुभागे असम्मदिट्ठी वि।
सम्मत्तमीसगाणं, उक्कोसं वज्जिया खवणं॥ ५६॥

शब्दार्थ – **सम्मद्दिट्ठी** – सम्यग्दृष्टि, **न हणइ** – घात नहीं करता है, **सुभाणुभागे** – शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को, **असम्मदिट्ठी** – मिथ्यादृष्टि, **वि** – भी, **सम्मत्तमीसगाणं** – सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय, **उक्कोसं** – उत्कृष्ट अनुभाग, **वज्जिय** – छोड़कर, **खवणं** – क्षय काल को।

गाथार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का घात नहीं करता है और क्षय काल को छोड़कर मिथ्यादृष्टि जीव भी सम्यक्त्व और मिश्र प्रकृति के उत्कृष्ट अनुभाग का घात नहीं करता है।

विशेषार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव सातावेदनीय, देवद्विक, मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, प्रथम संस्थान, प्रथम संहनन, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, तैजससप्तक, शुभ वर्णादिएकादश, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति त्रसदशक, निर्माण, तीर्थंकर नाम और उच्च गोत्र इन सभी छियासठ शुभ प्रकृतियों का शुभ अनुभाग उत्कर्ष से दो छियासठ (६६+६६=१३२) सागरोपम काल तक विनाश नहीं करता है। असम्यग्दृष्टि अर्थात मिथ्यादृष्टि और 'अपि' शब्द से सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग का घात नहीं करता है, क्षपण अर्थात क्षय करने के काल को छोड़कर। इस का तात्पर्य है –

क्षपणकाल में सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग का विनाश करता है। इसलिये क्षपण काल का वर्जन किया गया है। जैसा कि पंचसंग्रह की मूल टीका में कहा है – 'सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग का घात नहीं करते हैं किन्तु क्षपक सम्यग्दृष्टि (क्षायिक सम्यग्दृष्टि और क्षपक श्रेणी वाले) उन दोनों ही प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग का विनाश करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सभी शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग को संक्लेश से और अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग को विशुद्धि से अन्तर्मुहूर्त के पश्चात अवश्य घात करता है।

इस प्रकार जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामित्व का प्रतिपादन करने के प्रसंग में पहले जघन्य अनुभागसंक्रम की संभावना का विचार किया गया। अब जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामित्व का कथन करते हैं –

अंतरकरणा उवरिं जहन्नठिइ संकमो उ जस्स जहिं।
घाईणं नियग चरम-रसखंडे (डगे) दिट्ठिमोहदुगे॥ ५७॥
आऊण जहण्णठिई, बंधिय जावत्थि संकमो ताव।
उव्वलणतित्थसंजो - यणा य पढमालियं गंतुं॥ ५८॥

सेसाण सुहुम हय - संतकम्मिगो तस्स हेट्ठओ जाव।
बंधइ ताव एगिं - दिओ व णेगिंदिओ वावि॥ ५९॥

शब्दार्थ – **अंतरकरणा उवरिं** – अंतरकरण से ऊपर (आगे), **जहन्नठिइसंकमो** – जघन्य-स्थिति संक्रम, **उ** – और, **जस्स** – जिस प्रकृति का, **जहिं** – जहां, **घाईणं** – घाति प्रकृतियों का, नियग – अपने, **चरमरसखंडे** – अन्तिम रसखंड को, **दिट्ठिमोहदुगे** – दर्शनमोहद्विक का।

आऊण - आयुकर्म की, **जहण्णठिई** – जघन्य स्थिति, **बंधिय** – बांधकर, **जावत्थि संकमो**– जब तक संक्रम होता है, **ताव** – तब तक, **उव्वलण** – उद्वलनयोग्य, **तित्थ** – तीर्थंकर नाम, **संजोयणा** – संयोजना (अनन्तानुबंधी) **य** – और, **पढमालियं** – प्रथम आवलिका, **गंतुं** – बीत जाने पर।

सेसाण – शेष प्रकृतियों का, **सुहुम** – सूक्ष्म, **हयसंतकम्मिगो** – कर्मों की बहुत सी अनुभाग-सत्ता का घात करने वाला, **तस्स** – उसके, **हेट्ठओ** – अधस्तन, **जाव** – तक, **बंधइ** – बांधता, **ताव** – तब तक, **एगिंदिओ** – एकेन्द्रिय, **णेगिंदिओ** – अनेक इन्द्रिय वाले (द्वीन्द्रिय आदि), **वावि** – अथवा।

गाथार्थ – अन्तरकरण से ऊपर घातिकर्मों की जिस प्रकृति का जहां पर जघन्य स्थितिसंक्रम होता है, वहीं पर उसका जघन्य अनुभागसंक्रम भी होता है तथा दर्शनमोहद्विक (सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय) का अपने-अपने चरम रसखंड के संक्रमण के समय जघन्य अनुभाग का संक्रम होता है।

आयुकर्म की जघन्य स्थिति को बांधकर जब तक संक्रम संभव है, तब तक जघन्य अनुभागसंक्रम होता है। उद्वलन योग्य प्रकृतियों का, तीर्थंकर नाम का और संयोजना प्रकृतियों का प्रथम आवलिका का अतिक्रमण होने पर जघन्य अनुभागसंक्रम होता है।

शेष प्रकृतियों का कर्मों की बहुत सी अनुभाग सत्ता का नाश करने वाला सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव अपने से अधस्तन अनुभाग को तब तक बांधता है, जब तक उसी भव में या अन्य द्वीन्द्रियादि भव में रहता हुआ अधिक अनुभाग को नहीं बांधता है तब तक वह उन प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग का संक्रम करता है।

विशेषार्थ – अन्तरकरण से ऊपर (आगे) घातिकर्मों की प्रकृतियों में से जिस प्रकृति का जिस गुणस्थान में जघन्य स्थितिसंक्रम कहा है, उस प्रकृति का वहां पर जघन्य अनुभागसंक्रम भी जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ –

अन्तरकरण करने पर अनिवृत्तिबादरसंपराय क्षपक क्रम से जघन्य स्थिति के संक्रमकाल में जघन्य अनुभागसंक्रम को करता है। ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा और प्रचलारूप दर्शनावरणषट्क इन सोलह प्रकृतियों का क्षीणकषाय

वीतरागछद्मस्थ समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति के शेष रहने पर जघन्य अनुभागसंक्रम करता है।[१] सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीयद्विक का क्षपण काल में अपने-अपने चरम रसखंड के संक्रमण काल में जघन्य अनुभागसंक्रम होता है।

अब आयुकर्म की प्रकृतियों के जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामित्व का विचार करते हैं –

चारों ही आयुकर्म की प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को बांधकर अर्थात जघन्य स्थिति बांधता हुआ जघन्य अनुभाग को बांधता है, यह बताने के लिये 'जघन्य स्थिति' यह पद कहा है। जघन्य स्थिति को बांधकर बंधावलि से परे जघन्य अनुभाग का संक्रम तब तक करता है, जब तक कि समयाधिक आवलिकाल शेष रहता है। इसलिये जघन्य स्थिति को बांधकर जब तक संक्रम होता है तब तक जघन्य अनुभागसंक्रम पाया जाता है।

उद्वलन प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग संक्रम के स्वामी यह हैं –

नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक और उच्चगोत्र इन इक्कीस उद्वलन प्रकृतियों का, तीर्थंकर नाम और अनन्तानुबंधी कषायों का जघन्य अनुभाग बांधकर बंधावलिका रूप प्रथम आवलि का अतिक्रमण करके अर्थात बंधावलिका के पश्चात जघन्य अनुभाग को संक्रमाता है।

प्रश्न – कौन संक्रमाता है ?

उत्तर – वैक्रियसप्तक, देवद्विक और नरकद्विक इन ग्यारह प्रकृतियों को असंज्ञी पंचेन्द्रिय, मनुष्याद्विक और उच्चगोत्र को सूक्ष्म निगोदिया जीव आहारकसप्तक को अप्रमत्त संयत, तीर्थंकर नाम को अविरत सम्यग्दृष्टि और अनन्तानुबंधी कषायों को सम्यक्त्व को छोड़ा हुआ मिथ्यादृष्टि जीव संक्रमाता है।

पूर्वोक्त प्रकृतियों से शेष रही शुभ और अशुभ सत्तानवै प्रकृतियों का हतसत्कर्मा 'हत' अर्थात विनष्ट किया गया है, प्रभूत अनुभागसत्कर्म (सत्ता) जिसके द्वारा - हतं विनाशितं प्रभूतं अनुभागसत्कर्म येन स हतसत्कर्मा सूक्ष्म एकेन्द्रिय वायुकाय अथवा अग्निकाय जीव अपनी अनुभागसत्ता से नीचे अर्थात उससे भी अल्पतर अनुभाग तब तक बांधता है, जब तक कि वह एकेन्द्रिय जीव उसी एकेन्द्रिय भव में वर्तमान रहता है, अथवा वह हतसत्कर्मा जीव अन्य एकेन्द्रिय द्वीन्द्रियग्रादि भव में वर्तमान रहता हुआ उससे अधिक अनुभाग को नहीं बांधता है तब तक उसी जघन्य अनुभाग का संक्रम करता है।

इस प्रकार अनुभाग संक्रम का विवेचन समाप्त हुआ।

---

१. यह कथन सामान्य से समझना चाहिये। क्यों कि जघन्य स्थितिसंक्रम के समय जघन्य अनुभागसंक्रम होना संभव है तथा निद्राद्विक का जघन्य स्थितिसंक्रम दो आवलिका शेष रहने पर हो जाता है।

प्रदेशसंक्रम

अब प्रदेशसंक्रम के कथन का अवसर प्राप्त है। उसके विचार के निम्नलिखित अर्थाधिकार हैं –

१. सामान्य लक्षण, २. भेद, ३. सादि अनादि प्ररूपणा, ४. उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामी, ५. जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामी। इनमें से पहले प्रदेशसंक्रम का लक्षण और भेदों का कथन करते हैं –

जं दलियमन्नपगइं, निज्जइ सो संकमो पएसस्स।
उव्वलणो विज्झाओ, अहापवत्तो गुणो सव्वो॥ ६०॥

शब्दार्थ – **जं** – जो, **दलियं** – दलिक, **अन्नपगइं** – अन्य प्रकृति में, **निज्जइ** – ले जाये जाते हैं, **सो** – वह, **संकमोपएसस्स** – प्रदेशसंक्रम, **उव्वलणो** – उद्वलन, **विज्झाओ** – विध्यात, **अहापवत्तो**– यथाप्रवृत्त, **गुणो** – गुणसंक्रम, **सव्वो** – सर्वसंक्रम।

गाथार्थ – जो दलिक अन्य प्रकृति में ले जाए जाते हैं, वह प्रदेशसंक्रम कहलाता है। उसके १. उद्वलनासंक्रम, २. विध्यातसंक्रम, ३. यथाप्रवृत्तसंक्रम, ४. गुणसंक्रम, ५. सर्वसंक्रम, ये पांच भेद हैं।

विशेषार्थ – जो संक्रमप्रायोग्य दलिक अर्थात कर्मद्रव्य अन्य प्रकृतिरूप से परिणमन को प्राप्त होते हैं, उसे प्रदेशसंक्रम कहते हैं – **पत्संक्रमप्रायोग्यं दलिकं कर्मद्रव्यं अन्यप्रकृतिं नीयते अन्यप्रकृतिरूपतया परिणाम्यते स प्रदेशसंक्रमः।** यह प्रदेशसंक्रम का सामान्य लक्षण है। अब उसके भेदों का विचार करते हैं –

प्रदेशसंक्रम पांच प्रकार का है – उद्वलनासंक्रम, विध्यातसंक्रम, यथाप्रवृत्तसंक्रम, गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम।[१]

जैसा उद्देश्य होता है तदनुरूप निर्देश किया जाता है – इस न्याय के अनुसार पहले उद्वलना-संक्रम का विचार करते हैं –

---

१. 'धनवलान्वितस्याल्पदलस्योत्तरणं उत्कीरणं तदेव च उद्वलनं व्यपदिश्यते' - अतिसघन कर्म दलिकों से युक्त कर्म प्रकृतियों के दलिकों का उद्वलन-उत्कीरण यानि उत्खनन करने को उद्वलना संक्रम कहते हैं। अर्थात विवक्षित परमाणुओं को विवक्षित विधि से स्वस्थान से उखाड़कर अन्य प्रकृति में इस तरह स्थापित करना कि जिससे वे परमाणु अन्त में सर्वथा निःसत्ता हो जायें - प्रकृतेरुदवेलनं भागाहारेणाकृष्य परप्रकृतीयां नीत्वा विनाशनमुदवेलनं।

इस उद्वलनासंक्रम के द्वारा अधिक स्थिति और गाढ रस वाले दलिक उद्वलित, उत्कीर्ण होकर अथवा उकलकर हीनस्थिति और हीनरस वाले हो जाते हैं। जैसे रस्सी को उकेलने से उसकी ऐंठन, बल उकल जाते हैं। जिससे उसके तन्तु अलग-अलग हो जाते हैं और उनका परस्पर एक दूसरे से गाढ़ सम्बन्ध भी छूट जाता है और तन्तु के ढीले पड़ जाने से उनकी मजबूती भी कम हो जाती है। इसी प्रकार कर्मदलिकों के लिये भी समझना चाहिये।

उद्वलनासंक्रम

अनन्तानुबंधीचतुष्क, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र इन सत्ताईस प्रकृतियों के पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंड को सर्वप्रथम अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा उत्कीर्ण करता है। तत्पश्चात पुनः पल्योयम के असंख्यातवें भाग प्रमाण दूसरे स्थितिखंड को उत्कीर्ण करता है। परन्तु केवल प्रथम स्थिति खंड से विशेषहीन खंड को अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा उत्कीर्ण करता है। उसके पश्चात भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण तीसरे स्थिति खंड को उत्कीर्ण करता है, किन्तु यह तृतीय खंड द्वितीय स्थितिखंड से विशेषहीन होता है और उसे अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा उत्कीर्ण करता है। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखंडों को पूर्व-पूर्व के स्थितिखंड से विशेषहीन विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक द्विचरम स्थितिखंड प्राप्त होता है। यह सभी स्थितिखंड एक अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा उत्कीर्ण किये जाते हैं।

इस उद्वलनासंक्रम में प्ररूपणा दो प्रकार से की गई है - अनन्तरोपनिधा, परंपरोपनिधा।

अनन्तरोपनिधा से प्रथम स्थितिखंड की स्थिति बहुत है, इससे द्वितीय स्थितिखंड की स्थिति विशेषहीन है, उससे भी तृतीय स्थितिखंड की स्थिति विशेषहीन है। इस प्रकार द्विचरम स्थितिखंड तक उत्तरोत्तर विशेषहीन विशेषहीन स्थितिखंड जानना चाहिये। इस प्रकार यह अनन्तरोपनिधा से प्ररूपणा जानना चाहिये।

अब परम्परोपनिधा से प्ररूपणा की जाती है कि प्रथम स्थितिखंड की अपेक्षा कितने ही स्थितिखंड स्थिति की अपेक्षा असंख्यात भागहीन होते हैं, कितने ही स्थितिखंड संख्यात भागहीन, कितने ही स्थितिखंड संख्यात गुणहीन और कितने ही स्थितिखंड असंख्यात गुणहीन होते हैं।

यदि इन स्थितिखंडों के प्रदेशों का प्रदेशापेक्षा चिन्तन किया जाये तब अनन्तरोपनिधा के अनुसार प्रथम स्थितिखंड से द्वितीय स्थितिखंड दलिकों की अपेक्षा विशेषाधिक होता है। इस प्रकार आगे-आगे स्थिति खंड दलिकों की अपेक्षा से विशेषाधिक तब तक कहना चाहिये, जब तक कि द्विचरम स्थितिखंड प्राप्त होता है। यह तो प्रदेशों की अपेक्षा अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा है और पुनः प्रदेशों की अपेक्षा से परंपरोपनिधा प्ररूपणा इस प्रकार जानना चाहिये —

प्रथम स्थितिखंड के दलिकों की अपेक्षा कुछ असंख्यातभाग अधिक, कुछ संख्यातभाग अधिक कुछ संख्यातगुण अधिक और कुछ असंख्यातगुण अधिक होते हैं।

स्थितिखंडों की उत्कीर्णा विधि

स्थितिखंडों के उत्कीर्ण करने की विधि यह है — प्रथम स्थिति में अल्पदलिक उत्कीर्ण करता है,

द्वितीय समय में असंख्यात गुणित दलिक उत्कीर्ण करता है, उससे भी तृतीय समय में असंख्यात गुणित दलिक उत्कीर्ण करता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक अन्तर्मुहूर्त का चरम समय प्राप्त होता है। यहां पर असंख्यात रूप गुणाकार पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण वाला जानना चाहिये। इसी प्रकार सभी स्थितिखंडों में जानना चाहिये।

प्रश्न – विवक्षित स्थितिदलिकों को उत्कीर्ण करके कहां प्रक्षेपण करता है ?

उत्तर – कुछ स्थितिदलिकों का स्वस्थान में और कुछ स्थितिदलिकों का परस्थान में प्रक्षेपण करता है। किसमें कितने कर्मदलिकों को प्रक्षिप्त करता है ? अब यह बात विशेष स्पष्टता के साथ निरूपित की जाती है –

प्रथम स्थितिखंड के प्रथम समय में जो कर्मदलिक अन्य प्रकृतियों में प्रक्षिप्त होते हैं वे अल्प होते हैं और जो स्वस्थान में ही नीचे प्रक्षिप्त किये जाते हैं वे उससे असंख्यात गुणित होते हैं उससे भी द्वितीय समय में जो स्वस्थान में प्रक्षिप्त किये जाते हैं वे उससे असंख्यात गुणित होते हैं और जो कर्मदलिक पुनः पर प्रकृतियों में प्रक्षिप्त किये जाते हैं, वे प्रथम समय में परस्थान में प्रक्षिप्त दलिकों से विशेषहीन होते हैं। तृतीय समय में जो दलिक स्वस्थान में प्रक्षिप्त किये जाते हैं वे द्वितीय समय के स्वस्थान में प्रक्षिप्त दलिकों से असंख्यात गुणित होते हैं और जो पर प्रकृतियों में प्रक्षिप्त किये जाते हैं, वे द्वितीय समय में परस्थान में प्रक्षिप्त दलिकों से विशेषहीन होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक कहना चाहिये। इसी प्रकार सभी स्थितिखंडों में द्विचरम स्थिति खंड पर्यन्त कहना चाहिये।

अब चरमखंड की उत्कीरणा विधि कहते हैं –

चरम स्थितिखंड द्विचरम स्थिति खंड की अपेक्षा असंख्यात गुणा होता है। वह चरम स्थितिखंड भी अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा उत्कीर्ण किया जाता है। उसका जो प्रदेशाग्र है वह उदयावलिकागत प्रदेशाग्र को छोड़कर शेष सभी परस्थान में प्रक्षिप्त करता है। वह इस प्रकार – प्रथम समय में अल्प, द्वितीय समय में असंख्यात गुणित, उससे भी तृतीय समय में असंख्यात गुणित प्रदेशाग्र परस्थान में प्रक्षिप्त करता है। इस प्रकार चरम समय तक जानना चाहिये। चरम समय में जो प्रदेशाग्र (दलिक) पर प्रकृतियों में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह सर्वसंक्रम कहलाता है – **चरम समये तु यत्परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते दलिकं स सर्वसंक्रममुच्चते।**

इसका कालप्रमाण इस प्रकार है –

उस समय जितने प्रमाण वाला द्विचरम स्थिति सम्बंधी कर्मदलिक चरम समय में पर प्रकृतियों में *संक्रमाता है, उतने प्रमाण वाले यदि चरम स्थिति खंड का कर्मदलिक प्रति समय अपहृत किया जाये तो वह* चरम स्थितिखंड असंख्यात उत्सर्पणियों और अवसर्पणियों के द्वारा निर्लेप होगा। यह काल का प्रमाण समझना *चाहिये।*

क्षेत्र की अपेक्षा मार्गणा इस प्रकार है –

जितने प्रमाण वाला द्विचरम स्थितिखंड संबंधी कर्मदलिक पर प्रकृतियों में संक्रमित करता है उतने प्रमाण वाले कर्मदलिक चरम स्थितिखंड को एक तरफ अपहृत किया जाये और दूसरी तरफ एक आकाश प्रदेश अपहृत किया जाये तो इस प्रकार अपहृत किया जाने वाला चरम स्थितिखंड अंगुल मात्र क्षेत्रगत प्रदेशराशि के असंख्यातवें भाग से अपहृत होता है। अर्थात अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने चरम स्थितिखंड में यथोक्त प्रमाण वाले खंड होते हैं। जितने प्रमाण वाला द्विचरम स्थिति खंड का दलिक सर्वस्थान में संक्रमित करता है, उतने प्रमाण वाला यदि चरम स्थितिखंड का कर्मदलिक प्रति समय अपहृत किया जाये तो चरम स्थिति खंड पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र गत समयों के द्वारा निर्लेप होता है।[१]

इस प्रकार उद्वलनासंक्रम का स्वरूप जानना चाहिये।

आहारकसप्तक में उद्वलनासंक्रम की योजना और उद्वेलक

अब इसी उद्वलनासंक्रम के लक्षण की योजना करते हुये आहारकसप्तक की उद्वलना करने वाले स्वामी का कथन करते हैं –

आहारतणू भिन्नमुहुत्ता अविरइगओ पउव्वलए।
जा अविरतो त्ति उव्वलइ पल्लभागे असंखतमे॥ ६१॥
अंतोमुहुत्तमद्धं, पल्लासंखिज्ज मित्तठिइखंडं।
उक्किरइ पुणो वि तहा उणूणमसंखगुणहं जा॥ ६२॥
तं दलियं सत्था (ट्ठा)णे, समए समए असंखगुणियाए।
सेढीए परठाणे, विसेस हाणीए संछुभइ॥ ६३॥
जं दुचरमस्स चरिमे, अन्नं संकमइ तेण सव्वं पि।
अंगुलमसंखभागेण, हीरए एस उव्वलणा॥ ६४॥

शब्दार्थ – **आहारतणू** – आहारक शरीर वाला (आहारकसप्तक की सत्ता वाला), **भिन्नमुहुत्ता**– अन्तर्मुहूर्त के बाद, **अविरइगओ** – अविरत को प्राप्त, **पउव्वलए** – उद्वलना प्रारम्भ करता है, **जा अविरतोत्ति** – अविरत रहता हुआ, **उव्वलइ** – उद्वर्तना करता है, **पल्लभागे असंखतमे** – पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **ठिइखंडं** – स्थितिखंड को, **उक्किरइ** – उत्कीर्ण करता है, **पुणोवि** – पुनः भी, **तहा** – उसी प्रकार से, **उणूण** – हीन, **असंखगुणहं** – असंख्यातगुण, **जा** - तक।

१. स्थितिखंडों की उत्कीरण विधि को सरलता से समझने के लिये सारांश परिशिष्ट में देखिये।

तं – उस, **दलियं** – दलिक को, **सट्ठाणे** – स्वस्थान में, **समए-समए** – समय-समय में, **असंखगुणियाए** – असंख्यात गुण रूप से, **सेढीए** – श्रेणी से, **परठाणे** – परस्थान में, **विसेसहाणीए** – विशेष हानि से, **संछुभई** – प्रक्षिप्त करता है।

जं – जितना, **दुचरमस्स** – द्विचरम खंड का, **चरिमे** – चरम समय में, **अन्नं** – अन्य प्रकृति में, **संकमइ** – संक्रान्त होता है, **तेण** – उससे, **सव्वंपि** – सर्व द्रव्य भी, **अंगुल असंखभागेण** – अंगुल के असंख्यातवें भाग द्वारा, **हीरए** – अपहृत होता है, **एस** – यह, **उव्वलण।।** – उद्वलना संक्रम।

गाथार्थ – आहारकसप्तक की सत्तावाला जीव अविरति भाव को प्राप्त होकर एक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात उद्वलना प्रारम्भ करता है और अविरत रहते हुये पल्योपम के असंख्यातवें भाग द्वारा उद्वलना कर देता है।

अन्तर्मुहूर्तकाल में पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिखंड को उत्कीर्ण करता है। तत्पश्चात पुनः भी अन्तर्मुहूर्तकाल से उसी प्रकार उत्कीर्ण करता है किन्तु यह स्थितिखंड पूर्व स्थितिखंड से असंख्यात गुणहीन होता है।

उस उत्कीर्ण किये गये दलिक को प्रतिसमय स्व स्थान में असंख्यात गुणश्रेणी से और परस्थान में विशेषहीन हीन प्रक्षिप्त करता है।

द्विचरम स्थितिखंड का जो कर्मदलिक चरम समय में अन्य प्रकृति में संक्रांत किया जाता है, उस प्रमाण से अंगुल के असंख्यातवें भाग द्वारा अन्त्यखंड का सर्वद्रव्य अपहृत होता है। यह उद्वर्तना संक्रम है।

विशेषार्थ – (आहारतणू' इस बहुवचन से आहारकसप्तक का ग्रहण करना चाहिये) अतएव आहारकसप्तक की सत्ता वाला जीव अविरति अर्थात विरति (संयम) के अभाव को प्राप्त होता हुआ अन्तर्मुहूर्तकाल से परे आहारकशरीर (आहारकसप्तक)की उद्वलना करता है।

प्रश्न – कितने काल तक उद्वलना करता है ?

उत्तर – जब तक अविरत रहता है तब तक उद्वलना करता है। इसके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि अविरत निमित्तक आहारकसप्तक की उद्वलना जानना चाहिये।

अविरति तो अनन्तकाल तक रहती है। क्योंकि अविरत आहारक शरीरवाला अविरत (मिथ्यात्वी) होकर अपार्धपुद्गल परावर्तनकाल तक बना रह सकता है और अपार्धपुद्गल परावर्तन अनन्तकाल प्रमाण होता है। इसलिये प्रकृत में अविरति से कितना काल ग्रहण करना चाहिये, इसका नियम करने के लिये गाथा में 'पल्लभागे असंखतमे' यह पद दिया है। अर्थात पल्योपम के असंख्यातवें भाग के द्वारा सर्वाहारकसत्ता की उद्वलना कर देता है।

वह अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिखंड को उत्कीर्ण करता है। यह विधि प्रथम स्थितिखंड की है। तदनन्तर –

पुनः उसी प्रकार से अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा पूर्व स्थिति खंड से कुछ कम प्रमाण वाले पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र खंड को उत्कीरण करता है। तत्पश्चात फिर उससे हीनतर स्थितिखंड का अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा उत्कीरण करता है। इस प्रकार उत्कीरण करने का यही क्रम द्विचरम स्थितिखंड तक कहना चाहिये। प्रथम स्थितिखंड की अपेक्षा यह स्थितिखंड असंख्यात गुणहीन होता है।

उस उत्कीर्ण द्रव्य को प्रक्षिप्त करने की विधि इस प्रकार है –

वह उत्कीर्यमाण दलिक समय-समय स्वस्थान में असंख्यात गुणित श्रेणी के क्रम से संक्रांत-प्रक्षिप्त करता है और परस्थान में अर्थात अन्य प्रकृति में विशेष हानि के क्रम से प्रक्षिप्त करता है। जिसका स्पष्ट आशय यह है –

प्रथम समय में जो दलिक परप्रकृति में प्रक्षिप्त करता है, वह अल्प प्रमाण वाला होता है और जो पुनः स्वस्थान की नीचे की स्थिति में प्रक्षिप्त करता है, वह उससे असंख्यातगुण होता है। तत्पश्चात द्वितीय समय में भी जो दलिक स्वस्थान में प्रक्षिप्त करता है वह पूर्वापेक्षा असंख्यात गुण होता है और पुनः परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह प्रथम समय में परस्थान प्रक्षिप्त दलिक से विशेषहीन होता है। इस प्रकार यह क्रम प्रतिसमय तब तक कहना चाहिये, जब तक अन्तर्मुहूर्त का चरम समय प्राप्त होता है।

यह विधि प्रथम स्थितिखंड के उत्कीरण की है। इसी प्रकार अन्य स्थितिखंडों के उत्कीरण की विधि भी समझना चाहिये। इसके साथ यह भी जान लेना चाहिये –

द्विचरम स्थितिखंड का जो कर्मदलिक चरम समय में अन्य प्रकृति में संक्रांत किया जाता है, उतने प्रमाण वाले दलिक से यदि चरम स्थितिखंड अपहृत किया जाता है तो काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के द्वारा अपहृत होगा और क्षेत्र की अपेक्षा अंगुलमात्र क्षेत्र के असंख्यातवें भाग से अपहृत होता है।

पूर्वोक्त उद्वलना आहारकसप्तक के द्विचरम स्थितिखंड तक की है। अब चरम स्थितिखंड की उद्वलना का क्रम बतलाते हैं –

चरममसंखिज्जगुणं, अणुसमयमसंखगुणिय सेढ़ीए।
देइ परत्थाणे एवं (णेवं) , संछुभतीणमवि कसिणो ॥ ६५॥

शब्दार्थ – **चरमं** – अन्तिम स्थितिखंड, **असंखिज्जगुणं** – असंख्यात गुणा, **अणुसमयं** – प्रति समय, **असंखगुणिय सेढीए** – असंख्यात गुणित श्रेणी से , **देइ** – देता है, **परत्थाणे** – परस्थान में, **एवं** – इस प्रकार, **संछुभतीणमवि** – प्रक्षिप्त की जा रही प्रकृति, **कसिणो** – कृत्स्न (सर्व) संक्रम।

गाथार्थ – चरम (अंतिम) स्थितिखंड असंख्यात गुण होता है, उसे प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणी के क्रम से परस्थान में देता है। इस प्रकार अंतिम समय में समस्त दलिकों का संक्रम हो जाता है।

विशेषार्थ – द्विचरम स्थितिखंड से चरम स्थितिखंड स्थिति की अपेक्षा असंख्यात गुण होता है तथा उस चरम खंड के जो प्रदेशाग्र उदयावलिका गत हैं, उनको छोड़कर शेष प्रदेशाग्रों को परस्थान में अर्थात पर प्रकृतियों में प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणी से प्रक्षेपण करता है। वह इस प्रकार है –

प्रथम समय में अल्प प्रदेशाग्र (दलिक) को संक्रांत करता है, द्वितीय समय में उससे असंख्यात गुणित दलिकों का संक्रमण करता है, तृतीय समय में उससे भी असंख्यात गुणित दलिक को संक्रांत करता है। इस प्रकार असंख्यात गुणित क्रम से चरम समय तक जानना चाहिये। इस प्रकार परप्रकृति में प्रक्षिप्यमाण प्रकृतियों के प्रक्षेपण का क्रम अंतिम समय तक प्रवर्तमान रहता है। चरम समय में जो सम्पूर्ण दलिक का संक्रमण होता है वह सर्वसंक्रम है - **चरमसमये यः कृत्स्नसंक्रमो भवति स सर्वसंक्रमः**। इस पद के द्वारा सर्वसंक्रम का लक्षण भी प्रतिपादित किया गया जानना चाहिये।

वेदकसम्यक्त्वादि की उद्वलना के स्वामी

अब वेदकसम्यक्त्व आदि प्रकृतियों के उद्वलनासंक्रम करने वाले जीवों का कथन करते हैं –

एवं मिच्छद्दिट्ठिस्स, वेयगं मीसगं ततो पच्छा।
एगिंदियस्स सुरदुग - मओ सव्वेउव्वि निरयदुगं॥ ६६॥
सुहुमतसेगो उत्तम - मओ य नरदुगमहानियट्टिम्मि।
छत्तीसाए नियगे, संजोयण दिट्ठिजुयले य॥ ६७॥

शब्दार्थ – **एवं** – इस प्रकार, **मिच्छद्दिट्ठिस्स** – मिथ्यादृष्टि के, **वेयगं** – वेदक (सम्यक्त्व) की, **मीसगं** – मिश्र प्रकृति की, **ततो पच्छा** – उसके बाद, **एगिंदियस्स** – एकेन्द्रिय जीव के, **सुरदुगमओ**– सुरद्विक के पश्चात, **सव्वेउव्वि** – वैक्रियद्विक के साथ, **निरयदुगं** – नरकद्विक की।

सुहुमतसेगो – सूक्ष्मत्रसजीव, **उत्तमं** – उच्च गोत्र की, **अओय** – और तदनन्तर, **नरदुगं** – मनुष्यद्विक की, **अह** – अब, **अनियट्टिम्मि** – अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में, **छत्तीसाए** – छत्तीस प्रकृतियों की, **नियगे** – अपना-अपना (क्षपक), **संजोयण** – अनन्तानुबंधी, **दिट्ठिजुयले** – दृष्टि युगल की, **य** – और।

गाथार्थ – इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के वेदक सम्यक्त्व की और तत्पश्चात मिश्रमोहनीय की उद्वलना होती है। एकेन्द्रिय जीव के देवद्विक और उसके बाद वैक्रियसप्तक के साथ नरकद्विक की उद्वलना होती है।

सूक्ष्मत्रस (गति त्रस तैजसकायिक और वायुकायिक) जीव उच्च गोत्र की और तदनन्तर मनुष्यद्विक की उद्वलना करता है। अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान में क्षपक जीव छत्तीस प्रकृतियों की उद्वलना करता है। संयोजन (अनन्तानुबंधीचतुष्क) प्रकृति की और दृष्टियुगल (मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व) की उद्वलना इनका क्षय करने वाला करता है।

विशेषार्थ – मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि ऊपर बताये प्रकार से पहले सम्यक्त्व प्रकृति की , तदनन्तर सम्यक्त्वमिथ्यात्व प्रकृति की उद्वलना करता है, तथा एकेन्द्रिय और आहारकसप्तक से रहित नामकर्म की पंचानवै प्रकृतियों की सत्ता वाला जीव देवगति और देवानुपूर्वी की पूर्वोक्त विधि से युगपत् उद्वलना करता है। तदनन्तर वैक्रियसप्तक और नरकद्विक को एक साथ उद्वलित करता है।

सूक्ष्मत्रस अर्थात तैजसकायिक और वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव उत्तम गोत्र – उच्च गोत्र की सर्व प्रथम पूर्वोक्त विधि से उद्वलना करता है। तदनन्तर मनुष्यद्विक-मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी-की उद्वलना करता है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि की होने वाली प्रकृतियों की उद्वलना का विचार करने के बाद अब सम्यग्दृष्टि से सम्बंधित उद्वलना का कथन करते हैं।

इसका प्रारम्भ 'अहानियट्टिम्मि' इत्यादि पद से किया गया है। इस पद में अह-अथ शब्द दूसरे अधिकार का सूचक है और वह दूसरा अधिकार यह है कि पूर्वोक्त प्रकृतियों की उद्वलना तो पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र काल के द्वारा यथायोग्य मिथ्यादृष्टि के होती है और आगे कही जाने वाली प्रकृतियों की उद्वलना अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा सम्यग्दृष्टियों के होती है। इसलिये इस अधिकारान्तर को बताने के लिये अथ शब्द दिया है।

प्रश्न – किन प्रकृतियों की सम्यग्दृष्टि उद्वलना करता है ?

उत्तर – 'अनियट्टिम्मि छत्तीसाए' और नियगे संजोयण दिट्ठिजुयले य। अर्थात अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान में छत्तीस प्रकृतियों की उद्वलना होती है और अपने-अपने क्षपण काल में अविरत सम्यग्दृष्टि आदि[१] संयोजना अर्थात अनन्तानुबंधी कषायों की और दृष्टियुगल अर्थात मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना करते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

अनिवृत्तिबादरसंपराय क्षपक स्त्यानर्धित्रिक, नामत्रयोदशक[२], अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण

---

१. आदि शब्द से देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त विरत जीवों का ग्रहण करना चाहिये

२. नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रिय जातिचतुष्क, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण।

कषायाष्टक, नव नोकषाय और संज्वलन क्रोध, मान माया इन छत्तीस प्रकृतियों को अपने-अपने क्षपण काल में अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा उद्वलित करता है तथा निजक अर्थात अपने-अपने क्षपण काल में अविरत सम्यग्दृष्टि आदि अनन्तानुबंधी कषायों की और दृष्टियुगल अर्थात मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना अन्तर्मुहूर्तकाल के द्वारा करते हैं।

इस प्रकार उद्वलना संक्रम का आशय समझना चाहिये।

विध्यातसंक्रम[१]

अब विध्यातसंक्रम का लक्षण कहते हैं –

जासि न बंधो गुण - भवपच्चयओ तासि होइ विज्झाओ।
अंगुल असंखभागो, ववहारो तेण सेसस्स॥ ६८॥

शब्दार्थ – **जासि** – जिन प्रकृतियों का, **न** – नहीं, **बंधो** – बंध होता है, **गुणभवपच्चयओ**– गुणप्रत्यय, भवप्रत्यय से, **तासि** – उनका, **होई** – होता है, **विज्झाओ** – विध्यातसंक्रम, **अंगुल असंखभागो** – अंगुल के असंख्यातवें भाग, **ववहारो** – अपहृत, **तेण** – उसके द्वारा, **सेसस्स** – शेष दलिक का।

गाथार्थ – जिन प्रकृतियों का गुणप्रत्यय अथवा भवप्रत्यय से बंध नहीं होता है, उन प्रकृतियों का विध्यातसंक्रम होता है। इस संक्रम के द्वारा प्रथम समय में जितना कर्मदलिक परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से शेष कर्मदलिक अंगुल के असंख्यातवें भाग से अपहृत होता है।

विशेषार्थ – जिन प्रकृतियों का गुणप्रत्यय (सम्यग्दर्शनादि गुणों के निमित्त) से अथवा भवप्रत्यय– देवनारकादि भव के निमित्त से बंध नहीं होता है, उन प्रकृतियों का विध्यातसंक्रम होता है - **यासां प्रकृतीनां गुणप्रत्ययतो भवप्रत्ययतो वा बंधो न भवति तासां विध्यातसंक्रमोऽवसेयः।**

प्रश्न – वे प्रकृतियां कौनसी हैं, जिनका भवप्रत्यय अथवा गुणप्रत्यय से बंध नहीं होता है ?

उत्तर – वे प्रकृतियां इस प्रकार हैं, यथा – मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त तक जिन सोलह प्रकृतियों का बंध होता है उनका सास्वादन आदि गुणस्थानों में गुणप्रत्यय से बंध नहीं होता है। जिन पच्चीस प्रकृतियों का सास्वादन गुणस्थान के अन्त तक बंध होता है, उनका सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान आदि आगे के गुणस्थानों में गुणप्रत्यय से बंध नहीं होता है। जिन दस प्रकृतियों का अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान के अंत तक बंध होता है, उनका देशविरत आदि गुणस्थानों में, जिन चार प्रकृतियों का देशविरत गुणस्थान के अंत

१. गुणप्रत्यय या भवप्रत्यय से नहीं बंधने वाली प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग का विशुद्धि वशात ह्रास होना विध्यातसंक्रम

तक बंध होता है, उनका प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में गुणप्रत्यय से बंध नहीं होता है। इसलिये उन प्रकृतियों का उन उन गुणस्थानों में विध्यातसंक्रम होता है। तथा –

वैक्रियसप्तक, देवद्विक, नरकद्विक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण और आतप इन बीस प्रकृतियों के मिथ्यात्वादि बंधकारणों के विद्यमान होने पर भी नारक जीव भवप्रत्यय से बंध नहीं करते हैं। नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रियसप्तक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन सत्रह प्रकृतियों का सभी देव भवप्रत्यय से बंध नहीं करते है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावर नामकर्म का भी सनत्कुमार आदि देव बंध नहीं करते हैं। छह संहनन, समचतुरस्रसंस्थान को छोड़कर संस्थानपंचक, नपुंसकवेद, मनुष्यद्विक, औदारिकसप्तक और एकांत तिर्यंच योग्य स्थावर आदि प्रकृतिदशक, दुर्भगत्रिक, नीच गोत्र, अप्रशस्त विहायोगति इन छत्तीस प्रकृतियों का असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच भवप्रत्यय से बंध नहीं करते हैं।

इसी प्रकार जिस जिस जीव के जो जो प्रकृति भवप्रत्यय से अथवा गुणप्रत्यय से नहीं बंधती है, वह वह प्रकृति उस उस जीव के विध्यातसंक्रम के योग्य जानना चाहिये।

विध्यातसंक्रम में कितने कर्मदलिक का संक्रम होता है ? इसका प्रमाण निरूपण करने के लिये गाथा में अंगुल असंखभागो इत्यादि पद दिया गया है। जिसका यह अर्थ है कि जितने प्रमाण वाला कर्मदलिक प्रथम समय में विध्यातसंक्रम के द्वारा परप्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, उसी प्रमाण से सत्ता में स्थित शेष कर्मदलिक[१] का अपहरण किये जाने पर अंगुल के असंख्यातवें भाग से अपहृत होता है। जिसका यह आशय है कि जितने प्रमाण वाला कर्मदलिक विध्यातसंक्रम के द्वारा प्रथम समय में अन्य प्रकृति में प्रक्षेपण किया जाता है, उतने प्रमाण वाले खंडों के द्वारा तत्प्रकृतिगत शेष सभी दलिक अपहरण किया जाये तो अंगुल प्रमाण क्षेत्र के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतनी प्रदेश संख्या के द्वारा वह कर्मदलिक अपहृत किया जाता है। यह तो हुआ क्षेत्र की अपेक्षा निरूपण और काल की अपेक्षा तो असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल द्वारा अपहृत होता है।

यह विध्यातसंक्रम प्रायः यथाप्रवृत्तसंक्रम के अंत में जानना चाहिये। अर्थात यथाप्रवृत्तसंक्रम की समाप्ति होने पर विध्यातसंक्रम प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार विध्यातसंक्रम का स्वरूप जानना चाहिये।

गुणसंक्रम और यथाप्रवृत्तसंक्रम

अब गुणसंक्रम और यथाप्रवृत्तसंक्रम का लक्षण करते हैं –

---

१. शेषदलिक अर्थात विवक्षित प्रकृति संबंधी बाकी रहा हुआ दलिक।

गुणसंकमो अबज्झं-तिगाण असुभाण पुव्वकरणाई।
बंधे अहापवत्तो, परित्तिओ वा अबंधे वि॥ ६९॥

शब्दार्थ – **गुणसंकमो** – गुणसंक्रम, **अवज्झंतिगाण** – अबध्यमान, **असुभाण** – अशुभ प्रकृतियों का, **अपुव्वकरणाई** – अपूर्वकरणादि में, **बंधे** – बंध होने पर, **अहापवत्तो** – यथाप्रवृत्त संक्रम, **परित्तिओ** – परावर्तमान प्रकृतियों के, **व** – अथवा, **अबंधेवि** – अबंध होने पर भी।

गाथार्थ – अपूर्वकरणादि में वर्तमान जीव अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों के कर्मदलिक का गुणसंक्रम करता है। ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के बंध होने पर तथा परावर्तमान प्रकृतियों के बंध होने अथवा बंध नहीं होने पर यथाप्रवृत्तसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – अपूर्वकरण आदि परिणाम वाले जीव अबध्यमान अशुभ प्रकृति संबंधी कर्मदलिक को प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणी के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में प्रक्षेपण करते हैं, वह गुणसंक्रम कहलाता है। गुण से अर्थात् प्रति समय असंख्यात लक्षण वाले गुणाकार से जो कर्मदलिकों का संक्रम होता है, वह गुणसंक्रम है – **गुणेन प्रतिसमयमसंख्येय लक्षणेन गुणकारेण संक्रमो गुणसंक्रमः।**

गुणसंक्रम के लक्षण का स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

मिथ्यात्व, आतप और नरकायु को छोड़कर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में बंधयोग्य तेरह प्रकृतियों का, अनंतानुबंधी कषायचतुष्क, तिर्यंचायु और उद्योत को छोड़कर सास्वादन गुणस्थान में बंधने योग्य उन्नीस प्रकृतियों का क्योंकि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का अपूर्वकरण गुणस्थान के पूर्व ही अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती जीव क्षपक होते हैं, आतप और उद्योत ये दोनों ही शुभ प्रकृतियां हैं। शुभ प्रकृति में अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है। आयुकर्मों का परप्रकृति में संक्रम नहीं होता है, इसलिये मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों को यहाँ पर छोड़ने का कथन किया है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, कषायाष्टक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, शोक, अरति और असातावेदनीय इन सब छियालीस अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का अपूर्वकरण गुणस्थान से गुणसंक्रम प्रारम्भ होता है। निद्राद्विक, उपघात, अशुभवर्णादिनवक, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन प्रकृतियों का अपूर्वकरण गुणस्थान में अपने अपने बंधविच्छेद से लेकर गुणसंक्रम जानना चाहिये।

गुणसंक्रम के स्वरूप का अपर (दूसरा, अन्य) अर्थ इस प्रकार है – अपूर्वकरणादि अर्थात् अपूर्व करण संज्ञा वाले करणपरिणामवर्ती आदि जीव अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों के दलिक को असंख्यात गुणित श्रेणी के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में जो प्रक्षेपण करते हैं, वह गुणसंक्रम है –

अपूर्वकरणादयोऽपूर्वकरणसंज्ञकरणवर्ति प्रभृतयोऽशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां **दलिकमसंख्येयगुणनया श्रेण्या बध्यमानासु प्रकृतिषु यत्प्रक्षिपन्ति स गुणसंक्रमः।**

इसलिये अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के क्षपण काल में[1] अपूर्वकरण परिणाम से लेकर गुणसंक्रम प्रवर्तित होता है।

इस प्रकार गुणसंक्रम का लक्षण जानना चाहिये। अब यथाप्रवृत्तसंक्रम[2] का प्रतिपादन करते हैं।

'बंधे' इत्यादि अर्थात् ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का बंध होने पर यथाप्रवृत्तसंक्रम प्रवर्तित होता है तथा परित्तिओ व इसमें परित्ति पद के द्वारा परावर्तमान प्रकृतियां कही गई हैं, उनका अबंध होने पर भी और बंध होने पर भी यथाप्रवृत्तसंक्रम होता है। इसका आशय यह है कि सभी संसारस्थ जीवों के ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के बंध होने पर और परावर्तमान प्रकृतियों में से अपने अपने भव के बंध योग्य प्रकृतियों का बंध होने पर और बंध नहीं होने पर भी यथाप्रवृत्तसंक्रम होता है।

इस प्रकार यथाप्रवृत्तसंक्रम का लक्षण जानना चाहिये।

अब इन पूर्वोक्त उद्वलनासंक्रम, विध्यातसंक्रम गुणसंक्रम और यथाप्रवृत्तसंक्रम[3] के द्वारा अपहार काल के अल्पबहुत्त्व का कथन करते हैं –

थोवोवहारकालो, गुणसंकमणेणऽसंखगुणणाए।
सेसस्स अहापवत्ते, विज्झाए उव्वलणनामे॥ ७०॥

शब्दार्थ – **थोवोवहारकालो** – अपहारकाल स्तोक (अल्प), **गुणसंकमणेण** – गुणसंक्रम के द्वारा, **असंखगुणणाए** – असंख्यातगुणा, **सेसस्स** – शेष का, **अहापवत्ते** – यथाप्रवत्त, **विज्झाए** – विध्यात, **उव्वलणनामे** – उद्वलना नामक संक्रम का।

---

१. क्षपणकाल में यह पद विशेष आशय का बोधक है कि अनन्तानुबंधीचतुष्क मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का गुणसंक्रम क्षपणकाल में ही होता है। क्योंकि गुणवृद्धि से आरोहण करने वाला जीव अनेक बार भिन्न-भिन्न अपूर्वकरण करता है। किन्तु प्रत्येक अपूर्वकरण में गुणसंक्रम हो ऐसा कोई नियम नहीं है। यथा मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्त्व प्रत्ययिक अपूर्वकरण में गुणसंक्रम नहीं होता है तथा उपशमना करणाधिकार में बताया है कि उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करते समय जो अपूर्वकरण करना पड़ता है, उसमें इन छह प्रकृतियों का गुणसंक्रम नहीं होता है।

२. योग की प्रवृत्ति के अनुसार हीनाधिक दलिकों के संक्रमण होने को यथाप्रवृत्तसंक्रम कहते हैं।

३. सर्वसंक्रम की विवक्षा नहीं करने का कारण यह है कि उसका विषयी एक समय में संक्रान्त होने वाला अन्तिम खंड का दलिक है और उसका संक्रम हो जाने के बाद कोई भी दलिक शेष नहीं रहता है।

गाथार्थ – शेष का अर्थात् अंतिम खंड का गुणसंक्रम के द्वारा अपहार काल अल्प है, उससे क्रमशः यथाप्रवृत्तसंक्रम, विध्यातसंक्रम और उद्वलनासंक्रम में अपहार काल असंख्य गुण है।

विशेषार्थ - उद्वलनासंक्रम का कथन करते समय जो पहले चरम खंड कहा है उसको यहां 'शेष' पद से कहा गया है। उस शेष खंड का यदि गुणसंक्रम के प्रमाण से अपहार किया जाये तो अंतर्मुहूर्त मात्र काल से वह सर्व ही अपहृत हो जाता है। इसलिये गुणसंक्रम के द्वारा अपहार काल सबसे कम है। उस से यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा अपहारकाल असंख्यात गुणा है। क्योंकि यदि वही चरमखंड यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा अपहृत किया जाये तो पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल के द्वारा अपहृत होता है। यथाप्रवृत्तसंक्रम के अपहारकाल से विध्यातसंक्रम का अपहारकाल असंख्यात गुणा है। क्योंकि यदि वही चरम खंड विध्यातसंक्रम के द्वारा अपहृत किया जाये तो असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल के द्वारा अपहृत होता है। विध्यातसंक्रम के अपहार काल से उद्वलनासंक्रम का अपहार काल असंख्यात गुणा है। क्योंकि यदि वही चरम खंड द्विचरम स्थिति खंड के चरम समय में पर प्रकृति में प्रक्षेपण किया जाये और यदि उसी प्रमाण से अपहृत किया जाये तो बहुत अधिक असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल के द्वारा अपहृत होगा। इसलिये विगत अपहार काल से यह उद्वलनासंक्रम का अपहार काल असंख्यात गुणा है।

पूर्व में यथाप्रवृत्तसंक्रम का काल नहीं कहा है तथा उद्वलनासंक्रम में द्विचरम स्थितिखंड का चरम समय में जो कर्मदलिक स्वस्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, उस प्रमाण से शेष चरम स्थितिखंड का अपहार काल भी नहीं कहा है। अतः अब उसका निरूपण करते हैं –

पल्लासंखियभागेण - हापवत्तेण सेसगवहारो।
उव्वलणेण वि थिबुगो, अणुइन्नाए उ जं उदए॥ ७१॥

शब्दार्थ – **पल्लासंखियभागेण** – पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल से, **अहापवत्तेण** – यथाप्रवृत्त संक्रम द्वारा, **सेसगवहारो** – शेष का अपहार, **उव्वलणेण** – उद्वलनासंक्रम के द्वारा, **वि** – भी, **थिबुगो** – स्तिबुकसंक्रम, **अणुइन्नाए** – अनुदित प्रकृति का, **उ** – और, **जं** – जो, **उदए** – उदयवती प्रकृति में।

गाथार्थ – यथाप्रवृत्तसंक्रम और उद्वलनासंक्रम के द्वारा जो चरम खंडगत दलिक का अपहार होता है, वह पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण काल में होता है तथा अनुदयवती प्रकृति का सजातीय उदयवती प्रकृति में भी संक्रम होता है वह स्तिबुकसंक्रम कहलाता है।

विशेषार्थ – उद्वलनासंक्रम में जो चरम स्थितिखंड है, उसका यदि यथाप्रवृत्तसंक्रम के प्रमाण से अपहार किया जाये तो वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल के द्वारा निःशेष रूप से अपहृत होता

है। उद्वलनासंक्रम के द्वारा द्विचरम स्थितिखंड का चरम समय में जो दलिक स्वस्थान में प्रक्षेपण किया जाता है, उस प्रमाण से चरम स्थितिखंड का अपहार काल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानना चाहिये। इसलिये ये दोनों ही समान काल प्रमाण वाले हैं।

स्तिबुकसंक्रम

इस प्रकरण में एक छट्ठा स्तिबुकसंक्रम[1] भी है। किन्तु उसमें करण का लक्षण नहीं पाये जाने से उसे संक्रमकरण में संबद्ध नहीं किया जाता है। क्योंकि सलेश्य वीर्य को करण कहते हैं – 'करणं हि सलेश्यं वीर्यमुच्यते' और लेश्याओं से अतीत अयोगिकेवली भगवान भी[2] द्विचरम समय में बहत्तर प्रकृतियों को स्तिबुकसंक्रम के द्वारा संक्रांत करते हैं और स्तिबुकसंक्रम के द्वारा संक्रांत हुआ कर्मदलिक सर्वथा पतद्ग्रह प्रकृतिरूप से परिणमित नहीं होता है। इसलिये वह संक्रम में संबद्ध नहीं किया जाता है, परन्तु यह भी संक्रम[3] है, इसलिये संक्रम के प्रस्ताव में उसका लक्षण निरूपण करने के लिये गाथा में 'थिवुगो' इत्यादि पद कहा है। जिसका अर्थ यह है कि अनुदय प्राप्त जो प्रकृति हैं, उनका जो कर्मदलिक सजातीय उदय प्राप्त समान काल स्थिति वाली प्रकृति में संक्रांत किया जाता है और संक्रांत करके अनुभव किया जाता है वह स्तिबुकसंक्रम कहलाता है – **अनुदीर्णाया अनुदयप्राप्तायाः सत्कं यत्कर्मदलिकं सजातीयप्रकृतावुदयप्राप्तायां समानकालस्थितौ संक्रमय्य चानुभवति ..... स स्तिबुकसंक्रमः।**

जैसे उदयप्राप्त मनुष्यगति में अनुदय प्राप्त शेष तीन गतियों का और उदय प्राप्त एकेन्द्रिय जाति में (पंचेन्द्रिय जाति में[4]) शेष अनुदय प्राप्त चार जातियों का संक्रमण होता है। यह स्तिबुकसंक्रम ही प्रदेशानुभव या प्रदेशोदय कहलाता है।[5]

इस प्रकार प्रदेशसंक्रम का लक्षण और उसके भेदों का विवेचन जानना चाहिये।[6]

---

१. उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय और ४ आयु इन प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों का स्तिबुकसंक्रम होता है। क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म ध्रुवोदय हैं। जब तक इनका विच्छेदन नहीं होता है तब तक इनका उदय बना ही रहता है तथा एक आयु का उदय पूर्ण न हो तब तक बद्धायु का अबाधाकाल पूर्ण नहीं होता है। इसलिये इन कर्मत्रिक की प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रम संभव नहीं है।

२. यहां प्रयुक्त 'भी' शब्द से यह ध्वनित होता है कि स्तिबुकसंक्रम अयोगि केवली गुणस्थान के अतिरिक्त अन्य गुणस्थानों में भी होता रहता है।

३. क्योंकि इससे तीव्र रस पर प्रकृति में संक्रांत करके भोग लिया जाता है। इसलिये संक्रम के विचार प्रसंग में इसका भी ग्रहण किया गया है।

४. पंचेन्द्रिय जाति के उल्लेख का कोई विशेष आशय नहीं है। स्वेच्छा से द्वीन्द्रिय आदि जातियों को भी कह सकते हैं।

५. स्तिबुकसंक्रम और प्रदेशोदय के अन्तर का स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

६. दिगम्बर कर्मग्रन्थों में आगत संक्रम करण की संक्षिप्त रूपरेखा परिशिष्ट में देखिये।

प्रदेशसंक्रम की सादि अनादि प्ररूपणा

अब प्रदेशसंक्रम की सादि अनादि प्ररूपणा करते हैं। लेकिन मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रम नहीं होता है, इसलिये उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा करते हैं –

धुवसंकम अजहन्नो णुक्कोसो तासि वा विवज्जित्तु।
आवरणनवगविग्घं, उरालियसत्तगं चेव॥ ७२॥
साइयमाइ चउद्धा, सेसविगप्पा य सेसगाणं च।
सव्वविगप्पा नेया, साई अधुवा पएसम्मि॥ ७३॥

शब्दार्थ – **धुवसंकम** – ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का संक्रम, **अजहन्नो** – अजघन्य, **णुक्कोसो** – अनुत्कृष्ट, **तासिं** – उनका, **वा** – और, **विवज्जित्तु** – छोड़कर, **आवरणनवग** – आवरणनवक (पांच ज्ञानावरण चार दर्शनावरण) **विग्घं** – अंतरायपंचक, **उरालियसत्तगं** – औदारिकसप्तक, **चेव** – और इसी प्रकार।

साइयमाइ – सादि आदि, **चउद्धा** – चार प्रकार का, **सेसविगप्पा** – शेष विकल्प, **य** – और, **सेसगाणं** – शेष प्रकृतियों के, **च** – और, **सव्वविगप्पा** – सर्व विकल्प, **नेया** – जानना चाहिये, **साई** – सादि, **अधुवा** – अध्रुव, **पएसम्मि** – प्रदेशसंक्रम में।

गाथार्थ – प्रदेशसंक्रम में ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का अजघन्य तथा आवरणनवक, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अंतरायपंचक और औदारिकसप्तक इन इक्कीस प्रकृतियों को छोड़कर शेष ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम सादि आदि चार प्रकार का होता है। और उन प्रकृतियों के शेष दो विकल्प और बाकी की प्रकृतियों के सर्व विकल्प सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

विशेषार्थ – पूर्वोक्त एक सौ छब्बीस ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशसंक्रम चार प्रकार का होता है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। इनमें आगे जिसका लक्षण कहा जाने वाला है, ऐसा क्षपितकर्मांश जीव जब कर्मक्षपण करने के लिये उद्यत होता है, तब वह सभी ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है। इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय अन्य सभी अजघन्य संक्रम होता है और वह उपशमश्रेणी में बंधविच्छेद होने पर सभी प्रकृतियों का नहीं होता है, किन्तु प्रतिपतन होने पर होता है, इसलिये वह सादि संक्रम है। इस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले जीव का अनादि संक्रम है तथा ध्रुव और अध्रुव क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा से होते हैं।

ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम भी चार प्रकार का होता है। क्या सभी प्रकृतियों का? ऐसा प्रश्न करने पर प्रत्युत्तर में बतलाते हैं कि सभी ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों का नहीं किन्तु ज्ञानावरणपंचक,

दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक और औदारिकसप्तक इन इक्कीस प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सौ पांच प्रकृतियों का होता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये — सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम वक्ष्यमाण लक्षण वाले गुणितकर्मांश और कर्मक्षपण के लिये उद्यत जीवों के पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। इसलिये वह सादि है उससे अन्य सभी संक्रम अनुत्कृष्ट कहलाता है और वह उपशमश्रेणी में विच्छिन्न हो जाता है, किन्तु वहां से प्रतिपात होने पर होता है, इसलिये वह सादि है। उस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले जीव के अनादि संक्रम होता है। ध्रुव और अध्रुव संक्रम अभव्य और भव्य की अपेक्षा क्रमशः जानना चाहिये, तथा 'सेसेत्यादि' अर्थात इन्हीं एक सौ पांच प्रकृतियों के शेष विकल्प — जघन्य और उत्कृष्ट सादि और अध्रुव होते हैं।

ज्ञानावरणादि इक्कीस प्रकृतियों के जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट विकल्प सादि और अध्रुव होते हैं। एक सौ पांच प्रकृतियों के जघन्य और उत्कृष्ट विकल्प सादि और अध्रुव रूप कहे जा चुके हैं। ज्ञानावरण आदि कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम गुणितकर्मांश मिथ्यादृष्टि जीव में कदाचित पाया जाता है शेषकाल में तो अनुत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। इसलिये ये दोनों ही सादि और अध्रुव होते हैं। जघन्य प्रदेशसंक्रम तो सादि और अध्रुव रूप से कह ही दिया है।

शेष प्रकृतियों के सभी उत्कृष्ट, अनुकृष्ट, जघन्य और अजघन्य विकल्प अध्रुव सत्तावाले होने से मिथ्यात्व की ध्रुव सत्ता वाले जीव के भी सदैव पतद्ग्रह में प्राप्त नहीं होने से तथा नीचगोत्र, असाता और सातावेदनीय कर्मों के परावर्तमान होने से सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

इस प्रकार सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये।

उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व

अब उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व का कथन करते हैं। वह गुणितकर्मांश[१] जीव के पाया जाता है अतः उसका निरूपण करने के लिये कहते हैं —

जो बायरतसकाले - णूणं कम्मट्ठिइं तु पुढवीए।
बायर पज्जत्तापज्जत्तगदीहेयरद्धासु॥ ७४॥
जोगकसाउक्कोसो, बहुसो निच्चमवि आउबंधं च।
जोगजहण्णेणुवरि - ल्लठिइनिसेगं बहुं किच्चा॥ ७५॥
बायरतसेसु तक्काल-मेवमंते य सत्तमखिईए।
सव्वलहुं पज्जत्तो, जोगकसायाहियो बहुसो॥ ७६॥

---

१. संसारचक्र में भ्रमण करते हुये जीवों में से संयोगवशात अन्य जीवों की अपेक्षा जिस जीव को अधिकतम कर्मप्रदेशों की सत्ता प्राप्त हो, उसे गुणितकर्मांश कहते हैं। उसका यहां स्पष्टीकरण किया है।

जोगजवमज्झुवरिं, मुहुत्तमच्छित्तु जीवियवसाणे।
तिचरिमदुचरिमसमए, पूरित्तु कसाय उक्कस्सं॥ ७७॥
जोगुक्कोसं चरिमदु - चरिमे समए य चरिमसमयम्मि।
संपुण्णगुणियकम्मो, पगयं तेणेह सामित्ते॥ ७८॥

शब्दार्थ – **जो** – जो, **बायरतसकालेणूणं** – बादर त्रसकाल से न्यून, **कम्मट्ठिइं** – कर्म स्थिति, **तु** – तक, **पुढवीए** – पृथ्वीकाय में, **बायर** – बादर, **पज्जत्तापज्जत्तग** – पर्याप्त और अपर्याप्त रूप से, **दीहेयरद्धासु** – दीर्घ और अल्पकाल में।

जोगकसाउक्कोसो – उत्कृष्ट योग और कषाय में, **बहुसो** – बहुधा, बहुतर बार, **निच्चमवि** – हमेशा, **आउबंधं** – आयुबंध कर, **च** – और, **जोगजहण्णेण** – जघन्य योग से, **उवरिल्लठिइनिसेगं** – ऊपर की स्थिति के निषेकों की, **बहु** – अधिक, **किच्चा** – रचना करके।

बायरतसेसु – बादरत्रसकाय में, **तक्कालं** – उस काल, **एवं** – इस प्रकार, **अंते** – अन्त में, **य** – और, **सत्तमखिईए** – सप्तम पृथ्वी में, (सातवें नरक में), **सव्वलहुं** – सबसे लघु, **पज्जत्तो** – पर्याप्त, **जोगकसायाहिओ** – उत्कृष्ट योग और कषाय में, **बहुसो** – बहुत बार।

जोगजवमज्झुवरिं – योग यवमध्य से ऊपर, **मुहुत्तमच्छित्तु** – अन्तर्मुहूर्त तक रह कर, **जीवियवसाणे** – भव के अन्त में, **तिचरिमदुचरिमसमए** – त्रिचरम या द्विचरम समय में, **पूरित्तु** – प्राप्त कर, **कसायउक्कस्सं** – उत्कृष्ट कसाय को।

जोगुक्कोसं – उत्कृष्ट योगस्थान को, **चरिमदुचरिमसमये** – चरम या द्विचरम समय में, **य** – और, **चरिमसमयम्मि** – चरम समय में, **संपुण्णगुणियकम्मो** – सम्पूर्ण गुणितकर्मांश, **पगयं** – प्रकृत में, **तेण** – उससे, **इह** – यहां, **सामित्ते** – स्वामित्व।

गाथार्थ – जो जीव बादर त्रसकाय के काल से न्यून कर्मस्थिति प्रमाण बादर पृथ्वीकाय के भवों में दीर्घकाल तक बादर पर्याप्तकाल में और अपर्याप्त रूप से अल्पकाल तक रहा, बहुत बार उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट कषाय में रहा और हमेशा ही आयुबंध कर जघन्य योग में रह कर ऊपर की स्थिति के निषेकों में अधिक दलिक रचना की। तदनन्तर –

इस प्रकार के बादर पृथ्वीकाय से निकल कर बादर त्रसकाल में उसकी कायस्थिति तक परिभ्रमण कर अंत में सातवें नरक में सर्व से लघु काल में (शीघ्र) पर्याप्त होकर बहुत बार उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट कषाय स्थानों में रहा। तत्पश्चात् –

योग यवमध्य के ऊपर अर्थात् योग यवमध्य रूप अष्ट सामयिक स्थानों के ऊपर अन्तर्मुहूर्त तक रह

कर भव के अन्त में त्रिचरम या द्विचरम समय में उत्कृष्ट कषायस्थान को प्राप्त कर और चरम अथवा द्विचरम समय में उत्कृष्ट योगस्थान को प्राप्त कर चरम समय में वह जीव सम्पूर्ण गुणितकर्मांश होता है। यहां उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व में इससे ही प्रयोजन है।

विशेषार्थ – ग्रन्थकार ने संक्रम के स्वामित्व की प्ररूपणा के प्रसंग में गुणितकर्मांश का स्वरूप स्पष्ट किया है कि –

त्रस दो प्रकार के हैं – १. सूक्ष्म और २. बादर। उनमें द्वीन्द्रियादिक बादर त्रस हैं और सूक्ष्म तैजसकायिक और वायुकायिक जीव हैं। यहां पर सूक्ष्म त्रसों का व्यवछेद करने के लिये बादर पद का ग्रहण किया है। द्वीन्द्रियादि बादर त्रसजीवों का जो कायस्थितिकाल पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण है, उससे न्यून सत्तर कोड़ाकोडी सागरोपम प्रमाण कर्मस्थिति है। उतने काल तक बादर पृथ्वीकाय के भवों में रहा। किस प्रकार रहा ? यह बताने के लिये गाथा में पज्जत्त इत्यादि पद दिया गया है। यहां दीर्घ और इतर (अल्प) अद्धा (काल) के साथ पर्याप्त और अपर्याप्त पदों की यथाक्रम से योजना करना चाहिये। तब उसका यह अर्थ हुआ कि पर्याप्त भवों में दीर्घकाल तक और अपर्याप्त भवों में अल्पकाल तक स्थित रहा तथा अनेक बार बहुत से उत्कृष्ट योगस्थानों में और उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों वाले काषायिक स्थानों में रहा।

शेष एकेन्द्रियों से बादर पृथ्वीकाय की आयु बहुत है अतः उससे अविच्छिन्न रहते हुये बहुत कर्मपुद्गलों का उसके ग्रहण होता है और बलवान होने से उसके अतिवेदना की सहिष्णुता है। इससे बहुत कर्मपुद्गलों की निर्जरा नहीं होती है। इस कारण यहां बादर पृथ्वीकायिक को ग्रहण किया है तथा अपर्याप्त भव का ग्रहण परिपूर्ण कायस्थिति को बताने के लिये किया गया है। अपर्याप्तक अल्प भवों का और पर्याप्तक बहुत भवों का ग्रहण बहुत कर्मपुद्गलों की निर्जरा का अभाव प्रतिपादन करने के लिये किया है। अन्यथा निरन्तर उत्पन्न होने और मरने वाले जीवों में बहुत से पुद्गल निर्जरा को प्राप्त होते हैं, किन्तु यहां उससे प्रयोजन नहीं है। उत्कृष्ट योगस्थानों में वर्तमान जीव बहुत से कर्मदलिकों को ग्रहण करता है और उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाला जीव उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है। बहुत सी स्थिति का उद्वर्तन करता है – बढ़ाता है और अल्प स्थिति का अपवर्तन करता है – घटाता है, यह बताने के लिये उत्कृष्ट योग और कषाय पद का ग्रहण किया गया है। यथा –

'निच्चं' इत्यादि अर्थात् सर्वकाल भव भव में आयु बंध के समय जघन्य योग में वर्तमान रहते हुये आयु का बंध करके और आयु के योग्य उत्कृष्ट योग में वर्तमान जीव से बहुतसे आयु कर्म के पुद्गलों को ग्रहण करता है और इस प्रकार का स्वभाव होने से ज्ञानावरण आदि कर्मों के बहुत से पुद्गलों की निर्जरा करता है, किन्तु यहां पर उनका प्रयोजन नहीं है। इसलिये यहां जघन्य योग का ग्रहण किया है तथा उपरितन स्थितियों में कर्मदलिक के निक्षेपण रूप निषेक को अपनी भूमिका के अनुसार अत्यन्त अधिक करता है। इस प्रकार

बादर पृथ्वीकायिकों के मध्य में पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम से न्यून सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम तक परिभ्रमण करके वहां से निकलता है और निकलकर बादर त्रसकायिक द्वीन्द्रियादिक में उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् –

इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से 'पज्जत्तापज्जत्तगदीहेयरद्धासु' इत्यादि अर्थात् पूर्व गाथोक्त रूप से बादर त्रसों में उनके काल प्रमाण अर्थात् बादर त्रसकाय की स्थिति का काल जो पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण है, उतने काल तक विभिन्न त्रस पर्यायों में परिभ्रमण करके जितनी बार सातवीं नरक पृथ्वी में जाने के लिये योग्य होता है, उतनी बार जा कर अंतिम सप्तम पृथ्वी के नारक भव में वर्तमान रहा। यहां पर दीर्घजीवित्व और योग तथा कषाय की उत्कृष्टता पाई जाती है। इसीलिये यावत् सप्तम नरक पृथ्वी के गमन का ग्रहण किया गया है तथा सप्तम पृथ्वी के नारक भव में सर्व लघु काल से पर्याप्त हुआ, अर्थात् अन्य सभी नारकों से शीघ्र पर्याप्त भाव को प्राप्त हुआ। यहां पर अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त का योग असंख्यात गुणा होता है और ऐसा होने पर उसके अत्यधिक बहुत से कर्मपुद्गलों का ग्रहण संभव है। इस कारण इस प्रयोजन से यहां सर्वलघुपर्याप्त यह पद कहा है तथा बहुशः अर्थात् अनेक बार उस भव में रहते हुये योग कषायाधिकता अर्थात् उत्कृष्ट योगस्थानों और उत्कृष्ट काषायिक परिणाम विशेषों को प्राप्त हुआ, तथा –

योग यवमध्य के ऊपर अर्थात् आठ समय वाले योगस्थानों के ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित रह कर जीवन के अन्त में अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रह जाने पर - यानि आयु के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रह जाने पर योग यवमध्य के ऊपर असंख्यात गुणी वृद्धि से अर्न्तमुहूर्त काल तक प्रवर्धमान योग वाला रह कर - इससे क्या प्रयोजन है ? इसको बताने के लिये गाथा में 'तिचरमे' इत्यादि पद दिया है जिसका यह अर्थ है कि भव के समाप्त होने में जब तीन समय शेष रह जायें या दो समय शेष रह जायें तो इस प्रकार के त्रिचरम अथवा द्विचरम समय में रहते हुये उत्कृष्ट काषायिक संक्लेशस्थान को प्राप्त कर चरम या द्विचरम समय में उत्कृष्ट योग स्थान को भी पाकर के यहां पर उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट संक्लेश युगपत एक समय तक ही प्राप्त होता है, अधिक नहीं। यह समय की विषमता बतलाने की अपेक्षा उत्कृष्ट योग और उत्कृष्ट कषाय स्थान का ग्रहण किया है। त्रिचरम या द्विचरम समय में उत्कृष्ट संक्लेश का ग्रहण बहुत अधिक उद्वर्तना होने और 'अत्यल्प' अपवर्तना के अभाव को बतलाने के लिये किया गया तथा द्विचरम और चरम समय में उत्कृष्ट योग का ग्रहण परिपूर्ण कर्मप्रदेशों का संचय होने तक के लिये किया गया है। इस प्रकार नारक भव के चरम समय में वर्तमान जीव सम्पूर्ण गुणितकर्मांश होता है। उस सम्पूर्ण गुणितकर्मांश जीव का यहां उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व में प्रयोजन है।

इस प्रकार गुणितकर्मांश का स्वरूप जानना चाहिये। अब उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्वामित्व का कथन प्रारम्भ करते हैं –

तत्तो उव्वट्टिता, आवलिगा समयतब्भवत्थस्स।
आवरणविग्घचोद्दसगोरालियसत्त उक्कोसो॥ ७९॥

शब्दार्थ – **तत्तो** – वहां से, **उव्वट्टिता** – निकलकर, **आवलिगासमय** – आवलिका के अन्त समय में, **तब्भवत्थस्स** – पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के भव में उत्पन्न, **आवरण** – आवरण, **विग्घ** – अन्तराय, **चोद्दसग** – चौदह, **ओरालियसत्त** – औदारिकसप्तक, **उक्कोसो** – उत्कृष्ट।

गाथार्थ – वहां से निकल कर पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के भव में उत्पन्न हो कर आवलिकाल के अंत समय में आवरणाद्विक (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) अन्तराय सम्बन्धी चौदह प्रकृतियों का तथा औदारिकसप्तक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ – वह पूर्वोक्त गुणितकर्मांश जीव उस सप्तम नरक से निकल कर पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के मध्य में उत्पन्न हुआ, वह तद्भवस्थ अर्थात् उस संज्ञी पंचेन्द्रिय के भव में रहते हुए प्रथम आवलिका के उपरितन चरम समय में ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक और औदारिकसप्तक रूप इक्कीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। क्योंकि वह नारक भव के चरम समय में उत्कृष्ट योग के वश इन प्रकृतियों के बहुत कर्मदलिक को ग्रहण करता है। वह बंधा हुआ कर्मदलिक बंधावलिका के व्यतीत हो जाने पर संक्रमाता है, अन्यथा नहीं। अन्यत्र इससे बहुत अधिक कर्मदलिक प्राप्त नहीं होता है यह बताने के लिये गाथा में 'आवलिगासमयतब्भवत्थस्स' इस पद को ग्रहण किया गया है तथा –

कम्मचउक्के असुभाणऽबज्झमाणीण सुहुमरागंते।
संछोभणंमि नियगे, चउवीसाए नियट्टिस्स॥ ८०॥

शब्दार्थ – **कम्मचउक्के** – कर्मचतुष्क में, **असुभाण** – अशुभ प्रकृतियों का, **अवज्झमाणीण**– अबध्यमान, **सुहुमरागंते** – सूक्ष्मसंपराय के अंतिम समय में, **संछोभणंमि** – अन्त्य संक्रम में, **नियगे** – निज, **चउवीसाए** – चौबीस प्रकृतियों का, **नियट्टिस्स** – अनिवृत्तिगुणस्थान के।

गाथार्थ – कर्मचतुष्क में अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों का सूक्ष्मसंपरायक्षपक के अन्त समय में अपने अपने चरम प्रदेशसंक्रम के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है और चौबीस प्रकृतियों का अनिवृत्ति संपराय गुणस्थान में अंतिम समय में अर्थात् अपने अपने चरम प्रदेशसंक्रम के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – कम्मचउक्के अर्थात् दर्शनावरण, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मचतुष्क में जो अशुभ प्रकृतियां सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान की अवस्था में अबध्यमान हैं यथा – निद्राद्विक, असातावेदनीय, प्रथम संस्थान को छोड़कर शेष पांच संस्थान, प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच संहनन, अशुभ वर्णादिनवक,

उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र, ये बत्तीस अशुभ प्रकृतियां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में नहीं बंधती हैं, अतः इन बत्तीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम गुणितकर्मांश क्षपक के सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त में अर्थात् चरम समय में होता है। तथा अनिवृतिबादर गुणस्थानवर्ती गुणितकर्मांश क्षपक के मध्यम कषायअष्टक, स्त्यानर्धित्रिक तिर्यंचद्विक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म साधारण, नोकषाय षट्क रूप चौबीस प्रकृतियों का अपने अपने चरम संक्षोभ अर्थात् अंतिम संक्रम के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

तत्तो अणंतरागय - समयादुक्कस्स सायबंधद्धं।
बंधिय असायबंधालिगंतसमयम्मि सायस्स॥ ८१॥

शब्दार्थ – **तत्तो** – उससे, **अणंतरागय** – अनंतरभव में आगत, **समयादुक्कस्स** – प्रथम समय लेकर उत्कृष्ट तक, **सायबंध** – सातावेदनीय बंध को, **अद्धं** – काल, **बंधिय** – बांधकर, **असायबंधालिगंतसमयम्मि** – असातावेदनीय की बंधावलिका के अंतिम समय में, **सायस्स** – सातावेदनीय का।

गाथार्थ – उससे (नरकभव से) अनन्तर भव में आया हुआ जीव आने के प्रथम समय से लेकर उत्कृष्ट काल तक सातावेदनीय को बांधकर असातावेदनीय की बंधावलिका के अंतिम समय में सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ – उस नरक भव से अनन्तर भव में आया हुआ जीव प्रथम समय से लेकर सातावेदनीय को उत्कृष्ट बंधाद्धा अर्थात् उत्कृष्ट बंध काल तक बांधकर पुनः असातावेदनीय को बांधना प्रारम्भ करता है तब असातावेदनीय की बंधावलिका के अंतिम समय में सातावेदनीय के सम्पूर्ण द्रव्य की बंधावलिका व्यतीत हो गई है, इस कारण उस समय में बंधने वाले असातावेदनीय में सातावेदनीय को यथाप्रवृत्तसंक्रम से संक्रमाते हुए सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा –

संछोभणाए दोण्हं मोहाणं वेयगस्स खणसेसे।
उप्पाइय सम्मत्तं, मिच्छत्तगए तमतमाए॥ ८२॥

शब्दार्थ – **संछोभणाए** – अपने-अपने अन्त्यप्रक्षेप के समय, **दोण्हं** – दोनों, **मोहाणं** – मोहनीय प्रकृतियों का, **वेयगस्स** – वेदक सम्यक्त्व का, **खणसेसे** – अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर, **उप्पाइय सम्मत्तं** – औपशमिक सम्यक्त्व का, **मिच्छत्तगए** – मिथ्यात्व में गए हुए, **तमतमाए** – तमतमा पृथ्वी में।

गाथार्थ – *दोनों दर्शनमोह प्रकृतियों का संक्षोभ में - अपने अन्त्य प्रक्षेप के समय उत्कृष्ट* प्रदेशसंक्रम होता है तथा तमतमा पृथ्वी में अन्तर्मुहूर्त जीवन शेष रह जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व को उत्पन्न

कर मिथ्यात्व में गए हुए जीव के वेदक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – संछोभणाए - अर्थात् क्षपक जीव के दोनों मोहनीय प्रकृतियों अर्थात् मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व रूप दोनों दर्शनमोहनीय प्रकृतियों का अपने-अपने चरम संक्षोभ में अर्थात् अंतिम सर्व प्रदेशसंक्रम के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

तमतमा नामक सप्तम नरकपृथ्वी में वर्तमान जीव क्षण शेष अर्थात् अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रह जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व को उत्पन्न कर दीर्घ गुणसंक्रम काल के द्वारा वेदक सम्यक्त्व के पुंज को पूरकर सम्यक्त्व से गिरता हुआ मिथ्यात्व को प्राप्त होकर उसके प्रथम समय में ही वेदक सम्यक्त्व का मिथ्यात्व में उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। तथा –

भिन्नमुहुत्ते सेसे, तच्चरमावस्सगाणि किच्चेत्थ।
संजोयणा विसंजोय-गस्स संछोभणा एसिं॥ ८३॥

शब्दार्थ – **भिन्नमुहुत्ते** – अन्तर्मुहूर्त, **सेस** – शेष रह जाने पर, **तच्चरमावस्सगाणि** – वह चरम आवश्यक, **किच्च** – करके, **इत्थ** – यहां पर, **संजोयणा** – अनन्तानुबंधी, **विसंजोयगस्स** – विसंयोजना करते हुए, **संछोभणा** – चरम प्रक्षेप, **एसिं** – इसकी (अनन्तानुबंधी की)।

गाथार्थ – अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेष रह जाने पर वह सप्तम नरक गत गुणितकर्मांश जीव चरम आवश्यक (अंत्य आवश्यक) करके वहां से निकलकर यहां पर अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हुए उसके चरम प्रक्षेप के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ – वह गुणितकर्मांश सप्तम पृथ्वी में वर्तमान नारक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रह जाने पर उस भव में जो चरम आवश्यक है, गाथा ७७ में चरम आवश्यक का इस प्रकार स्पष्टीकरण है –

जोगजवमज्झ उवरिं मुहुत्तमच्छित्तु जीवियवसाणे।
तिचरिम दुचरिम समए पूरित्तु कसाय उक्कस्सं॥

अर्थात् यवमध्य के ऊपर जीवन के अन्त में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रहकर त्रिचरम या द्विचरम समय में उत्कृष्ट कषाय को प्राप्तकर इत्यादि, उसको करके उस सप्तम पृथ्वी से निकलकर और सम्यक्त्व को उत्पन्न कर वेदक सम्यग्दृष्टि होता हुआ संयोजना अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायों का विसंयोजन करता है। विसंयोजना क्षपणा को कहते हैं इसलिये इन अनन्तानुबंधी कषायों के अंतिम दलिक प्रक्षेपण के समय सर्व संक्रमण से उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा –

ईसाणागयपुरिसस्स, इत्थियाए य अट्ठवासाए।
मासपुहुत्ताब्भहिए, नपुंसगे सव्वसंकमणे ॥ ८४॥

शब्दार्थ – **ईसाणागय** – ईशानदेवलोक से आकर, **पुरिसस्स** – पुरुष, **इत्थियाए** – स्त्री में, **य** – और, **अट्ठवासाए** – आठ वर्ष, **मासपुहुत्तब्भहिए** – मासपृथक्त्व से अधिक, **नपुंसगे** – नपुंसकवेद, **सव्व संकमणे** – सर्व संक्रमण काल में।

गाथार्थ – जो गुणितकर्मांश जीव ईशान देवलोक से आकर पुरुष या स्त्री होकर आठ वर्ष और मासपृथक्त्व से अधिक काल बिताकर क्षपकश्रेणी का आरोहण करने वाला है, उसके नपुंसकवेद का क्षय करते समय सर्वसंक्रम काल में नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – गुणितकर्मांश ईशानस्वर्ग का देव संक्लेश परिणाम से एकेन्द्रिय के योग्य नपुंसकवेद को बार-बार बांधकर उस ईशानस्वर्ग से च्युत होता हुआ स्त्री या पुरुष हुआ। तत्पश्चात् मास पृथक्त्व से अधिक आठ वर्षों के व्यतीत होने पर कर्मक्षपणा के लिये उद्यत हुआ, उस क्षपक के नपुंसकवेद का क्षय करते हुए चरम संक्षोभ में सर्वसंक्रम के द्वारा संक्रमण करने पर नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा–

इत्थीए भोगभूमिसु, जीविय वासाणऽसंखियाणि तओ ।
हस्सठिई देवत्ता, सव्वलहुं सव्वसंछोभे॥ ८५॥

शब्दार्थ – **इत्थीए** – स्त्रीवेद का, **भोगभूमिसु** – भोगभूमि में, **जीविय** – जीवित रहकर, **वासाण** – वर्ष, **असंखियाणि** – असंख्यात, **तओ** – वहां से, **हस्सठिई** – जघन्य स्थिति वाला, **देवत्ता**– देव होकर, **सव्वलहुं** – सर्व लघु (अतिशीघ्र) **सव्वसंछोभे** – सर्व संक्षोभ करता हुआ (सर्व संक्रम रूप अन्त्य प्रक्षेप करता हुआ)।

गाथार्थ – गुणितकर्मांश जीव भोगभूमि में उत्पन्न हो कर बार बार स्त्रीवेद को बांधता हुआ असंख्यात वर्ष तक जीवित रह कर और वहाँ से मर कर अल्प स्थिति वाला देव हो कर और वहाँ से च्युत हो कर मनुष्यभव में अतिशीघ्र क्षपकश्रेणी प्रारंभ कर स्त्रीवेद का सर्वसंक्रमरूप अन्त्य प्रक्षेप करता हुआ स्त्रीवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है।

विशषार्थ – भोगभूमि में बारबार असंख्यात वर्षों तक स्त्रीवेद को बांधकर वहां से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण आयु के बीतने पर अकाल मृत्यु से मरकर दस हजार वर्ष प्रमाण अल्प स्थिति की देव आयु को बांधकर देव रूप से उत्पन्न हुआ। वहां पर भी उस स्त्रीवेद को बार बार बांधकर अपनी आयु के अंत में मनुष्यों में किसी एक वेद सहित उत्पन्न हुआ। तब उस स्त्रीवेद के क्षपण के समय सर्वसंक्रम करते हुए उसके स्त्रीवेद का उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम होता है।

यहां पर इस प्रकार ही वेद का उत्कृष्ट आपूरण (बहुत प्रदेशों का संचय) और उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम केवलज्ञान के द्वारा जाना एवं देखा गया है, अन्यथा नहीं, यही युक्ति यहां पर अनुसरण करना चाहिये, अन्य

युक्तियां नहीं। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में अन्य युक्तियां दिखाई नहीं देती हैं। अतः अन्य युक्तियों की कल्पना निर्मूल है। क्योंकि अन्यथा कल्पना नहीं की जा सकती है। इसी तरह आगे भी यथायोग्य इसी प्रकार से केवलज्ञान के द्वारा ऐसा देखा गया है, इसी उत्तर का अनुसरण करना चाहिये। तथा –

वरिसवरित्थिं पूरिय, सम्मत्तमसंखवासियं लहियं।
गंता मिच्छत्तमओ, जहन्नदेवट्ठिई भोच्चा॥ ८६॥
आगंतु लहुं पुरिसं, संछुभमाणस्स पुरिसवेयस्स।
तस्सेव सगे कोहस्स, माणमायाणमवि कसिणो॥ ८७॥

शब्दार्थ – **वरिसवरित्थिं** – नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को, **पूरिय** – पूरकर, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व को, **असंखवासियं** – असंख्यात वर्ष तक, **लहियं** – आस्वादन कर, **गंता** – प्राप्त हुआ, **मिच्छत्तमओ** – मिथ्यात्व को, **जहन्न** – जघन्य, **देवट्ठिई** – देवस्थिति, **भोच्चा** – भोगकर।

आगंतु – वहाँ से आकर, **लहुं** – लघुकाल में (शीघ्र ही), **पुरिसं** – पुरुषवेद का, **संछुभमाणस्स**– चरमप्रक्षेप करते हुए, **पुरिसवेयस्स** – पुरुषवेद का, **तस्सेव** – उसी जीव को, **सगे** – अपने अपने, **कोहस्स** – क्रोध का, **माणमायाणमवि** – मान और माया का भी, **कसिणो** – कृत्स्न (अन्तिम उत्कृष्ट)।

गाथार्थ – कोई नपुंसकवेद वाला जीव ईशान देवलोक में उत्पन्न होकर वहां नपुंसक और स्त्रीवेद को पूरकर असंख्यात वर्ष तक सम्यक्त्व का आस्वादन कर अंत में मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और जघन्य आयु वाली देवस्थिति को भोगकर –

वहां से मनुष्यभव में आकर शीघ्र ही पुरुषवेद का क्षपक चरम प्रक्षेप करते हुए पुरुषवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। उसी जीव के क्रोध, मान और माया का भी अपने अपने चरम प्रक्षेप के समय उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – वरिसवर - वर्षवर अर्थात् नपुंसकवेद वाला जीव उस ईशान लोक में बहुत काल पर्यन्त बार बार नपुंसकवेद का बंध कर और अन्य वेदों के दलिकों का उसमें संक्रमण कर अपनी आयु के क्षय होने पर वहां से च्युत होने पर संख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों के मध्य में आकर पुनः असंख्यात वर्ष की आयु वालों में उत्पन्न हुआ । वहां पर असंख्यात वर्षों तक स्त्रीवेद को प्राप्त कर (संचय कर)तत्पश्चात् असंख्यात वर्षों तक सम्यक्त्व को प्राप्त कर और उसके निमित्त से पुरुषवेद को उतने वर्षों तक बांधता हुआ, उसमें स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के दलिकों का निरंतर संक्रमण करता है। तत्पश्चात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण अपनी पूरी आयु तक जीवित रह कर अंत समय में मिथ्यात्व को प्राप्त हो कर मरा और सर्व जघन्य दस हजार वर्ष प्रमाण स्थिति वाले देवों में उत्पन्न हुआ। वहां उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त काल के द्वारा सम्यक्त्व

को प्राप्त करता है।

तत्पश्चात् उस देवभव से च्युत हो कर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और उसके बाद सात मास अधिक आठ वर्ष बीतने पर शीघ्र ही कर्मक्षपण के लिये उद्यत हुआ। केवल पुरुषवेद के बंधविच्छेद के पहले दो आवलि काल से पुरुषवेद के जो दलिक बांधे हैं, वे अतीव अल्प हैं। इसलिये उन्हें छोड़ कर शेष दलिकों का अंतिम समय में सर्वसंक्रमण करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये तथा उसी पुरुषवेद के संक्रम के स्वामी के संज्वलन क्रोध का संसार में परिभ्रमण करते हुए संचित कर्म दलिकों का और क्षपणकाल में अन्य प्रकृतियों के दलिकों का गुण संक्रमण से प्रचुर परिमाण करने पर अपने समय में सर्वसंक्रमण करने पर संज्वलन क्रोध का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमण होता है। यहां पर भी बंधविच्छेद से पहले दो आवलिकाल से बंधा हुआ जो कर्मदलिक है, उसको छोड़ कर शेष के अंतिम समय सर्वसंक्रमण करने पर उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये। इसी प्रकार संज्वलन मान और माया का भी उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम समझना चाहिये। तथा –

चउरुवसमित्तु खिप्पं, लोभजसाणं ससंकमस्संते।
सुभधुवबंधिगनामा - णावलिगं गंतु बंधंता॥ ८८॥

शब्दार्थ – **चउरुवसमित्तु** – चार बार(मोहनीय का) उपशमन कर, **खिप्पं** – शीघ्र, **लोभजसाणं**– लोभ और यश:कीर्ति का, **ससंकमस्संते** – स्वसंक्रम के अन्त्य प्रक्षेप में, **सुभधुवबंधिगनामाण**– नाम कर्म की शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का, **आवलिगं गंतु** – आवलिका के बीतने के पश्चात् , **बंधंता**– बंधविच्छेद के बाद।

गाथार्थ – चार बार मोहनीय कर्म का उपशमन करके शीघ्र ही क्षपकश्रेणी को माडने वाला गुणितकर्मांश जीव के संज्वलन लोभ और यश:कीर्ति का स्वसंक्रम के अन्त्य प्रक्षेप के समय उत्कृष्ट प्रदेश-संक्रम होता है, तथा नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को बांध कर बंधविच्छेद के पश्चात आवलि काल जाने के बाद उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – अनेक भवों में परिभ्रमण करते हुए चार बार मोहनीयकर्म का उपशमन कर चौथी उपशमना के अनन्तर शीघ्र ही क्षपकश्रेणी को प्राप्त हुए उसी गुणितकर्मांश जीव के अपने संक्रम के अंत में अर्थात् सर्वसंक्रम के समय संज्वलन लोभ और यश:कीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। यहां उपशमश्रेणी को प्राप्त होते हुए अन्य प्रकृतियों के बहुत से दलिकों का गुणसंक्रम के द्वारा उनमें प्रक्षेपण करने से संज्वलन लोभ और यश:कीर्ति इन दोनों ही प्रकृतियों को निरंतर पूरित करता है, यह बतलाने के लिये यहां पर उपशमश्रेणी का ग्रहण किया है। जब तक संसार है तब तक परिभ्रमण करता हुआ जीव चार बार ही मोहनीय कर्म का उपशम करता है, पांचवी बार नहीं, यह बताने के लिये चार बार उपशम करके, यह पद कहा है तथा संज्वलन लोभ का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम अन्तरकरण के चरम समय में जानना चाहिये, उसके आगे नहीं। क्योंकि

उससे आगे संक्रम का अभाव कहा गया है। **'अंतरकरणम्मिकए चरित्तमोहेणुपुव्वि संकमणं'** - अंतरकरण करने पर चारित्रमोहनीय का आनुपूर्वी संक्रमण होता है, ऐसा आगम का वचन है। यश:कीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम अपूर्वकरण गुणस्थान में तीस प्रकृतियों के बंधविच्छेद के समय जानना चाहिये, क्योंकि उससे आगे उसका संक्रम नहीं होता।

नामकर्म की तैजससप्तक, शुक्ल लोहित हारिद्र वर्ण, सुरभिगंध, कषाय, अम्ल, मधुर रस, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण स्पर्श, अगुरुलघु, निर्माण रूप ये ध्रुवबंधिनी बीस शुभ प्रकृतियां हैं। इनका चार बार मोहनीय कर्म के उपशम के अनन्तर बंधान्त अर्थात् बंधविच्छेद होने से आगे एक आवलिका काल जाकर उनका यश:कीर्ति में प्रक्षेपण किया जाता है। अत: उस समय उनका उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम पाया जाता है। यहां पर गुणसंक्रम के द्वारा संक्रान्त अन्यप्रकृतियों का दलिक एक आवलिका काल बीतने पर ही अन्यत्र संक्रमण के योग्य होता है, अन्यथा नहीं, जैसा कि कहा है। **आवलिगंतुं बंधंता** अर्थात् बांधने के पश्चात एक आवलिकाल जाने पर कर्मदलिक संक्रमण के योग्य होता है। तथा –

निद्धसमा य थिरसुभा, सम्माद्दिट्ठिस्स सुभधुवाओ वि।
सुभसंघयणजुयाओ, बत्तीससयोदहिचियाओ ॥ ८९॥

शब्दार्थ – **निद्धसमा** – स्निग्ध स्पर्शवत्, **य** – और, **थिरसुभा** – स्थिर और शुभ नामकर्म, **सम्माद्दिट्ठिस्स** – सम्यग्दृष्टि की, **सुभधुवाओ वि** – शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का भी, **सुभसंघयणजुयाओ**– शुभ संहनन युक्त, **बत्तीससयोदहिचियाओ** – एक सौ बत्तीस सागरोपम तक।

गाथार्थ – स्थिर और शुभ नामकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्निग्ध स्पर्शवत् जानना चहिये तथा सम्यग्दृष्टि की शुभ ध्रुवबंधिनी शुभ संहनन युक्त एक सौ बत्तीस सागरोपम तक बांधी गई सम्यक्त्व प्रायोग्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम बंधविच्छेद के पश्चात एक आवलिकाल के बाद यश:कीर्ति में संक्रमाते समय होता है।

विशेषार्थ – स्निग्ध स्पर्श के समान स्थिर और शुभ नामकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये। इस का अर्थ यह है कि जिस प्रकार पहले शुभ ध्रुवबंधिनी नामकर्म की प्रकृतियों के अन्तर्गत स्निग्ध स्पर्श के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का कथन किया गया है, उसी प्रकार स्थिर और शुभ नामकर्म इन दोनों प्रकृतियां के लिये भी जानना चहिये। अध्रुवबंधिनी होने से इन दोनों प्रकृतियों का पृथक् ग्रहण किया गया है।

'सम्माद्दिट्ठिस्स' इत्यादि अर्थात् सम्यग्दृष्टि के जो शुभ ध्रुवबंधिनी पंचेन्दिय जाति, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग, सु:स्वर और आदेय लक्षण वाली बारह प्रकृतियां हैं। ये शुभ संहनन युक्त अर्थात् वज्रऋषभनाराचसंहनन सहित हैं। क्योंकि नारक भव या देव

भव में वर्तमान सम्यग्दृष्टि जीव वज्रऋषभनाराचसंहनन को बांधते हैं। किन्तु जो मनुष्य और तिर्यंच भव में वर्तमान सम्यग्दृष्टि जीव हैं, उनके देवगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने से संहनन नामकर्म का बंध असंभव है। इसलिये ये संहनन सम्यग्दृष्टि की शुभ प्रकृतियों में होते हुए भी ध्रुवबंधिनी प्रकृति नहीं, अतः इसे पृथक् कहा है तथा एक सौ बत्तीस सागरोपमो तक संचित जो शुभ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां हैं, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

जो जीव लगातार छियासठ सागरोपमों तक सम्यक्त्व का पालन करता हुआ इन प्रकृतियों को बांधता है, वह उसके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभव कर अर्थात् तीसरे गुणस्थान में आकर फिर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तब पुनः छियासठ सागरोपमों तक सम्यक्त्व का अनुभव करता हुआ इन प्रकृतियों को बांधता है। इस प्रकार एक सौ बत्तीस सागरोपमों तक सम्यग्दृष्टि जीव उक्त ध्रुव प्रकृतियों को प्राप्त करके और वज्रऋषभनाराचसंहनन को मनुष्य भव से हीन यथासंभव उत्कृष्ट काल तक पूर करके तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि की इन ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को अपूर्वकरण गुणस्थान में बंधविच्छेद के अनन्तर एक आवलि प्रमाण काल को बिता कर उनको यशःकीर्ति में संक्रमण करने वाले जीव के उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। क्योंकि उस समय अन्य प्रकृतियों के अत्यधिक दलिक गुणसंक्रम के द्वारा उक्त प्रकृतियों में संक्रान्त होते हैं और संक्रमावलि के बीतने पश्चात उनका संक्रम संभव है। वज्रऋषभनाराचसंहनन का तो देवभव से च्युत हुआ सम्यग्दृष्टि देवगतिप्रायोग्य कर्म को बांधता हुआ आवलि प्रमाण काल का उल्लंघन कर उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम करता है। तथा –

पूरित्तु पुव्वकोडी - पुहुत्त संछोभगस्स निरयदुगं।
देवगईनवगस्स य, सगबंधंतालिगं गंतुं ॥ ९०॥

शब्दार्थ – **पूरित्तु** – पूर करके, **पुव्वकोडी** – पूर्व कोटि, **पुहुत्त** – पृथक्त्व, **संछोभगस्स** – अन्य प्रकृति में संक्रम करते हुए, **निरयदुगं** – नरकद्विक का, **देवगईनवगस्स** – देवगतिनवक का, **य** – और, **सगबंधतालिगं** – अपने बंधविच्छेद के बाद आवलिका, **गंतुं** – व्यतीत होने पर।

गाथार्थ – नरकद्विक को पूर्वकोटिपृथक्त्व तक पूर कर उसका अन्य प्रकृति में संक्रम करते हुए उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है तथा देवगतिनवक का पूर्वकोटिपृथक्त्व तक बंध करके अपने बंधविच्छेद के पश्चात एक आवलिकाल व्यतीत होने पर यशःकीर्ति में संक्रमाते हुए उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये।

विशेषार्थ – नरकगति और नरकानुपूर्वी रूप नरकद्विक प्रकृतियों को पूर्वकोटिपृथक्त्व तक पूर करके अर्थात् पूर्व कोटि की आयु वाले सात तिर्यंच भवों में बार बार बांध कर उसके पश्चात आठवें भव में मनुष्य हो कर क्षपकश्रेणी को प्राप्त हुआ जीव उस नरकद्विक का अन्य प्रकृति में संक्रमण करता हुआ अर्थात् अंतिम समय में सर्वसंक्रमण के द्वारा प्रकृतिरूप करने वाला जीव उस नरकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम

करता है तथा देवगति, देवानुपूर्वी और वैक्रियसप्तकरूप देवगतिनवक को जब पूर्वकोटिपृथक्त्व काल तक पूर करके अष्टम भव में क्षपकश्रेणी को प्राप्त होता हुआ अपने अपने बंध के अंत में अर्थात् उक्त प्रकृतियों के बंधविच्छेद के अनन्तर आवलि काल मात्र बिता कर जब उन्हें यश:कीर्ति में प्रक्षिप्त करता है तब उसके उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। क्योंकि उस समय ही गुणसंक्रमण से प्राप्त अन्य प्रकृतियों के दलिकों का भी संक्रमावलिका बीत जाने से संक्रमण प्राप्त होता है। तथा –

सव्वचिरं सम्मत्तं, अणुपालिय पूरइत्तु मणुयदुगं।
सत्तमखिइनिग्गइए (यगे), पढमे समए नरदुगस्स॥ ९१॥

शब्दार्थ – **सव्वचिरं** – सर्वोत्कृष्ट दीर्घकाल तक, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व को, **अणुपालिय** – अनुपालन, धारण कर, **पूरइत्तु** – पूर कर, बांध कर, **मणुयदुगं** – मनुष्यद्विक को, **सत्तमखिइनिग्गइए** – सातवीं पृथ्वी से निकलने वाले, **पढमे** – प्रथम, **समए** – समय में, **नरदुगस्स** – मनुष्यद्विक का।

गाथार्थ – सर्वोत्कृष्ट काल तक सम्यक्त्व को धारण कर और मनुष्यद्विक को बांध कर सातवीं पृथ्वी से निकलने वाले जीव के प्रथम समय में मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – सव्वचिरं अर्थात् सर्वोत्कृष्ट काल तक यानी अन्तर्मुहूर्त कम तेतीस सागरोपम काल तक सम्यक्त्व का अनुपालन कर सप्तम (नरक) पृथ्वी में वर्तमान नारक सम्यक्त्व निमित्तक मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वीरूप मनुष्यद्विक को अपने काल तक पूर कर अर्थात् बांध करके जीवन के अंतिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ तब मिथ्यात्व के निमित्त से तिर्यंचद्विक को बांधने वाले गुणितकर्मांश और सप्तम पृथ्वी से निकलने वाले उस जीव के प्रथम समय में मनुष्यद्विक का यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा उस बध्यमान तिर्यंचद्विक में संक्रम करते हुए मनुष्यद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा –

थावरतज्जाआया, वुज्जोयाओ नपुंसगसमाओ।
आहारगतित्थयरं, थिरसममुक्कस्स सम कालं॥ ९२॥

शब्दार्थ – **थावरतज्जाआया** – स्थावर, उसकी जाति (एकेन्द्रिय जाति) और आतप, **व** – और, **उज्जोयाओ** – उद्योत का, **नपुंसगसमाओ** – नपुंसकवेद के समान, **आहारगतित्थयरं** – आहारक और तीर्थंकर का, **थिरसमं** – स्थिर नाम के समान, **उक्कस्स** – उत्कृष्ट, **सम कालं** – अपने काल तक।

गाथार्थ – स्थावर और उसकी जाति तथा आतप उद्योत नाम का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम नपुंसकवेद के समान, आहारकसप्तक और तीर्थंकर नाम का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम स्थिर नामकर्म के समान अपना उत्कृष्ट बंध काल पूरण करने पर जानना चाहिये।

विशेषार्थ – स्थावर नामकर्म तथा तज्जाति अर्थात् एकेन्द्रिय जाति और आतप एवं उद्योत नामकर्म

ये चारों प्रकृतियां नपुंसकवेद के समान हैं। अर्थात् नपुंसकवेद के समान इन प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये तथा आहारकसप्तक और तीर्थंकर नामकर्म का स्थिर प्रकृति के समान कहना चाहिये। लेकिन केवल उनके अपने अपने उत्कृष्ट बंधकाल तक उनका बंध जानना चाहिये। इसका आशय यह है –

आहारकसप्तक और तीर्थंकर नामकर्म का जो अपना अपना उत्कृष्ट बंधकाल है, उतने काल तक उनका लगातार बंध कहना चाहिये। उनमें से आहारकसप्तक का उत्कृष्ट बंधकाल कुछ कम एक पूर्व कोटि संयम को पालन करने वाले संयत का जितना अप्रमत्त संयत गुणस्थान काल है , उतना सब जानना चाहिये और तीर्थंकर नामकर्म का उत्कृष्ट बंधकाल देशोन दो पूर्व कोटि से अधिक तेतीस सागरोपम है। इसलिये इतने काल तक तीर्थंकर नामकर्म को पूर कर क्षपकश्रेणी को प्राप्त हो कर जब बंधविच्छेद के अनन्तर आवलि प्रमाण काल का उल्लंघन कर उन्हें यश:कीर्ति में संक्रांत करता है, तब उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है। तथा –

चउरुवसमित्तु मोहं, मिच्छत्तगयस्स नीयबंधंतो।
उच्चागोउक्कोसो, तत्तो लहु सिज्झओ होई॥ ९३॥

शब्दार्थ – **चउरुवसमित्तु** – चार बार उपशमना कर, **मोहं** – मोहनीय कर्म को, **मिच्छत्तगयस्स**– मिथ्यात्व में गये हुए, **नीयबंधंतो** – नीचगोत्र के बंधविच्छेद के बाद, **उच्चागो** – उच्चगोत्र का, **उक्कोसो** – उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम, **तत्तो** – तत्पश्चात्, **लहु** – शीघ्र, **सिज्झओ** – सिद्ध होने वाले जीव के, **होई** – होता है।

गाथार्थ – चार बार मोहकर्म को उपशमित कर मिथ्यात्व में गये हुए जीव के नीचगोत्र का बंध कर पुन: नीचगोत्र का बंधविच्छेद कर शीघ्र ही सिद्ध होने वाले जीव के नीचगोत्र के चरम बंधविच्छेद के समय में उच्चगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – मोहकर्म का उपशम करता हुआ जीव उच्चगोत्र को ही बांधता है, नीचगोत्र को नहीं। उस समय नीचगोत्र संबंधी कर्मदलिकों को गुणसंक्रम के द्वारा उच्चगोत्र में संक्रमाता है। इसलिये चार बार मोहकर्म के उपशम का ग्रहण अवश्य करना चाहिये। वहां पर चार बार मोहनीय कर्म को उपशमाता हुआ और उच्चगोत्र को बांधता हुआ उसमें नीचगोत्र को गुणसंक्रम से संक्रमाता है। मोहकर्म का चार बार उपशम दो भव में होता है। इसलिये वह तीसरे भव में मिथ्यात्व को जाता हुआ नीचगोत्र को बांधता है और उसे बांधता हुआ उसमें उच्चगोत्र को संक्रमाता है। तत्पश्चात फिर सम्यक्त्व को प्राप्त हो कर उच्चगोत्र को बांधता हुआ उसमें नीचगोत्र को संक्रमाता है। इस प्रकार बार बार उच्चगोत्र को और नीचगोत्र को बांधते हुए नीचगोत्र के बंधविच्छेद के अनन्तर शीघ्र ही सिद्ध लोक को गमन करने के इच्छुक जीव के नीचगोत्र के बंध के चरम

समय में उच्चगोत्र का गुणसंक्रमण के द्वारा बंध के साथ उपचय करने वाले जीव के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम होता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व का कथन जानना चाहिये।

क्षपितकर्मांश जीव की योग्यता

अब जघन्य प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व का कथन करते हैं। वह प्रायः क्षपितकर्मांश जीव के पाया जाता है। इसलिये सर्व प्रथम उसका स्वरूप बतलाते हैं –

पल्लासंखियभागोण, कम्मठिइमत्थिओ निगोएसु।
सुहुमेस - भवियजोग्गं, जहन्नयं कट्टु निग्गम्म ॥ ९४॥
जोग्गेससंखवारे, सम्मत्तं लभिय देसविरयं च।
अट्ठक्खुत्तो विरई, संजोयणहा य तइवारे॥ ९५॥
चउरुवसमित्तु मोहं, लहुं खवेंतो भवे खवियकम्मो।
पाएण तहिं पगयं, पडुच्च काई वि सविसेसं॥ ९६॥

शब्दार्थ – पल्लासंखियभागोण – पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन, **कम्मठिइं** – कर्मस्थिति काल तक, **अत्थिओ** – रहकर, **निगोएसु** – निगोद में, **सुहुमेस** – सूक्ष्म में, **अभवियजोग्गं** – अभव्ययोग्य, **जहन्नयं** – जघन्य, **कट्टु** – करके, **निग्गम्म** – निकलकर।

जोग्गेस – सम्यक्त्व योग्य भवों में, **असंखवारे** – असंख्यातबार, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व, **लभिय**– प्राप्त कर, **देसविरयं** – देशविरति को, **च** – और, **अट्ठक्खुत्तो** – आठ बार, **विरई** – सर्वविरति, **संजोयणहा** – संयोजना की विसंयोजना, **य** – और, **तइवारे** – उतनी बार।

चउरुवसमित्तु – चार बार उपशमन कर, **मोहं** – मोहनीय का, **लहुं** – शीघ्र, **खवेंतो** – क्षय करने वाला, **भवे** – होता है, **खवियकम्मो** – क्षपितकर्मांश, **पाएण** – प्रायः, **तहिं** – उसका, **पगयं** – प्रकृत में, **पडुच्च काई** – किन्हीं प्रकृतियों की अपेक्षा, **वि** – भी, **सविसेसं** – विशेषता।

गाथार्थ – पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन कर्मस्थिति काल तक सूक्ष्म निगोद में रह कर अभव्य प्रायोग्य जघन्य प्रदेशोपचय करके वहां से निकल कर सम्यक्त्व योग्य भवों में असंख्यात बार सम्यक्त्व को और देशविरति को और आठ बार सर्वविरति को प्राप्त कर और उतनी ही बार अनन्तानुबंधी की विसंयोजना कर और चार बार मोहकर्म का उपशमन कर शीघ्र ही कर्मों का क्षय करने वाला जीव क्षपितकर्मांश कहलाता है। यहां इस जघन्य प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व में प्रायः इसी से प्रयोजन है और किन्हीं प्रकृतियों में कुछ विशेषता भी है।

विशेषार्थ – प्रस्तुत प्रसंग में सूक्ष्म निगोदिया जीवों का ग्रहण इसलिये किया है कि वे जीव अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण काल तक सूक्ष्म निगोद में अर्थात् सूक्ष्म अनन्तकायिक जीवों में रहने से अत्यल्प आयु वाले होते हैं। जिससे बहुत जन्म मरण होने से वे वेदना के कारण अधिक पीड़ित होते हैं और इस कारण उनके बहुत अधिक कर्म पुद्गलों की निर्जरा होती है तथा इन्हीं के योगों और कषायों की मंदता भी होती है, जिससे नवीन कर्म पुद्गलों का ग्रहण भी अल्पतर होता है तथा 'अभविय जोग्गं जहन्नयं कट्टु निग्गम्मत्ति' अर्थात् अभव्य जीवों के योग्य जघन्य प्रदेशों का संचय करके पश्चात् सूक्ष्म निगोद से निकलकर सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति के योग्य त्रसों में उत्पन्न हो कर पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने असंख्यात बार तक सम्यक्त्व को और अल्पकालिक देशविरति को प्राप्त कर।

किस प्रकार प्राप्त कर ? तो इसका उत्तर है कि - सूक्ष्म निगोद से निकल कर बादर पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हुआ, वहां से अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा निकलकर पूर्व कोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। वहां पर ही शीघ्र ही सात मास के अनन्तर योनि से निकल कर उत्पन्न हुआ, पुनः आठ वर्ष का हो कर संयम को धारण किया, तत्पश्चात् देशोन पूर्व कोटि तक संयम का पालन कर जीवन के अल्प शेष रह जाने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और तब मिथ्यात्व के साथ ही मरण को प्राप्त हो कर दस हजार वर्ष प्रमाण वाली स्थिति के देवों में देवरूप से उत्पन्न हुआ और अन्तर्मुहूर्त काल बीतने पर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् दस हजार वर्ष जीवित रह कर और उतने काल तक सम्यक्त्व को पाल कर जीवन के अंत में मिथ्यात्व के साथ मरण कर बादर पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न हुआ और तत्पश्चात अन्तर्मुहूर्त काल में वहां से निकल कर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। तब पुनः सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति को प्राप्त हुआ, इस प्रकार देव और मनुष्य के भवों में सम्यक्त्व को ग्रहण करता और छोड़ता हुआ तब तक कहना चाहिये जब तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं उतने असंख्यात बार तक सम्यक्त्व का लाभ और अल्पकालिक देशविरति का लाभ होता है।

यहां पर जब जब सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करता है तब तब बहुत कर्मप्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्प प्रदेश वाली करता है, यह बतलाने के लिये ही बहुत बार सम्यक्त्व आदि के ग्रहण करने का निर्देश किया गया है। इन सम्यक्त्व आदि के योग्य भवों के मध्य में आठ बार सर्वविरति को प्राप्त करता है और उतनी ही बार (आठ बार) संयोजना अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय की विसंयोजना करके तथा चार बार मोहनीय कर्म का उपशमन कर उससे अन्य भव में शीघ्र ही कर्मों का क्षपण करने वाला क्षपितकर्मांश[१] कहलाता है।

१. अन्य सर्व जीवों से अत्यल्प कर्म प्रदेश की सत्ता वाले जीव को क्षपितकर्मांश कहते हैं। इन तीन गाथाओं में यह बताया गया है कि किन किन संयोगों को प्राप्त हुआ जीव अन्य सर्व जीवों की अपेक्षा अत्यल्प कर्म प्रदेशों की सत्ता वाला होता है।

यहां पर (जघन्य प्रदेशसंक्रम के स्वामित्व का विचार करने के प्रसंग में) प्रायः इसी क्षपितकर्मांश जीव का अधिकार है और कितनी ही प्रकृतियों को अधिकृत कर जो विशेषता है, इसका यथास्थान उल्लेख किया जा रहा है।

इस प्रकार क्षपितकर्मांश का स्वरूप जानना चाहिये। अब जघन्य प्रदेशसंक्रम स्वामित्व का कथन प्रारम्भ करते हैं –

आवरणसत्तगम्मि उ, सहोहिणा तं विणोहिजुयलम्मि।
निद्दादुगंतराइय हासचउक्के य बंधंते॥ ९७॥

शब्दार्थ – **आवरणसत्तगम्मि** – आवरणसप्तक का, **उ** – और, **सहोहिणा** – अवधिज्ञान सहित, **तं** – उस, **विणोहि** – अवधि रहित, **जुयलम्मि** – द्विक का, (अवधिज्ञान का), **निद्दादुगंतराइय**– निद्राद्विक और अंतरायपंचक, **हासचउक्के** – हास्यचतुष्क का, **य** – और, **बंधंते** – बंधविच्छेद के समय।

गाथार्थ – अवधिज्ञान सहित जीव अवधिद्विक से रहित शेष आवरणसप्तक के बंधविच्छेद के समय तथा अवधिज्ञान रहित जीव अवधिद्विक के बंधविच्छेद के समय जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है तथा निद्राद्विक, अंतरायपंचक और हास्यचतुष्क का जघन्य प्रदेशसंक्रम अपने अपने बंधविच्छेद के समय होता है।

विशेषार्थ – अवधिज्ञान के साथ जो जीव वर्तमान है, उसके अवधिज्ञानावरण रहित चार ज्ञानावरण कर्म और अवधिदर्शनावरण रहित शेष तीन दर्शनावरण कर्म कुल मिलाकर सात कर्म प्रकृतियों का अपने अपने बंधविच्छेद के समय यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। क्योंकि अवधिज्ञान को उत्पन्न करता हुआ जीव बहुत से अवधिज्ञानावरण कर्म पुद्गलों की निर्जरा करता है। इसलिये इन प्रकृतियों के अपने अपने बंधविच्छेद के समय अल्प कर्म पुद्गल ही पाये जाते हैं। यहां पर भी जघन्य प्रदेशसंक्रम का अधिकार है, इसलिये अवधिज्ञान के साथ जो रहता है, ऐसा कहा है।

उस अवधि के बिना अर्थात् अवधिज्ञान और अवधिदर्शन से सहित जो जीव है उसके अवधि युगल अर्थात् अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण रूप कर्म का अपने अपने बंधविच्छेद के समय जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। क्यों कि अवधिज्ञान और अवधिदर्शन को उत्पन्न करने वाले जीव के प्रबल क्षयोपशम भाव से अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण के कर्म पुद्गल अत्यंत रूक्ष हो जाते हैं, इसलिये बंधविच्छेदकाल में भी बहुत से कर्म पुद्गल निर्जरा को प्राप्त होते हैं और वैसा होने पर जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं पाया जाता है, इसलिये उसके बिना ऐसा कहा गया है।

'निद्दादुगंत' इत्यादि अर्थात् निद्रा और प्रचला रूप निद्राद्विक अंतरायपंचक और हास्य, रति, भय,

जुगुप्सा, रूप हास्यचतुष्क इन ग्यारह प्रकृतियों का अपने अपने बंध के अंत समय में यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। निद्राद्विक और हास्यचतुष्क के बंधविच्छेद के अनन्तर उनके द्रव्य का गुणसंक्रम के द्वारा संक्रम होता है। इसलिये उस समय बहुत अधिक कर्मदलिक पाये जाते हैं। अंतरायपंचक का तो बंधविच्छेद के अनन्तर संक्रम ही नहीं होता है क्यों कि पतद्ग्रह का अभाव है। इसलिये बंध के अंतसमय पद का ग्रहण किया है। तथा –

सायस्स णुवसमित्ता, असायबंधाण चरिम बंधंते।
खवणाए लोभस्स वि, अपुव्वकरणालिगा अंते॥ ९८॥

शब्दार्थ – **सायस्स** – सातावेदनीय का, **अणुवसमित्ता** – मोहनीय का उपशमन नहीं करके, **असायबंधाण** – असाता के बंध, **चरिम बंधते** – चरम बंध के, **खवणाए** – क्षपक जीव के, **लोभस्स**– लोभ का, **वि** – और, **अपुव्वकरणालिगा अंते** – अपूर्वकरण की आवलि के अंतिम समय में।

गाथार्थ – मोहनीय का उपशमन नहीं करके असातावेदनीय के बंध के चरम बंधसमय सातावेदनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है तथा मोह का अनुपशमक क्षपक जीव अपूर्वकरण की आवलि के अंतिम समय में लोभ का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ – अनुपशम करके अर्थात् मोहनीय कर्म का उपशम न करके यानी उपशमश्रेणी पर आरोहण न करके असाता प्रकृतियों के बंध में जो चरम बंध है अर्थात् असाता बंध के अंतिम समय में वर्तमान और कर्मक्षपण करने के लिये उद्यत जीव के साता वेदनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। इससे परे सातावेदनीय के पतद्ग्रहता होती है, संक्रम नहीं होता है।

'खवणाए' इत्यादि अर्थात् मोहनीय कर्म का उपशम न करके कर्मक्षपण के लिये उद्यत जीव के अपूर्वकरण काल की प्रथम आवलि के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का प्रदेशसंक्रम होता है। इसके आगे गुणसंक्रम से प्राप्त अत्यधिक दलिक की संक्रमावलि व्यतीत हो जाने से संक्रम संभव है। अतः जघन्य प्रदेशसंक्रम का अभाव है। तथा –

अयरछावट्ठिदुगं, गालियथीवेय थीणगिद्धितिगे।
सगखवणहापवत्तस्संते एमेव मिच्छत्ते॥ ९९॥

शब्दार्थ – **अयरछावट्ठिदुगं** – दो छियासठ सागरेपम तक, **गालिय** – गलाकर, निर्जरा कर, **थीवेय** – स्त्रीवेद, **थीणगिद्धितिगे** – स्त्यानर्धित्रिक, **सगखवण** – स्व-स्व प्रकृति का क्षपण करते हुए, **अहापवत्तस्संते** – यथाप्रवृत्तकरण के अंत में, **एमेव** – इसी प्रकार, **मिच्छत्ते** – मिथ्यात्व के विषय में।

गाथार्थ – दो छियासठ सागरोपम[१] तक स्त्रीवेद और स्त्यानर्धित्रिक की निर्जरा कर अपनी अपनी प्रकृति का क्षपण करते हुए यथाप्रवृत्तकरण के अंत में उनका जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विषय में भी जानना चाहिये।

विशेषार्थ – दो छियासठ सागरोपम अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम काल तक सम्यक्त्व का अनुपालन कर स्त्रीवेद और स्त्यानर्धित्रिक इन चार प्रकृतियों को गला कर अर्थात् इन प्रकृतियों संबंधी बहुत से कर्मदलिकों की निर्जरा कर और कुछ रहे कर्मदलिकों की क्षपणा करने के लिये उद्यत हुए जीव के यथाप्रवृत्तकरण के अंतिम समय में विध्यातसंक्रम के द्वारा जघन्य प्रदेशसंक्रमण होता है। इसके आगे अपूर्वकरण में गुणसंक्रम होने से बहुत कर्मदलिकों का संक्रमण संभव है। अतः जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं पाया जाता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये यहां यथाप्रवृत्तकरण के अंत समय में - अहापवत्तस्संते - पद ग्रहण किया गया है।

एमेव मिच्छत्ते अर्थात् इसी तरह पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्यात्व का भी जघन्य प्रदेशसंक्रम जानना चाहिये। जिसका आशय यह है कि दो छियासठ सागरोपम तक सम्यक्त्व का अनुपालन कर और उतने काल तक मिथ्यात्व की निर्जरा कर कुछ शेष रहे मिथ्यात्व के क्षपण करने के लिये उद्यत हुआ और अपने यथाप्रवृत्तकरण के अंत समय में वर्तमान जीव के विध्यातसंक्रमण के द्वारा मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है, इससे आगे गुणसंक्रम होता है। इस कारण जघन्य प्रदेशसंक्रम प्राप्त नहीं होता है। तथा –

हस्सगुणसंकमद्धाए, पूरयित्ता समीससम्मत्तं।
चिरसंमत्ता मिच्छत्त - गयस्सुव्वलणथोगो सिं॥ १००॥

शब्दार्थ – **हस्सगुणसंकमद्धाए** – अल्पकालिक गुणसंक्रमण के द्वारा, **पूरयित्ता** – पूर कर, **समीससम्मत्तं** – मिश्रमोहनीय को, **चिरसंमत्ता** – चिरकाल तक सम्यक्त्व में रह कर, **मिच्छत्तगयस्स** – मिथ्यात्व में गये हुए, **उव्वलणथोगो** – स्तोक उद्वलना होने पर, **सिं** – उनकी।

गाथार्थ – अल्पकालिक गुणसंक्रम के द्वारा मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति को पूर कर के चिरकाल तक सम्यक्त्व के साथ रह कर मिथ्यात्व में गये हुए जीव के अल्प उद्वलना होने पर उन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – सम्यक्त्व को उत्पन्न कर अल्प गुणसंक्रमाद्धा से अर्थात् अल्पकालिक गुणसंक्रमण के द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र मोहनीय) को मिथ्यात्व के दलिकों से पूर कर (बांध कर)

---

१. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल छियासठ सागरोपम है। अतः दो बार क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी होने की विवक्षा बताने के लिये दो छियासठ सागरोपम, यह संकेत दिया गया है।

बहुत अधिक चिरकाल के बाद सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में गये हुए अर्थात् दो बार छियासठ (६६+६६=१३२) सागरोपम काल तक सम्यक्त्व को पाल कर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल के द्वारा उन सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को उद्वलन करते हुए अल्प उद्वलन संक्रम के समय उन दोनों प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है अर्थात् सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के द्विचरम खंड के जो दलिक चरम समय में मिथ्यात्व प्रकृति रूप परस्थान में प्रक्षेपण किया जाता है, वही इन दोनों प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है। तथा –

संजोयणाण चतुरुव-समित्तु संजोजइत्तु अप्पद्धं।
अयरच्छावट्ठिदुगं, पालिय सकहप्पवत्तंते॥१०१॥

गाथार्थ – संजोयणाण – संयोजना (अनन्तानुबंधी) को, **चतुरुवसमित्तु** – चार बार उपशमना कर, **संजोजइत्तु** – बांधकर, **अप्पद्धं** – अल्पकाल, **अयरच्छावट्ठिदुगं** – दो बार छियासठ सागरोपम तक, **पालिय** – पालन कर, **सकहप्पवत्तंते** – अपने यथाप्रवृत्त के अंत में।

गाथार्थ – चार बार मोहनीय को उपशमना कर पुनः अल्पकाल तक अनन्तानुबंधी कषाय को बांधकर पुनः दो छियासठ सागरोपम काल तक सम्यक्त्व को पालकर अपने यथाप्रवृत्त के अंतिम समय में अनन्तानुबंधी कषायों का जघन्य प्रदेश संक्रम करता है।

विशेषार्थ – चार बार मोहनीय कर्म को उपशमा कर, यहां चार बार मोहनीय कर्म के उपशम से क्या प्रयोजन है ? तो उसका प्रयोजन बहुत अधिक कर्म पुद्गलों की निर्जरा का बोध कराना है कि चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ जीव स्थितिघात रसघात गुणश्रेणी और गुणसंक्रम के द्वारा बहुत से कर्म पुद्गलों की निर्जरा करता है। और फिर चार बार मोहनीय का उपशम करके मिथ्यात्व को जाता है और मिथ्यात्व को जाता हुआ अल्पकाल तक संयोजना को संयोजित कर अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायों को बांधकर उस समय उसके चारित्र मोहनीय के दलिक अत्यल्प ही रहते हैं। क्योंकि चार बार मोह के उपशम काल में उनका स्थितिघात आदि के द्वारा घात कर दिया जाता है। तदनन्तर अनन्तानुबंधी कषायों को बांधता हुआ उनमें यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा ही चारित्रमोहनीय के दलिक संक्रमाता है। इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर वह फिर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। तब दो छियासठ सागरोपम तक सम्यक्त्व का अनुपालन कर अनन्तानुबंधी कषायों के क्षपण के लिये उद्यत होता है। उस जीव के अपने यथाप्रवृत्तकरण के अंतिम समय में उन अनन्तानुबंधी कषायों का विध्यातसंक्रम के द्वारा जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। उससे आगे अपूर्वकरण में गुणसंक्रम प्रवृत्त होता है। इसलिये वहां जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं पाया जाता है, तथा –

अट्ठकसायासाए, य असुभधुवबंधि अत्थिरतिगे य।
सव्वलहुं खवणाए, अहापवत्तस्स चरिमम्मि ॥१०२॥

शब्दार्थ – **अट्ठकसाय** – आठ मध्यम कषाय, **असाए** – असातावेदनीय, **य** – और, **असुभधुवबंधि** – अशुभ ध्रुवबंधिनी, **अत्थिरतिगे** – अस्थिरत्रिक, **य** – और, **सव्वलहुं** – सर्व लघु (अतिशीघ्र), **खवणाए** – क्षय करने को उद्यत, **अहापवत्तस्स** – यथाप्रवृत्तसंक्रम के, **चरिमम्मि** – चरम समय में।

गाथार्थ – आठ मध्यम कषाय, असातावेदनीय, अशुभ ध्रुवबंधिनी और अस्थिरत्रिक का जघन्य प्रदेशसंक्रम अतिशीघ्र क्षपणा के लिये उद्यत जीव यथाप्रवृत्तसंक्रम के चरम समय में करता है।

विशेषार्थ – अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण रूप आठ कषाय, असातावेदनीय, अशुभ ध्रुवबंधिनी कुवर्णादि नवक, उपघात रूप नामकर्म की प्रकृतियां और अस्थिर अशुभ अयशःकीर्ति रूप अस्थिरत्रिक इन बाईस प्रकृतियों में से कषायाष्टक रहित शेष चौदह प्रकृतियों का सबसे लघुकाल द्वारा अर्थात् अत्यल्प समय में शीघ्र ही कर्म क्षपण के लिये उद्यत हुये अर्थात् मास पृथक्त्व अधिक आठ वर्ष बीत जाने पर क्षपण के लिये तत्पर हुए जीव के और आठ कषायों के प्रति देशोन पूर्व कोटि तक संयम को पाल करके[१] क्षपकश्रेणी को प्राप्त उक्त जीव के यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में आठ मध्यम कषायों का विध्यातसंक्रमण से और शेष चौदह प्रकृतियों का यथाप्रवृत्तसंक्रम से जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। तथा –

पुरिसे संजलणतिगे य धोलमाणेण चरमबद्धस्स।

सगअंतिमे असाएण, समा अरई य सोगो य ॥१०३॥

शब्दार्थ – **पुरिसे** – पुरुषवेद, **संजलणातिगे** – संज्वलनत्रिक का, **य** – और, **घोलमाणेण**– घोलमान योग द्वारा, **चरमबद्धस्स** – बंध के अंत समय में, **सगअंतिमे** – अपने-अपने अन्त्य संक्रम के समय, **असाएण** – असाता, **समा** – समान, **अरई** – अरति, **य** – और, **सोगो** – शोक, **य** – और।

गाथार्थ – पुरुषवेद और संज्वलनत्रिक का बंध के अन्त्यसमय में घोलमान योग के द्वारा बांधे गये दलिकों का अपने-अपने अन्त्यसंक्रम के समय जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। अरति और शोक का जघन्य प्रदेशसंक्रम असातावेदनीय के जघन्य प्रदेशसंक्रम के समान जानना चाहिये।

विशेषार्थ – पुरुषवेद और क्रोध, मान, माया, रूप संज्वलनत्रिक का जघन्य प्रदेशसंक्रम क्षपणा के लिये उद्यत अर्थात् क्षपकश्रेणी को प्राप्त हुए जीव के द्वारा अपने अपने बंध के चरम समय में घोलमान योग के द्वारा अर्थात् जघन्य योग से जो बंधा हुआ कर्मदलिक है, उसके चरम प्रक्षेपण के समय होता है। जिसका आशय यह है कि –

इन चारों प्रकृतियों के बंधविच्छेद के समय एक समय कम दो आवलिकाल में बंधे हुए दलिक को

---

१. पंचसंग्रह में तो इन सभी बाईस प्रकृतियों के लिये देशोन पूर्वकोटि तक संयम का पालन करके ऐसा कहा है।

छोड़कर अन्य प्रदेशसत्व नहीं रहता है, वह भी प्रति समय संक्रमण के द्वारा तब तक क्षय को प्राप्त होता रहता है जब तक कि चरम समय में बंधे हुए कर्मदलिक का संख्यातवां भाग शेष रहता है, इसलिये उसे सर्व संक्रम के द्वारा संक्रांत करने वाले जीव के जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

असाएण समा ..... इत्यादि अर्थात् अरति और शोक मोहनीय का जघन्य प्रदेशसंक्रम असातावेदनीय के जघन्य प्रदेश संक्रम के समान जानना चाहिये। तथा –

वेउव्विक्कारसगं उव्वलियं बंधिऊण अप्पद्धं।
जिट्ठठिई निरयाओ, उव्वट्टित्ता अबंधित्तु ॥१०४॥
थावरगयस्स चिर-उव्वलणो एयस्स एव उच्चस्स।
मणुयदुगस्स य तेउसु, वाउसु वा सुहुमबद्धाणं॥१०५॥

शब्दार्थ – **वेउव्विक्कारसगं** – वैक्रिय - एकादशक को, **उव्वलियं** – उद्वलित, **बंधिऊण**– बांधकर, **अप्पद्धं** – अल्पकाल, **जिट्ठठिई** – उत्कृष्ट स्थिति, **निरयाओ** – नरक में से, **उव्वट्टित्ता** – निकलकर, **अबंधित्तु** – नहीं बांधकर।

थावरगयस्स – स्थावर में गये हुये को, **चिर–उव्वलणो** – दीर्घकाल तक उद्वलना करते हुए, **एयस्स** – इनका, **एव** – इसी प्रकार, **उच्चस्स** – उच्चगोत्र का, **मणुयदुगस्स** – मनुष्यद्विक का, **य** – और, **तेउसु वाउसु** – तेजस्काय वायुकाय में, **वा** – और, **सुहुमबद्धाणं** – सूक्ष्म एकेन्द्रिय के भव में बांधते हुए।

गाथार्थ – उद्वलित वैक्रिय - एकादश को अल्पकाल तक बांधकर उत्कृष्ट स्थिति वाले नरक में से निकलकर तिर्यंच पंचेन्द्रिय भव में उनको नहीं बांधकर स्थावरकाय में गये जीव के चिर काल तक उद्वलन करते हुए उक्त जीव के इन ग्यारह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। इसी प्रकार उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक का तेजस्काय और वायुकाय में सूक्ष्म एकेन्द्रिय भव के द्वारा बांधे गये दलिक का पूर्वोक्त विधि से उसी जीव के जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

विशेषार्थ – देवद्विक नरकद्विक और वैक्रियसप्तक इन वैक्रिय एकादशक की एकेन्द्रिय भव में रहते हुये उद्वलना की, फिर पंचेन्द्रियपने को प्राप्त होते हुए अल्पकाल अर्थात् अन्तर्मुहूर्तकाल तक वैक्रिय एकादशक को बांधकर वहां से उत्कृष्ट स्थिति वाला अर्थात् तेतीस सागरोपम की आयु वाली सातवीं नरक पृथ्वी में नारक हुआ और वहां उतने काल तक यथायोग्य उस वैक्रिय एकादशक का अनुभव कर उस सातवें नरक से निकलकर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ और वहां पर उस वैक्रिय - एकादशक को नहीं बांधकर स्थावर एकेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ और वहां पर चिरकालीन उद्वलना से अर्थात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग

प्रमाण काल द्वारा उद्वलनासंक्रम के द्वारा उद्वलना करते हुए जो द्विचरम खंड का दलिक चरम में अन्य प्रकृति रूप से संक्रांत होता है, वह उस जीव के वैक्रिय - एकादशक का जघन्य प्रदेशसंक्रम है।

'एयस्स इत्यादि' अर्थात् इसी अनन्तरोक्त जीव के पूर्वोक्त विधि से तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों में गये हुए और सूक्ष्म एकेन्द्रिय भव में वर्तमान रहते हुये जो उच्चगोत्र और मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी रूप मनुष्यद्विक पूर्व के बंधे हुये हैं, उन्हें चिरकालीन उद्वलना के द्वारा उद्वलन करते हुए द्विचरम खंड के चरम समय में परप्रकृति में जो दलिक संक्रांत होता है, वह उच्च गोत्र और मनुष्यद्विक का जघन्य प्रदेशसंक्रम है।

उक्त कथन का यह आशय है कि मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का पहले तेज और वायुकायिक के भव में रहते हुये उद्वलन किया, फिर सूक्ष्म एकेन्द्रिय भव को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक उन्हें बांधा, तत्पश्चात् पंचेन्द्रिय तिर्यंच भव में जाकर सप्तम नरक पृथ्वी में उत्कृष्ट स्थिति का नारकी हुआ, पुनः वहां से निकलकर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ। इतने काल तक मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र की उद्वलनासंक्रम के द्वारा चिरकाल तक उद्वलना करते हुये द्विचरम खंड का जो दलिक चरम समय में परप्रकृति रूप से संक्रांत किया जाता है वह मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का जघन्य प्रदेशसंक्रम है। तथा —

हस्सं कालं बंधिय, विरओ आहारसत्तगं गंतुं।
अविरइ महुव्वलंतस्स जा थोव उव्वलणा॥१०६॥

शब्दार्थ — **हस्सं कालं** — अल्पकाल तक, **बंधिय** — बांधकर, **विरओ** — सर्वविरति (अप्रमत्त संयत) जीव, **आहारसत्तगं** — आहारकसप्तक को, **गंतुं** — प्राप्तकर, **अविरइ** — अविरतिपने को, **महुव्वलंतस्स**— दीर्घकाल तक उद्वलना करते हुए, **जा** — जो, **थोव** — स्तोक (अल्प) **उव्वलणा** — उद्वलना।

गाथार्थ — सर्वविरति (अप्रमत्त संयत) जीव के, आहारकसप्तक को अल्पकाल तक बांधकर और अविरतिपने को प्राप्तकर दीर्घकाल तक उद्वलना करते हुये जो अल्प उद्वलना वही जघन्य प्रदेशसंक्रम है।

विशेषार्थ — ह्रस्वकाल अर्थात् अल्पकाल तक विरत - अप्रमत्त संयत होकर जो जीव आहारकसप्तक को बांधकर कर्मोदय की परिणति के वश पुनः अविरति को प्राप्त हुआ और पुनः अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् महान अर्थात् चिरकाल तक पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल से उद्वलना के द्वारा उद्वलना करते हुये जो स्तोक उद्वलना होती है, वही आहारकसप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम कहलाता है तथा द्विचरम खंड के समय में जो कर्मदलिक पर प्रकृतियों में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह स्तोक उद्वलना कहलाती है — द्विचरमखंडस्य चरमसमये यत्कर्मदलिकं परप्रकृतिषु प्रक्षिप्यते सा स्तोकोद्वलना तथा —

तेवट्ठिसयं उदहीणं स चउपल्लाहियं अबंधित्ता।
अंते अहप्पवत्त करणस्स उज्जोव तिरियदुगे॥१०७॥

शब्दार्थ – **तेवट्ठिसयं उदहीणं** – एक सौ तिरेसठ सागरोपम तक, **सचउपल्लाहियं** – चार पल्योपम सहित, **अबंधित्ता** – नहीं बांधकर, **अंते** – अन्त समय में, **अहप्पवत्तकरणस्स** – यथाप्रवृत्तकरण के, **उज्जोव तिरियदुगे** – उद्योत और तिर्यंचद्विक को।

गाथार्थ – उद्योत और तिर्यंचद्विक को चार पल्योपम सहित एक सौ तिरेसठ सागरोपम काल तक नहीं बांधकर यथाप्रवृत्तकरण के अंतिम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ – तिरेसठ अधिक सौ सागरोपम और चार पल्योपम अधिक[१] काल तक वह क्षपितकर्मांश जीव तिर्यग्द्विक और उद्योत का सर्व जघन्य सत्कर्मा होकर अर्थात् उतने काल तक उद्योत और तिर्यग्द्विक को नहीं बांधकर यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में उद्योत और तिर्यग्द्विक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है।

प्रश्न – एक सौ तिरेसठ और चार पल्योपम से अधिक काल तक तिर्यंचद्विक और उद्योत को वह कैसे नहीं बांधता है ?

उत्तर – वह क्षपितकर्मांश जीव तीन पल्योपम की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, वहां पर वह देवद्विक को ही बांधता है, तिर्यंचद्विक को नहीं बांधता है और न उद्योत को ही। वहां अन्तर्मुहूर्त आयु के शेष रह जाने पर सम्यक्त्व को प्राप्त कर और वहां सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते हुये भी अर्थात् सम्यक्त्व के साथ ही पल्योपम की स्थिति वाला देव हुआ। पुनः सम्यक्त्व के साथ ही देव भव से च्युत होकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, पुनः उसी अप्रतिपतित सम्यक्त्व के साथ इकतीस सागरोपम की स्थिति वाले ग्रैवेयकों में देव हुआ। वहां पर उत्पन्न होने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त हो गया। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेष रह जाने पर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त किया। तत्पश्चात् दो छियासठ सागरोपमों (एक सौ बत्तीस सागरोपम) तक मनुष्यों और अनुत्तर आदि देवों में सम्यक्त्व का अनुपालन कर उस सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर शीघ्र ही कर्मक्षपण के लिये उद्यत हुआ। तब उस विधि से एक सौ तिरेसठ सागरोपम और चार पल्य से अधिक काल तक वह जीव तिर्यंचद्विक और उद्योत को नहीं बांधता है अर्थात् इतने काल तक उनके बंध से रहित रहता है। तथा –

इगविगलिंदिय जोग्गा, अट्ठऽपज्जत्तगेण सह तेसिं।
तिरियगइसमं, नवरं पंचासी उदहिसयं तु॥१०८॥

शब्दार्थ – **इगविगलिंदियजोग्गा** – एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के योग्य, **अट्ठ** – आठ प्रकृतियां **अपज्जत्तगेणसह** – अपर्याप्त के साथ, **तेसिं** – उनका, **तिरियगइसमं** – तिर्यंचगति के समान,

---

१. यहां अधिक शब्द संख्यात वर्षायु वाले मनुष्य भवों की अपेक्षा का सूचक है।

नवरं – परन्तु, **पंचासीउदहिसयं तु** – एक सौ पचासी सागरोपम तक।

गाथार्थ – एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के योग्य जो आठ और अपर्याप्त प्रकृति के साथ कुल नौ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम तिर्यंचगति के समान जानना चाहिये, परन्तु एक सौ पचासी सागरोपमों तक अबन्ध कहना चाहिये।

विशेषार्थ – एकेन्दिय्र और विकलेन्द्रिय के योग्य जो आठ प्रकृतियां हैं, अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म और साधारण इन आठ में अपर्याप्तक को मिलाने में कुल नौ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम तिर्यंचगति के समान कहना चाहिये। केवल यहां पर एक सौ पचासी सागरोपम और चार पल्योपम अधिककाल तक उनको नहीं बांधकर इतना विशेष कहना चाहिये।

प्रश्न – इतने काल तक उक्त नौ प्रकृतियों का बंध कैसे नहीं होता है ?

उत्तर – यहां जो क्षपितकर्मांश जीव हैं। वह छठवीं नरक पृथ्वी में बाईस सागरोपम की स्थितिवाला नारक हुआ। वहां पर भी आयु के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रह जाने पर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और वहां से सम्यक्त्व के साथ ही निकलकर मनुष्य हुआ और उसी प्रतिपतित सम्यक्त्व के साथ देशविरति को पालकर सौधर्म देवलोक में चार पल्योपम की स्थिति वाला देव हुआ। पुनः वहां से (देवभव से)उसी प्रतिपतित सम्यक्त्व के साथ च्युत होकर मनुष्य हुआ। उस मनुष्यभव में संयम का पालन कर ग्रैवेयकों में इकतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। वहां पर उत्पन्न होने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् छियासठ सागरोपम तक सम्यक्त्व का अनुपालन कर उस सम्यक्त्वकाल का अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर कर्मक्षपण के लिये उद्यत हुआ। इस प्रकार एक सौ पचासी सागरोपम और चार पल्योपम काल तक पूर्वोक्त नौ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। तथा –

छत्तीसाए सुभाणं, सेढिमणारुहिय सेसगविहीहिं।
कट्टु जहन्नं खवणं, अपुव्वकरणालिया अंते॥१०९॥

शब्दार्थ – **छत्तीसाए** – छत्तीस, **सुभाणं** – शुभ प्रकृतियों को, **सेढिमणारुहिय** – (उपशम) श्रेणी का आरोहण नहीं करके, **सेसगविहीहिं** – शेष विधि के द्वारा, **कट्टु** – करते हुए, **जहन्नं** – जघन्य, **खवणं** – क्षपण, **अपुव्वकरणालिया** – अपूर्वकरण की आवलिका के, **अंते** – अन्त में।

गाथार्थ – उपशमश्रेणी पर आरोहण नहीं करके (क्षपितकर्मांश की) शेष विधि के द्वारा छत्तीस शुभ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश समूह करके क्षपण करते हुये अपूर्वकरण की प्रथम आवलिका के अंत में जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है।

विशेषार्थ – श्रेणी पर अनारोहण अर्थात् उपशमश्रेणी को न करके शेष विधि से अर्थात् क्षपितकर्मांश होते हुए पंचेन्द्रिय जाति, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन,[1] तैजससप्तक, प्रशस्त विहायोगति, शुक्ल लोहित, हारिद्र वर्ण, सुरभि गंध, कषाय, अम्ल, मधुर रस, मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण, स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, त्रसादि दशक निर्माण इन छत्तीस प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशाग्र करके कर्मक्षपण के लिये उद्यत क्षपितकर्मांश जीव के अपूर्वकरण काल की प्रथम आवलिका के चरम समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है। उससे ऊपर गुणसंक्रम के द्वारा अत्यधिक प्राप्त हुए कर्मदलिक का संक्रमावलि के अतिक्रांत हो जाने से संक्रम तो संभव है, किन्तु जघन्य प्रदेशसंक्रम नहीं।[1] तथा –

सम्मद्दिट्ठिअजोग्गाण, सोलसण्हं पि असुभपगईणं।
थीवेएण सरिसगं, नवरं पढमं तिपल्लेसु॥ ११०॥

शब्दार्थ – **सम्मद्दिट्ठिअजोग्गाण** – सम्यग्दृष्टि के अयोग्य, **सोलसण्हं** – सोलह, **पि** – भी, **असुभपगईणं** – अशुभ प्रकृतियों का, **थीवेएण** – स्त्रीवेद, **सरिसगं** – सदृश, **नवरं** – परन्तु, **पढमं** – प्रथम, **तिपल्लेसु** – तीन पल्योपम।

गाथार्थ – सम्यग्दृष्टि के अयोग्य सोलह अशुभ प्रकृतियों का भी जघन्य प्रदेशसंक्रम स्त्रीवेद के समान जानना चाहिये। परन्तु केवल तीन पल्योपम की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, इतना विशेष कहना चाहिये।

विशेषार्थ – सम्यग्दृष्टि के अयोग्य जो प्रथम संस्थान और संहनन को छोड़कर शेष पांच संस्थान और पांच संहनन अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, नपुंसकवेद, नीचगोत्र रूप सोलह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम भी स्त्रीवेद के सदृश कहना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार पहले स्त्रीवेद के जघन्य प्रदेशसंक्रम का कथन किया गया है, उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि इन सोलह प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशसंक्रम का स्वामी पहले तीन पल्योपम की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और अन्तर्मुहूर्त की आयु शेष रह जाने पर सम्यक्त्व को प्राप्त कहना चाहिये। शेष वक्तव्यता स्त्रीवेद की वक्तव्यता के अनुसार है। तथा –

नरतिरियाण तिपल्लस्संते ओरालियस्स पाउग्गा।
तित्थयरस्स य बंधा, जहन्नओ आलिगं गंतु॥ १११॥

शब्दार्थ – **नरतिरियाण** – मनुष्य और तिर्यंच को, **तिपल्लस्संते** – तीन पल्योपत के अंत में,

---

१. पंचसंग्रह में तो वज्रऋषभनारचसंहनन को छोड़ कर शेष पैंतीस प्रकृति का ही अपूर्वकरण की प्रथम आवलि के अंत में जघन्य प्रदेशसंक्रम कहा है तथा वज्रऋषभनाराचसंहनन का अपने बंधविच्छेद के समय में जघन्य प्रदेशसंक्रम होता है।

ओरालियस्स – औदारिक के, **पाउग्गा** – प्रायोग्य, **तित्थयरस्स** – तीर्थंकर नाम का, **य** – और, **बंधा** – बंध के बाद, **जहन्नओ** – जघन्य, **आलिगं** – आवलिका, **गंतु** – बीतने के बाद।

गाथार्थ – औदारिकशरीरप्रायोग्य प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसंक्रम तीन पल्योपम की आयु वाले मनुष्य तिर्यंचों को आयु के अंत में होता है तथा तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य प्रदेशसंक्रम बंध होने के बाद एक आवलिकाल व्यतीत होने के अनंतर होता है।

विशेषार्थ – यहां औदारिक - प्रायोग्य इस पद से औदारिकसप्तक ग्रहण करना चाहिये। मनुष्य तिर्यंचों के तीन पल्योपम के अंत में औदारिकशरीर के योग्य जो प्रकृतियां हैं, वे जघन्य प्रदेशसंक्रम के योग्य होती हैं। जिसका यह आशय है कि जो जीव अन्य सभी जीवों की अपेक्षा औदारिकसप्तक की सर्व जघन्य सत्ता वाला होकर तीन पल्योपम की आयु वाले तिर्यंचों या मनुष्यों में उत्पन्न हुआ ऐसा वह जीव औदारिकसप्तक का अनुभव करते हुए और विध्यातसंक्रम के द्वारा परप्रकृति में संक्रम करते हुए अपनी आयु के चरम समय में उस औदारिकसप्तक का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है।

'तित्थयरस्स' इत्यादि अर्थात् तीर्थंकर नाम का बंध करता हुआ जीव प्रथम समय में बांधे हुए दलिक को बंधावलिकाल बीत जाने पर जब पर प्रकृतियों में यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा संक्रमाता है तब तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य प्रदेशसंक्रम करता है।

इस प्रकार प्रदेशसंक्रम का वर्णन जानना चाहिये और इसके साथ ही संक्रमकरण का विवेचन समाप्त होता है। अब आगे क्रमप्राप्त उद्वर्तना और अपवर्तना करण का कथन प्रारम्भ करते हैं।

❑❑

३,४ : उद्वर्तना - अपवर्तनाकरण

अब उद्देश के क्रमानुसार उद्वर्तना और अपवर्तना करण के कथन का अवसर प्राप्त है। ये दोनों ही करण कर्मप्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग में होते हैं।[१] स्थिति के होने पर अनुभाग संभव है अतः सर्वप्रथम स्थिति की उद्वर्तना और अपवर्तना को बतलाते हैं। उसमें भी पहले स्थिति की उद्वर्तना को कहते हैं -

उव्वट्टणा ठिईए, उदयावलियाए बाहिरठिईणं।
होइ अबाहा अइत्था-वणाउ जा वालिया हस्सा॥१॥

शब्दार्थ - **उव्वट्टणा** - उद्वर्तना, **ठिईए** - स्थिति की, **उदयावलियाए** - उदयावलिका से, **बाहिरठिईणं** - बाह्य स्थितियों की, **होइ** - होती है, **अबाहा** - अबाधा, **अइत्थावणाउ** - अतिस्थापना, **जा** - तक, **वालिया** - आवलिका, **हस्सा** - जघन्य।

गाथार्थ - स्थिति की उद्वर्तना उदयावलि से बाहर की स्थितियों में जानना चाहिये। अबाधा से लेकर घटते घटते आवलिका का प्रमाण जघन्य अतीस्थापना होता है।

विशेषार्थ - स्थिति की उद्वर्तना उदयावलिका से बाहर की स्थितियों की जानना चाहिये। उदयावलिका सकल करणों के अयोग्य होने से उसका, निषेध किया है तथा बध्यमान प्रकृति का जितना अबाधाकाल होता है, उससे तुल्य या हीन पूर्वबद्ध, प्रकृतियों की जो स्थिति होती है वह भी उद्वर्तित नहीं की जाती है। अर्थात् उसे उखाड़कर उकेरकर उससे ऊपर (बध्यमान प्रकृति की अबाधा के ऊपर) निक्षिप्त नहीं किया जाता है। क्योंकि वह अबाधाकाल के भीतर प्रविष्ट है किन्तु जो (पूर्वबद्ध प्रकृति की) स्थिति (बध्यमान प्रकृति की) उपरिवर्ती है, वही उद्वर्तित की जाती है। इस प्रकार अबाधाकाल के अन्तः प्रविष्ट सभी स्थितियां उद्वर्तना के अधिकार में अतिक्रमणीय होती हैं अर्थात् त्यागने योग्य होती हैं।

अतिक्रमणीय स्थितियों के प्रमाण निरूपण करने के लिये 'होई .....' इत्यादि पद कहे हैं जिनका आशय है कि अतीस्थापना उल्लंघनीय होती है। यह अतीस्थापना उत्कृष्ट प्रामण की अपेक्षा से है। वह अतीस्थापना हीन और हीनतर होती हुई तब तक जानना चाहिये जब तक ह्रस्व अर्थात् जघन्य अतीस्थापना आवलिका प्रमाण प्राप्त होती है।

---

१. प्रकृति और प्रदेश में संक्रम तो हो सकता है किन्तु उद्वर्तना-अपवर्तना नहीं होने से ये दोनों करण स्थिति और रस में संभव हैं।

अबाधा के अन्तर्गत कर्मदलिक उद्वर्तना के योग्य नहीं होता है, किन्तु अबाधा से परवर्ती दलिक ही उद्वर्तना के योग्य होता है और ऐसा होने पर जो उत्कृष्ट अबाधा है, वही उत्कृष्ट अतीत्थापना तथा एक समय कम उत्कृष्ट अबाधा एक समय कम उत्कृष्ट अतीत्थापना है, दो समय कम उत्कृष्ट अबाधा दो समय कम उत्कृष्ट अतीत्थापना है। इस प्रकार एक समय की हानि से अतीत्थापना उत्तरोत्तरहीन तब तक कहना चाहिये जब तक कि जघन्य अबाधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्राप्त होती है। उससे भी जघन्यतर अतीत्थापना आवलिका प्रमाण होती है और वह उदयावलिका लक्षणवाली जानना चाहिये। जैसा कि कहा है – 'उदयावलिका की अन्तर्वर्ती स्थितियां उद्वर्तित नहीं होती हैं किन्तु उदयावलिका से बाहर की ही स्थिति की उद्वर्तना होती है' इस वचन के अनुसार उदयावलि के अन्तर्गत स्थितियां उद्वर्तित नहीं होती हैं।

शंका – 'आबंधा उक्कड्ढिइ' इत्यादि आगे कही जाने वाली गाथा [१] के अनुसार 'जितने काल तक या जब जब बंध होता है तब तक उद्वर्तना होगी तब उदयावलिका गत स्थितियां अबाधा के अन्तर्गत होने से उदवर्तित नहीं होगी' इस वाक्य में उदयावलिका के ग्रहण करने से क्या प्रयोजन है[२]?

समाधान – यह शंका योग्य नहीं है। आपने इसका अभिप्राय नहीं समझा है। क्योंकि अबाधा के अन्तर्गत स्थितियां उद्वर्तित नहीं होती हैं – इसके द्वारा यह बताया गया हैं कि अबाधा के अन्तर्गत विद्यमान स्थितियां अपने स्थान से उखाड़कर ऊपर निक्षिप्त नहीं की जाती हैं। किन्तु अबाधा के मध्य में तो उनका बक्ष्यमाणा क्रम से उद्वर्तन और निक्षेप होने से विरोध नहीं होता है। इसलिये 'उदयावलिका के अन्तर्गत भी उद्वर्तनीय स्थितियां प्राप्त होती हैं' इसका यहां निषेध किया है।[३]

---

१. कर्मप्रकृति उद्वर्तना-अपवर्तना करण गाथा १०

२. इस प्रश्न का भावार्थ यह है कि जब अन्तर्मुहूर्त जघन्य अबाधा रूप अतीत्थापना बताई है, तब उदयावलिका तो (अन्तर्मुहूर्त से भी अत्यल्प होने से) अन्तर्मुहूर्त में अन्तःप्रविष्ट है ही। अतः अन्तर्मुहूर्त की जघन्य अतीत्थापना कहने का क्या कारण है। क्योंकि ऐसा संभव नहीं है कि अवधारणा रूप अतीत्थापना बिल्कुल विद्यमान ही न हो और उस समय मात्र उदयावलिका ही विद्यमान हो। यदि ऐसा हो तो उदयावलिका रूप अतीत्थापना अन्तर्मुहूर्त रूप अतीत्थापना से अलग कही जा सकता है।

३. अबाधा संबंधी अन्तर्मुहूर्त की जघन्य अतीत्थापना और उदयावलिका रूप अतीत्थापना में अन्तर है। क्योंकि अबाधा अतीत्थापना की सर्वथा उद्वर्तना नहीं होती है, ऐसा नहीं है, लेकिन अबाधान्तर्गत स्थितियों का अबाधा से ऊपर प्रक्षेप अथवा निक्षेप नहीं होता है किन्तु अबाधा का अबाधा में प्रक्षेप अथवा निक्षेप तो हो सकता है और उदयावलिका के दलिक का कहीं भी प्रक्षेप नहीं करने की अपेक्षा अतीत्थापना रूप से विवक्षित की हैं और उदयावलिका की स्थितियां तो सर्वथा कहीं पर भी प्रक्षिप्त नहीं करने की अपेक्षा अतीत्थापना रूप से विवक्षित की है। अतः इन दोनों अतीत्थापनाओं में महान अंतर होने से उदयावलिका के अबाधान्तर्गत होने पर भी ये दोनों अतीत्थापना पृथक् मानी जाती हैं।

अब निक्षेप का निरूपण करते हैं –

आवलियअसंखभागाइ जाव कम्मट्ठिइ त्ति निक्खेवो।
समउत्तरालियाए, साबाहाए भवे ऊणे ॥२॥

शब्दार्थ – **आवलियअसंखभागाइ** – आवलि के असंख्यातवें भाग से लेकर, **जाव** – तक, **कम्मट्ठिइत्ति** – कर्मस्थिति प्रमाण, **निक्खेवो** – निक्षेप, **समउत्तरालियाए** – समयाधिक आवलिका, **साबाहाए** – अबाधा सहित, **भवे** – होता है, **ऊणे** – न्यून, हीन।

गाथार्थ – आवलिका के उस असंख्यातवें भाग से लेकर अबाधा सहित समयाधिक आवलिका से हीन कर्मस्थिति प्रमाण निक्षेप होता है।

विशेषार्थ – यहां निक्षेप दो प्रकार का है – १. जघन्य और २. उत्कृष्ट। इनमें से जो आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों में कर्मदलिक निक्षेप होता है, वह जघन्य निक्षेप है। वह इस प्रकार समझना चाहिये कि –

सर्वोत्कृष्ट स्थिति के अग्रभाग से नीचे आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग नीचे उतरकर उससे अधस्तनी जो स्थिति है उसका दलिक अतीत्थापनावलिका प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन कर उपरितनी जो आवलिका असंख्यातवें भाग वाली स्थितियां हैं, उनमें निक्षेपण किया जाता है। आवलि के मध्यवर्ती स्थितियों में नहीं, क्योंकि ऐसा ही स्वभाव है। इसलिये यह जघन्य दलिक निक्षेप है। ऐसा होने पर आवलिका के असंख्यातवें भाग से अधिक आवलिका प्रमाण स्थितियों में उद्वर्तना नहीं होती है, यह सिद्ध हुआ और ऐसी अवस्था में उत्कृष्ट स्थिति बंध होने पर उद्वर्तना योग्य स्थितियां बंधावलिका रूप अबाधा और उपरतनी असंख्यातवें भाग से अधिक आवलिका को छोड़कर शेष सभी जानना चाहिये। वह इस प्रकार कि बंधावलिका के अन्तर्गत कर्मदलिक सकल करणों के अयोग्य होते हैं, इस नियम के अनुसार बंधावलिका के अन्तर्गत स्थितियां उद्वर्तना के योग्य नहीं हैं और न अबाधा के अन्तर्गत स्थितियां उद्वर्तना के योग्य होती हैं। क्योंकि उनका अतीत्थापना रूप से पहले प्रतिपादन किया जा चुका है और आवलि के असंख्यातवें भाग से अधिक आवलि प्रमाणकाल भावी उपरिवर्ती स्थितियां पूर्वोक्त युक्ति से उद्वर्तना के योग्य नहीं हैं।

अब निक्षेप का विचार करते हैं –

तब एक आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण ऊपर से नीचे उतरकर दूसरी अधोवर्ती स्थिति उद्वर्तित की जाती है तब एक समय अधिक आवलिका का असंख्यातवां भाग निक्षेप का विषय होता है और जब (उसके नीचे की)तीसरी स्थिति उद्वर्तित की जाती है तब दो समय

(आवलिका का असंख्यातवां भाग) निक्षेप का विषय होता है। इस प्रकार एक एक समय की वृद्धि से दलिक निक्षेप तब तक बढ़ता है जब तक कि उत्कृष्ट प्रमाण प्राप्त होता है।

वह उत्कृष्ट प्रमाण कितना होता है ? तो इसके लिये 'समय' इत्यादि पद कहा है। अर्थात एक समयाधिक आवलिका से और अबाधा से हीन सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण होता है। जिसका आशय यह है – अबाधा से उपरितनवर्ती स्थितियों की उद्वर्तना होती है, उसमें भी अबाधा से उपरितन स्थितिस्थान के उद्वर्तन किये जाने पर अबाधा के ऊपर दलिक निक्षेप होता है, अबाधा के मध्य में नहीं होता है। क्योंकि उद्वर्तन किये जाने वाले दलिक का उद्वर्तन की जाने वाली स्थिति के ऊपर ही निक्षेप होता है। उसमें भी उद्वर्त्यमान स्थिति के ऊपर आवलिका प्रमाण स्थितियों का उल्लंघन कर ऊपर की सभी स्थितियों में दलिक निक्षेप होता है। अतः अतीत्थापनावलिका और उदवर्त्यमान समय प्रमाण स्थिति तथा अबाधा को छोड़कर शेष सभी कर्मस्थिति उत्कृष्ट दलिक निक्षेप का विषय होती है। पंचसंग्रह टीका में भी कहा है –

एक समय अधिक आवलिका और अबाधाकाल से हीन जितनी उत्कृष्ट कर्मस्थिति है, उतने प्रमाण दलिक निक्षेप होता है। ..... अबाधा के ऊपर स्थित स्थितियों की उद्वर्तना होती है, वह भी अतीत्थापना का उल्लंघन कर होती है एवं उद्वर्त्यमान स्थिति में भी दलिक निक्षेप नहीं होता है। इस कारण एक समय अधिक आवलिका और अबाधा के ऊपर की एक समय प्रमाण उद्वर्त्यमान स्थितिस्थान से उत्कृष्ट दलिक निक्षेप का विषय प्राप्त होता है और सर्वोपरि स्थिति जो उद्वर्त्यमान है, उसकी अपेक्षा जघन्य दलिक निक्षेप का विषय प्राप्त होता है। कहा भी है –

आबाहोवरिट्ठाणगदलं पडुच्चेह परमनिक्खेवो।
चरिमुव्वट्टणठाणं पडुच्च इह जायइ जहण्णो[1]॥

अर्थात् अबाधा से ऊपर अनन्तर समय के स्थितिस्थानगत दलिक की अपेक्षा परम (उत्कृष्ट) निक्षेप और चरम उद्वर्तनस्थान की अपेक्षा यहां जघन्य निक्षेप प्राप्त होता है।

यह दलिकनिक्षेप की विधि निर्व्याघात अवस्था की बताई है। किन्तु व्याघात - अवस्था में दलिकनिक्षेप की विधि इस प्रकार है –

निव्वाघाएणेवं, वाघाए संतकम्महिगबंधो।
आवलिअसंखभागादि, होइ अइत्थावणा नवरं॥ ३॥

शब्दार्थ – **निव्वाघाएणेवं** – इस प्रकार निर्व्याघातदशा में, **वाघाए** – व्याघातदशा में,

१. पंच सग्रह उद्वर्तनापवर्तनाकरण गाथा ४

संतकम्महिगबंधो – सत्ता स्थिति से अधिक स्थिति से बंध रूप, **आवलिअसंखभागादि** – आवलि के असंख्यातवें भाग से लेकर, **होइ** – होती है, **अइत्थावणा** अतीत्थापना, **नवरं** – परंतु।

गाथार्थ – निर्व्याघातदशा में दलिकनिक्षेप की विधि इस प्रकार की (पूर्वोक्त प्रकार की) जानना चाहिये किन्तु सत्तास्थिति से अधिक स्थितिबंध रूप व्याघातदशा में अतीत्थापना आवलिका के असंख्यातवें भाग से लेकर (प्रारम्भ कर) पूर्ण आवलिका पर्यन्त होती है।

विशेषार्थ – इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से दलिकनिक्षेप निर्व्याघात दशा में अर्थात् व्याघात के अभाव में जानना चाहिये, किन्तु व्याघातदशा में अर्थात् प्राक्तन स्थिति सत्व की अपेक्षा अधिक नवीन कर्मबंध होने पर असंख्यातवें भाग को आदि लेकर आवलिका प्रमाण अतीत्थापना होती है और निक्षेप भी आवलिका गत असंख्यातवें भाग आदि रूप होता है। उक्त कथन का यह आशय है –

प्राक्तन सत्कर्म रूप स्थिति की अपेक्षा एक समय आदि से अधिक जो नवीन कर्मबंध होता है वह व्याघात कहलाता है – **प्राक्तन-सत्कर्म स्थित्यपेक्षया समयादिनाभ्यधिको योऽभिनवकर्मबंधः स व्याघात उच्यते।** उस व्याघात के होने पर अतीत्थापना आवलिका के असंख्यातवें भाग आदि रूप होती है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि प्राक्तन सत्ता वाली स्थिति से एक समय मात्र अधिक नवीन कर्मबंध होने पर प्राक्तन सत्कर्म की चरम अवस्था अथवा द्विचरम स्थिति उद्वर्तित नहीं होती है। इसी प्रकार दो समय से, तीन समय से यावत् आवलिका के असंख्यातवें भाग से अधिक नवीन कर्मबंध के होने पर जानना चाहिये। किन्तु जब आवलिका के दो असंख्यातवें भागों से अधिक नवीन कर्मबंध होता है तब प्राक्तन सत्कर्म की अंतिम स्थिति उद्वर्तित की जाती है और उद्वर्तित करके आवलि के प्रथम असंख्यातवें भाग का उल्लंघन कर दूसरे असंख्यातवें भाग में निक्षिप्त की जाती है।

जघन्य अतीत्थापना और निक्षेप इतने प्रमाण वाला होता है।

किन्तु जब आवलिका के समयाधिक दो असंख्यातवें भागों से अधिक नवीन कर्मबंध होता है तब आवलिका के प्रथम असंख्यातवें समयाधिक भाग का उल्लंघन कर द्वितीय असंख्यातवें भाग में निक्षिप्त की जाती है। इस प्रकार नवकर्मबंध की समयाधिक वृद्धि होने पर अतीत्थापना बढ़ती है, किन्तु निक्षेप तो सर्वत्र ही उतना ही रहता है। उससे ऊपर नवीन कर्मबंध की वृद्धि होने पर केवल निक्षेप तो बढ़ता है अतीत्थापना नहीं। जब तक नवीन कर्मबंध प्राक्तन स्थिति सत्कर्म की अपेक्षा आवलिका के दो असंख्यातवें भागों से अधिक नहीं होता है, तब तक प्राक्तन सत्कर्म की चरम स्थिति के नीचे असंख्यातवें भाग से अधिक आवलिका का उल्लंघन कर उससे अधस्तनी स्थितियां ही उद्वर्तित की जाती हैं। उसमें भी जब असंख्यातवें भाग से अधिक आवलिका का उल्लंघन कर उससे अनन्तरवर्ती

अधस्तनी स्थिति को उद्वर्तित करता है तब आवलिका का उल्लंघन कर उपरितन आवलिका के असंख्यातवें भाग में निक्षेप करता है और जब दूसरी अधस्तनवर्ती स्थिति का उद्वर्तन करता है तब समयाधिक असंख्यातवें भाग में निक्षेप करता है। इस प्रकार से उद्वर्तन और निक्षेप जानना चाहिये।[१]

अब अल्पबहुत्व का कथन करते हैं – जघन्य अतीत्थापना और जघन्य निक्षेप, यह दोनों ही (वक्ष्यमाण पदों की अपेक्षा) सबसे कम हैं और परस्पर तुल्य हैं। क्योंकि ये दोनों ही आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनसे उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यात गुणी है। क्योंकि वह उत्कृष्ट अबाधा प्रमाण है। उससे भी उत्कृष्ट निक्षेप असंख्यात गुण है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका और अबाधा से हीन संपूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण है। उससे भी सम्पूर्ण कर्मस्थिति विशेषाधिक है।

जिसका प्रारूप इस प्रकार है –

क्रम	नाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१.	जघन्य अतीत्थापना	सर्वस्तोक परस्पर	आवलि के असंख्यातवें
२.	जघन्य निक्षेप	सर्व स्तोक तुल्य	भाग प्रमाण
३.	उत्कृष्ट अतीत्थापना	पूर्व से असंख्यातगुणी	उत्कृष्ट अबाधा प्रमाण
४.	उत्कृष्ट निक्षेप	पूर्व से असंख्यातगुणा	समयाधिक आवलिका प्रमाण और अबाधा से हीन सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण
५.	सम्पूर्ण कर्मस्थिति	पूर्व से विशेषाधिक	

इस प्रकार स्थिति की उद्वर्तना का कथन जानना चाहिये।

स्थिति अपवर्तना –

अब स्थिति अपवर्तना बतलाते हैं –

उव्वट्टंतो य ठिइं, उदयावलिबाहिरा ठिइविसेसा।
निक्खिवइ तइय भागे, समयहिए, सेसमइवईय॥ ४॥
वड्ढइ तत्तो अतित्थावणा उ जावालिगा हवइ पुन्ना।
ता निक्खेवो समया-हिगालिग दुगूण कम्मठिई॥ ५॥

शब्दार्थ – उव्वट्टंतो य ठिइं – स्थिति की अपवर्तना करता हुआ, **उदयावलिबाहिरा** – उदयावलि के बाहर के, **ठिइविसेसा** – स्थितिविशेषों को, **निक्खिवइ** – निक्षेप करता है, **तइय**

१. इसका प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

भागे – तीसरे भाग में, **समयहिए** – समयाधिक, **सेसमइवईय** – शेष का अतिक्रमण कर।

वड्ढइ – बढ़ती है, **तत्तो** – वहां से, **अतित्थावणा** – अतीत्थापना, **जावलिगा** – जब तक आवलिका, **हवई** – होती है, **पुन्ना** – पूर्ण, **ता** – तत्पश्चात्, **निक्खेवो** – निक्षेप, **समयाहिगालिग**– समयाधिक आवलिका, **दुगूण** – द्विकहीन, **कम्मठिइ** – कर्मस्थिति।

गाथार्थ – (कर्म) स्थिति की अपवर्तना करता हुआ जीव उदयावलिका से बाहर के स्थिति विशेषों को अतिक्रमण करके समयाधिक आवलिका के तृतीय भाग में निक्षेप करता है और वहां से लेकर आवलिका पूर्ण होने तक अतीत्थापना बढ़ती है (वहां से आगे समयाधिक आवलिका द्विकहीन सर्वकर्मस्थिति प्रमाण उत्कृष्ट निक्षेप होता है।)

विशेषार्थ – स्थिति का अपवर्तन करता हुआ जीव उदयावलिका से बाह्य स्थिति भेदों का अपवर्तन करता है।

प्रश्न – वे स्थितिविशेष कितने होते हैं ?

उत्तर – उदयावलिका से ऊपर एक समय मात्र स्थिति, दो समय मात्र स्थिति इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक कि बंधावलिका और उदयावलिका से हीन[१] सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्राप्त होती है। वे स्थितिविशेष इतने होते हैं। जो अपवर्तना के योग्य होते हैं।

उदयावलिकागत स्थिति सकल करणों के अयोग्य होती है, इसलिये इसे अपवर्तित नहीं करता है। इसी कारण यह कहा कि उदयावलिका से बाह्य स्थितिविशेषों को अपवर्तित करता है।

प्रश्न – अपवर्तित करके कहां निक्षिप्त करता है ?

उत्तर – आवलिका के समयाधिक तृतीय विभाग में, शेष समयोन (एक समय कम) उपरितन दो विभागों को अतिक्रमण करके। इसका आशय यह है कि - उदयावलिका से उपरितन जो स्थिति है, उसके दलिक का अपवर्तन करता हुआ उदयावलिका के उपरितन समयोन दो विभागों को अतिक्रमण कर अधोवर्ती एक समय अधिक तीसरे भाग में निक्षिप्त करता है। यह जघन्य निक्षेप है और यही जघन्य अतीत्थापना है।[२]

---

१. यहां जो उदयावलिका अपवर्तनीय बताई है वह अपवर्तना के प्रवर्तित होने के काल की अपेक्षा से समझना चाहिये। अन्यथा अपवर्तना के प्रारम्भ होने के पहले बंधावलिका भी अनपवर्तनीय है। अर्थात् बध्यमान प्रकृतियों की बंधावलिका व्यतीत होने के बाद अपवर्तना प्रारम्भ होती है और वह भी उदयावलिकागत स्थितियों को छोड़कर शेष स्थितियों में ही प्रारम्भ होती है।

२. अपवर्तना में अबाधा की अतीत्थापना नहीं होती है। इसलिये यहां अबाधा संबंधी अतीत्थापना नहीं बताई है।

जब उदयावलिका से ऊपर की दूसरी स्थिति अपवर्तित की जाती है तब अतीत्थापना एक समय अधिक पूर्वोक्त प्रमाण रहती है, किन्तु निक्षेप उतना ही रहता है और जब उदयावलि से ऊपर की तीसरी स्थिति अपवर्तित की जाती है, तब अतीत्थापना दो समय अधिक पूर्वोक्त प्रमाण रहती है किन्तु निक्षेप उतना ही रहता है। इसी प्रकार अतीत्थापना प्रति समय तब तक बढ़ाते जाना चाहिये जब तक कि आवलिका परिपूर्ण होती है। इसके पश्चात् अतीत्थापना तो सर्वत्र उतनी ही रहती है अर्थात् आवलिका प्रमाण रहती है किन्तु निक्षेप बढ़ता है जब तक कि बंधावलिका और अतीत्थापनावलिका और अपवर्त्यमान स्थिति रहित सभी कर्मस्थिति प्राप्त होती है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि –

बंधावलिका के व्यतीत होने पर कर्म का अपवर्तन प्रारम्भ करता है। उसमें भी जब सर्व उपरितन स्थितिस्थान को अपवर्तित करता है, तब आवलिका प्रमाण नीचे उतरकर अधोवर्ती सभी स्थितिस्थानों में निक्षिप्त करता है। इस कारण उत्कृष्ट निक्षेप अपवर्त्यमान स्थिति के समय रहित बंधावलिका और अतीत्थापनावलिका से रहित सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है –

समयाहि अइत्थवणा बंधावलिया य मोत्तु निक्खेवो।
कम्मट्ठिई बंधोदय आवलिया मुत्तु उव्वट्टे॥[1]

अर्थात् अपवर्तनाकरण में समयाधिक अतीत्थापनावलिका और बंधावलिका को छोड़कर शेष सर्व स्थितियों में उत्कृष्ट निक्षेप होता है तथा बंधावलिका और उदयावलिका को छोड़कर शेष सर्व स्थितियां अपवर्तित होती हैं।

इसका अर्थ यह है कि बंधावलिका और उदयावलिका[2] को छोड़कर शेष सभी कर्मस्थिति को अपवर्तित करता है। इस प्रकार उदयावलिका से ऊपर के एक समय मात्र स्थितिस्थान की अपेक्षा अपवर्तना के प्रवर्त्तमान होने पर निक्षेप एक समय अधिक आवलिका का त्रिभाग प्राप्त होता है। यह सर्व जघन्य निक्षेप है और सबसे ऊपर के स्थितिस्थान की अपेक्षा अपवर्तना के प्रवर्त्तमान होने पर यथोक्त रूप उत्कृष्ट निक्षेप होता है। कहा भी है –

---

१. पंचसंग्रह उद्वर्तनापवर्तना करण गाथा १३।

२. बंधावलिका तो स्थिति संबंधी समस्त लता की अपवर्तना को रोकती है किन्तु उदयावलिका उस स्थिति संबंधी समस्त लता की अपवर्तना को नहीं रोकर मात्र अपनी ही अपवर्तना को रोकती है और प्रारम्भ समय में उदयावलिका प्रमाण स्थितियां अपवर्तन के असाध्य हैं। इसलिये यहां बंध और उदय इन दोनों आवलिका को ग्रहण किया है।

उदयावलि मुपरित्थं ठाणं अहिगिच्च होई अइहीणो।
निक्खेवो सव्वोवरि ठिइठाणवसा भवे परमो॥[1]

अर्थात् उदयावलिका से ऊपर के स्थितिस्थान की अपेक्षा अतिहीन (जघन्य) निक्षेप और सबसे ऊपरी स्थान की अपेक्षा से परम (उत्कृष्ट) निक्षेप प्राप्त होता है।

इस प्रकार निर्व्याघात दशा में स्थिति अपवर्तना की विधि कही गई है।[2] अब व्याघात दशा में अपवर्तना की विधि बतलाते हैं –

बाघाए समऊणं, कंडगमुक्कस्सिया अइत्थवणा।
डायठिई किंचूणा ठिइकंडुक्कस्सगपमाणं॥ ६॥

शब्दार्थ – **बाघाए** – व्याघात दशा में, **समऊणं** – एक समय कम, **कंडग** – कंडक, **उक्कस्सिया** – उत्कृष्ट, **अइत्थवणा** – अतीत्थापना, **डायठिई** – डायस्थिति, **किंचूणा** – कुछ कम, **ठिइकंडुक्कस्सग** – कंडक स्थिति का उत्कृष्ट, **पमाणं** – प्रमाण।

गाथार्थ – व्याघात दशा में एक समय कम कंडक प्रमाण उत्कृष्ट अतीत्थापना होती है और कुछ कम डायस्थिति के तुल्य है।

विशेषार्थ – व्याघात अर्थात् स्थितिघात, उसके होने पर अर्थात् उसे करते हुए एक समय कम कंडक प्रमाण उत्कृष्ट अतीत्थापना होती है।

प्रश्न – एक समय कम कैसे कहा ?

उत्तर – उपरितन समय मात्र - अपवर्त्यमान स्थितिस्थान के साथ अधस्तन स्थान से अर्थात् नीचे के स्थान से कंडक प्रमाण समय अतिक्रमण किया जाता है। इसलिये बिना कंडक एक समय कम ही होता है।

अब कंडक प्रमाण कहते है कि - डायस्थिति इत्यादि। अर्थात् जिस स्थिति से आरम्भ करके उसी प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति बंध करता है वहां से लेकर सभी स्थिति डायस्थिति कहलाती है, पंच संग्रह की मूल टीका में भी कहा है कि - **यस्सा स्थितेरारभ्योत्कृष्टं स्थितिबंधं विधत्ते निर्मापयति, तस्या आरभ्योपरितनानि सर्वाण्यपि स्थितेस्थानानि डायस्थिति संज्ञानि भवन्ति।**

जिस स्थिति से आरम्भ करके उत्कृष्ट स्थितिबंध का निर्माण करता है, उससे लेकर ऊपरी

---

१. पंच-संग्रह उदवर्तनापवर्तनाकरण गाथा १२।

२. इसका प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

सभी स्थितिस्थान डायस्थिति कहलाते हैं। वह डायस्थिति कुछ कम कंडक के उत्कृष्टप्रमाण होती है। किन्तु पंचसंग्रह में टीकाकार ने इस प्रकार व्याख्या की है –

वह डायस्थिति उत्कृष्ट से कुछ कम कर्मस्थिति प्रमाण होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है – संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव अन्तः कोडाकोडी प्रमाण स्थितिबंध को करके पुनः उत्कृष्ट संक्लेश के वश उत्कृष्ट स्थिति को करता है वह डायस्थिति कुछ कम कर्मस्थिति प्रमाण होती है। यही कंडक का उत्कृष्ट प्रमाण है। यह उत्कृष्ट कंडक एक समय से भी न्यून हो जाता है तो भी कंडक कहा जाता है। इसी प्रकार दो समय से हीन, तीन समय से हीन तब तक कहना चाहिये जब तक पल्योपम का असंख्यातवां भाग मात्र प्रमाण प्राप्त होता है। यह जघन्य कंडक है और यह एक समय कम कंडक व्याघात में जघन्य अतीत्थापना का प्रमाण है।[१]

अब अल्पबहुत्व[२] का कथन करते हैं –

१. अपवर्तना में जघन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि उसका प्रमाण समयाधिक आवलिका का त्रिभाग मात्र है अर्थात् एक समय अधिक एक त्रिभाग आवलिका प्रमाण है।

२. उससे भी जघन्य अतीत्थापना तीन समय कम दुगुनी होती है। तीन समय कम दुगुनी कैसी होती है ? तो इसका उत्तर यह है कि व्याघात के बिना जघन्य अतीत्थापना एक समय कम आवलिका के दो त्रिभाग प्रमाण होती है। असत् कल्पना से इसका स्पष्टीकरण इस तरह समझना चाहिये कि यदि आवलिका का प्रमाण नौ समय माना जाये तो अतीत्थापना एक समय कम दो त्रिभाग पांच समय प्रमाण होगी। जघन्य निक्षेप भी समयाधिक आवलिका के त्रिभाग रूप है। अर्थात् असत्कल्पना से वह चार समय प्रमाण है। क्योंकि उसे दुगुना करके तीन समय (आवलिका का एक त्रिभाग) कम करने पर पांच समय प्रमाण ही प्राप्त होता है। इसलिये अपवर्तना में जघन्य अतीत्थापना तीन समय कम दुगुनी कही है।

३. उससे भी निर्व्याघात भावी अतीत्थापना विशेषाधिक है। क्योंकि वह परिपूर्ण आवलिका प्रमाण होती है।

४. उससे भी व्याघात अतीत्थापना असंख्यातगुणी है। क्योंकि वह कुछ कम डायस्थिति प्रमाण है।

---

१. व्याघातभावी स्थिति अपवर्तना में दलिक निक्षेप का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

२. इस अल्पबहुत्व में व्याघात-अपवर्तना संबंधी जघन्य निक्षेप, उत्कृष्ट निक्षेप और जघन्य अतीत्थापना इन तीन का अल्पबहुत्व नहीं बताया है।

५. उससे भी उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है। क्योंकि वह समयाधिक दो आवलि से हीन सम्पूर्ण कर्मस्थिति प्रमाण है।

६. उससे भी कर्मस्थिति विशेषाधिक है।

अब उद्वर्तना और अपवर्तना का संयोगज (मिश्र) अल्पबहुत्व बतलाते हैं –

१. व्याघात - उद्वर्तना में जघन्य अतीत्थापना और जघन्य निक्षेप सबसे कम हैं और वे दोनों स्वस्थान में परस्पर तुल्य हैं। उनका प्रमाण आवलिका का असंख्यातवां भाग है।

२. उससे अपवर्तना में जघन्य निक्षेप असंख्यात गुणा है। क्योंकि वह समयाधिक आवलिका के त्रिभाग मात्र है।

३. इससे भी अपवर्तना में ही जघन्य अतीत्थापना तीन समय कम दुगुनी होती है। यहां तात्पर्य पूर्व के समान जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण ऊपर किया है।

४. उससे भी अपवर्तना में ही व्याघात के बिना (निर्व्याघात भावी) उत्कृष्ट अतीत्थापना विशेषाधिक है। क्योंकि वह परिपूर्ण आवलि प्रमाण होती है।

५. उससे भी उद्वर्तना में उत्कृष्ट अतीत्थापना संख्यात गुणी है। क्योंकि उसका प्रमाण उत्कृष्ट अबाधारूप है ।

६. उससे भी अपवर्तना में व्याघात के समय उत्कृष्ट अतीत्थापना असंख्यात गुणी है। क्योंकि उसका प्रमाण कुछ कम 'डायस्थिति' है।

७. उससे भी उद्वर्तना में उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है।

८. उससे भी अपवर्तना में उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है।

९. उससे भी सम्पूर्ण स्थिति विशेषाधिक है।

स्थिति अपवर्तना और स्थिति उद्वर्तना–अपवर्तना मिश्र के अल्पबहुत्व का प्रारूप इस प्रकार है –

स्थिति अपवर्तना में जघन्य निक्षेप आदि के अल्पबहुत्व का प्रारूप

क्रम	नाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१.	जघन्य निक्षेप	सर्व स्तोक	समयाधिक एक तृतीयांश आवलिका
२.	जघन्य अतीत्थापना	पूर्व से त्रिसमय न्यून द्विगुण	एक समय हीन दो तृतीयांश आवलिका प्रमाण

३.	निर्व्याघातभावी अप. की उत्कृष्ट अतीत्थापना	पूर्व से विशेषाधिक	सम्पूर्ण आवलिका प्रमाण
४.	व्याघात अप. की उत्कृष्ट अतीत्थापना	पूर्व से असंख्यातगुणी	देशोन डायस्थिति प्रमाण
५.	उत्कृष्ट निक्षेप	पूर्व से विशेषाधिक	समयाधिक आवलिका द्विकोन सर्व कर्म - स्थिति प्रमाण
६.	सर्व कर्मस्थिति	पूर्व से विशेषाधिक	उत्कृष्ट निक्षेप, उत्कृष्ट अतीत्थापना और बंधावलिकादि सहित होने से

स्थिति उद्वर्तना - अपवर्तना के मिश्र अल्पबहुत्व का प्रारूप

क्रम	नाम	अल्पबहुत्व	प्रमाण
१.	व्याघातोद्वर्तना में जघन्य अतीत्थापना जघन्य निक्षेप	सर्व स्तोक किन्तु परस्पर तुल्य	आवलिका का असंख्यातवां भाग
२.	अपवर्तना में जघन्य निक्षेप	पूर्व से असंख्यातगुणा	समयाधिक एक तृतीयांश आवलिका प्रमाण
३.	अपवर्तना में जघन्य अतीत्थापना	पूर्व से त्रिसमय न्यून द्विगुण	एक समय हीन दो तृतीयांश आवलिका प्रमाण
४.	निर्व्याघात अप. उत्कृष्ट अतीत्थापना	पूर्व से विशेषाधिक	सम्पूर्ण आवलिका प्रमाण
५.	उद्वर्तना उत्कृष्ट अतीत्थापना	पूर्व से संख्यात गुण	उत्कृष्ट अबाधा तुल्य
६.	व्याघात अप. उत्कृष्ट अतीत्थापना	पूर्व से असंख्यात गुणी	देशोन डायस्थिति प्रमाण
७.	उद्वर्तना उत्कृष्ट निक्षेप	पूर्व से विशेषाधिक	एक समय एक आवलिका और अबाधाहीन सर्व स्थिति प्रमाण

८. अपवर्तना उत्कृष्ट निक्षेप	पूर्व से विशेषाधिक	समयाधिक आवलिका द्विकहीन स्थिति प्रमाण
९. सर्व कर्मस्थिति	पूर्व से विशेषाधिक	उत्कृष्ट निक्षेप, उत्कृष्ट अतीत्थापना बंधावलिका सहित होने से

इस प्रकार स्थिति की उद्वर्तना और अपवर्तना जानना चाहिये।

अनुभाग उद्वर्तन - अपवर्तन

अब अनुभाग सम्बन्धी उद्वर्तन और अपवर्तन के कथन का क्रम प्राप्त होता है। उसमें से पहले अनुभागोदवर्तन को बतलाते हैं –

चरमं नोव्वट्टिज्जइ, जावाणंताणि फड्डगाणि ततो।
उस्सक्किय ओकड्डइ, एवं उव्वट्टणाईओ॥७॥

शब्दार्थ – **चरमं** – चरम, अन्त्य, **नोव्वट्टिज्जइ** – उद्वर्तना नहीं की जाती है, **जावाणंताणि**– यावत् अनन्त, **फड्डगाणि** – स्पर्धकों की, **ततो** – उससे, **उस्सक्किय** – नीचे के, **ओकड्डइ** – उद्वर्तना की जाती है, **एवं** – इसी प्रकार, **उव्वट्टणाईओ** – अपवर्तना में भी।

गाथार्थ – चरम स्पर्धक की एवं उससे लेकर यावत् अनन्त स्पर्धकों की उद्वर्तना नहीं की जाती है। किन्तु उससे नीचे के स्पर्धकों की उद्वर्तना की जाती है। इसी प्रकार अपवर्तना में भी जानना चाहिये।

विशेषार्थ – चरम अर्थात् अन्तिम स्पर्धक की उद्वर्तना नहीं होती है और न द्विचरम स्पर्धक की और न त्रिचरम स्पर्धक की। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक चरम स्पर्धक से नीचे अनन्त स्पर्धक प्राप्त होते हैं। इसका यह तात्पर्य है कि सर्व स्थितियों से उपरितन आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण जो जघन्य निक्षेप और उसके नीचे आवलिका प्रमाण जो अतीत्थापना है, उनके स्थितिस्थानगत सभी स्पर्धक उद्वर्तित नहीं किये जाते हैं। किन्तु उनसे नीचे उतर कर जो स्पर्धक (अनुभाग स्पर्धक) समय मात्र स्थितिगत हैं, उनको उद्वर्तित किया जाता है। उनको उद्वर्तित कर आवलिका प्रमाण स्थितिगत अनन्त स्पर्धक को अतिक्रमण कर उससे उपरिवर्ती जो आवलि के असंख्यातवें भाग प्रमाण समयगत स्पर्धक हैं, उनमें निक्षिप्त किया जाता है और तब उससे भी नीचे उतर कर द्वितीय समय मात्र स्थितिगत जो स्पर्धक हैं उनको उद्वर्तित करता है, तब आवलि मात्र स्थितिगत स्पर्धकों का उल्लंघन कर उपरिवर्ती समयाधिक आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्रगत स्पर्धकों में निक्षिप्त किया जाता है। इस प्रकार जैसे जैसे नीचे उतरते हैं, वैसे वैसे निक्षेप बढ़ता है किन्तु अतीत्थापना

सर्वत्र ही आवलिका मात्र स्थितिगत स्पर्धक प्रमाण रहती है।

प्रश्न – उत्कृष्ट निक्षेप का विषय कितना है ?

उत्तर – बंधावलिका के व्यतीत होने पर समयाधिक आवलिका और अबाधागत स्पर्धकों को छोड़ कर शेष सभी स्पर्धक निक्षेप के विषय होते हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिये कि –

अबाधागत स्पर्धक उद्वर्तित नहीं किये जाते हैं और उद्वर्त्यमान समय मात्रस्थितिगत स्पर्धकों को वहां पर (उद्वर्त्यमान समयगत स्पर्धकों में) निक्षिप्त नहीं करता है। आवलिका मात्रगत स्पर्धक तो अतीत्थापना रूप हैं, इसलिये बंधावलिका के व्यतीत होने पर समयाधिक आवलिकागत स्पर्धकों को और अबाधागत स्पर्धकों को छोड़ कर शेष सभी स्पर्धक निक्षेप के विषय होते हैं।[१]

अब अल्पबहुत्व बतलाते हैं –

१. जघन्य निक्षेप सबसे अल्प है। क्योंकि उसके स्पर्धक आवलिका के असंख्यातवें भागगत स्पर्धक प्रमाण हैं।

२. उससे अतीत्थापना अनन्तगुणी है, क्योंकि निक्षेप विषयक स्पर्धकों से आवलिका प्रमाण स्थितिगत स्पर्धक अनन्तगुणित हैं। इस प्रकार सर्वत्र ही स्पर्धकों की अपेक्षा अनन्त गुणता जानना चाहिये।

३. अतीत्थापना से उत्कृष्ट निक्षेप अनन्त गुणा है।[२]

४. उत्कृष्ट निक्षेप से भी सम्पूर्ण अनुभाग विशेषाधिक है।[३]

इस प्रकार अनुभाग की उद्वर्तना जानना चाहिये।

अनुभाग अपवर्तना

अब अनुभाग अपवर्तना का कथन करते हैं –

अनुभाग अपवर्तना बताने के लिये गाथा में 'एवं उव्वट्टणाईओ' पद दिया है। जिसका अर्थ यह है कि उद्वर्तना के कथन की तरह अनुभाग - विषयक अपवर्तना भी कहना चाहिये। केवल अन्तर इतना है कि उसे आदि से प्रारम्भ करके कहना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि –

---

१. इसका प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

२. क्योंकि समयाधिक दो आवलिका (बंधावलिका और अतीत्थापना) और अबाधा को छोड़कर के शेष स्पर्धक अनन्तगुणेहैं।

३. समयाधिक अतीत्थापनावलिकागत स्पर्धकों सहित होने के कारण विशेषाधिक हैं।

प्रथम स्पर्धक अपवर्तित नहीं होता है, दूसरा भी नहीं तीसरा भी नहीं होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक कि उदयावलिका प्रमाण स्थितिगत स्पर्धक प्राप्त होते हैं। किन्तु उनसे उपरितन स्पर्धक अपवर्तित किये जाते हैं, उनमें से जब उदयावलिका से ऊपर समय मात्र स्थितिगत स्पर्धकों को अपवर्तित किया जाता है तब एक समय कम आवलिका के दो त्रिभाग गत स्पर्धकों में निक्षिप्त किया जाता है और जब उदयावलिका से ऊपर द्वितीय समय मात्र स्थिति गत स्पर्धकों को अपवर्तित किया जाता है तब पूर्वोक्त अतीत्थापना एक समय कम आवलिका के दो त्रिभाग प्रमाण और समयमात्र स्थितिगत स्पर्धकों से अधिक जानना चाहिये। किन्तु निक्षेप उतना ही रहता है। इस प्रकार एक एक समय की वृद्धि से अतीत्थापना तब तक बढ़ाना चाहिये जब जक कि एक आवलि पूरी होती है। उससे आगे अतीत्थापना सर्वत्र ही तावत् प्रमाण ही रहती है, किन्तु निक्षेप बढ़ता है।[1]

यह कथन निर्व्याघात—अपवर्तना की अपेक्षा समझना चाहिये।

व्याघातभावी अनुभाग—अपवर्तना का स्पष्टीकरण यह है कि अतीत्थापना समय मात्र स्थितिगत स्पर्धकों से न्यून अनुभाग कंडक प्रमाण जानना चाहिये और कंडक का प्रमाण एवं एक समय की न्यूनता को जैसा पहले स्थिति-अपवर्तना में कहा है, उसी प्रकार यहां पर भी अर्थात् अनुभागअपवर्तना में भी समझना चाहिये।

अब (अनुभाग-अपवर्तना में) अल्पबहुत्व का कथन करते हैं —

१. जघन्य निक्षेप सबसे कम है। २. उससे जघन्य अतीत्थापना अनन्तगुणी है। ३. उससे व्याघातदशा में अतीत्थापना अनन्तगुणी है। ४. उससे उत्कृष्ट अनुभागकंडक विशेषाधिक है। क्योंकि वह एक समयगत स्पर्धकों की अपेक्षा अतीत्थापना से अधिक है। ५. उससे उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक है। ६. उससे भी सम्पूर्ण अनुभाग विशेषाधिक है।

उक्त अल्पबहुत्व का कारण सहित स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

१. एक समयाधिक १/३ आवलिका गत स्पर्धक प्रमाण होने से जघन्य निक्षेप सर्वस्तोक है। २. समयहीन २/३ आवलिकागत स्पर्धक प्रमाण होने के कारण उससे जघन्य अतीत्थापना अनन्तगुणी है। ३. उससे व्याघातभावी अतीत्थापना एक समय हीन अनुभागकंडक प्रमाण होने से अनन्तगुणी है। ४. उससे उत्कृष्ट अनुभागकंडक विशेषाधिक है। ५. समयाधिक अतीत्थापनावलिका और बंधावलिका रहित शेष सर्व स्थिति गत स्पर्धक प्रमाण होने से उत्कृष्ट निक्षेप पूर्व से विशेषाधिक है। ६. उससे भी सर्वानुभाग समयाधिक अतीत्थापनावलिका गत अनन्त स्पर्धक सहित होने से विशेषाधिक है।

---

१. इसका प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

अब अनुभाग-उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों के मिश्र अल्पबहुत्व का कथन करते हैं –

थोवं पएसगुणहाणि - अंतरे दुसु जहन्ननिक्खेवो।
कमसो अणंतगुणिओ, दुसु वि अइत्थावणा तुल्ला॥ ८॥
वाघाएणणुभाग - कंडगमेक्काए वग्गणाऊणं।
उक्कोसो निक्खेवो ससंतबंधो य सविसेसो॥ ९॥

शब्दार्थ – **थोवं** – स्तोक अल्प, **पएसगुणहाणि** – (स्पर्धक) प्रदेश समूह की द्विगुण वृद्धि हानि के, **अंतरे** – अन्तराल में, **दुसु** – दोनों में, **जहन्न** – जघन्य, **निक्खेवो** – निक्षेप, **कमसो**– क्रमशः, **अणंतगुणिओ** – अनन्तगुणित, **दुसु** – दोनों में, **वि** – भी, **अइत्थावणा** – अतीत्थापना, **तुल्ला** – तुल्य समान।

वाघाएण – व्याघातदशा में, **अणुभागक्कडगं** – अनुभागकंडक, **एक्काए** – एक, **वग्गणाऊणं** – वर्गणा से न्यून, **उक्कोसो** – उत्कृष्ट, **निक्खेवो** – निक्षेप, **ससंतबंधो** – उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग बंध, **य** – और, **सविसेसो** – विशेषाधिक।

गाथार्थ – प्रदेश समूहों की द्विगुण वृद्धि और हानि के अन्तराल में स्पर्धक अर्थात् रससमूह अल्प है। उससे दोनों में जघन्य निक्षेप अनन्तगुणा और परस्पर तुल्य है। उससे भी दोनों में अतीत्थापना अनन्तगुणी और परस्पर तुल्य है। उससे व्याघातदशा में एक वर्गणा न्यून अनुभागकंडक अनन्तगुणा है। उससे उत्कृष्ट निक्षेप अनन्तगुणा है और उससे उत्कृष्ट स्थिति का अनुभाग विशेषाधिक है।

विशेषार्थ – एक स्थिति में जितने स्पर्धक होते हैं, उनको क्रम से स्थापित किया जाता है। जैसे कि प्रारम्भ में (आदि में) सर्व जघन्य रसस्पर्धक स्थापित किया जाता है। उसके पश्चात् उससे विशेषाधिक रसवाला द्वितीय रसस्पर्धक स्थापित किया जाता है। उसके पश्चात् उससे विशेषाधिक रस वाला तीसरा स्पर्धक स्थापित किया जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशेष विशेष अधिक रस वाले स्पर्धक स्थापित करते हुये यावत अंत में सर्वोत्कृष्ट रसवाला स्पर्धक स्थापित किया जाता है। उनमें आदि स्पर्धक से आरम्भ करके उत्तरोत्तर स्पर्धक प्रदेशों की अपेक्षा से विशेषहीन होते हैं और अंतिम स्पर्धक से आरम्भ करके पुनः नीचे नीचे वे स्पर्धक क्रम से प्रदेशों की अपेक्षा से विशेष अधिक विशेष अधिक होते हैं।

१. उनके मध्य में एक द्विगुण वृद्धि के अन्तराल में अथवा द्विगुण हानि के अन्तराल में जो स्पर्धक समुदाय है वह सबसे अल्प है। अथवा स्नेह-प्रत्यय स्पर्धक के अनुभाग की द्विगुण वृद्धि के अन्तराल में अथवा द्विगुण हानि के अन्तराल में जो अनुभागपटल है, वह सबसे अल्प है।

२. उससे भी उद्वर्तना और अपवर्तना इन दोनों का जघन्य निक्षेप अनन्तगुणा है, किन्तु स्वस्थान में समान होता है।

यद्यपि उद्वर्तना में आवलिका के असंख्यातवें भाग गत स्पर्धक निक्षेप के विषय हैं और अपवर्तना में एक समय अधिक आवलिका के त्रिभाग गत स्पर्धक निक्षेप के विषय होते हैं, तथापि प्रारंभिक स्थितियों में स्पर्धक अल्प ही प्राप्त होते हैं और अंतिम स्थितियों में बहुत स्पर्धक प्राप्त होते हैं। किन्तु स्पर्धकों की संख्या की अपेक्षा दोनों का निक्षेप तुल्य होता है। इसी प्रकार अतीत्थापना में और उत्कृष्ट निक्षेप में भी जानना चाहिये। गाथा में जो कमसो पद दिया है उसे सम्पूर्ण गाथा कि अपेक्षा लगाना चाहिये।

३. उससे दोनों की अर्थात् उद्वर्तना और अपवर्तना की व्याघात बाह्य अतीत्थापना (अतीत्थापनागत स्पर्धक) अनन्तगुणी होती है। किन्तु स्वस्थान में वे दोनों परस्पर तुल्य हैं।

४. तत्पश्चात उससे 'बाघाएण इत्यादि' अर्थात् व्याघात की अपेक्षा जो उत्कृष्ट अनुभाग कंडक है, वह वर्गणा से अर्थात् एक समय मात्र स्थितिगत स्पर्धक समुदाय से हीन होता है। यह उत्कृष्ट अतीत्थापना है। वह अनन्तगुणी है।

५. उससे उद्वर्तना और अपवर्तना में उत्कृष्ट निक्षेप विशेषाधिक होता है। किन्तु स्वस्थान में लगभग समान है।

६. उससे 'ससंतबंधोय सविसेसो' इत्यादि अर्थात् पूर्वबद्ध स्थितिसत्व के अनुभाग सहित उत्कृष्ट स्थिति अनुभागबंध विशेषाधिक है।

इस प्रकार अल्पबहुत्व बतलाने के बाद अब उद्वर्तना और अपवर्तना में काल नियम और विषय का नियम कहते हैं –

आबंधा उक्कड्ढइ, सव्वहितो (मो) कड्ढणा ठिइरसाणं।
किट्टी वज्जे उभयं, किट्टीसु ओवट्टणा नवरं (एक्का)॥१०॥

शब्दार्थ – **आबंधा** – बंध तक, **उक्कड्ढइ** – उद्वर्तना होती है, **सव्वहितोकड्ढणा** – अपवर्तना सर्वत्र, **ठिइरसाणं** – स्थिति और रस की, **किट्टी वज्जे** – कृष्टि वर्जित दलिक में, **उभयं**– दोनों, **किट्टीसु** – कृष्टिकृत दलिक में, **ओवट्टणा** – अपवर्तना, **नवरं** – परन्तु।

गाथार्थ – बंध होने तक स्थिति और रस की उद्वर्तना होती है और अपवर्तना सर्वत्र अर्थात् बंध और अबंध दशा में। कृष्टिवर्जित दलिकों में उभय अर्थात् उद्वर्तना और अपवर्तना दोनों होती हैं।

परन्तु कृष्टिकृत दलिक में अपवर्तना ही होती है।

विशेषार्थ – 'आबंधा' जब तक बंध होता है तब तक उद्‌वर्तना होती है। बंध के अभाव में उद्‌वर्तना नहीं होती है तथा सर्वत्र अर्थात् बंध करने के समय अथवा अबंध काल में स्थिति और अनुभाग की अपवर्तना होती है। यह काल नियम है।

अथवा 'आबंधा' अर्थात् जितना मात्र स्थितिबंध है तावत् मात्र स्थिति सत्कर्म की स्थिति - उद्‌वर्तना और अनुभाग - उद्‌वर्तना होती है। उससे उपरितन कर्म की स्थिति और अनुभाग उद्‌वर्तना नहीं होती है किन्तु अपकर्षणा अर्थात् अपवर्तना सर्वत्र बंध प्रमाण से पहले और पीछे भी स्थिति और अनुभाग में होती रहती है।

कृष्टि वर्जित कर्मदलिक में उद्‌वर्तना और अपवर्तना दोनों होती हैं किन्तु कृष्टिकृत दलिक में केवल अपवर्तन ही होती है, उद्‌वर्तना नहीं। यह विषयकृत नियम है।

इस प्रकार उद्‌वर्तना और अपवर्तनाकरण - अधिकार सम्पूर्ण हुआ।

❑❑

५ : उदीरणाकरण

अब उद्देशय के क्रमानुसार उदीरणाकरण का कथन प्रारंभ करते हैं।

उदीरणा विचार में ये छह अर्थाधिकार हैं –

१. लक्षण, २. भेद, ३. सादि - अनादि प्ररूपणा, ४. स्वामित्व, ५. उदीरणा प्रकृतिस्थान और ६. उनका स्वामित्व। इनमें से सर्व प्रथम उदीरणा का लक्षण और भेदों का निरूपण करते हैं।

उदीरणा का लक्षण और भेद

जं करणेणोकडिद्दय, उदए दिज्जइ उदीरणा एसा।
पगइठिइअणुभाग - प्पएसमूलुत्तरविभागो ॥१॥

शब्दार्थ – **जं** – जिस दलिक को, **करणेण** – योगरूप करण (वीर्य) द्वारा, **उकडिद्दय**– आकर्षित करके (खींचकर), **उदय** – उदयावलिका में, **दिज्जइ** – निक्षिप्त किया जाता है, **उदीरणा** – उदीरणा, **एसा** – यह, **पगइठिइअणुभागप्पएस** – प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, **मूलुत्तर** – मूल और उत्तर, **विभागो** – भेद।

गाथार्थ – योग रूप करण के द्वारा जो दलिक आकर्षित कर उदय में अर्थात् उदयावलिका में निक्षिप्त किये जाते हैं, यह उदीरणा है। उसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार भेद हैं और ये चारों भेद मूल और उत्तर प्रकृति विषयक होते हैं।

विशेषार्थ – इस गाथा के पूर्वार्ध में उदीरणा का लक्षण और उत्तरार्ध में उदीरणा के भेद बतलाये हैं। जो परमाणु रूप कर्मदलिक करण के द्वारा अर्थात् योग संज्ञा वाले कषाय सहित अथवा कषाय रहित वीर्य विशेष के द्वारा उदयावलिका से बहिर्वर्ती स्थितियों से आकर्षित कर उदय में दिये जाते हैं अर्थात् उदयावलिका में प्रक्षिप्त किये जाते हैं वह उदीरणा है, कहा भी है –

'उदयावलियबाहिरिल्लाठिईहिंतो कसायसहिएणं असहिएण वा जोगसन्नेण करणेणं दलियमाकड्ढिय उदयावलियाए पवेसणं उदीरणत्ति' – अर्थात् उदयावलि से बाहर की स्थितियों से कषायसहित अथवा कषायरहित योग संज्ञा वाले करण के द्वारा कर्मदलिक को आकर्षित कर उदयावलि में प्रवेश करना उदीरणा कहलाती है।

वह किस प्रकार की होती है ? तो इसको बतलाने के लिये गाथा में 'पगइठिइ' इत्यादि पद दिया है। जिसका अर्थ यह है कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश उदीरणा के द्वारा मूल प्रकृतियों

और उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उसके दो विभाग हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह उदीरणा चार प्रकार की होती है यथा – प्रकृति उदीरणा, स्थिति उदीरणा, अनुभाग उदीरणा और प्रदेश उदीरणा। ये एक एक उदीरणा भी दो प्रकार की है –

१. मूल प्रकृति विषयक और २. उत्तर प्रकृति विषयक। मूल प्रकृति विषयक उदीरणा आठ प्रकार की होती है और उत्तर प्रकृति विषयक उदीरणा के एक सौ अट्ठावन भेद हैं। इस प्रकार उदीरणा का लक्षण और भेद जानना चाहिये।

सादि - अनादि प्ररूपणा

अब सादि - अनादि प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है – १. मूल प्रकृति विषयक और २. उत्तर प्रकृति विषयक। इनमें से पहले मूल प्रकृति विषयक उदीरणा कहते हैं –

मूलपगईसु - पंचण्ह, तिहा दोण्हं चउव्विहा होइ।
आउस्स साइ अधुवा, दसुत्तर सउत्तरासिं पि॥ २॥

शब्दार्थ – **मूलपगईसु** – मूल प्रकृतियों की, **पंचण्ह** – पांच, **तिहा** – तीन प्रकार, **दोण्हं** – दो की, **चउव्विहा** – चार प्रकार, **होइ** – होती है, **आउस्स** – आयु की, **साइ** – सादि, **अधुवा** – अध्रुव, **दसुत्तर सउत्तरासिं** – एक सौ दस उत्तर प्रकृतियों की, **पि** – भी।

गाथार्थ – पांच मूल प्रकृतियों की उदीरणा तीन प्रकार की है और दो प्रकृतियों की उदीरणा चार प्रकार की है तथा आयु एवं एक सौ दस उत्तर प्रकृतियों की भी उदीरणा सादि और अध्रुव होती है।

विशेषार्थ – मूल प्रकृतियों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय इन पाँच मूल प्रकृतियों की उदीरणा तीन प्रकार की होती है, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों की उदीरणा क्षीणमोह गुणस्थान (बारहवें गुणस्थान) का समयाधिक आवलिकाल जब तक शेष नहीं रहता है तब तक सब जीवों के अवश्य होती है। नाम और गोत्र कर्म की उदीरणा सयोगि केवलि के चरम समय तक होती है। इसलिये इन पाँचों कर्मों की उदीरणा अनादि है। अभव्यों के ध्रुव और भव्यों के अध्रुव उदीरणा होती है।

वेदनीय और मोहनीय इन दो कर्मों की उदीरणा चार प्रकार की होती है यथा सादि-अनादि, ध्रुव और अध्रुव। इनमें से वेदनीय की उदीरणा प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होती है, उससे आगे नहीं। मोहनीय की उदीरणा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक होती है, उससे आगे नहीं। इसलिये अप्रमत्त आदि

गुणस्थानों से गिरते हुए जीव के वेदनीय की उदीरणा सादि है और उपशांतमोहनीय गुणस्थान से गिरते हुए जीव के मोहनीय की उदीरणा सादि है। इस स्थान को प्राप्त नहीं हुए जीव की उदीरणा अनादि है। ध्रुव और अध्रुव उदीरणा पूर्व के समान क्रमशः अभव्य और भव्य जीवों की अपेक्षा जानना चाहिये।

आयुकर्म की उदीरणा सादि और अध्रुव है। आयु कर्म की अंतिम आवलिका में नियम से उदीरणा नहीं होती है। इसलिये वह अध्रुव है। पुनः परभव की उत्पत्ति के प्रथम समय में प्रवर्तित होती है, इसलिये वह सादि है।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियों में इसका निरूपण करते हैं।

उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा करने के लिये गाथा में 'दसुत्तर सउत्तरासिं पि' यह पद दिया है। यहां सादि और अध्रुव की अनुवृत्ति होती है। इसलिये इसका यह अर्थ है कि पांच प्रकार का ज्ञानावरण, चार प्रकार का दर्शनावरण, मिथ्यात्व, तैजससप्तक, वर्णादि बीस, स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण और अन्तराय पंचक इन अड़तालीस प्रकृतियों को छोड़कर शेष सभी एक सौ दस उत्तर प्रकृतियों की उदीरणा दो प्रकार की होती है, यथा सादि और अध्रुव, अध्रुवोदयवाली होने से इन प्रकृतियों की यह सादि और अध्रुवता स्वतः सिद्ध है।

मिच्छत्तस्स चउद्धा, तिहा य आवरणविग्घचउदसगे।
थिरसुभ सेयर उवघायवज्ज धुवबंधिनामे य॥ ३॥

शब्दार्थ — **मिच्छत्तस्स** — मिथ्यात्व की, **चउद्धा** — चारों प्रकार की, **तिहा** — तीन प्रकार की, **य** — और, **आवरणविग्घचउदसगे** — आवरणद्विक और अन्तराय की चौदह प्रकृतियों की, **थिरसुभ सेयर** — स्थिर, शुभ और इनकी इतर, **उवघायवज्ज** — उपघात को छोड़कर, **धुवबंधिनामे**— नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की, **य** — और।

गाथार्थ — मिथ्यात्व की उदीरणा चारों प्रकार की होती है। आवरणद्विक ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण और ५ अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों की और स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ और उपघात को छोड़कर शेष नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों की उदीरणा तीन प्रकार की होती है।

विशेषार्थ — मिथ्यात्व की उदीरणा चार प्रकार की होती है, यथा — सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव। सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले जीव के मिथ्यात्व की उदीरणा नहीं होती है। क्योंकि उसके मिथ्यात्व के उदय का अभाव है। किन्तु सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव के पुनः होने लगती है, इसलिये वह सादि है।

इस स्थान को अप्राप्त जीव के मिथ्यात्व की अनादि उदीरणा होती है। अभव्यों के ध्रुव और भव्यों के अध्रुव उदीरणा होती है।

ज्ञानावरण पंचक, दर्शनावरण चतुष्क और अन्तराय पंचक रूप चौदह प्रकृतियों की उदीरणा तीन प्रकार की होती है, यथा – अनादि, ध्रुव, अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

इन प्रकृतियों के ध्रुवोदया होने से अनादि उदीरणा है और अभव्यों के ध्रुव उदीरणा है। भव्य जीवों के क्षीणमोह गुणस्थान में आवलिका काल शेष रह जाने पर विच्छेद होने से अध्रुव उदीरणा है।

सेतर स्थिर शुभ अर्थात् स्थिर, अस्थिर और शुभ, अशुभ, उपघात को छोड़कर नामकर्म की शेष ध्रुवबंधिनी, तैजससप्तक, अगुरुलघु, वर्णादि बीस और निर्माण कुल मिलाकर तेतीस प्रकृतियों की उदीरणा तीन प्रकार की है, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। इनमें अनादिपना ध्रुवोदयी होने से है। ध्रुवत्व अभव्यों की अपेक्षा और अध्रुवत्व भव्यों की अपेक्षा से है। क्योंकि सयोगीकेवली के चरम समय में इनका विच्छेद पाया जाता है।

शेष एक सौ दस अध्रुवोदया प्रकृतियों की उदीरणा अध्रुवोदयी होने से सादि है और इनकी अध्रुवता का कथन पहले किया जा चुका है।

इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियों की सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये।

उदीरणा स्वामित्व

अब क्रमप्राप्त उदीरणा स्वामित्व का विचार करते हैं। पहले मूल प्रकृतियों की उदीरणा के स्वामियों को कहते हैं –

घाईणं छउमत्था, उदीरगा रागिणो य मोहस्स।
तइयाऊण पमत्ता, जोगंता उ त्ति दोण्हं च॥ ४॥

शब्दार्थ – **घाईणं** – घाति कर्मों के, **छउमत्था** – छद्मस्थ, **उदीरगा** – उदीरक, **रागिणो** – सरागी, **य** – और, **मोहस्स** – मोहनीय कर्म के, **तइयाऊण** – तृतीय (वेदनीय) और आयु के, **पमत्ता** – प्रमत्तगुणस्थान तक के, **जोगंता उ त्ति** – सयोगी गुणस्थान तक के, **दोण्हं** – दो के, **च** – और।

गाथार्थ – (तीन) घाति कर्मों के उदीरक छद्मस्थ जीव हैं। मोहनीय कर्म के उदीरक सरागी जीव हैं। वेदनीय और आयु कर्म के प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीव उदीरक हैं। शेष दो कर्मों के उदीरक सयोगीकेवली गुणस्थान तक के जीव हैं।

विशेषार्थ — ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय तीन घातिकर्मों की उदीरणा क्षीणमोह गुणस्थान तक के सभी छद्मस्थ जीव करते हैं। मोहनीय कर्म की उदीरणा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक के सरागी जीव करते हैं। वेदनीय कर्म और आयुकर्म की उदीरणा प्रमत्तसंयत गुणस्थान के सभी प्रमत्त जीव करते हैं। केवल आयु कर्म की अंतिम आवलिका की उदीरणा नहीं होती है तथा नाम और गोत्र इन दो कर्मों के उदीरक सयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी जीव होते हैं।

गाथा में आगत 'त्ति' इति शब्द मूल प्रकृतियों की उदीरणा की परिसमाप्ति का द्योतक जानना चाहिये कि मूल प्रकृतियों में से किस प्रकृति के उदीरक कौन कौन जीव हैं ?

इस प्रकार मूल प्रकृतियों की उदीरणा के स्वामियों का कथन करने के बाद अब उत्तर प्रकृतियों की उदीरणा के स्वामियों को बतलाते हैं —

विग्घावरणधुवाणं, छउमत्था जोगिणो उ धुवगाणं।
उवघायस्स तणुत्था, तणुकिट्टीणं तणुगरागा॥ ५॥

शब्दार्थ — **विग्घावरणधुवाणं** — अन्तराय, आवरणद्विक, इन ध्रुवोदयी प्रकृतियों के, **छउमत्था** — छद्मस्थ जीव, **जोगिणो** — सयोगी, **उ** — **और, धुवगाणं** — नामकर्म की, ध्रुवोदयी प्रकृतियों के, **उवघायस्स** — उपघात के, **तणुत्था** — शरीरस्थ, **तणुकिट्टीणं** — सूक्ष्म कृष्टीकृत, लोभ का, **तणुगरागा** — तनुक राग सूक्ष्मसंपरायी जीव।

गाथार्थ — अन्तराय ५, ज्ञानावरण ५ और ४ दर्शनावरण इन ध्रुवोदयी प्रकृतियों के उदीरक छद्मस्थ जीव हैं। नामकर्म की ध्रुवोदयी ३३ प्रकृतियों के उदीरक सयोगी जीव हैं और सूक्ष्म कृष्टीकृत लोभ के सूक्ष्मसंपरायी जीव उदीरक हैं।

विशेषार्थ — विग्ध अर्थात् अन्तराय कर्म, अन्तराय पंचक, ज्ञानावरण पंचक, और दर्शनावरण चतुष्क रूप चौदह ध्रुवोदयी प्रकृतियों के उदीरक सभी छद्मस्थ जीव हैं तथा ध्रुवगाणं त्ति अर्थात् नामकर्म की तैजससप्तक, वर्णादिवीस, स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ, अगुरुलघु और निर्माण रूप कुल तेतीस ध्रुवोदयी प्रकृतियों के योगी अर्थात् सयोगी केवली गुणस्थान तक के सयोगी जीव उदीरक होते हैं। उपघात नामकर्म के तनुत्था शरीरस्य अर्थात् शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव उदीरक होते हैं। तनुकिट्टीणं के अर्थात् संज्वलन लोभ संबंधी सूक्ष्म कृष्टियों के तनुकराग अर्थात् सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती जीव जब तक चरम आवलि प्राप्त नहीं होती है तब तक उदीरक होते हैं। तथा —

तसबायरपज्जत्तग - सेयरगइ जाइदिट्ठिवेयाणं।
आऊण य तन्नामा, पत्तेगियरस्स उ तणुत्था॥ ६॥

शब्दार्थ — **तसबायरपज्जत्तग-सेयर** — त्रस, बादर पर्याप्त, इतर सहित, **गइ** — गति, **जाइ**— जाति, **दिट्ठि** — दर्शन, **वेयाणं** — वेद, **आउण** — आयुकर्म, **य** — और, **तन्नामा** — उस नाम वाली प्रकृति का उदय वाला, **पत्तेगियरस्स** — प्रत्येक और (इतर), **उ** — और, **तणुत्था** — शरीरस्थ जीव ।

गाथार्थ — त्रस, बादर, पर्याप्त और इनसे इतर स्थावर, सूक्ष्म और अपर्याप्त तथा गतिचतुष्क, जातिपंचक, दर्शनमोहत्रिक, वेदत्रिक, और आयु चतुष्टय, इन के उदीरक उस नाम वाली प्रकृति के उदय वाले जीव होते हैं। प्रत्येक और इतर अर्थात् साधारण नामकर्म के उदीरक शरीरपर्याप्ति वाले जीव हैं।

विशेषार्थ — त्रस बादर और पर्याप्त और इनसे इतर अर्थात् सप्रतिपक्षी स्थावर, सूक्ष्म और अपर्याप्त तथा चार गति, पांच जाति, मिथ्याादर्शनादि तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृतियां, नपुंसकवेद, आदि तीनों वेद, चार आयुकर्म इस प्रकार कुल मिलाकर पच्चीस प्रकृतियों के उदीरक यथायोग्य उस उस प्रकृति के नाम वाले जीव होते हैं, यथा — त्रस नामकर्म के उदीरक त्रस जीव होते हैं। वे अपान्तराल गति में और शरीर में वर्तमान रहते हुए त्रस नामकर्म की उदीरणा करते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त सभी प्रकृतियों की उदीरणा करने वालों के लिये समझ लेना चाहिये तथा प्रत्येक नाम और इत्तर अर्थात् साधारण नामकर्म के उदीरक तनुत्थ शरीरस्थाः अर्थात् शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव[1] होते हैं। इस प्रकार यथाक्रम से यह अर्थ हुआ कि प्रत्येकशरीर के उदीरक सभी प्रत्येकशरीरी जीव होते हैं और साधारणशरीर के उदीरक सभी साधारणशरीरी जीव होते हैं तथा —

---

१. टीकान्तर्गत तथा शब्द ऊपर की उदीरक संबंधी प्रक्रिया के साथ संबंध जोड़ता है। तथा उसी विषय को आगे बढ़ाता है कि प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति के जीव शरीरस्थ होते हैं। शरीरस्थ के दो अर्थ लिये जाते हैं। कार्मण शरीरस्थ और औदारिक शरीरस्थ।

कार्मण शरीरस्थ जीव भी उदीरक होते हैं और औदारिक शरीरस्थ जीव भी उदीरक अवस्था से सम्पन्न होते हैं। यहां टीका में जो "शरीर पर्याप्त्या पर्याप्त" शब्द का प्रयोग किया गया है उसका संबंध नामकर्म के उदय से प्राप्त जो औदारिक शरीर है उसे शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त लेना चाहिये इसका तात्पर्य यह है कि आहार पर्याप्ति के बाद जो शरीर पर्याप्ति प्राप्त करने वाले जीव हैं जब वे शरीर पर्याप्ति को पूर्ण कर लेते हैं तब वे शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हो जाते हैं। परन्तु एकेन्द्रिय शरीर की अन्य पर्याप्तियों की अपेक्षा से वे अपर्याप्त है। टीकाकार ने जो लिखा है "शरीर पर्याप्त्या पर्याप्त" इसका स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि जो शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हैं वे उपर्युक्त प्रकृतियों के उदीरक हैं। जितनी पर्याप्तियां औदारिक शरीरी एकेन्द्रिय के होनी चाहिये उन पर्याप्तियों से पर्याप्त भी उदीरक हैं। इसी का संसूचन करने के लिये टीका में "यथाक्रमम्" है। इससे प्रत्येक शरीरी जीव और साधारण शरीरी जीव ये सभी उपर्युक्त प्रकृतियों के उदीरक होते हैं।

आहारगनरतिरिया, सरीरदुगवेयए पमोत्तूणं।
ओरालाए एवं, तदुवंगाए तसजियाउं ॥ ७॥

शब्दार्थ — **आहारगनरतिरिया** — आहारी मनुष्य तिर्यंच, **सरीरदुगवेयए** — शरीरद्विक के वेदक, **पमोत्तूणं** — छोड़कर, **ओरालाए** — औदारिक शरीर के, **एवं** — इसी प्रकार, **तदुवंगाए** — उसके अंगोपांग के, **तसजियाउ** — त्रस जीव।

गाथार्थ — शरीरद्विक के वेदक को छोड़ कर आहारी मनुष्य और तिर्यंच औदारिक शरीर के उदीरक हैं। इसी प्रकार उसके अंगोपांग के उदीरक त्रस जीव हैं।

विशेषार्थ — जो मनुष्य और तिर्यंच आहारक हैं अर्थात् ओज, लोम और प्रक्षेप इन तीन प्रकार के आहारों में से किसी एक आहार को ग्रहण करते हैं, वे औदारिकशरीर नामकर्म के उदीरक होते हैं। यह औदारिक शब्द लाक्षणिक है इसके उपलक्षण से औदारिकबंधनचतुष्क और औदारिकसंघातन के भी उदीरक होते हैं।

प्रश्न — क्या सभी औदारिक शरीरधारी जीव उक्त प्रकृतियों के उदीरक होते हैं ?

उत्तर — नहीं। सभी औदारिक शरीरधारी जीव तो उदीरक नहीं होते हैं। किन्तु शरीरद्विक के वेदकों को छोड़कर अर्थात् आहारक, वैक्रिय, इन दो शरीरों में स्थित जीवों को छोड़ कर शेष सभी औदारिक शरीरधारी जीव उदीरक होते हैं। शरीरद्विक के वेदकों को छोड़ने का कारण यह है कि जब उनके औदारिक शरीर नामकर्म का उदय ही नहीं है तब उसके उदीरक भी कैसे हो सकते है? तथा इसी प्रकार से 'तदुवंगाए' अर्थात् औदारिक अंगोपांग नामकर्म के उदीरक औदारिक शरीरधारी जीव ही होंगे। लेकिन इतनी विशेषता है कि उसके उदीरक केवल त्रसकायिक जीव ही जानना चाहिये, स्थावर नहीं। क्यों कि स्थावरों के अंगोपांग नामकर्म के उदय का अभाव है तथा —

वेउव्विगाए सुरनेरईया आहारगा नरो तिरिओ।
सन्नी, बायरपवणो, य लद्धिपज्जत्तगो होज्जा॥ ८॥

शब्दार्थ — **वेउव्विगाए** — वैक्रिय शरीर के, **सुरनेरईया** — देव और नारक, **आहारगा** — आहारी, **नरो** — मनुष्य, **तिरिओ** — तिर्यंच, **सन्नी** — संज्ञी, **बायर** — बादर, **पवणो** — वायुकायिक जीव, **य** — और, **लद्धिपज्जत्तगो** — लब्धिपर्याप्त, **होज्जा** — होते हैं।

विशेषार्थ — वैक्रिय शरीर नामकर्म यह उपलक्षण है। अतः वैक्रिय -बंधनचतुष्क और वैक्रियसंघातन के उदीरक वे देव और नारक होते हैं जो आहारी (आहारक) हैं अर्थात् ओज, लोम में से किसी एक आहार को ग्रहण करते हैं और जो मनुष्य या तिर्यंच संज्ञी हैं और वैक्रियलब्धि वाले हैं

तथा जो बादर वायुकायिक जीव और जो दुर्भग नामकर्म के उदय वाले लब्धि से पर्याप्त हैं ऐसे सभी जीव वैक्रियशरीर नामकर्म के उदीरक होते हैं तथा –

वेउव्विउवंगाए तणुतुल्ला, पवणबायरं हिच्चा।
आहारगाए विरओ, विउव्वयंतो पमत्तो य॥ ९॥

शब्दार्थ – **वेउव्विउवंगाए** – वैक्रिय अंगोपांग के, **तणुतुल्ला** – वैक्रिय शरीर तुल्य, **पवण बायरं** – बादर वायुकायिक जीवों को, **हिच्चा** – छोड़कर, **आहारगाए** – आहारकशरीर के, **विरओ** – विरत (संयत) **विउव्वयंतो** – विक्रिया करता हुआ, **पमत्तो** – प्रमत्त, **य** – और।

गाथार्थ – वैक्रिय अंगोपांग के उदीरक बादर वायुकायिक जीवों को छोड़कर वैक्रियशरीर के उदीरक के समान जानना चाहिये और आहारकशरीर नामकर्म का उदीरक आहारकशरीर की विक्रिया करता हुआ प्रमत्त संयत जानना चाहिये।

विशेषार्थ – वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म के उदीरक तनुतुल्य अर्थात् वैक्रिय शरीर के उदीरक समान जानना चाहिये। अर्थात् वैक्रिय शरीर नामकर्म की उदीरणा करने वाले जो जीव पहले कहे गये हैं, वे ही वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म के भी उदीरक जानना चाहिये।

प्रश्न – क्या सभी को ?

उत्तर – नहीं, किन्तु बादर पवन अर्थात् बादर वायुकायिक जीवों को छोड़कर शेष सभी जीवों को उदीरक जानना चाहिये।

'आहारगाए' इत्यादि अर्थात् आहारक शरीर नामकर्म का उदीरक आहारक शरीर की विक्रिया करता हुआ प्रमाद भाव को प्राप्त प्रमत्त संयत होता है।[1] तथा –

छण्हं संठाणाणं, संघयणाणं च सगलतिरियनरा।
देहत्था पज्जत्ता, उत्तमसंघयणिणो सेढी॥ १०॥

शब्दार्थ – **छण्हं** – छह, **संठाणाणं** – संस्थानों के, **संघयणाणं** – संहननों के, **च** – और, **सगलतिरियनरा** – सर्व तिर्यंच मनुष्य, **देहत्था** – शरीरस्थ, **पज्जत्ता** – पर्याप्त, **उत्तमसंघयणिणो**– उत्तम संहनन (वज्रऋषभनाराचसंहनन) वाले के, **सेढी** – क्षपक श्रेणी।

---

१. यहां ग्रन्थकार ने आहारक बंधनचतुष्क, आहारकसंघात और आहारक अंगोपांग इन छह प्रकृतियों के उदीरक का संकेत नहीं किया है। परंतु आहारक शरीर के उपलक्षण से इन छह प्रकृतियों का उदीरक भी आहारक शरीर के उदीरक को समझना चाहिये।

गाथार्थ — छहों संस्थानों और छहों संहननों के उदीरक देहस्थ लब्धि पर्याप्तक सभी मनुष्य और तिर्यंच होते हैं। श्रेणी अर्थात् क्षपकश्रेणी उत्तम संहनन अर्थात् वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले जीव के ही होती है।

विशेषार्थ — देहस्थ अर्थात् शरीर नामकर्म के उदय में वर्तमान जो समस्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य हैं और लब्धि से पर्याप्त हैं वह छहों संस्थानों और छहों संहननों के उदीरक होते हैं।

लेकिन यहां यह ज्ञातव्य है कि उदय प्राप्त कर्मों की ही उदीरणा होती है, अन्य की नहीं। इसलिये जिसके जो संस्थान और संहनन उदय को प्राप्त होता है तब उसी की उदीरणा होती है। अन्य की नहीं, ऐसा जानना चाहिये तथा उत्तम संहनन अर्थात् वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले जीव के ही श्रेणी क्षपकश्रेणी होती है शेष संहनन वालों के क्षपकश्रेणी नहीं होती है। इसलिये क्षपकश्रेणी को प्राप्त जीव वज्रऋषभनाराचसंहनन की ही उदीरणा करते हैं, शेष संहननों का उनके उदय नहीं होने से उसकी उदीरणा भी नहीं करते हैं। यथा —

चउरंसस्स तणुत्था, उत्तरतणुसगल भोगभूमिगया।
देवा इयरे हुंडा तस तिरियनरा य सेवट्टा॥ ११॥

शब्दार्थ — **चउरंसस्स** — समचतुरस्र (संस्थान के) **तणुत्था** — शरीरस्थ (देहधारी) **उत्तरतणु** — आहारक और उत्तर वैक्रिय जघन्य शरीर वाले, **सगलभोगभूमिगया** — समस्त भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच, **देवा** — देव, **इयरे** — इतर, **हुंडा** — हुंडकसंस्थान, ***तसतिरियनरा*** — *त्रस जीव और तिर्यंच* मनुष्य, **य** — और, **सेवट्टा** — सेवार्त संहनन।

गाथार्थ — आहारक और उत्तर वैक्रिय शरीर वाले तथा शरीरस्थ समस्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य तथा भोगभूमिज तिर्यंच और मनुष्य और देव समचतुरस्र संस्थान के तथा इनसे इतर जीव हुंडक संस्थान के उदीरक हैं और सेवार्त संहनन के भी उक्त त्रस, तिर्यंच और मनुष्य उदीरक होते हैं।

विशेषार्थ — समचतुरस्र संस्थान वाले शरीर में स्थित मनुष्य तिर्यंच और आहारकशरीर और वैक्रियशरीर की उत्तर विक्रिया करने वाले जीव तथा सम्पूर्ण मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच और देव उदीरक होते हैं। इयरे हुंडा अर्थात् ऊपर कहे गये जीवों से शेष रहे हुए शरीरस्थ एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय, नारक और अपर्याप्तक पंचेन्द्रिय मनुष्य तिर्यंच हुंडक संस्थान के उदीरक हैं।

'तसतिरियनरा य सेवट्टा त्ति' इस वाक्य में इतर पद की अनुवृत्ति होती है। अतः तदनुसार उक्त जीवों से शेष रहे जो द्वीन्द्रियादिक और पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य हैं वे सेवार्त्त संहनन के उदीरक होते हैं। तथा —

संघयणाणि न उत्तर-तणूसु तन्नामगा भवंतरगा।
अणुपुव्वीणं परघा-यस्स उ देहेण पज्जत्ता॥ १२॥

शब्दार्थ — **संघयणाणि** — संहनन, **न** — नहीं, **उत्तरतणूसु** — उत्तर शरीर वालों में, **तन्नामगा** — उस नाम वाले, **भवंतरगा** — भवान्तरगति वाले (विग्रहगति में वर्तमान) **अणुपुव्वीणं**— आनुपूर्वी कर्म के, **परघायस्स** — पराघात के, **उ** — **और, देहेण** — देह (शरीर से) **पज्जत्ता** — पर्याप्त।

गाथार्थ — उत्तर शरीर वालों में संहनन नहीं होते हैं। अतः वे संहननों के उदीरक नहीं होते हैं। भवान्तरगति (विग्रहगति) में वर्तमान जीव उस उस नाम वाले आनुपूर्वी नामकर्म के उदीरक हैं और पराघात नामकर्म के उदीरक शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव होते हैं।

विशेषार्थ — 'उत्तरतणूसु त्ति' यानि वैक्रिय और आहारक रूप उत्तर शरीरों में संहनन नहीं होते हैं। अर्थात् छह संहननों में से एक भी संहनन का उनमें उदय नहीं होता है, इसलिये वे किसी भी संहनन की उदीरणा नहीं करते हैं तथा नरकानुपूर्वी आदि चारों आनुपूर्वियों के तन्नामक अर्थात् उस आनुपूर्वी के अनुयायी नारक आदि नाम वाले जीव जो भव की अपरान्तराल गति (विग्रहगति) में वर्तमान हैं, वे उस उस आनुपूर्वी नामकर्म के उदीरक जानना चाहिये। जैसे कि नारकानुपूर्वी का भव-अपान्तराल गति में वर्तमान नारक जीव उदीरक होता है। तिर्यंचानुपूर्वी का अपान्तराल गति में वर्तमान तिर्यंच उदीरक होता है। इसी प्रकार मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी के लिये भी जानना चाहिये तथा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त सभी जीव पराघात नामकर्म के उदीरक[१] होते हैं। तथा —

बायरपुढवी आया - वस्स य वज्जित्तु सुहुमसुहुमतसे।
उज्जोयस्स य तिरिओ, उत्तरदेहो य देवजई॥ १३॥

शब्दार्थ — **बायरपुढवी** — बादर पृथ्वीकायिक, **आयावस्स** — आतप नाम के, **य** — और, **वज्जित्तु** — छोड़कर, **सुहुम** — सूक्ष्म एकेन्द्रिय, **सुहुमतसे** — सूक्ष्म त्रस जीव, तैजसकायिक, वायुकायिक, **उज्जोयस्स** — उद्योत के, **य** — और, **तिरिओ** — तिर्यंच जीव, **उत्तरदेहो** — उत्तर देह वाले, **य** — और, **देवजई** — देव व यति।

गाथार्थ — बादर पृथ्वीकायिक जीव आतप नामकर्म के उदीरक होते है तथा उद्योत नामकर्म के सूक्ष्म एकेन्द्रिय और सूक्ष्म त्रस (तैजसकायिक, वायुकायिक) जीवों को छोड़कर शेष तिर्यंच जीव तथा उत्तर वैक्रिय शरीर वाले देव एवं यति उदीरक हैं।

---

१. मूल टीका में 'सर्वेऽप्युदीरका' के अन्तर्गत 'अपि' शब्द से 'वैक्रिय शरीरीतिर्यंच' गृहीत किये गये हैं।

विशेषार्थ — आतप नामकर्म के उदीरक बादर पृथ्वीकायिक जीव हैं। गाथा में आगत पहला 'य' शब्द अनुक्त अर्थ पर्याप्त का बोधक है। इसलिये उससे बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त यह अर्थ लना चाहिये तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों और सूक्ष्म त्रसों अर्थात् तैजसकायिक और वायुकायिक जीवों को छोड़ कर शेष सभी तिर्यंच — पृथ्वी, जल, वनस्पति कायिक विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्धि पर्याप्त जीव उद्योत नामकर्म के यथासंभव उदीरक होते हैं तथा उत्तर देह अर्थात् उत्तर शरीर में यथा-संभव वैक्रिय और आहारक शरीर में वर्तमान देव और साधु भी उद्योत नामकर्म के उदीरक होते हैं तथा —

सगलो य इट्ठखगई उत्तर तणुदेव भोगभूमिगया।
इट्ठसराए तसो वि य, इयरासि तसा सनेरइया॥१४॥

शब्दार्थ — **सगलो** — सभी, **य** — और, **इट्ठखगई** — प्रशस्त विहायोगति, **उत्तरतणु** — उत्तर शरीरी, **देव** — देव, **भोगभूमिगया** — भोगभूमिज, **इट्ठसराए** — सुस्वर, **तसो वि** — त्रस भी, **य** — और, **इयरासि** — इतर में, **तसा** — त्रस, **सनेरइया** — नारक जीवों सहित।

गाथार्थ — प्रशस्तविहायोगति के उदीरक सभी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य और उत्तर शरीर वाले देव और भोगभूमिज जीव होते हैं। सुस्वर नामकर्म के उदीरक त्रस जीव तथा इनसे इतर अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति और दुःस्वर के उदीरक नारकी (द्वीन्द्रियादिक) सहित त्रस जीव होते हैं।

विशेषार्थ — 'सगलोत्ति' अर्थात् सकल पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य जो शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हैं तथा प्रशस्त विहायोगति के उदय में वर्तमान हैं तथा वैक्रिय शरीर रूप उत्तरशरीर में वर्तमान जो सभी तिर्यंच और मनुष्य हैं तथा सभी देव और भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच इष्ट खगति अर्थात् प्रशस्त विहायोगति के उदीरक होते हैं तथा इष्ट स्वर अर्थात् सुस्वर नामकर्म के द्वीन्द्रियादि त्रस जीव उदीरक हैं और गाथोक्त 'अपि' शब्द से पूर्वोक्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचादि जीव जो कि भाषापर्याप्ति से पर्याप्त हैं वे भी यथासंभव उदीरक होते हैं।

पूर्वोक्त से इतर अर्थात् अप्रशस्त विहायोगति और दुःस्वर नामकर्म के त्रस — विकलेन्द्रिय और नारकी तथा यथासंभव कितने ही तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य जीव भी उदीरक जानना चाहिये। तथा —

उस्सासस्स सराण य, पज्जत्ता आणपाणभासासु।
सव्वण्णूणुस्सासो भासा वि य जा न रुज्झंति॥ १५॥

शब्दार्थ — **उस्सासस्स** — श्वासोच्छ्वास के, **सराण** — स्वर के, **पज्जत्ता** — पर्याप्त,

आणपाणभासासु – श्वासोच्छ्वास और भाषा पर्याप्ति से, **सव्वण्णूण** – केवली सर्वज्ञ के, **उस्सासो**– उश्वास, **भासा** – भाषा, **वि** – भी, **य** – और, **जा** – जब तक, **न रुज्झंति** – निरोध नहीं होता है।

गाथार्थ – श्वासोच्छ्वास और भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव क्रमशः उच्छवास और स्वर के उदीरक होते हैं तथा केवली सर्वज्ञ के जब तक इन दोनों का निरोध नहीं होता है तब तक वे भी इन दोनों के उदीरक होते हैं।

विशेषार्थ – उच्छ्वास और स्वर शब्द की आनप्राण और भाषा शब्द के साथ यथाक्रम से योजना करना चाहिये। तब उसका आशय यह हुआ कि उच्छ्वास नामकर्म के उदीरक प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त सभी जीव होते हैं तथा 'सराण य त्ति'[१] अर्थात् सुस्वर और दुःस्वर इन दोनों नामकर्मों के भी पूर्वोक्त भाषापर्याप्ति से पर्याप्त सभी जीव उदीरक होते हैं। यद्यपि स्वर नामकर्मों के उदीरक पूर्व में कहे जा चुके हैं, तथापि भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव ही उदीरक होते हैं, यह विशेषता बतलाने के लिये पुनः यहां उनका उल्लेख किया है तथा सर्वज्ञ केवली भगवन्तों के श्वासोच्छ्वास और भाषा जब तक निरुद्ध नहीं की जाती है तब तक उनके उन दोनों की उदीरणा होती है। उनके निरोध के अनन्तर उदय का अभाव होने से उनकी उदीरणा नहीं होती है। तथा –

देवो सुभगाएज्जाण गब्भवक्कंतिओ य कित्तीए।
पज्जत्तो वज्जित्ता, ससुहुमनेरइय सुहुमतसे॥ १६॥

शब्दार्थ – **देवो** – देव, **सुभगाएज्जाण** – सुभग और आदेय नाम के, **गब्भवक्कतिओ**– गर्भोपक्रान्तिक (गर्भज) **य** – और, **कित्तीए** – यशःकीर्ति के, **पज्जत्तो** – पर्याप्त, **वज्जित्ता** – छोड़कर, **ससुहुम** – सूक्ष्म एकेन्द्रिय, **नेरइय** – नारक, **सुहुमतसे** – सूक्ष्म त्रस (तेजसकायिक, वायुकायिक जीव)।

गाथार्थ – कितने ही देव और गर्भज मनुष्य तिर्यंच सुभग और आदेय नाम के उदीरक होते हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, नारक और सूक्ष्म त्रसों को छोड़कर शेष पर्याप्त जीव यशःकीर्ति नाम के उदीरक होते हैं।

विशेषार्थ – गाथा में 'देवो' इत्यादि शब्द[२] जाति की अपेक्षा एकवचन कहा है। अतः कितने ही देव और कितने ही गर्भोत्पन्न तिर्यंच और मनुष्य जो सुभग और आदेय नामकर्म के उदय में वर्तमान हैं, वे सुभग और आदेय नामकर्म के उदीरक हैं, तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय, नारकों और सूक्ष्म त्रस

१. 'सराण य त्ति' प्राकृत भाषा में द्विवचन नहीं होता है। अतः यहां द्विवचन के अर्थ में बहुवचन का प्रयोग है।

२. देवो, गब्भवक्कंतिओ, पज्जत्तो, इन तीन में जाति सामान्य की अपेक्षा एकवचन है लेकिन अर्थ से बहुवचन जानना।

(तैजसकायिक और वायुकायिक) जीवों को छोड़कर शेष पर्याप्तक नामकर्म के उदय में वर्तमान जीव यश:कीर्ति नामकर्म के उदीरक होते हैं तथा —

गोउत्तमस्स देवा, नरा य वइणो चउण्हमियरासिं।
तव्वइरित्ता तित्थ-गरस्स उ सव्वण्णुयाए भवे॥ १७॥

शब्दार्थ — **गोउत्तमस्स** — उत्तमगोत्र (उच्च गोत्र) के, **देवा** — देव, **नरा** — मनुष्य, **य** — और, **वइणो** — व्रती, **चउण्हमियरासिं** — इतर चार के, **तव्वइरित्ता** — पूर्वोक्त से इतर, **तित्थगरस्स**— तीर्थंकर नाम के, **उ** — और, **सव्वण्णुयाए भवे** — सर्वज्ञपने में।

गाथार्थ — उत्तम गोत्र (उच्च गोत्र) के उदीरक देव और उच्च कुलोत्पन्न व्रती मनुष्य होते हैं तथा इनसे इतर चारों प्रकृतियों (दुर्भग, अनादेय, अयश:कीर्ति और नीचगोत्र) के उदीरक पूर्वोक्त जीवों से भिन्न जानना चाहिये। तीर्थंकर नाम की उदीरणा सर्वज्ञपने में होती है।

विशेषार्थ — सभी देव और मनुष्यों में से कई उच्च कुल में उत्पन्न मनुष्य तथा नीच गोत्र व्रती अर्थात् पंचमहाव्रतों से अलकृंत मनुष्य उच्चगोत्र के उदीरक होते हैं। तथा पूर्वोक्त चारों प्रकृतियों से इतर दुर्भग, अनादेय, अयश:कीर्ति और नीचगोत्र के उदीरक पूर्वोक्त जीवों से व्यतिरिक्त जीव जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

दुर्भग और अनादेय के उदीरक एकेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम तिर्यंच मनुष्य और नारकी होते हैं, जो कि अपर्याप्तक नामकर्म के उदय में वर्तमान हैं। सभी अपर्याप्तक नामकर्म के उदय में वर्तमान सभी सूक्ष्म जीव सभी नैरयिक और सभी सूक्ष्म त्रस जीव अयशकीर्ति नामकर्म के उदीरक होते हैं। नीचगोत्र के उदीरक सभी नारकी, सभी तिर्यंच और मनुष्य विशिष्ट कुल में उत्पन्न एवं व्रती को छोड़कर शेष सभी उदीरक होते हैं।

तीर्थंकर नामकर्म की उदीरणा सर्वज्ञता प्राप्त होने पर ही होती है।, अन्य समय में नहीं। क्योंकि अन्य समय में तीर्थंकर प्रकृति के उदय का अभाव रहता है। तथा —

इंदियपज्जत्तीए, दुसमयपज्जत्तगा उ पाउग्गा।
निद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चज्ज॥ १८॥

शब्दार्थ — **इंदियपज्जत्तीए** — इन्द्रिय पर्याप्ति से, **दुसमय** — दूसरे समय से, **पज्जत्तगाउ** — पर्याप्तक जीव, **पाउग्गा** — प्रायोग्य, **निद्दापयलाणं** — निद्रा और प्रचला के, **खीणरागखवगे** — क्षीणरागी और क्षपक को, **परिच्चज्ज** — छोड़ कर।

गाथार्थ — क्षीणरागी और क्षपक जीवों को छोड़ कर शेष सभी पर्याप्त जीव इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्त होने के बाद दूसरे समय से निद्रा और प्रचला की उदीरणा करने के योग्य होते हैं।

विशेषार्थ — इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्त होने के पश्चात् द्वितीय समय से लेकर शेष सभी कालवर्ती जीव निद्रा और प्रचला की उदीरणा करने योग्य होते हैं।

प्रश्न — क्या सभी जीव इन दोनों प्रकृतियों की उदीरणा करते हैं ?

उत्तर — सभी तो नहीं, किन्तु क्षीणरागी और क्षपकों को छोड़ कर शेष सभी जीव उदीरणा करते हैं। उदय होने पर ही उदीरणा होती है अन्यथा नहीं। किन्तु क्षीणरागी और क्षपक के निद्रा और प्रचला का उदय संभव नहीं है। क्यों कि —

निद्दादुगस्स उदयो खीणगखवगे परिच्चज्ज।

निद्राद्विक का उदय क्षीणरागी और क्षपक को छोड़ कर होता है। यह वचन प्रमाण है। इसलिये इन दोनों को छोड़ कर शेष सभी जीव निद्रा और प्रचला के उदीरक जानना चाहिये।[१] तथा —

निद्दानिद्दाईण वि, असंखवासा य मणुयतिरिया य।
वेउव्वाहारतणू, वज्जित्ता अप्पमत्ते य॥ १९॥

शब्दार्थ — **निद्दानिद्दाईण** — निद्रा निद्रादि के, **असंखवासा** — असंख्यात वर्षायुष्क, **य** — और, **मणुयतिरिया** — मनुष्य, तिर्यंच, **य** — और, **वेउव्वाहारतणू** — वैक्रिय और आहारक शरीरी, **वज्जित्ता** — छोड़कर, **अप्पमत्ते** — अप्रमत्त, **य** — और।

गाथार्थ — निद्रानिद्रादि प्रकृतियों के उदीरक असंख्यातवर्षायुष्क मनुष्य, तिर्यंच, वैक्रिय शरीरी, आहारक शरीरी और अप्रमत्त संयतों को छोड़ कर शेष सभी जीव होते हैं।

विशेषार्थ — असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंच, वैक्रिय शरीरी, आहारक शरीरी और प्रमत्त संयतों को छोड़ कर शेष सभी जीव निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला स्त्यानर्धि के उदीरक जानना चाहिये। तथा —

वेयणियाण पमत्ता, ते ते बंधंतगा कसायाणं।
हासाईछक्कस्स य, अपुव्वकरणस्स चरमंते॥ २०॥

---

१. जो कर्मस्तवकार क्षपक और क्षीणमोह में भी निद्राद्विक के उदय का कथन करते हैं। उनके मत में उदय के होने पर उदीरणा के अवश्यंभावी नियमानुसार क्षीणराग की अंतिम आवलिका को छोड़कर उसके पूर्व तक सभी इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्त जीव निद्रा, पश्वला के उदीरक हैं जैसा कि उनके मतानुसार भी पंचसंग्रह में कहा है "मोत्तूण क्षीणरागं इन्द्रियपज्जत्तगा उदीरत्ति निद्दापयला"

शब्दार्थ – **वेयणियाण** – वेदनीयद्विक के, **पमत्ता** – प्रमत्त जीव, **ते ते** – उन उन, **बंधंतगा** – बंधक जीव, **कसायाणं** – कषायों के, **हासाईछक्कस्स** – हास्यादि षट्क के **य** – और, **अपुव्वकरणस्स** – अपूर्वकरण के, **चरमंते** – चरम समय तक के जीव।

गाथार्थ – वेदनीयद्विक के उदीरक प्रमत्तगुणस्थान तक के जीव होते हैं और जो जीव जिन कषायों के बंधक हैं वे उन उन कषायों के उदीरक हैं तथा हास्यादि षट्क के उदीरक अपूर्वकरण के चरम समयवर्ती जीव हैं।

विशेषार्थ – साता असाता दोनों वेदनीय कर्मों के उदीरक प्रमत्त अर्थात् प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के सभी जीव होते हैं।

जो जो जीव जिन जिन कषायों के बंधक होते हैं वे जीव उन उन कषायों के उदीरक जानना चाहिये। क्योंकि जो जीव जिन कषायों को वेदता है अर्थात् उदय रूप से अनुभव करता है, वह उन्हीं कषायों को बांधता है और **जे वेयइ से बंधइ** ऐसा सिद्धांत है तथा उदय होने पर ही उदीरणा होती है ऐसा नियम है। इसलिये यह युक्तिसंगत ही कहा है कि **ते ते बंधंतगा कसायाणं**। इनमें मिथ्यादृष्टि और सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबंधी कषायों के उदीरक होते हैं। क्योंकि वे उनके वेदक हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव अप्रत्याख्यानावरण कषायों के, देशविरत गुणस्थान तक के जीव प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदीरक होते हैं और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों के उदीरक जीव अपने अपने बंधविच्छेद से पूर्व तक जानना चाहिये।

हास्यादिषट्क के उदीरक अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त के जीव होते हैं। तथा –

जावूणखणो पढमो सुहरइहासाणमेवमियरासिं।
देवा नेरइया वि य, भवट्ठिई केइ नेरइया॥ २१॥

शब्दार्थ – **जावूणखणो पढमो** – उत्पन्न होने के प्रथम अन्तर्मुहूर्त तक, **सुहरइहासाणं**– सातावेदनीय रति और हास्य के, **एवमियरासिं** – इसी तरह इनसे इतर के, **देवा** – देव, **नेरइयावि** – नारक भी, **य** – और, **भवट्ठिई** – भवस्थिति तक, **केइ** – कितने ही, **नेरइया** – नारक।

गाथार्थ – उत्पन्न होने के प्रथम अन्तर्मुहूर्त तक सभी देव सातावेदनीय, रति और हास्य इन तीन प्रकृतियों के उदीरक होते हैं। इसी तरह इनके इतर अर्थात् असातावेदनीय, अरति और शोक के उदीरक सभी नारक होते हैं। किन्तु कितने ही नारक भवस्थिति तक भी इन तीनों प्रकृतियों के उदीरक हैं।

विशेषार्थ – जब तक प्रथम क्षण (मुहूर्त) कुछ कम रहता है, अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त तक

सभी देव नियम से सुख अर्थात् सातावेदनीय, रति और हास्य मोहनीय के उदीरक जानना चाहिये, लेकिन अनन्तर अनियम है। अर्थात् साता आदि के भी उदीरक होते हैं और असाता आदि के भी। इसी प्रकार कुछ कम प्रथम क्षण तक अर्थात् उत्पन्न होने के प्रथम अन्तर्मुहूर्त तक सभी नारक पूर्वोक्त से इतर अर्थात् असातावेदनीय, अरति और शोक प्रकृतियों के नियमतः उदीरक होते हैं। उससे आगे तीर्थंकरों के केवलज्ञान प्राप्ति के समय में विपर्यास भी होता है। अर्थात् तीर्थंकरों के जन्म केवलज्ञान का लाभ आदि के महान अवसरों पर नारकी जीव साता वेदनीय आदि प्रकृतियों के भी उदीरक होते हैं। किन्तु कितने ही नारक समस्त भवस्थितिपर्यन्त असातावेदनीय और शोक के उदीरक होते हैं। इस प्रकार उत्तरप्रकृतियों की उदीरणा के स्वामित्व को जानना चाहिये।

उदीरणास्थान

अब प्रकृतियों के उदीरणास्थानों के विचार को प्रारम्भ करते हैं —

पंचण्हं च चउण्हं, विइए एक्काइ जा दसण्हं तु।
तिगहीणाइ मोहे, मिच्छे सत्ताइ जाव दस॥ २२॥

शब्दार्थ — **पंचण्हं** — पांच का, **च** — और, **चउण्हं** — चार का, **विइए** — दूसरे कर्म में (दर्शनावरण कर्म में), **एक्काइ जा दसण्हंतु** — एक से दस तक के, **तिगहीणाइ** — तीन से हीन, **मोहे** — मोहनीय कर्म में, **मिच्छे** — मिथ्यात्व में, **सत्ताइ जाव दस** — सात से लेकर दस तक के।

गाथार्थ — दूसरे कर्म के पांच का और चार का ये दो उदीरणास्थान है। मोहनीय कर्म में तीन को छोड़ कर एक से लेकर दस तक के नौ उदीरणास्थान होते हैं। उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में सात से लेकर दस तक के चार उदीरणास्थान होते हैं।

विशेषार्थ — दर्शनावरण रूप दूसरे कर्म में पांच प्रकृतियों की अथवा चार प्रकृतियों की एक साथ उदीरणा होती है। उनमें चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण रूप चार प्रकृतियों की छद्मस्थ जीवों के ध्रुव उदीरणा होती है। इन चारों के साथ पांच निद्राओं में से किसी एक निद्रा प्रकृति को मिला देने पर पांच प्रकृतियों की उदीरणा होती है तथा मोहनीय कर्म में तीन से हीन एक से लेकर दस तक की उदीरणा जानना चाहिये। उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म में उदीरणा की दृष्टि से एक को आदि ले कर और तीन को छोड़ कर दस तक के नौ प्रकृतिस्थान होते हैं, यथा — एक, दो, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, दस।

अब इन उदीरणास्थानों के स्वामियों को बतलाते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान - मिच्छे सत्ताइ जाव दस अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में सात से लेकर दस तक के चार उदीरणास्थान होते हैं, यथा —

सात, आठ, नौ, दस।

सप्त प्रकृतिक उदीरणास्थान में मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादिकों में अन्यतम तीन क्रोधादिक लेना चाहिये। क्योंकि एक क्रोध की उदीरणा होने पर सभी क्रोध उदीरणा को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार मान, माया और लोभ भी जानना चाहिये। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का एक साथ उदय न होने से एक साथ उदीरणा नहीं होती है किन्तु तीन क्रोधों की अथवा तीन मानों की अथवा तीन माया की अथवा तीन लोभों की युगपत उदीरणा होती है, इसलिये एक समय में उक्त चारों कषायों में से कोई तीन क्रोधादि ग्रहण किये जाते हैं तथा तीनों वेदों में से कोई एक वेद और हास्य रति युगल और अरति शोक युगल इन दोनों में से एक युगल, इन सात प्रकृतियों की मिथ्यादृष्टि में ध्रुव उदीरणा होती है। इस सप्त प्रकृतिक उदीरणास्थान में चौबीस भंग होते हैं, तथा —

हास्य रति युगल में और अरति शोक युगल में प्रत्येक का एक एक भंग प्राप्त होता है। इस प्रकार दो भंग हुए ये दोनों भंग तीनों ही वेदों में प्राप्त होते हैं इसलिये दोनों का तीन से गुणा करने पर २×३=६ छह भंग हो जाते हैं। ये प्रत्येक छह भंग चारों क्रोधादि कषायों में पाये जाते हैं। इसलिये छह को चार से गुणा करने पर चौबीस भंग हो जाते हैं।

उक्त सप्तप्रकृतिक उदीरणास्थान में भय अथवा जुगुप्सा अथवा अनन्तानुबंधी इन तीन में से किसी एक को मिला देने पर आठ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। यहां पर भय आदि में से एक एक के चौबीस भंग प्राप्त होते हैं इसलिये इस अष्टप्रकृतिक उदीरणास्थान में तीन चौबीसी प्रमाण भंग जानना चाहिये।

प्रश्न — मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी कषायों का उदय अवश्य संभव है और उदय होने पर उदीरणा भी अवश्य संभव है, तो फिर अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से रहित मिथ्यादृष्टि कैसे प्राप्त होगा ? जिससे उसके अनन्तानुबंधी से रहित सात प्रकृतियों की अथवा आठ प्रकृतियों की उदीरणा संभव हो ?

उत्तर — सम्यग्दृष्टि होते हुए किसी जीव ने सर्वप्रथम अनन्तानुबंधी की विसंयोजना की और इतना मात्र (करके) रुक गया किन्तु उस प्रकार की सामग्री के अभाव से मिथ्यात्व आदि दर्शनमोह की प्रकृतियों के क्षय के लिये उद्यत नहीं हुआ। पुनः कालान्तर में मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ मिथ्यात्व के प्रत्यय (निमित्त) से पुनः अनन्तानुबंधी कषायों को बांधता है तब बंधावलिका जब तक नहीं बीतती है तब तक उस मिथ्यादृष्टि जीव के उन अनन्तानुबंधी कषायों का उदय नहीं होता है और उदय के अभाव से उसके उदीरणा का भी अभाव रहता है। किन्तु बंधावलिका के बीत जाने पर उदय संभव होने

से उदीरणा होती ही है।

प्रश्न — बंध समय से लेकर आवलिका काल व्यतीत होने पर भी उदय कैसे संभव है ? क्योंकि अबाधा काल के व्यतीत हो जाने पर उदय होता है और अनन्तानुबंधी कषायों का अबाधा काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट चार हजार वर्ष है।

उत्तर — यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि बंध समय से लेकर उन अनन्तानुबंधी कषायों की सत्ता होती है और सत्ता होने पर उसमें पतद्ग्रहता आ जाती है और उस पतद्ग्रहता के होने पर चारित्र मोहनीय की शेष प्रकृतियों के दलिकों का संक्रमण होने लगता है और संक्रमण हुए कर्मदलिकों का संक्रमावलि व्यतीत होने पर उदय होने लगता है और उदय होने पर उदीरणा होने लगती हैं। इसलिये बंध समय के अनन्तर आवलिका के व्यतीत होने पर उदीरणा होने के कथन में विरोध नहीं होता है। उसी पूर्वोक्त सप्त प्रकृतिक उदीरणास्थान में भय और जुगुप्सा के अथवा भय और अनन्तानुबंधी किसी एक कषाय के मिलाने पर नौ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। यहां पर भी एक एक विकल्प में पूर्वोक्त क्रम से चौबीस भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की तीन चौबीसी जानना चाहिये।

उसी पूर्वोक्त सप्तप्रकृतिक उदीरणास्थान में भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबंधी कोई एक कषाय का युगपत प्रक्षेप करने पर दस प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस दसप्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की एक ही चौबीसी होती है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के चार उदीरणास्थान जानना चाहिये। अब सास्वादन सम्यग्दृष्टि आदि के उदीरणास्थानों को बतलाते हैं —

सासणमीसे नव, अविरए य छाई परम्मि पंचाई।
अट्ठ विरए य चउ-राइ सत्त छच्चोवरिल्लंमि॥ २३॥

शब्दार्थ — **सासणमीसे** — सास्वादन और मिश्र में, **नव** — नौ, **अविरए** — अविरत में, **छाई** — छह आदि, **परम्मि** — आगे के गुणस्थान में (देशविरत में) **पंचाई** — पांच आदि, **अट्ठ** — आठ, **विरए** — विरत में, **य** — और, **चउराइ** — चार आदि, **सत्त** — सात, **छच्चोवरिल्लंमि** — छह तक ऊपर के गुणस्थान में (अपूर्वकरण में)।

गाथार्थ — सास्वादन और मिश्र गुणस्थान में सात को आदि लेकर नौ तक के तीन उदीरणास्थान हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि में छह को आदि लेकर नौ तक के चार उदीरणास्थान हैं देशविरत में पांच को आदि लेकर आठ तक के चार उदीरणास्थान, प्रमत्त और अप्रमत्त विरत में चार को आदि लेकर सात

तक के चार उदीरणा स्थान और इससे ऊपर (अपूर्वकरण) में चार को आदि लेकर छह तक के तीन उदीरणास्थान होते हैं।

विशेषार्थ — गाथा में दूसरे से लेकर आठवें गुणस्थान के उदीरणास्थानों को बताया है। वे इस प्रकार हैं —

सास्वादनसम्यग्दृष्टि और मिश्रदृष्टि में सात से लेकर नौ प्रकृतिक तक तीन उदीरणास्थान होते हैं, यथा - सात, आठ, नौ।

सास्वादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान — में अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि कषायों में से कोई चार क्रोधादिक, तीन वेदों में से कोई एक वेद, युगलद्विक में से कोई एक युगल इन सात प्रकृतियों की ध्रुव उदीरणा होती है। यहां पूर्वोक्त क्रमानुसार भंगों की एक चौबीसी होती है। इसी सप्त प्रकृतिक उदीरणास्थान में भय या जुगुप्सा के मिलाने पर आठ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस अष्टप्रकृतिक उदीरणा स्थानों में भंगों की दो चौबीसी होती हैं। उक्त सप्त प्रकृतिक उदीरणास्थान में भय और जुगुप्सा का युगपत प्रक्षेप करने पर नौ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस नौप्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की एक चौबीसी होती है।

सम्यग्दृष्टि - मिथ्यादृष्टि गुणस्थान — में अनन्तानुबंधी को छोड़कर कोई तीन क्रोधादिक, तीन वेदों में से कोई एक वेद, युगलद्विक में से कोई एक युगल और सम्यग्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों की ध्रुव उदीरणा होती है। यहां पूर्वोक्त क्रम से भंगों की एक चौबीसी होती है तथा इसी सप्तक में भय और जुगुप्सा में से किसी एक के मिलाने पर आठ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस अष्टप्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की दो चौबीसी होती हैं और भय, जुगुप्सा को युगपत मिलाने पर नौ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस नौप्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की एक चौबीसी होती है।

अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान — के उदीरणास्थान एवं भंगों की संख्या यह है — अविरए य छाई अर्थात् अविरत यानी अविरत सम्यग्दृष्टि गुणसथान में छह प्रकृतियों को आदि लेकर नौ तक के चार उदीरणास्थान होते हैं, यथा — छह, सात, आठ, नौ। जो इस प्रकार हैं —

औपशमिक सम्यग्दृष्टि के अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि अविरत के अनन्तानुबंधी को छोड़ कर कोई तीन क्रोधादिक, तीन वेदों में से कोई एक वेद, युगलद्विक में से कोई एक युगल, इन छह प्रकृतियों की ध्रुव उदीरणा होती है। इस छह प्रकृतिक उदीरणास्थान में पूर्व की तरह भंगों की एक चौबीसी होती है। इसी षट्प्रकृतिक स्थान में भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व इनमें से किसी एक का प्रक्षेप करने पर सात प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस सप्तप्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की तीन

चौबीसी प्राप्त होती है तथा पूर्वोक्त इसी तरह छह प्रकृतिक उदीरणास्थान में भय, जुगुप्सा के अथवा भय, वेदक सम्यक्त्व के अथवा जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व के युगपत प्रक्षेपण करने पर आठ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। यहां पर एक एक विकल्प में भंगों की एक एक चौबीसी प्राप्त होती है। इसलिये भंगों की तीन चौबीसी होती हैं तथा पूर्वोक्त छह प्रकृतिक उदीरणास्थान में भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व इन तीनों का युगपत प्रक्षेप करने पर नौ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस नौ प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है।

देशविरत गुणस्थान — अविरत सम्ययग्दृष्टि गुणस्थान के अनन्तर परम्मि पंचाई अट्ठ अर्थात् देशविरत गुणस्थान में पांच आदि लेकर आठ तक के चार उदीरणास्थान होते हैं यथा — पांच, छह, सात, आठ। जो इस प्रकार हैं —

प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संज्ञक क्रोधादिक कषायों में से कोई दो क्रोधादिक, तीन वेदों में से कोई एक वेद, युगलद्विक में से कोई एक युगल इन पांच प्रकृतियों की देशविरत के ध्रुवउदीरणा होती है, जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि के जानना चाहिये। इस पंचप्रकृतिक उदीरणास्थान में पूर्वोक्त क्रम से भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है। इसी पंच प्रकृतिक उदीरणास्थान में भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व इनमें से किसी एक के मिलाने पर छह की उदीरणा होती है। इस छह प्रकृतिक उदीरणास्थान में भय आदि की अपेक्षा तीन विकल्प होते हैंऔर एक एक विकल्प में भंगों की एक एक चौबीसी होती है। इसलिये इस स्थान में भंगों की तीन चौबीसी होती हैं। उसी पूर्वोक्त पंचप्रकृतिक उदीरणास्थान में भय, जुगुप्सा का अथवा भय, वेदक सम्यक्त्व का अथवा जुगुप्सा, वेदक सम्यक्त्व का एक साथ प्रक्षेपण करने पर सात प्रकृतियों की उदीरणा होती है। यहां पर भी भंगों की तीन चौबीसी होती हैं तथा इसी पूर्वोक्त पंचप्रकृतिक उदीरणास्थान में भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व का युगपत प्रक्षेपण करने पर आठ की उदीरणा होती है। इस अष्ट प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है।

प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थान — इन दोनों गुणस्थानों में उदीरणास्थानों के भेदों का अभाव होने से दोनों के उदीरणास्थानों को एक साथ कहने के लिये गाथा में संकेत दिया है - विरए य चउराइ सत्तति, अर्थात् प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत में चार से लेकर सात प्रकृतिक तक के चार उदीरणास्थान होते हैं यथा - चार, पांच, छह, सात।

संज्वलन क्रोधादि में से कोई एक क्रोधादि , तीन वेदों में से कोई एक वेद, युगलद्विक में से कोई एक युगल, इन चार प्रकृतियों की क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा औपशमिक सम्यग्दृष्टि विरत के ध्रुव उदीरणा होती है। इस उदीरणास्थान में भंगों की एक चौबीसी होती है। इसी चतुष्क में भय,

जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व इन तीन में से किसी एक को मिलाने पर पांच की उदीरणा होती है। इस स्थान में भंगों की तीन चौबीसी होती है तथा उसी चतुष्क स्थान में भय-जुगुप्सा का अथवा भय-वेदक सम्यक्त्व का अथवा जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व का युगपत प्रक्षेपण करने पर छह प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस स्थान में भी भंगों की तीन चौबीसी होती हैं। भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व को पूर्वोक्त चार प्रकृतियों में युगपत प्रक्षेप करने पर सात प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां भंगों की एक चौबीसी होती है।

अपूर्वकरण गुणस्थान — के उदीरणास्थानों के संकेत के लिये गाथा में पद है — छच्चोवरिल्लंमि अर्थात् विरत से उपरितन अपूर्वकरण गुणस्थान में चार को आदि ले कर छह प्रकृतिक तक के तीन उदीरणास्थान होते हैं, वे इस प्रकार हैं यथा — चार, पांच, छह।

चारों संज्वलन क्रोधादि कषायों में से कोई एक क्रोधादि कषाय, तीन वेदों में से कोई एक (अन्यतम)वेद और युगलद्विक में से एक (अन्यतर) युगल, इन चार प्रकृतियों की अपूर्वकरण गुणस्थान में ध्रुव उदीरणा होती है। इस स्थान में भंगों की एक चौबीसी होती है। इसी चतुष्क में भय या जुगुप्सा के मिलाने पर पांच की उदीरणा होती है। इस पंचप्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की दो चौबीसी होती हैं। भय और जुगुप्सा को एक साथ मिलाने पर छह प्रकृतियों की उदीरणा होती है। इस उदीरणास्थान में भंगों की एक चौबीसी होती है।

ये अपूर्वकरण सम्बन्धी भंगों की चौबीसियां परमार्थतः प्रमत्त अप्रमत्त विरत की चौबीसियों से भिन्न रूप नहीं हैं। इसलिये इनकी आगे पृथक् गणना नहीं की जायेगी।

अब अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानों के उदीरणास्थानों का कथन करते हैं —

अनियट्टिम्मि दुगेगं लोभो तणुरागेगो चउवीसा।
एक्कगछक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्काओ॥ २४॥

शब्दार्थ — **अनियट्टिम्मि** — अनिवृत्तिकरण में, **दुगेगं** — दो और एक, **लोभो** — लोभ, **तणुराग** — सूक्ष्मसंपराय वाले, **एगो** — एक, **चउवीसा** — चौबीसियां, **एक्कगछक्केक्कारस** — एक, छह, ग्यारह, **दस सत्त चउक्क** — दस, सात, चार, एक, **एक्काओ** — एक एक स्थान में।

गाथार्थ — अनिवृत्तिकरण में दो और एक प्रकृतिक ये दो उदीरणास्थान होते हैं। सूक्ष्मसंपराय में एक लोभ का उदीरणास्थान है। चौबीसियां (दस से चार तक के) एक एक स्थान में अनुक्रम से एक , छह, ग्यारह, दस, सात, चार, एक होती हैं।

विशेषार्थ — गाथा में नौवें और दसवें गुणस्थान के उदीरणास्थानों को बताया है। जो इस

प्रकार है -

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान — इसमें दो उदीरणास्थान हैं, यथा — दो और एक प्रकृतिक। इनमें चारों संज्वलन क्रोधादि कषायों में से कोई एक क्रोधादि कषाय, तीन वेदों में से कोई एक वेद। इस दो प्राकृतिक उदीरणास्थान में तीन वेदों और चारों संज्वलन कषायों का परस्पर गुणा करने से बारह भंग होते हैं। तथा वेदों के क्षय हो जाने पर अथवा उपशांत हो जाने पर संज्वलन क्रोधादि कषायों में से कोई एक क्रोधादि कषाय उदीरित होती है। इस एक प्रकृतिक उदीरणास्थान में चार भंग होते हैं।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान - 'लोभो तणुरागेगो' तनुराग अर्थात् सूक्ष्म लोभ वाले सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती जीव के सूक्ष्म लोभ की कृष्टि का वेदन करते हुए मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में एक लोभ ही उदीरणा के योग्य होता है।

उदीरणास्थानों की चौबीसियों का संकलन

अब चार को आदि लेकर दस तक के उदीरणास्थानों में विरत गुणस्थान के अंत तक जितनी चौबीसियां होती हैं, उनका पश्चानुवर्ती क्रम से निरूपण करते हैं - चउवीसेत्यादि, अर्थात् दस प्रकृतियों की उदीरणा में एक चौबीसी, नौ की उदीरणा में छह चौबीसी, आठ की उदीरणा में ग्यारह चौबीसी, सात की उदीरणा में दस चौबीसी, छह की उदीरणा में सात चौबीसी, पाँच की उदीरणा में चार चौबीसी और चार की उदीरणा में एक चौबीसी होती है। इन सब चौबीसियों का यथास्थान पहले उल्लेख कर दिया है। यहां पर उनका संकलन अपनी बुद्धि से विचार लेना चाहिये।

सरलता से समझने के लिये गुणस्थानों में मोहनीय कर्म के उदीरणास्थानों और भंगों की संख्या का दर्शक प्रारूप इस प्रकार है —

उदीरणा स्थान	मिथ्यात्व		सास्वादन		मिश्र		अविरत		देशविरत		विरत (प्रमत्ता प्रमत्त)		अपूर्वकरण		अनिवृत्ति करण भंग	सूक्ष्म संपराय भंग	कुल चौबीसी	कुल भंग
	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग				
१० प्र.	१	२४	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१	२४
९ प्र.	३	७२	१	२४	१	२४	१	२४	×	×	×	×	×	×	×	×	६	१४४
८ प्र.	३	७२	२	४८	२	४८	३	७२	१	२४	×	×	×	×	×	×	११	२६४
७ प्र.	१	२४	१	२४	१	२४	३	७२	३	७२	१-१	२४-२४	×	×	×	×	१०+१=११	२४०+२४ =२६४
६ प्र.	×	×	×	×	×	×	१	२४	३	७२	३-३	७२-७२	१	२४	×	×	७+४=११	१६८+९६ =२६४
५ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	१	२४	३-३	७२-७२	२	४८	×	×	४+५=९	९६+१२० =२१६
४ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१-१	२४-२४	१	२४	×	×	१+२=३	७२
२ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१२	×	×	१२
१ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	४	१	×	५
योग	८	१९२	४	९६	४	९६	८	१९२	८	१९२	८-८	१९२ -१९२	४	९६	१६	१	४०+१२=५२	१०२५ +२४० =१२६५

ज्ञातव्य — १. गाथा में सामान्य से विरत शब्द के द्वारा प्रमत्त और अप्रमत्त दोनों प्रकार के विरतों का ग्रहण करके पृथक् पृथक् उनकी चौबीसी और भंगों का विवेचन नहीं किया गया है। लेकिन सरलता से समझने के लिये प्रारूप में उनकी चौबीसी और भंगों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है।

२. गाथा में विरत गुणस्थान तक की चौबीसी और भंगों को बतलाया है लेकिन अपूर्वकरण गुणस्थान संबंधी ४,५,६ प्रकृतिक उदीरणा स्थानों की चौबीसी और उनके भंगों का उल्लेख नहीं किया गया है, जिन्हें स्पष्टतया समझने के लिये तथा अनिवृतिकरण और सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानों में भंगों को यहां पृथक् से बतलाया है।

३. उक्त दोनों स्थितियों को ध्यान में रखकर सामान्य से विरत को ग्रहण करके एक प्रकृतिक उदीरणा स्थान तक की ४० चौबीसियां और १०२५ भंगों तथा विरत के प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो भेदों की अपेक्षा अधिक आठ और अपूर्वकरण की चार कुल १२ चौबीसियों और इनके भंगों को अलग से दर्शाकर प्रारूप में सब चौबीसियों और उनके कुल भंगों का योग बतलाया है।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के उदीरणास्थानों का विवेचन जानना चाहिये।

नामकर्म के उदीरणा स्थान

अब नामकर्म के उदीरणास्थानों का प्रतिपादन करते हैं —

एगबियालापण्णाइ, सत्तपण्णांत गुणिसु नामस्स।
नव सत्त तिण्णि अट्ठ य, छ पंच य अप्पमत्ते दो॥ २५॥

एक्कं पंचसु एक्कम्मि, अट्ठट्ठाणक्कमेण भंगा वि।
एक्कग तीसेक्कारस, इगवीस सबार तिसए य॥ २६॥

इगवीसा छच्च सया, छहअहिया नवसया य एगहिया।
अउणुत्तराणि चउदस-सयाणि गुणनउइ पंचसया॥ २७॥

शब्दार्थ — **एगबियाला** — इकतालीस, बयालीस, **पण्णाई** — पचास आदि, **सत्तपण्णांत**— सत्तावन तक, **गुणिसु** — गुणस्थानों में, **नामस्स** — नामकर्म के, **नवसत्ततिण्णिअट्ठ** — नौ, सात, तीन, आठ, **छ पंच** — छह, पांच, **य** — और, **अप्पमत्ते** — अप्रमत्त में, **दो** — दो।

एक्कं — एक, **पंचसु** — पांच गुणस्थानों में, **एक्कम्मि** — एक गुणस्थान में, **अट्ठ** — आठ, **ट्ठाणक्कमेण** — स्थान के क्रम से, **भंगावि** — भंग भी, **एक्कग** — एक, **तीसेक्कारस** — तीस, ग्यारह, **इगवीस** — इक्कीस, **सबार** — बारह सहित, **तिसए** — तीन सौ, **य** — और।

इगवीसा – इक्कीस, **छच्चसया** – छह सौ, **छहअहिया** – छह अधिक, **नवसया** – नौ सौ, **य** – और, **एगहिया** – एक अधिक, **अउणुत्तराणि** – उनहत्तर, **चउद्दससयाणि** – चौदह सौ, **गुणनउइ** – नवासी, **पंचसया** – पांच सौ।

गाथार्थ – नामकर्म के इकतालीस, बयालीय और पचास से लेकर सत्तावन प्रकृतिक तक के दस उदीरणास्थान होते हैं और मिथ्यात्व से लेकर प्रमत्त संयत गुणस्थान तक क्रम से नौ, सात, तीन, आठ, छह, पांच और अप्रमत्त में दो उदीरणास्थान होते हैं।

ऊपर के पांच गुणस्थानों में एक और तदनन्तर एक गुणस्थान में आठ उदीरणा स्थान होते हैं। इन उदीरणा स्थानों के भंग क्रम से एक, तीस, ग्यारह, इक्कीस, तीन सौ बारह, इक्कीस, छह सौ छह, नौ सौ एक, चौदह सौ उनहत्तर, पांच सौ नवासी होते हैं।

विशेषार्थ – नामकर्म के इकतालीस, बयालीस, पचास, इक्यावन, बावन, तिरेपन, चउवन, पचपन, छप्पन और सत्तावन प्रकृतिक ये दस उदीरणा स्थान होते हैं।

सयोगी केवली के उदीरणास्थान -

इन स्थानों में तैजससप्तक, वर्णादि बीस अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ और निर्माण, इन तेतीस प्रकृतियों की ध्रुव उदीरणा होती है। इनमें मनुष्यगति पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, इन आठ प्रकृतियों को मिलाने पर इकतालीस प्रकृतिक उदीरणा स्थान होता है। इन इकतालीस प्रकृतियों के उदीरक केवलीसमुद्घातगत और कार्मणकाययोग में वर्तमान सामान्य केवली भगवान होते हैं।

इन्हीं इकतालीस प्रकृतियों में तीर्थंकर नाम को मिलाने पर वियालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इसके उदीरक केवलीसमुद्घात कार्मणकाययोग में वर्तमान तीर्थंकर केवली होते हैं।

पूर्वोक्त इकतालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान में औदारिकसप्तक छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान वज्रऋषभनाराचसंहनन, उपघात और प्रत्येक नाम इन ग्यारह प्रकृतियों को मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है इसमें छह संस्थानों की अपेक्षा छह भंग होते हैं। वे वक्ष्यमान सामान्य मनुष्य के भंगों में ग्रहण करने से ग्रहण किये गये जानना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। इस बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान के उदीरक केवलीसमुद्रघातगत औदारिक, मिश्रकाययोग में वर्तमान सयोगीकेवली होते हैं।

इसी बावन प्रकृतिक स्थान में तीर्थंकर नामकर्म को मिलाने पर तिरेपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इसमें केवल समचतुरस्रसंस्थान कहना चाहिये। इस स्थान के उदीरक भी औदारिक,

मिश्रकाययोग में वर्तमान सयोगी केवली तीर्थंकर जानना चाहिये।[१]

इसी बावन प्रकृतिक स्थान में पराघात उच्छ्वास प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति में से कोई एक विहायोगति, सुस्वर, दुःस्वर में से कोई एक स्वर नामकर्म इन चार प्रकृतियों को मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इसे औदारिककाययोग में वर्तमान सयोगीकेवली करते हैं।

पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति और सुस्वर नाम को तिरेपन प्रकृतिक स्थान में प्रक्षेप करने पर सत्तावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इसके उदीरक औदारिककाययोग में वर्तमान तीर्थंकर सयोगीकेवली होते हैं।

इसी सत्तावन प्रकृतिक स्थान में से वचनयोग का निरोध करने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है तथा इन छप्पन प्रकृतिक स्थानों में से उच्छ्वास नाम का निरोध कर देने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणा स्थान होता है अथवा अतीर्थंकर केवली (सामान्य केवली) के पूर्वोक्त छप्पन प्रकृतिक स्थान में से वचनयोग का निरोध करने पर पचपन प्रकृतिक स्थान होता है और उनमें से अर्थात् सामान्य केवली संबंधी स्थान में से उच्छ्वास के निरोध कर देने पर चौपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है।

यहां पर बावन और चउवन प्रकृतिक स्थानों को छोड़ कर शेष छह स्थानों में सामान्य मनुष्यों से विलक्षण एक एक विशेष भंग प्राप्त होता है। इसलिये केवली के सर्व भंगों की संख्या छह होती है।[२] इनमें इकतालीस प्रकृतिक एक उदीरणा स्थान अतीर्थंकर केवली के होता है और शेष पाँच उदीरणा स्थान तीर्थंकर केवली के होते हैं।

सयोगीकेवली भगवंतों में प्राप्त उदीरणास्थानों और भंगों का प्रारूप इस प्रकार है —

उदीरणा स्थान	भंग (स्वमत से)	भंग (परमत से)	
४१ प्रकृतिक	१	१	यह स्थान सामान्य
४२ प्रकृतिक	१	१	केवली के ही होता
५३ प्रकृतिक	१	१	है। तीर्थंकर केवली

१. यहां समचतुरस संस्थान को ही ग्रहण करने से संस्थान संबंधी छह भंग नहीं होते हैं।

२. बावन और चउवन प्रकृतियों की उदीरणा केवली भगवान और सामान्य मनुष्य दोनों के होती है। इसलिये इन दोनों के भंग केवली में प्राप्त होने पर भी पुनरावृति न होने की दृष्टि से उनको यहां न गिनकर सामान्य मनुष्यों के भंगों को गिना है। यहां तो केवली भगवान में ही प्राप्त होने वाले स्थानों और उनके भंगों को बतलाया है।

५५ प्रकृतिक	१	१	के नहीं।
५६ प्रकृतिक	१	१	" "
५७ प्रकृतिक	१	१	" "
योग - ६	**६**	**६**	" "

इस प्रकार सयोगीकेवली के उदीरणास्थानों को जानना चाहिये।

एकेन्द्रिय के उदीरणा स्थान

अब एकेन्द्रिय के उदीरणास्थानों का विचार करते हैं - एकेन्द्रिय के पाँच उदीरणास्थान होते हैं यथा — बयालीस, पचास, इक्यावन, बावन और तिरेपन।

पूर्वोक्त ध्रुव उदीरणा वाली तेतीस प्रकृतियों के साथ तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, स्थावर नाम, एकेन्द्रिय जाति, सूक्ष्म बादर में से कोई एक, पर्याप्त अपर्याप्त में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय, यश:कीर्ति, अयश:कीर्ति में से कोई एक इन नौ प्रकृतियों को मिला देने पर बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में पाँच भंग होते हैं। जो इस प्रकार हैं —

बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा पर्याप्त-अपर्याप्त, अयश:कीर्ति के साथ चार भंग होते हैं। बादर पर्याप्त और यश:कीर्ति के साथ एक भंग होता है क्योंकि सूक्ष्म और अपर्याप्त के साथ यश:कीर्ति का उदय नहीं होता है और उदय के अभाव में उदीरणा भी नहीं होती है। इस कारण तदाश्रित विकल्प भी नहीं होता है। यह बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान अपान्तराल गति में वर्तमान एकेन्द्रिय जीव के जानना चाहिये।

इस बयालीस प्रकृतिक स्थान में शरीरस्थ एकेन्द्रिय के औदारिक शरीर , औदारिक संघात, औदारिक बंधनचतुष्क, हुंडक संस्थान उपघात, प्रत्येक और साधारण में से कोई एक इन नौ प्रकृतियों का प्रक्षेप करने पर और तिर्यंचानुपूर्वी को कम करने पर पचास प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में दस भंग होते हैं यथा — बादर पर्याप्तक[1] के प्रत्येक साधारण और यश:कीर्ति, अयश:कीर्ति की अपेक्षा चार भंग, अपर्याप्तक बादर के प्रत्येक साधारण की अपेक्षा अयश:कीर्ति के साथ दो भंग और सूक्ष्म के पर्याप्त और प्रत्येक साधारण के द्वारा अयश:कीर्ति के साथ चार भंग इस प्रकार सब दस भंग होते हैं। विक्रिया करने वाले बादर वायुकाय के औदारिक षट्क के स्थान में वैक्रियषट्क जानना चाहिये, तब उसके भी पचास प्रकृतियां ही उदीरणा योग्य होती हैं। यहां पर केवल बादर पर्याप्त,

१. यहां पर्याप्तक और अपर्याप्तक का अर्थ लब्धि पर्याप्त और लब्धि अपर्याप्त जानना चाहिये।

प्रत्येक और अयश:कीर्ति के साथ एक ही भंग होता है। क्योंकि तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव के साधारण और यश:कीर्ति का उदय नहीं होता है और उदय के अभाव से उदीरणा भी नहीं होती है, इसलिये तदाश्रित भंग भी प्राप्त नहीं होते हैं। इस प्रकार पचास प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की संख्या ग्यारह होती है।

तदनन्तर शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त इसके (एकेन्द्रिय जीव के) पचास प्रकृतियों में पराघात के मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में छह भंग होते हैं यथा - बादर के प्रत्येक साधारण यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति पदों की अपेक्षा चार भंग तथा सूक्ष्म के प्रत्येक और साधारण की अपेक्षा अयश:कीर्ति के साथ दो भंग होते हैं। विक्रिया करने वाले बादर वायुकायिक जीव के शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होने पर पराघात को पूर्वोक्त पचास में मिलाने पर इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस प्रकार इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की सर्व संख्या सात होती है।

तत्पश्चात् प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास के मिलाने पर बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में भी भंग पूर्व के समान छह होते हैं। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास के उदय नहीं होने पर और आतप, उद्योत में से किसी एक के उदय होने पर बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी छह भंग होते हैं यथा — उद्योत सहित बादर के प्रत्येक, साधारण यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति पदों से प्रत्येक के चार भंग होते हैं। आतप सहित बादर जीव के प्रत्येक, यश:कीर्ति, अयश:कीर्ति पदों के साथ दो भंग होते हैं। प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त और विक्रिया करने वाले बादर वायुकायिक के उच्छ्वास को मिलाने पर पूर्वोक्त इक्यावन प्रकृति वाला स्थान बावन प्रकृतिक हो जाता है और उसमें पूर्व के समान एक ही भंग होता है। तैजसकायिक और वायुकायिक के आतप, उद्योत और यश:कीर्ति प्रकृतियों के उदय के अभाव से उदीरणा नहीं होती है। इसलिये तदाश्रित भंग भी यहां प्राप्त नहीं होते हैं। इस प्रकार बावन प्रकृतिक उदीरणा स्थान में भंगों की सर्व संख्या तेरह होती है।

प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास सहित बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में आतप और उद्योत में से किसी एक के मिलाने पर तिरेपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में वे ही छह भंग होते हैं, जो पहले आतप उद्योत में से किसी एक के साथ बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान मे कहे गये हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रिय में भंगों की सर्व संख्या बयालीस (५+११+७+१३+६=४२) होती है।

विकलेन्द्रियों के उदीरणास्थान

द्वीन्द्रिय जीवों के छह उदीरणास्थान होते है। यथा — बयालीस, बावन, चउवन, पचपन, छप्पन और सत्तावन प्रकृतिक।

इनमें तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय जाति, त्रस नाम, बादर नाम, पर्याप्त, अपर्याप्त में से कोई एक दुर्भग, अनादेय, यश:कीर्ति-अयश:कीर्ति में से कोई एक इन नौ प्रकृतियों को पूर्वोक्त ध्रुव उदीरणा वाली तेतीस प्रकृतियों के साथ मिलाने पर बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यह बयालीस प्रकृतिक स्थान अपान्तराल गति में वर्तमान द्वीन्द्रिय जीव के जानना चाहिये। इस स्थान में तीन भंग होते हैं, यथा - अपर्याप्त नामकर्म के उदय में वर्तमान जीव के अयश:कीर्ति के साथ एक भंग होता है तथा पर्याप्तक नामकर्म के उदय में वर्तमान जीव के यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति के साथ दो भंग होते हैं।

तत्पश्चात् शरीरस्थ द्वीन्द्रिय जीव के औदारिकसप्तक हुंडकसंस्थान, सेवार्तसंहनन उपघात, प्रत्येक नाम इन ग्यारह प्रकृतियों को मिलाने पर और तिर्यंचानुपूर्वी के निकालने पर बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में तीन भंग होते हैं। वे भी पूर्व स्थान के समान जानना चाहिये।

तत्पश्चात् शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के विहायोगति और पराघात के प्रक्षेप करने पर चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति की अपेक्षा दो भंग होते हैं।

पुन: प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास नाम को मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान दो भंग होते हैं। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास का उदय नहीं होने पर और उद्योत नामकर्म के उदय होने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान दो भंग होते हैं। इस प्रकार पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में सर्व भंग चार होते हैं।

तत्पश्चात् भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास सहित पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में सुस्वर और दु:स्वर में से किसी एक के मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में सुस्वर और दु:स्वर यश:कीर्ति, अयश:कीर्ति पदों की अपेक्षा चार भंग होते हैं। अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के स्वर नाम का उदय नहीं होने पर और उद्योत नामकर्म का उदय होने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान में सर्व भंग छह होते हैं।

पुन: भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव के स्वर सहित छप्पन प्रकृतिक स्थान में उद्योत नामकर्म के

मिलाने पर सत्तावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में सुस्वर, दुःस्वर, और यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति पदों की अपेक्षा चार भंग होते हैं।

इस प्रकार द्वीन्द्रियों में सर्व भंग बाईस (३+३+२+४+६+४=२२) होते हैं।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में प्रत्येक के उदीरणास्थान जानना चाहिये। विशेष यह है कि त्रीन्द्रिय जीवों के उदीरणास्थान कहते समय द्वीन्द्रिय जाति के स्थान पर त्रीन्द्रिय जाति कहना चाहिये और चतुरिन्द्रिय जीवों के कहते समय चतुरिन्द्रिय जाति कहना चाहिये। इन दोनों में भी प्रत्येक के बाईस भंग जानना चाहिये।

इस प्रकार विकलेन्द्रिय जीवों के भंगों की सर्व संख्या छियासठ होती है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में प्राप्त उदीरणास्थानों और उनके भंगों का प्रारूप इस प्रकार है –

उदीरणा स्थान	भंग संख्या				विशेष
	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	
४२ प्रकृतिक	५	३	३	३	एकेन्द्रिय में
५० प्रकृतिक	११	x	x	x	४२, ५०, ५१, ५२
५१	७	x	x	x	५३ प्रकृतिक ५ तथा
५२	१३	३	३	३	विकलेन्द्रियों में
५३	६	x	x	x	४२, ५२, ५४, ५५, ५६
५४	x	२	२	२	५७ प्रकृतिक ६ उदीरणा-
५५	x	४	४	४	स्थान होते हैं
५६	x	६	६	६	
५७	x	४	४	४	
योग	४२	२२	२२	२२	

विक्रियालब्धिरहित तिर्यंच पंचेन्द्रियों के उदीरणास्थान

विक्रियालब्धिरहित तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के छह उदीरणास्थान होते हैं, यथा – बयालीस,

बावन, चउवन, पचपन, छप्पन और सत्तावन प्रकृतिक।

इनमें तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी पंचेन्द्रिय जाति, त्रस नाम, बादर नाम, पर्याप्त, अपर्याप्त में से कोई एक, सुभग आदेय और दुर्भग अनादेय युगल इन दोनों युगलों में से कोई एक युगल यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति में से कोई एक ये नौ प्रकृतियां, पूर्वोक्त ध्रुव उदीरणा वाली तेतीस प्रकृतियों के साथ मिलाने पर बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यह बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान अपान्तराल गति में वर्तमान जीव के जानना चाहिये। इस स्थान में पांच भंग होते हैं, वे इस प्रकार हैं कि पर्याप्त नामकर्म के उदय में वर्तमान जीव सुभग, आदेय युगल, दुर्भग, अनादेय युगल और यश:कीर्ति की अपेक्षा चार भंग होते हैं। अपर्याप्त नामकर्म के उदय में वर्तमान जीव के तो दुर्भग, अनादेय और अयश:कीर्ति की अपेक्षा एक ही भंग होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

पर्याप्तक जीव की अपेक्षा —

१. यश:कीर्ति - सुभग - आदेय

२. यश:कीर्ति - दुर्भग - अनादेय

३. अयश:कीर्ति - सुभग - आदेय

४. अयश:कीर्ति - दुर्भग - अनादेय

तथा अपर्याप्तक जीव की अपेक्षा —

१. अयश:कीर्ति - दुर्भग - अनादेय

इस प्रकार पांच भंग होते हैं।

सुभग और आदेय अथवा दुर्भग और अनादेय एक साथ ही उदय को प्राप्त करते हैं। इसलिये इन दोनों की उदीरणा भी एक साथ ही होती है। अत: इस स्थान में पांच ही भंग होते हैं। किन्तु दूसरे आचार्यों का मत है कि सुभग और आदेय का तथा दुर्भग और अनादेय का एक साथ एकान्त से उदय होने का नियम नहीं है। क्योंकि अन्यथा भी देखा जाता है। इसलिये पर्याप्त नामकर्म के उदय में वर्तमान जीव के सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय और यश:कीर्ति-अयश:कीर्ति की अपेक्षा आठ भंग होते हैं तथा अपर्याप्त नामकर्म के उदय में वर्तमान जीव के दुर्भग, अनादेय और अयश:कीर्ति का एक भंग होता है। इस प्रकार बयालीस प्रकृतिक उदीरणा स्थान में भंगों की सर्व संख्या नौ होती है।

तत्पश्चात् शरीरस्थ जीव के औदारिकसप्तक, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, छह संहननों में से कोई एक संहनन, उपघात और प्रत्येकनाम इन ग्यारह प्रकृतियों को मिलाने पर और

तिर्यंचानुपूर्वी के निकालने पर बावन प्रकृतिक उदीरणा स्थान होता है। इस स्थान में एक सौ पैंतालीस भंग होते हैं। यथा - पर्याप्तक जीव के छह संस्थान, छह संहनन, सुभग आदेय युगल और दुर्भग अनादेय युगल तथा यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति की अपेक्षा ६x६x२x२=१४४ एक सौ चवालीस भंग होते हैं तथा अपर्याप्तक जीव के हुण्डक संस्थान, सेवार्त संहनन, दुर्भग, अनादेय, और अयश:कीर्ति की अपेक्षा एक भंग होता है। इस प्रकार सर्वभंग एक सौ पैंतालीस हो जाते हैं।

किन्तु जो आचार्य केवल सुभग आदेय का अथवा दुर्भग - अनादेय का तथा दोनों का युगपत भी उदय मानते हैं उनके मत से बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में दो सौ नवासी भंग जानना चाहिये। इस मत में पर्याप्त जीव के छह संस्थान, छह संहनन, सुभग-दुर्भग, आदेय, अनादेय, यश:कीर्ति और अयश:कीर्ति की अपेक्षा (६x६x२x२x२=२८८)दो सौ अठासी भंग होते हैं और अपर्याप्तक जीव के तो पूर्वोक्त स्वरूप वाला एक ही स्थान होता है इस प्रकार सर्व भंग दो सौ नवासी होते हैं।

इसी बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में शरीरपर्याप्ति से पर्याप्तक जीव के पराघात, प्रशस्त और अप्रशस्त कोई एक विहायोगति के मिलाने पर चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में पर्याप्त के जो पहले एक सौ चवालीस भंग कहे हैं वे ही विहायोगतिद्विक से गुणित जानना चाहिये और वैसा होने पर दो सौ अठासी भंग हो जाते हैं। मतान्तर की अपेक्षा तो पांच सौ छिहत्तर भंग होते हैं।

तत्पश्चात् प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान दो सौ अठासी भंग होते हैं और मतान्तर से पाँच सौ छिहत्तर भंग होते हैं। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास नामकर्म के उदय नहीं होने पर तथा उद्योत नामकर्म के उदय होने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणा स्थान होता है। इस स्थान में भी दोसौ अठासी भंग होते हैं और मतान्तर से पाँच सौ छिहत्तर भंग होते हैं। इस प्रकार पचपन प्रकृतिक उदीरणा स्थान में स्वमत की अपेक्षा सर्वभंग पाँच सौ छिहत्तर होते हैंऔर मतान्तर से ग्यारह सौ बावन होते हैं।

तत्पश्चात् भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव के सुस्वर दु:स्वर में से किसी एक के मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। उनमें स्वमत के अनुसार विचार करने पर जो उच्छ्वास के साथ दो सौ अठासी भंग पहले प्राप्त हुए हैं, वे यहां पर स्वर युगल से गुणित करने पर पाँच सौ छिहत्तर भंग प्राप्त होते हैं और मतान्तर से इस स्थान में ग्यारह सौ बावन भंग प्राप्त होते हैं। अथवा प्राणपान पर्याप्ति से पर्याप्त जीव के स्वर नामकर्म का उदय नहीं होने पर और उद्योत नामकर्म के उदय होने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी स्वमत से चिंतन करने पर पूर्व के समान दो सौ अठासी भंग और मतान्तर से पाँच सौ छिहत्तर भंग होते हैं। इस प्रकार छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की सर्व संख्या स्वमत से आठ सौ चौसठ और मतान्तर से सत्रह सौ अट्ठाईस होती है।

तत्पश्चात् स्वर सहित छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान में उद्योत मिलाने पर सत्तावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इसमें भी स्वर सहित छप्पन प्रकृतिक स्थान की तरह स्वमत से पाँच सौ छिहत्तर और मतान्तर से ग्यारह सौ बावन भंग होते हैं।

इस प्रकार विक्रियालब्धिरहित सामान्य तिर्यंच पंचेन्द्रिय के स्वमत से चौबीस सौ चउवन [५+१४५+ २८८+५७६+८६४+५७६=२४५४] और मतान्तर से उनचास सौ छह [९+२८९+५७६+ ११५२+१७२८+११५२=४९०६] भंग होते हैं। जिनका प्रारूप इस प्रकार है —

उदीरणा स्थान	भंग	
	स्वमत	परमत
४२ प्रकृतिक	५	९
५२ प्रकृतिक	१४५	२८९
५४ प्रकृतिक	२८८	५७६
५५ प्रकृतिक	५७६	११५२
५६ प्रकृतिक	८६४	१७२८
५७ प्रकृतिक	५७६	११५२
योग = ६	**२४५४**	**४९०६**

विक्रियालब्धि सहित तिर्यंच पंचेन्द्रियों के उदीरणास्थान

वैक्रियलब्धि युक्त तिर्यंच पंचेन्द्रियों के पाँच उदीरणास्थान होते हैं, यथा — इक्यावन, तिरेपन, चउवन, पचपन, छप्पन प्रकृतिक।

यहां वैक्रियसप्तक, समचतुरस्रसंस्थान, उपघात और प्रत्येक नाम इन दस प्रकृतियों को पूर्वोक्त सामान्य तिर्यंच पंचेन्द्रिय प्रायोग्य बयालीस प्रकृतियों में मिलाने और तिर्यंचानुपूर्वी के निकाल देने पर इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर सुभग आदेय युगल और दुर्भग अनादेय युगल का यश:कीर्ति, अयश:कीर्ति की अपेक्षा पर्याप्त पद में चार भंग और मतान्तर से सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय और यश:कीर्ति अयश:कीर्ति के विकल्प से पर्याप्त के साथ आठ भंग होते हैं।

तत्पश्चात् शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त उसी जीव के पूर्वोक्त इक्यावन प्रकृतिक स्थान के साथ प्रशस्त विहायोगति और पराघात के मिलाने पर तिरेपन प्रकृतिक स्थान होता है। यहां पर भी पूर्व की तरह

स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं।

तदनन्तर उक्त ५३ प्रकृतिक स्थान में प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास नाम को मिलाने पर चउवन प्रकृतिक स्थान होता है। यहां पर भी पूर्व की तरह स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास के अनुदय और उद्योत नाम का उदय होने पर चउवन प्रकृतियां होती हैं। यहां पर भी पूर्व की तरह स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। इस प्रकार चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से आठ भंग और मतान्तर से सोलह भंग प्राप्त होते हैं।

इसके बाद भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव के श्वासोच्छ्वास सहित चउवन प्रकृतिक स्थान में स्वर के मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व की तरह स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के स्वर के अनुदय तथा उद्योत के उदय होने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से सर्व भंग आठ होते हैं और मतान्तर से सोलह भंग होते हैं।

तत्पश्चात् स्वर सहित पचपन प्रकृतिक स्थान में उद्योत के मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी स्वमत से चार भंग होते हैं और मतान्तर से आठ होते हैं।

इस प्रकार विक्रिया करने वाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के भंगों की स्वमत से सर्व संख्या अट्ठाईस [४+४+८+८+४=२८] और मतान्तर से छप्पन [८+८+१६+१६+८=५६] होती है। उदीरणास्थानों और उनके स्वमत परमत के भंगों की संख्या सहित प्रारूप इस प्रकार है —

उदीरणा स्थान	भंग	
	स्वमत	परमत
५१ प्रकृतिक	४	८
५३ प्रकृतिक	४	८
५४ प्रकृतिक	८	१६
५५ प्रकृतिक	८	१६
५६ प्रकृतिक	४	८
योग = ५	**२८**	**५६**

यदि सामान्य से सर्व पंचेन्द्रियों के विक्रिया रहित और विक्रिया सहित के भंगों का विचार किया जाये तो स्वमत से सामान्य तिर्यंच के चौबीस सौ चउवन और वैक्रिय तिर्यंच के अट्ठाईस भंगों के मिलाने पर चौबीस सौ बयासी [२४५४+२८=२४८२] और मतान्तर से सामान्य तिर्यंच के चार हजार नौ सौ छह और वैक्रिय तिर्यंच के छप्पन भंगों को मिलाने पर चार हजार नौ सौ बासठ [४९०६+५६=४९६२] भंग होते हैं।

मनुष्यों के उदीरणास्थान

मनुष्यों के उदीरणास्थानों और उनके भंगों के विचार करने के प्रसंग में यह समझ लेना चाहिये कि सामान्य केवली की और तीर्थंकर केवली की अपेक्षा होने वाले स्थानों और उनके भंगों का कथन पूर्व में किया जा चुका है। यहां पर उन से शेष रहे सामान्य मनुष्य, वैक्रिय मनुष्य और आहारक मनुष्य इन तीन भेदों के स्थान और उनके भंगों को बतलाते हैं।

सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा स्थान और उनके भंग इस प्रकार हैं —

सामान्य मनुष्यों में पांच उदीरणा स्थान होते हैं यथा - बयालीस, बावन, चउवन, पचपन और छप्पन प्रकृतिक। ये सभी स्थान जैसे पहले तिर्यंच पंचेन्द्रियों के कहे हैं, उसी प्रकार यहां भी कहना चाहिये। केवल अन्तर इतना है कि तिर्यंचगति और तिर्यंचानुपूर्वी के स्थान पर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी कहना चाहिये तथा पचपन, छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान उद्योतरहित जानना चाहिये। क्योंकि वैक्रिय और आहारक लब्धि वाले संयतों को छोड़कर शेष मनुष्यों के उद्योत नाम के उदय का अभाव होता है। भंग भी सर्व भंग उद्योत रहित तथा स्वमत परमत की अपेक्षा कहना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

स्वमत से बयालीस प्रकृतिक स्थान में पांच भंग, बावन प्रकृतिक स्थान में एक सौ पैंतालीस भंग, चउवन प्रकृतिक स्थान में दो सौ अठासी भंग, पचपन प्रकृतिक स्थान में दो सौ अठासी और छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान में पांच सौ छिहत्तर भंग होते हैं। अतः स्वमत की अपेक्षा सामान्य मनुष्य के सर्वभंग तेरह सौ दो [५+१४५+२८८+२८८+५७६=१३०२] जानना चाहिये।

परमत की अपेक्षा यथाक्रम से बयालीस प्रकृतिक स्थान में नौ, बावन प्रकृतिक स्थान में दो सौ नवासी, चउवन प्रकृतिक स्थान में पांच सौ छिहत्तर, पचपन प्रकृतिक स्थान में पांच सौ छिहत्तर और छप्पन प्रकृतिक स्थान में ग्यारह सौ बावन भंग होते हैं। अतः परमत से छब्बीस सौ दो [९+२८९+५७६+५७६+११५२=२६०२] भंग सामान्य मनुष्य के जानना चाहिये।

अब विक्रिया करने वाले मनुष्यों के स्थान व भंगों का कथन करते हैं —

विक्रिया करने वाले मनुष्यों के पांच उदीरणास्थान होते हैं यथा - इक्यावन, तिरेपन, चउवन, पचपन और छप्पन प्रकृतिक। इनमें से इक्यावन और तिरेपन प्रकृतिक उदीरणा स्थान जैसे पहले वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों के कहे हैं, उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये और इनके भंग भी तदनुरूप होते हैं। अर्थात् इक्यावन प्रकृतिक स्थान में स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं तथा तिरेपन प्रकृतिक स्थान में स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं।

उच्छ्वास सहित चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से चार और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। उत्तर विक्रिया करने वाले संयतों के साथ चउवन प्रकृतिक उदीरणा स्थान में (स्वमत और परमत(मतान्तर) से) प्रशस्त एक एक ही भंग होता है। क्योंकि संयतों के दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति का उदय नहीं होता है। इस प्रकार चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से सर्व भंगों की संख्या पांच और मतान्तर से नौ होती है।

तत्पश्चात् भाषापर्याप्ति से पर्याप्त मनुष्य के उच्छ्वास सहित पूर्वोक्त चउवन प्रकृतिक स्थान में सुस्वर नाम के मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। अथवा संयतों के स्वरनाम का उदय नहीं होने पर और उद्योत नाम के उदय होने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान एक ही भंग होता है। इस प्रकार पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की सर्व संख्या स्वमत से पांच और मतान्तर से नौ होती है।

सुस्वर सहित पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में उद्योत को मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इसमें एक ही प्रशस्त भंग होता है।

इस प्रकार विक्रिया करने वाले मनुष्यों के भंगों की सर्व संख्या स्वमत से उन्नीस [४+४+५+५+१=१९] होती है। और मतान्तर से पैंतीस [८+८+९+९+१=३५] होती है।

अब **आहारकशरीर को करने वाले मनुष्यों** के उदीरणास्थानों और उनके भंगों को बतलाते हैं। आहारकशरीर का उदय मनुष्यगति में संयतों के ही होता है।

आहारकसंयतों के उदीरणास्थान पांच होते है, यथा - इक्यावन, तिरेपन, चउवन, पचपन और छप्पन प्रकृतिक।

पूर्वोक्त मनुष्यगति प्रायोग्य बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान में आहारकसप्तक, समचतुरस्र संस्थान, उपघात और प्रत्येक नाम इन दस प्रकृतियों के मिलाने और मनुष्यानुपूर्वी के निकालने पर

इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में सभी पद प्रशस्त होते हैं, इस कारण एक ही भंग होता है।

पुनः शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के प्रशस्तविहायोगति और पराघात के मिलाने पर तिरेपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है, यहां पर भी एक ही भंग होता है।

तत्पश्चात् प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास के मिलाने पर चउवन प्रकृतिक उदीरणा स्थान होता है। यहां पर भी एक ही भंग होता है। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास के उदय नहीं होने पर और उद्योत का उदय होने पर चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान एक ही भंग होता है। इस प्रकार चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में भंगों की सर्व संख्या दो है। भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव के उच्छ्वास सहित ५४ प्रकृतिक उदीरणा स्थान में सुस्वर प्रकृति के मिलाने पर ५५ प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व की तरह एक ही भंग होता है। अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के पचपन प्रकृतिक में से सुस्वर के अनुदय होने और उद्योत के उदय होने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व की तरह एक ही भंग होता है। सर्व संख्या से पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में दो भंग होते हैं।

पुनः भाषापर्याप्ति के पर्याप्त जीव के स्वर सहित पचपन प्रकृतिक स्थान में उद्योत को मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी एक ही भंग है। इस प्रकार आहारकशरीरी संयत मनुष्यों के भंगों की सर्व संख्या सात [१+१+२+२+१=७] होती है। सामान्य वैक्रियशरीरी और आहारकशरीरी मनुष्यों के स्थान और भंगों का प्रारूप इस प्रकार है —

उदीरणा स्थान	भंग						विशेष
	सामान्य मनुष्य		वैक्रिय मनुष्य		आहारक मनुष्य		
	स्वमत	परमत	स्वमत	परमत	स्वमत	परमत	
४२ प्रकृतिक	५	९	×	×	×	×	मनुष्यों में ४२ से ५६
५१ प्रकृतिक	×	×	४	८	१	१	प्रकृतिक तक के सात
५२ प्रकृतिक	१४५	२८९	×	×	×	×	उदीरणास्थान होते हैं
५३ प्रकृतिक	×	×	४	८	१	१	जिनमें ४२ और ५२
५४ प्रकृतिक	२८८	५७६	५	९	२	२	प्रकृतिक स्थान सामान्य
५५ प्रकृतिक	२८८	५७६	५	९	२	२	मनुष्यों में ही पाये जाते
५६ प्रकृतिक	५७६	११५२	१	१	१	१	हैं
	१३०२	२६०२	११	३५	७	७	

इस प्रकार स्वमत से सामान्य मनुष्य में वैक्रियशरीरी, आहारकशरीरी और केवली मनुष्यों के सर्व भंगों की संख्या क्रमशः १३०२+१९+७+६ को मिलाने पर तेरह सौ चौंतीस १३३४ होती है और परमत से २६०२+३५+७+६ को मिलाने पर दो हजार छह सौ पचास २६५० होती है।

देवों के उदीरणास्थान

मनुष्यों के उदीरणास्थानों और भंगों को बतलाने के बाद अब देवों के उदीरणास्थानों का कथन करते हैं।

देवों के उदीरणास्थान छह हैं, यथा – बयालीस, इक्यावन, तिरेपन, चउवन, पचपन और छप्पन प्रकृतिक।

पूर्वोक्त ध्रुव उदीरणा वाली तेतीस प्रकृतियों में देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस नाम, बादर नाम, पर्याप्तनाम, सुभग आदेय युगल, दुर्भग अनादेय युगल में से कोई एक युगल, यशःकीर्ति अयशःकीर्ति में से कोई एक ये नौ प्रकृतियां मिलाने से बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। इस स्थान में सुभग आदेय युगल, दुर्भग अनादेय युगल के साथ यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति के द्वारा स्वमत से चार भंग होते हैं और मतान्तर से सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय और यशःकीर्ति अयशःकीर्ति की अपेक्षा आठ भंग होते हैं।

तत्पश्चात् शरीरस्थ देव के वैक्रियसप्तक समचतुरस्रसंस्थान उपघात और प्रत्येक नाम ये दस प्रकृतियां मिलाने पर और देवानुपूर्वी को निकालने पर इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं।

तदनन्तर शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त देव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति के मिलाने पर तिरेपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। देवों के अप्रशस्तविहायोगति के उदय का अभाव होने से तदाश्रित भंग प्राप्त नहीं होते हैं।

तदनन्तर प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त देव के पूर्वोक्त तिरेपन प्रकृतिक स्थान में उच्छ्वासनाम के मिलाने पर चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। अथवा शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त देव के उच्छ्वास का उदय नहीं होने पर और उद्योत नामकर्म के उदय होने पर चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। इस प्रकार चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से आठ भंग और मतान्तर से सोलह भंग होते हैं।

तत्पश्चात् भाषापर्याप्ति से पर्याप्त देव के उच्छ्वास सहित चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में

सुस्वर के मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं। अथवा प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त देव के स्वर के उदय नहीं होने पर और उद्योत नाम के उदय होने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी स्वमत की अपेक्षा चार भंग और मतान्तर की अपेक्षा आठ भंग होते हैं। इस प्रकार पचपन प्रकृतिक स्थान में स्वमत से भंगों की सर्व संख्या आठ और मतान्तर से सोलह होती है।

तत्पश्चात् सुस्वर सहित भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव के पचपन प्रकृतिक स्थान में उद्योत को मिलाने पर छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी पूर्व के समान स्वमत से चार भंग और मतान्तर से आठ भंग होते हैं।

इस प्रकार देवों के सर्व भंगों की संख्या स्वमत से बत्तीस [४+४+४+८+८+४=३२] होती है और मतान्तर से चौसठ [८+८+८+१६+१६+८=६४] होती है जिनको प्रारूप से इस प्रकार समझें -

क्रम	उदीरणा स्थान	भंग	
		स्वमत	मतान्तर
१	४२ प्रकृतिक	४	८
२	५१ प्रकृतिक	४	८
३	५३ प्रकृतिक	४	८
४	५४ प्रकृतिक	८	१६
५	५५ प्रकृतिक	८	१६
६	५६ प्रकृतिक	४	८
	योग = ६	**३२**	**६४**

इस प्रकार देवों की उदीरणास्थानों और भंगों को जानना चाहिये।

नारक जीवों के उदीरणास्थान

अब नारक जीवों के उदीरणास्थान और उनके भंगों को बतलाते हैं। नारक जीवों के उदीरणास्थान पांच होते हैं। यथा – बयालीस, इक्यावन, तिरेपन, चउवन और पचपन प्रकृतिक।

इनमें ध्रुव उदीरणा वाली तेतीस प्रकृतियों के साथ नरकगति, नरकानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति ये नौ प्रकृतियां मिलाने पर बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान

होता है। नारकों के सभी पद अप्रशस्त ही होते हैं। इस कारण इस स्थान में एक ही भंग होता है।

तत्पश्चात् बयालीस प्रकृतिक स्थान में शरीरस्थ नारकी के वैक्रियसप्तक, हुण्डकसंस्थान, उपघात और प्रत्येकनाम ये दस प्रकृतियां मिलाने और नरकानुपूर्वी निकालने पर इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है इसमें भी एक ही भंग होता है।

तत्पश्चात् इस इक्यावन प्रकृतिक स्थान में शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त नारक के पराघात और अप्रशस्तविहायोगति के मिलाने पर तिरेपन प्रकृतिक उदीरणा स्थान होता है। यहाँ पर भी एक ही भंग है।

इसके पश्चात् प्राणापानपर्याप्ति से पर्याप्त जीव के तिरेपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में उच्छ्वास प्रकृतिक के मिला देने पर चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी एक ही भंग होता है।

तत्पश्चात् भाषापर्याप्ति से पर्याप्त नारक के दु:स्वर नाम को मिलाने पर पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। यहां पर भी एक ही भंग होता है।

नारकियों के उदीरणास्थान का ज्ञापक कोष्ठक

क्रम	उदीरणा स्थान	भंग
१	४२ प्रकृतिक	१
२	५१ प्रकृतिक	१
३	५३ प्रकृतिक	१
४	५४ प्रकृतिक	१
५	५५ प्रकृतिक	१
	योग = ५	५

इस प्रकार नारकों के भंगों की सर्व संख्या पांच [१+१+१+१+१=५] होती है। इस प्रकार जीवों के विविध भेदों की अपेक्षा नामकर्म के उदीरणास्थानों और उनके भंगों का विवेचन जानना चाहिये।

गुणस्थानों में उदीरणास्थान

अब इन्हीं उदीरणास्थानों को गुणस्थानों में बतलाने के लिये गाथा में 'गुणिसु' इत्यादि पद

दिया है कि नामकर्म गुणियों अर्थात् मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगी केवली पर्यन्त गुणस्थानों में यथाक्रम से नव आदि संख्या वाले उदीरणास्थान होते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

मिथ्यादृष्टिगुणस्थान – यहां नौ उदीरणास्थान होते हैं यथा – बयालीस, पचास, इक्यावन, बावन, तिरेपन, चउवन, पचपन, छप्पन और सत्तावन प्रकृतिक।

ये सभी उदीरणास्थान मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय आदि की अपेक्षा जानना चाहिये।

सास्वादनगुणस्थान में सात उदीरणास्थान होते हैं, यथा – बयालीस, पचास, इक्यावन, बावन, पचपन, छप्पन, और सत्तावन प्रकृतिक।

इनमें से बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के जो सास्वादन सम्यग्दृष्टि और अपान्तराल गति में वर्तमान हैं के जानना चाहिये। पचास प्रकृतिक उदीरणास्थान शरीरस्थ एकेन्द्रियों के होता है। इक्यावन प्रकृतिक उदीरणा स्थान शरीरस्थ देवों के जानना चाहिये। बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान शरीरस्य विकलेन्द्रियों, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के होता है। पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान सास्वादन सम्यक्त्व में वर्तमान पर्याप्तक देव और नारकों के होता है। छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय मनुष्य और देवों के जानना चाहिये। सत्तावन प्रकृतिक उदीरणा स्थान उद्योत के वेदक पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रियों के होता है।

सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान में उदीरणास्थान इस प्रकार हैं – पचपन, छप्पन, सत्तावन प्रकृतिक।

इनमें से देव नारकों के पचपन प्रकृतिक, तिर्यंच मनुष्य और देवों के छप्पन प्रकृतिक और उद्योत नाम के वेदक तिर्यंच पंचेन्द्रियों के सत्तावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में आठ उदीरणास्थान होते हैं यथा – बयालीस, इक्यावन, बावन, तिरेपन, चउवन, पचपन, छप्पन और सत्तावन प्रकृतिक।

इनमें से नारक देव तिर्यंच पंचेन्द्रिय मनुष्यों के बयालीस प्रकृतिक, देव नारकों के इक्यावन प्रकृतिक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के बावन प्रकृतिक, देव, नारक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, वैक्रिय तिर्यंच और मनुष्यों के चउवन प्रकृतिक और पचपन प्रकृतिक, देव तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के छप्पन प्रकृतिक तथा उद्योत वेदक तिर्यंच पंचेन्द्रियों के सत्तावन प्रकृतिक उदीरणा स्थान होता है।

देशविरत गुणस्थान में छह उदीरणास्थान होते हैं, यथा इक्यावन, तिरेपन, चउवन, पचपन, छप्पन और सत्तावन प्रकृतिक।

इनमें से इक्यावन, तिरेपन, चउवन और पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान वैक्रियशरीर में वर्तमान तिर्यंच और मनुष्य के जानना चाहिये तथा स्वभावस्य और वैक्रियशरीर में वर्तमान तिर्यंच और मनुष्यों के ही छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है। उन्हीं उद्योत सहित तिर्यंच पंचेन्द्रियों के सत्तावन प्रकृतिक उदीरणास्थान होता है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में पांच उदीरणास्थान होते हैं, यथा – इक्यावन, तिरेपन, चउवन, पचपन और छप्पन प्रकृतिक।

ये पांचों की उदीरणास्थान वैक्रियशरीरी अथवा आहारकशरीरी संयतों के जानना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान औदारिक शरीरस्थ संयतों के भी होता है।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में दो उदीरणास्थान होते हैं, यथा पचपन और छप्पन प्रकृतिक।

इनमें से छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान औदारिक शरीरस्थों के होता है। यहां कितने ही वैक्रिय शरीरस्थ अथवा आहारक शरीरस्थ और सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त संयतों के कितने ही काल तक अप्रमत्त भाव भी पाया जाता है, इसलिये उनके ये दोनों उक्त रूप उदीरणास्थान होते हैं।

अपूर्वकरण, अनिवृत्ति, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह गुणस्थानों में एक ही उदीरणास्थान होता है – **'एगे पंचसुत्ति'** जो छप्पन प्रकृतिक है, यह स्थान औदारिकशरीरस्थ संयतों के होता है।

सयोगीकेवली गुणस्थान में आठ उदीरणा स्थान होते हैं। **एकम्मि अट्ठत्तिः** यथा – इकतालीस, बयालीस, बावन, तिरेपन, चउवन, पचपन, छप्पन और सत्तावन प्रकृतिक।

इन सभी उदीरणास्थानों का पूर्व में विस्तार से कथन किया जा चुका है, अतः यहां पर पुनः उनका विचार नहीं करते हैं।

इस प्रकार गुणस्थानों में उदीरणास्थानों को जानना चाहिये।

उदीरणास्थानों में प्राप्त भंग

प्रत्येक उदीरणास्थान में प्राप्त होने वाले भंगों का विचार करने के लिये गाथा में 'ट्ठाणे' इत्यादि पद दिया है। अर्थात् इकतालीस प्रकृतिक आदि क्रम वाले उदीरणास्थानों में भंग भी यथाक्रम से कही जाने वाली संख्या के अनुसार इस प्रकार जानना चाहिये –

इकतालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान में एक भंग होता है और वह अतीर्थंकर (सामान्य) केवली के होता है।

बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से तीस भंग होते हैं। उनमें से नारकों की अपेक्षा एक, एकेन्द्रियों की अपेक्षा पांच, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा प्रत्येक के तीन-तीन भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इनके सर्व भंग नौ होते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा पांच, मनुष्यों की अपेक्षा पांच, तीर्थंकर की अपेक्षा एक और देवों की अपेक्षा चार भंग होते हैं। इस प्रकार कुल भंग तीस होते हैं। लेकिन जो आचार्य सुभग-आदेय और दुर्भग अनादेय का पृथक् और युगपत् भी उदय मानते हैं उनके मत से बयालीस प्रकृतिक उदीरणास्थान में बयालीस भंग होते हैं। क्यों कि उनके मत से तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा नौ भंग, मनुष्यों की अपेक्षा नौ भंग और देवों की अपेक्षा आठ भंग प्राप्त होते हैं। शेष भंग पूर्ववत् समझना चाहिये।

पचास प्रकृतिक उदीरणास्थान में ग्यारह भंग होते हैं और वे एकेन्द्रियों की अपेक्षा ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि अन्य जीवों में पचास प्रकृतिक उदीरणास्थान नहीं पाया जाता है।

इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से इक्कीस भंग होते हैं। इनमें से नारकों की अपेक्षा एक भंग, एकेन्द्रियों की अपेक्षा सात भंग, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा चार भंग, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा चार भंग, आहारक शरीरी संयतों की अपेक्षा एक भंग और देवों की अपेक्षा चार भंग हैं। इस प्रकार सर्व भंग इक्कीस होते हैं लेकिन मतान्तर से इस इक्यावन प्रकृतिक स्थान में वैक्रिय तिर्यंच, मनुष्यों और देवों की अपेक्षा आठ-आठ भंग होते हैं। इसलिये उनकी अपेक्षा इक्यावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में तेतीस भंग होते हैं।

'सवार तिसयत्ति' अर्थात् बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से सर्व भंग तीन सौ बारह जानना चाहिये। उनमें एकेन्द्रियों की अपेक्षा तेरह, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा प्रत्येक के तीन-तीन भंग होते हैं। इसलिये विकलत्रिक के नौ भंग होते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा एक सौ पैंतालीस और मनुष्यों की अपेक्षा एक सौ पैंतालीस भंग होते हैं। इस प्रकार सर्व भंग तीन सौ बारह जानना चाहिये। यहां पर भी मतान्तर से तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों की अपेक्षा प्रत्येक के दो सौ नवासी, दो सौ नवासी भंग होते हैं। इसलिये उनके मतानुसार बावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में छह सौ भंग प्राप्त होते हैं।

तिरेपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से इक्कीस भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं - नारकों की अपेक्षा एक, एकेन्द्रियों की अपेक्षा छह, वैक्रिय तिर्यंचपंचेन्द्रियों की अपेक्षा चार, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा चार, आहारकशरीरी संयतों की अपेक्षा एक, तीर्थंकर की अपेक्षा एक और देवों की अपेक्षा चार भंग होते हैं। कुल मिलाकर इक्कीस भंग होते हैं। यहां पर भी मतान्तर से वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय मनुष्य और देवों की अपेक्षा प्रत्येक के आठ-आठ भंग प्राप्त होते हैं। इसलिये उनकी अपेक्षा तिरेपन,

प्रकृतिक उदीरणास्थान में तेतीस भंग होते हैं।

चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से छह सौ छह भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं - नारकों की अपेक्षा एक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा प्रत्येक के दो दो भंग हैं। इसलिये विकलत्रिक के छह भंग होते हैं। स्वभावस्थ तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा दो सौ अठासी, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा आठ, स्वभावस्थ मनुष्यों की अपेक्षा दो सौ अठासी, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा चार, वैक्रियशरीरी संयतों की अपेक्षा उद्योत प्रकृति के साथ एक आहारक शरीरी संयतों की अपेक्षा दो और देवों की अपेक्षा आठ भंग होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर छह सौ छह भंग होते हैं। और मतान्तर से स्वभावस्थ तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा पांच सौ छिहत्तर भंग होते हैं। वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा सोलह मनुष्यों की अपेक्षा पांच सौ छिहत्तर, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा नौ और देवों की अपेक्षा सोलह भंग प्राप्त होते हैं। शेष भंग उसी प्रकार हैं। इस प्रकार परमत की अपेक्षा चउवन प्रकृतिक उदीरणास्थान में बारह सौ दो भंग होते हैं।

पचपन प्रकृतिक उदीरणा स्थान में स्वमत से नौ सौ एक भंग होते हैं, यथा - नारकों की अपेक्षा एक भंग, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की अपेक्षा प्रत्येक के चार-चार भंग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विकल त्रिक के बारह भंग होते हैं। स्वभावस्थ तिर्यंच पंचेन्द्रिय की अपेक्षा पांच सौ छिहत्तर, वैक्रिय शरीरी तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा आठ, स्वभावस्थ मनुष्यों की अपेक्षा दो सौ अठासी, वैक्रिय शरीरी मनुष्यों की अपेक्षा चार, वैक्रिय शरीरी संयतों की अपेक्षा उद्योत के साथ एक आहारकशरीरी संयतों की अपेक्षा दो, तीर्थंकर की अपेक्षा एक और देवों की अपेक्षा आठ भंग होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर नौ सौ एक भंग होते हैं। लेकिन यहां पर मतान्तर से तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ग्यारह सौ बावन, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा १६ स्वभावस्थ मनुष्यों की अपेक्षा ५७६ और वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा ९ और देवों की अपेक्षा सोलह भंग प्राप्त होते हैं। शेष भंग तथैव जानना चाहिये। इसलिये मतान्तर की अपेक्षा पचपन प्रकृतिक उदीरणास्थान में सत्रह सौ पचासी भंग होते हैं।

छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से चौदह सौ उनहत्तर भंग होते हैं यथा — द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा प्रत्येक के छह छह भंग प्राप्त होते हैं। इसलिये विकलत्रिक के अठारह, स्वभावस्थ तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा आठ सौ चौसठ, वैक्रिय शरीरी तिर्यंचों की अपेक्षा चार, मनुष्यों की अपेक्षा पांच सौ छिहत्तर वैक्रियशरीरी संयतों की अपेक्षा उद्योत के साथ एक, आहारक शरीरी संयतों की अपेक्षा एक, तीर्थंकर की अपेक्षा एक और देवों की अपेक्षा चार भंग होते हैं। कुल मिलाकर इनका योग चौदह सौ उनहत्तर होता है। यहां पर भी मतान्तर से तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा सत्रह सौ अट्ठाईस, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा आठ, मनुष्यों की अपेक्षा ग्यारह

उदीरणा स्थान	पंचेन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	बादर	सामान्य तिर्यंच स्वमत	सामान्य तिर्यंच परमत	वैक्रिय तिर्यंच स्वमत	वैक्रिय तिर्यंच परमत	सामान्य मनुष्य स्वमत	सामान्य मनुष्य परमत	वैक्रिय मनुष्य स्वमत	वैक्रिय मनुष्य परमत	आहारक मनुष्य	सामान्य केवली	तीर्थंकर	स्वमत से मतांतर (परमत)	नारक	स्वमत भंग	परमत भंग
४१ प्रकृ.	५	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१	×	×	×	१	
४२ प्रकृ.	५	३	३	३	५	९	×	×	५	९	×	×	×	×	१	×	१	४२	
५० प्रकृ.	११	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	११	
५१ प्रकृ.	७	×	×	×	×	×	४	८	४	×	४	८	१	×	×	×	×	२१	
५२ प्रकृ.	१३	३	३	३	१४५	२८९	×	×	१४५	२८९	×	×	×	×	×	×	×	३३	
५३ प्रकृ.	६	×	×	×	×	×	४	८	×	×	४	८	१	×	×	×	×	२१	
५४ प्रकृ.	×	२	२	२	२८८	५७६	८	१६	२८८	५७६	५	९	२	×	×	×	१	६०६	१२०२
५५ प्रकृ.		४	४	४	५७६	११५२	८	१६	२८८	५७६	५	९	२	×	१	८-१६	१	९०१	१७८५
५६ प्रकृ.		६	६	६	८६४	१७२८	४	८	५७६	११५२	१	१	१	×	१	४-८	१	१४६९	२९१७
५७ प्रकृ.		४	४	४	५७६	११५२	×	×	×	×	×	×	१	×	१	×	१	५८९	११६५
कुल	४२	२२	२२	२२	२४५४	४९०६	२८	५६	१३०२	२६०२	११	३५	७	१	५	३२-६४	५	३९६९	७७८९

सौ बावन और देवों की अपेक्षा आठ भंग प्राप्त होते हैं। शेष भंग तथावत् हैं। इस प्रकार उन सब की अपेक्षा छप्पन प्रकृतिक उदीरणास्थान में सर्व भंग उनतीस सौ सत्रह होते हैं।

सत्तावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में स्वमत से पांच सौ नवासी भंग होते हैं। यथा – द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा प्रत्येक के चार-चार भंग होते हैं। इस प्रकार विकलत्रिक के बारह भंग, तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा पांच सौ छिहत्तर भंग और तीर्थंकर की अपेक्षा एक भंग होता है। यहां भी मतान्तर से तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ग्यारह सौ बावन भंग प्राप्त होते हैं। शेष भंग ऊपर कहे गये अनुसार जानना चाहिये। इसलिये मतान्तर की अपेक्षा सत्तावन प्रकृतिक उदीरणास्थान में सर्व भंग ग्यारह सौ पैंसठ होते हैं।[१]

गतियों में उदीरणास्थान

गतियों का आश्रय लेकर उदीरणा स्थानों की प्ररूपणा करते हैं –

पंच नव नवग छक्काणि, गईसु ठाणाणि सेसकम्माणं।
एगेगमेव नेयं, साहित्तेगेगपगईउ ॥ २८॥

शब्दार्थ – **पंच नव नवग छक्काणि** – पांच, नौ, नौ, छह, **गईसु** – गति में, **ठाणाणि**– स्थान, **सेसकम्माणं** – शेष कर्मों के, **एगेगमेव** – एक एक ही, **नेयं** – जानना चाहिये, **साहित्तेगेग**– स्वामित्व, एक, एक, **पगईउ** – प्रकृति का।

गाथार्थ – नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति में क्रमशः पंच, नौ, नौ और छह उदीरणास्थान होते हैं। शेष कर्मों के एक एक उदीरणास्थान जानना चाहिये एवं एक एक प्रकृतिक का स्वामित्व स्वयं समझ लेना चाहिये।

विशेषार्थ – नरकगति में पांच उदीरणास्थान होते हैं, यथा – बयालीस, इक्यावन, तिरेपन, चउवन और पचपन प्रकृतिक। तिर्यंच गति में इकतालीस प्रकृतिक को छोड़कर शेष नौ उदीरणास्थान, मनुष्यगति में भी सयोगी केवली आदि की अपेक्षा पचास प्रकृतिक स्थान को छोड़ कर शेष नौ उदीरणास्थान होते हैं। देवगति में छह उदीरणास्थान होते हैं यथा - बयालीस, इक्यावन, तिरेपन, चउवन, पचपन और छप्पन प्रकृतिक।

ये सभी उदीरणास्थान पहले विस्तार से कहे जा चुके हैं इसलिये जिज्ञासु जनों को वहां से जान लेना चाहिये।

इस प्रकार नामकर्म के उदीरणास्थानों का विस्तार से विचार करने के बाद अब शेष कर्मों के

---

१. उक्त समग्र कथन का प्रारूप पृ. १९४ में देखें।

उदीरणास्थानों का प्रतिपादन करते हैं। इसके लिये गाथा में सेसकम्माणं इत्यदि पद दिया है। दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्म के उदीरणास्थानों का तो यथास्थान वर्णन किया जा चुका है। उनके सिवाय शेष रहे ज्ञानावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अन्तराय कर्मों का एक एक उदीरणास्थान जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म का पांच प्रकृतिक रूप एक एक उदीरणास्थान होता है तथा वेदनीय, आयु और गोत्र इन तीन कर्मों का विद्यमान प्रकृतिक रूप एक एक उदीरणास्थान होता है। क्योंकि इन कर्मों की दो, तीन आदि प्रकृतियों का एक साथ उदय नहीं होने से एक साथ उनकी उदीरणा नहीं होती है।

यह ज्ञानावरण आदि कर्मों का एक एक उदीरणास्थान है और पूर्वोक्त वेदनीय आदि के एक एक प्रकृतिक उदीरणा के स्वामित्व को गुणस्थानों में और नारकादि गतियों में निश्चय कर स्वयं जान लेना चाहिये।

इस प्रकार प्रकृति उदीरणा का विवेचन जानना चाहिये।

स्थिति - उदीरणा

अब स्थिति - उदीरणा का प्रतिपादन करने का अवसर प्राप्त है। उसके ये पांच अर्थाधिकार हैं— १. लक्षण, २. भेद, ३. सादि अनादि प्ररूपणा, ४. अद्धाच्छेद और ५. स्वामित्व।

स्थिति उदीरणा लक्षण और भेद — इनमें से पहले लक्षण और भेद का प्रतिपादन करते हैं।

संपत्तिए य उदए, पओगओ दिस्सए उईरणा सा।
सेचीकाठिइहिं ता जाहिं तो तत्तिगा एसा॥ २९॥

शब्दार्थ — **संपत्तिए य उदए** — संप्राप्त उदय वाले, **पओगओ** —प्रयोग द्वारा, **दिस्सए** — दिये जाते हैं, **उईरणा** —उदीरणा, **सा** — वह, **सेचीकाठिइहिं** — भेद कल्पना योग्य स्थितियां, **ता**— वे, **जाहिं** — जिसमें, **तो तत्तिगा** — उतने भेद वाली, **एसा** — यह।

गाथार्थ — प्रयोग द्वारा असंप्राप्त उदय वाले दलिकों की जो स्थिति संप्राप्त उदय वाले दलिकों में दी जाती है, अनुभव करायी जाती है, वह स्थितिउदीरणा कहलाती है। पुनः उदीरणाप्रायोग्य जितनी स्थितियों को उदीरणा प्रयोग द्वारा उदय में दी जाती है, उतने भेद वाली उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — उदय दो प्रकार का है — १. सम्प्राप्त-उदय और २. असम्प्राप्त-उदय। इनमें से

जो कर्मदलिक कालक्रम से उदय को प्राप्त होते हुए अनुभव किया जाता है, वह सम्प्राप्त - उदय कहलाता है — **यत् कर्मदलिकं कालप्राप्तं सत् अनुभूयते स संप्राप्त्युदयः**। इसका स्पष्ट आशय यह है कि कालक्रम से उदय के कारणभूत द्रव्य क्षेत्र आदि सामग्री की प्राप्ति होने पर कर्मदलिक का उदय होना सम्प्राप्त - उदय है - **कालक्रमेण कर्मदलिकस्योदयहेतुद्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीसंप्राप्तौ सत्यामुदयः संप्राप्त्युदयः**। और जो अकाल प्राप्त कर्मदलिक वीर्यविशेषरूप उदीरणाप्रयोग के द्वारा आकर्षित कर कालप्राप्त दलिक के साथ अनुभव किया जाता है, उसे असम्प्राप्त - उदय कहते हैं - **यत् पुनरकालप्राप्तं कर्मदलिकमुदीरणा प्रयोगेण वीर्यविशेषसंज्ञितेन समाकृष्य कालप्राप्तेन दलिकेन सहानुभूयते सोऽसंप्राप्त्युदयः**। यही उदीरणा कहलाती है। जैसा कि कहा है - जो स्थिति अकाल प्राप्त होती हुई भी उदीरणा प्रयोग के द्वारा पूर्वोक्त स्वरूप वाले सम्प्राप्त उदय में प्रक्षिप्त होती हुई केवल ज्ञानरूप चक्षु के द्वारा देखी जाती है, वह स्थिति उदीरणा कहलाती है - **या स्थितिरकालप्राप्तापि सती प्रयोगतः उदीरणाप्रयोगेण संप्राप्त्युदये पूर्वोक्त स्वरूपे प्रक्षिप्ता सती दृश्यते केवल चक्षुषा सा स्थित्युदीरणा।**

इस प्रकार स्थितिउदीरणा के लक्षण का निर्देश करने के पश्चात अब स्थितिउदीरणा के भेद बतलाते हैं। भेद प्ररूपणा के लिये गाथा में सेचीकेत्यादि पद आया है। सेचीका शब्द का अर्थ है कि जितनी स्थितियों की भेद कल्पना संभव है वे पूर्व पुरुषों की परिभाषा के अनुसार (सांकेतिक शब्द से) सेचीका कही जाती है[१] - **यासां स्थितीनां भेद परिकल्पना संभवति ताः पूर्वपुरुषपरिभाषया सेचीका इत्युच्यते।** वे सिथतियां दो प्रकार की हैं — १. उदीरणा के योग्य और २. उदीरणा के अयोग्य।

प्रश्न — कौन स्थितियां उदीरणा के योग्य हैं और कौन अयोग्य है ?

उत्तर — **संकमबंधुदयुवट्टणालिगाईण करणाई** इस नियम के अनुसार बंधावलिका गत, संक्रमावलिका गत और उदयावलिका गत स्थितियां उदीरणा के अयोग्य हैं। और शेष सभी स्थितियां प्रायः उदीरणा प्रायोग्य होती हैं। इनमें से उदय होने पर जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट बंध संभव है, उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट से दो आवलिका से हीन शेष सभी उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

उदयोत्कृष्ट अर्थात् अपने उदय में ही जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बंधती है, उन प्रकृतियों की बंधावलिका बीत जाने पर उदयावलि से वहिर्भूत सभी स्थितियां उदीरणा को प्राप्त होती हैं और अनुदयोत्कृष्ट बंधने वाली प्रकृतियों की स्थितियां यथासंभव उदीरणा के योग्य होती हैं। दो

---

१. इसे सेवीका भी कहते हैं "सेव्यंते भेद कल्पनां प्रत्यसक्षियन्ते इति सेविका"

आवलिकाहीन उत्कृष्ट स्थिति के जितने समय होते हैं, उतने उदीरणा के भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं- किसी प्रकृति की उदयावलिका से उपरिवर्ती एक समय प्रमाण स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। क्योंकि उस प्रकृति की उतनी ही स्थिति शेष रही हुई है। इसी प्रकार किसी प्रकृति की दो समय मात्र किसी की तीन समय मात्र स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक कि उस प्रकृति की दो आवलिका से हीन सम्पूर्ण उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है।

इस कथन के अभिप्राय सूचक गाथा गत पदों का अर्थ इस प्रकार है — 'सेचीका' स्थितियों से अर्थात् उदीरणा प्रायोग्य स्थितियों से जितनी आवलिकाद्विक हीन उत्कृष्ट स्थिति के समय प्रमाण स्थितियां उदीरणा प्रयोग से आकृष्ट करके सम्प्राप्त उदय में दी जाती हैं, उतने भेद प्रमाण अर्थात् उतने भेद वाली वह उदीरणा होती है।

स्थिति - उदीरणा की सादि-अनादि प्ररूपणा

अब स्थिति उदीरणा की सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं — वह दो प्रकार की है। १. मूल प्रकृति विषयक और २. उत्तर प्रकृति विषयक। इनमें से पहले मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं —

मूलठिई अजहन्ना, मोहस्स चउव्विहा तिहा सेसा।
वेयणियाऊण दुहा, सेसविगप्पा उ सव्वासिं॥ ३०॥

शब्दार्थ — **मूल** — मूलकर्म, **ठिई** — स्थिति, **अजहन्ना** — अजघन्य, **मोहस्स** — मोहनीय की, **चउव्विहा** — चार प्रकार की, **तिहा** — तीन प्रकार की, **सेसा** — शेष कर्मों की, **वेयणियाऊण**— वेदनीय और आयु की, **दुहा** — दो प्रकार की, **सेसविगप्पा** — शेष विकल्प, **उ** — और, **सव्वासिं** — सर्व कर्मों के।

गाथार्थ — मूल कर्मों में मोहनीय कर्म की अजघन्य स्थितिउदीरणा चार प्रकार की और शेष कर्मों की तीन प्रकार की है। वेदनीय और आयु कर्म की अजघन्य उदीरणा दो प्रकार की है तथा सभी कर्मों के शेष विकल्प दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ — मूलठिई इस गाथा स्थित पद में प्राकृत भाषा व्याकरण के नियमानुसार मूल और ठिई शब्द की षष्ठी विभक्ति का लोप हुआ जानना चाहिये। इसलिये यह अर्थ होता है कि मूल प्रकृतियों में से मोहनीय कर्म की स्थिति की अजघन्य उदीरणा चार प्रकार की होती है, यथा — सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति उदीरणा सूक्ष्मसंपरायक्षपक के अपने गुणस्थान के समयाधिक आवलि शेष में वर्तमान जीव के होती है। उससे अन्यत्र सर्वत्र ही अजघन्य

उदीरणा होती है और वह उपशांतमोहगुणस्थान में नहीं होती है किन्तु वहां से प्रतिपात होने पर होती है। इसलिये वह सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि उदीरणा है, ध्रुव उदीरणा अभव्यों के होती है, और अध्रुव उदीरणा भव्यों के होती है।

मोहनीय से शेष रहे जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म हैं, उनकी अजघन्य स्थिति-उदीरणा तीन प्रकार की होती है, यथा - अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों की जघन्य स्थिति-उदीरणा क्षीणकषाय गुणस्थान के समयाधिक आवलिका शेष में वर्तमान क्षपक के होती है। शेषकाल में तो अजघन्य स्थिति की उदीरणा होती है, और वह अनादि है क्योंकि सदैव पाई जाती है। ध्रुव अध्रुव भंग पूर्व के समान जानना चाहिये। अर्थात् अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव उदीरणा होती है।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति-उदीरणा सयोगी केवली के चरम समय में होती है और वह सादि तथा अध्रुव है। उससे अन्य सभी अजघन्य स्थिति उदीरणा है और वह अनादि होती है। ध्रुव और अध्रुव भंग पूर्ववत् जानना चाहिये अर्थात् अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है।

वेदनीय और आयु की अजघन्य स्थिति उदीरणा दो प्रकार की है, यथा - सादि और अध्रुव। वह इस प्रकार कि - वेदनीय की जघन्य स्थिति उदीरणा सर्व अल्प स्थिति सत्ता वाले एकेन्द्रिय के पाई जाती है। पुनः समयान्तर में प्रवर्धमान सत्कर्म वाले उसी जीव के ही अजघन्य स्थिति-उदीरणा होती है। तत्पश्चात् फिर जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य स्थिति-उदीरणा अन्तिम आवलिका में नहीं होती हैं, किन्तु परभव में उत्पत्ति के प्रथम समय में होती है। इसलिये वह सादि है और अध्रुव है।

'सेसविगप्पा उ सव्वासिं' अर्थात् सभी मूलकर्मों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य रूप शेष विकल्प दो प्रकार के हैं, यथा — सादि और अध्रुव। वे इस प्रकार जानना चाहिये — आयुकर्म को छोड़कर सभी कर्मों की उत्कृष्ट उदीरणा उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव के कुछ काल के लिये पाई जाती है। तत्पश्चात् कालान्तर में अध्यवसाय के परिवर्तन से उसके भी अनुत्कृष्ट स्थिति-उदीरणा होती है। तत्पश्चात् पुनः कालान्तर में उत्कृष्ट होती है। क्योंकि संक्लेश और विशुद्धि का प्रायः प्रति समय अन्य अन्य प्रकार से परिवर्तन पाया जाता है। इसलिये वे दोनों (उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट) सादि और अध्रुव हैं। जघन्य स्थिति उदीरणा दो प्रकार की होती है, जिसका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। आयुकर्म के तीनों विकल्पों में प्रायः पूर्वोक्त युक्ति ही जानना चाहिये।

इस प्रकार मूलप्रकृति विषयक सादि अनादि प्ररूपणा करके अब उत्तरप्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं –

मिच्छत्तस्स चउद्धा, अजहण्णा धुवउदीरणाणतिहा।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य सेसाणं॥ ३१॥

शब्दार्थ – **मिच्छत्तस्स** – मिथ्यात्व की, **चउद्धा** – चार प्रकार की, **अजहण्णा** – अजघन्य, **धुवउदीरणाण** – ध्रुव उदीरणा वाली प्रकृतियों की, **तिहा** – तीन प्रकार की, **सेसविगप्पा**– शेष विकल्प, **दुविहा** – दो प्रकार के, **सव्वविगप्पा** – सर्व विकल्प, **य** – और, **सेसाणं** – शेष प्रकृतियों के।

गाथार्थ – मिथ्यात्व कर्म की अजघन्य स्थिति उदीरणा चार प्रकार की है। ध्रुव उदीरणा वाली प्रकृतियों की अजघन्य स्थिति उदीरणा तीन प्रकार की है, शेष विकल्प दो प्रकार के हैं और इनके अतिरिक्त शेष सभी कर्मों के सर्वविकल्प दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ – मिथ्यात्व की अजघन्य स्थिति उदीरणा चार प्रकार की होती है, यथा - सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। उनमें प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति में समयाधिक आवलिका शेष रह जाने पर जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है। अतः वह सादि और अध्रुव है। पुनः सम्यक्त्व से गिरने पर अजघन्य स्थिति-उदीरणा होती है। अतः वह सादि है और इस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव भंग क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा से है।

पांच प्रकार का ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण, पांच प्रकार का अन्तराय, तैजससप्तक, वर्णादि बीस, स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ, अगुरुलघु और निर्माण नाम, इन ध्रुव उदीरणा वाली सैंतालीस प्रकृतियों की स्थिति-उदीरणा तीन प्रकार की होती है। यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, चक्षु, अचक्षु अवधि और केवल दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियों की जघन्य स्थिति-उदीरणा क्षीणकषाय के स्वगुणस्थान के समयाधिक आवलिका शेष में वर्तमान क्षपक के होती है, जो सादि और अध्रुव है। उसके सिवाय शेष सभी अनादि हैं। क्योंकि सदैव पायी जाती हैं। ध्रुव और अध्रुव पूर्ववत् जानना चाहिये। अर्थात् अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है।

उक्त ज्ञानावरणपंचक आदि चौदह प्रकृतियों से शेष रही, तैजससप्तक आदि नामकर्म की

तेतीस प्रकृतियों की जघन्य स्थिति-उदीरणा सयोगी केवली के चरम समय में होती हैं। जो सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी अजघन्य स्थिति-उदीरणा है और वह अनादि है। ध्रुव और अध्रुव भंग पूर्ववत् क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

इन्हीं मिथ्यात्व आदि अड़तालीस प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य रूप शेष तीन विकल्प दो प्रकार के होते हैं, यथा – सादि और अध्रुव। वे इस प्रकार जानना चाहिये कि – इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति-उदीरणा उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव के कुछ काल तक पायी जाती है। तत्पश्चात् कालान्तर में उसी जीव के अनुत्कृष्ट होती है। इसलिये वे दोनों ही सादि और अध्रुव है। जघन्य स्थिति-उदीरणा का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

'सव्वविगप्पा य सेसाणं' अर्थात् ऊपर कही गई अड़तालीस प्रकृतियों से शेष रही एक सौ दस प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य रूप सभी विकल्प दो प्रकार के होते हैं, यथा– सादि और अध्रुव। उनकी सादिता और अध्रुवता अध्रुवोदयी होने से जानना चाहिये।

इस प्रकार स्थिति-उदीरणा की सादि-अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये।

स्थिति उदीरणा का अद्धाच्छेद और स्वामित्व

अब अद्धाच्छेद और स्वामित्व का प्ररूपण करते हैं –

अद्धाच्छेओ सामित्तं, पि य ठिइसंकमे जहा नवरं।
तव्वेइसु निरयगईए, वावि तिसु हिट्ठिमखिईसु॥ ३२॥

शब्दार्थ – **अद्धाच्छेओ** – अद्धाच्छेद, **सामित्तं** – स्वामित्व, **पि** – भी, **य** – और, **ठिइसंकमे** – स्थितिसंक्रम में, **जहा** – यथा, **नवरं** – विशेष, **तव्वेइसु** – उसके वेदक के, **निरयगईए वा वि** – नरकगतिद्विक की, **तिसु** – तीन, **हिट्ठिमखिईसु** – नीचे की पृथ्वियों में।

गाथार्थ – अद्धाच्छेद और स्वामित्व भी स्थितिसंक्रम में कहे गये अनुसार जानना चाहिये। इतना विशेष है कि उदीरणा उस उस प्रकृति के वेदक जीव के होती है। नरकद्विक की उत्कृष्ट उदीरणा नीचे की तीन पृथ्वियों में होती है।

विशेषार्थ – अद्धाच्छेद और स्वामित्व का वर्णन जैसा पहले स्थितिसंक्रम में कहा है, वैसा यहां भी जानना चाहिये। केवल विशेषता यह है कि संक्रमकरण में स्थितिसंक्रम उन प्रकृतियों के अवेदक जीवों में भी होता है। क्योंकि उदय के अभाव में भी संक्रमण होता है, किन्तु स्थिति-उदीरणा उन प्रकृतियों का वेदन करने वाले जीवों में ही जानना चाहिये। क्योंकि उदय के अभाव में उदीरणा का अभाव माना गया है।

यह कथन अति संक्षेप में किया गया है, इसलिये अब उसका कुछ विशेष रूप से विचार करते हैं —

जिन कर्मों का उदय होने पर बंधोत्कृष्ट स्थिति पाई जाती है, ऐसे ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्टय, तैजससप्तक, वर्णादि बीस प्रकृतियां निर्माण, अस्थिर, अशुभ, अगुरुलघु, मिथ्यात्व, सौलह कषाय, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, वैक्रिय- सप्तक, पंचेन्द्रिय जाति हुण्डकसंस्थान, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अशुभ विहायोगति और नीचगोत्र इन छियासी प्रकृतियों की बंधावलिका व्यतीत होने पर उदयावलिका से उपरितन सभी स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। बंधावलिका से रहित सभी स्थिति यत्स्थिति कहलाती है। यहां पर आवलिकाद्विक रूप अद्धाच्छेद है और उसके उदय वाले जीव उदीरणा के स्वामी होते हैं।

उक्त बंधोत्कृष्ट स्थिति वाली प्रकृतियों के अतिरिक्त मनुष्यगति, सातावेदनीय, स्थिरादिषट्क, हास्यादि षट्क, वेदत्रिक, शुभविहायोगति आदि के पांच संस्थान, आदि के पांच संहनन, उच्च गोत्र इन उनतीस प्रकृतियों के उदय होने पर संक्रमण से उत्कृष्ट स्थिति होती है। अतः इनकी तीन आवलिका से हीन सभी स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। यह उदीरणा केवल उन्हीं कर्मों का वेदन करने वाले जीवों के जानना चाहिये। यहां बंधावलिका और संक्रमावलिका से रहित सर्व स्थिति यत्स्थिति है और तीन आवलिका रूप अद्धाच्छेद है तथा इन प्रकृतियों के उदय वाले जीव ही इनकी उदीरणा के स्वामी हैं।

इसी प्रकार आगे भी जितना जितना उदीरणा के अयोग्य काल है, उतना उतना अद्धाच्छेद है।

अब कतिपय प्रकृतियों की स्थिति-उदीरणा के स्वामित्व के बारे में विशेष रूप से स्पष्टीकरण करते हैं —

किसी मिथ्यादृष्टि जीव ने सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को बांधा, तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तकाल तक मिथ्यात्व का अनुभव कर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ, तब सम्यक्त्व में और सम्यग्मिथ्यात्व में अन्तर्मुहूर्त कम मिथ्यात्व की सभी स्थिति को संक्रमण करता है और संक्रमावलिका के बीत जाने पर वह स्थिति उदीरणा के योग्य हुई। वहां संक्रमावलिका के बीत जाने पर भी वह स्थिति अन्तर्मुहूर्त से कम ही है। तब सम्यक्त्व को अनुभव करते हुये सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति उदीरणा के योग्य है। तत्पश्चात् कोई सम्यक्त्वी सम्यक्त्व में अन्तर्मुहूर्त रह कर सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ, तब सम्यग्मिथ्यात्व को अनुभव करते हुये दो अन्तर्मुहूर्त कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है।

किसी अप्रमत्तसंयत ने आहारकसप्तक की उसके योग्य उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थिति बांधी और तत्काल उत्कृष्ट स्थिति वाले अपनी मूल प्रकृति से अभिन्न अन्य प्रकृतियों के दलिकों को उसमें संक्रांत किया। तब वह सर्वोत्कृष्ट अन्तः कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति हुई। आहारक-सप्तक के बंध के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त अतिक्रमण कर उसने आहारक शरीर का आरंभ किया। उसे आरंभ करते हुये लब्धि के उपभोग (प्रयोग) से उत्सुकता होने से वह प्रमाद वाला हो जाता है, तब उस प्रमत्तसंयत के आहारक शरीर को उत्पन्न करते हुये आहारकसप्तक की अन्तर्मुहूर्त कम उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। यहां प्रमत्त होते हुये आहारक शरीर को आरंभ करने से उत्कृष्ट स्थिति की उदीरणा का स्वामी प्रमत्तसंयत ही जानना चाहिये।

शेष प्रकृतियों के उदीरणा के स्वामी को गाथा में 'निरयगइए' इत्यादि पद से आचार्य ने स्वयं बतलाया है। अर्थात् नरकगति की और अपि शब्द से नरकानुपूर्वी की उत्कृष्ट स्थिति को कोई तिर्यंच पंचेन्द्रिय या मनुष्य बांधकर के और उत्कृष्ट स्थिति बंधने के अनंतर अन्तर्मुहूर्त बीतने पर तीन अधस्तन पृथ्वियों में से किसी एक पृथ्वी में उत्पन्न हुआ। उसके प्रथम समय में नरकगति की अन्तर्मुहूर्तहीन बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सभी स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। नरकानुपूर्वी अपान्तराल गति में तीन समय तक उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है।

प्रश्न — यहां ऊधस्तन तीन पृथ्वियों के ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर — नरकगति आदि की उत्कृष्ट स्थिति को बांधता हुआ जीव अवश्य ही कृष्ण लेश्या के परिणामों से संयुक्त होता है और कृष्ण लेश्या के परिणाम से युक्त जीव काल करके नरकों में उत्पन्न होता है। यदि जघन्य कृष्णलेश्या परिणाम वाला है तो पांचवी पृथ्वी में उत्पन्न होता है। मध्यम कृष्णलेश्या परिणाम वाला है तो छठी पृथ्वी में और यदि उत्कृष्ट कृष्णलेश्या परिणाम वाला है तो सातवीं पृथ्वी में उत्पन्न होता है। इसलिये यहां अधस्तन तीन पृथ्वियों को ग्रहण करने का यह प्रयोजन है तथा —

देवगति देवमणुया-णुपुव्वी आयाव विगल सुहुमतिगे।
अंतोमुहुत्तभग्गा, तावयगूणं तदुक्कस्सं॥ ३३॥

शब्दार्थ — **देवगति** — देवगति, **देवमणुयाणुपुव्वी** — देव और मनुष्यानुपूर्वी, **आयाव**— आतप, **विगल सुहुमतिगे** — विकलत्रिक और सूक्ष्मत्रिक, **अंतोमुहुत्तभग्गा** — अन्तर्मुहूर्त भग्न होने पर, **तावयगूणं** — उससे हीन, **तदुक्कस्सं** — उसकी उत्कृष्ट स्थिति।

गाथार्थ — देवगति और देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, आतप, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा अन्तर्मुहूर्त भिन्न होने पर उस अन्तर्मुहूर्त से हीन उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण है।

विशेषार्थ — देवगति, देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, आतप, विकलत्रिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म साधारण, अपर्याप्त) इन प्रकृतियों के अपने उदय में वर्तमान जीव अन्तर्मुहूर्त भग्न अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति के बंध योग्य अध्यवसाय के अनंतर अन्तर्मुहूर्त काल तक परिभ्रष्ट होते हुये, उतने से न्यून अर्थात् अन्तर्मुहूर्तकाल कम उन देवगति आदि प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को उदीरित करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई जीव उस प्रकार के परिणाम विशेष होने से नरकगति की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर पुनः शुभ परिणाम विशेष के होने से देवगति की दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांधना प्रारंभ करता है, तब उस बध्यमान देवगति की स्थिति में आवलिका के ऊपर बंधावलिका से हीन आवलि से ऊपर की सभी नरकगति की स्थिति को संक्रान्त करता है तब देवगति की भी स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण आवलि मात्र से हीन प्राप्त होती है। देवगति को बांधता हुआ जीव जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त काल तक बांधता है और बांधने के पश्चात् काल करके अनंतर समय में देव हो गया तब देवपने का अनुभव करते हुए उसके देवगति की अन्तर्मुहूर्त कम बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है।

प्रश्न — ऊपर कही गई युक्ति के अनुसार तो आवलिका अधिक अन्तर्मुहूर्त से कम स्थिति उदीरणा के योग्य प्राप्त होती है। तब अन्तर्मुहूर्त से कम कैसे कहा ?

उत्तर — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आवलिका के मिलाने पर उस काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। केवल इसे कुछ बड़ा अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिये।

इसी प्रकार देवानुपूर्वी की उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा का स्वामित्व कहना चाहिये।

अब मनुष्यानुपूर्वी की उत्कृष्ट स्थिति-उदीरणा का स्वामित्व बतलाते हैं। जब किसी जीव ने नरकानुपूर्वी की बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति को बांध कर पुनः शुभ परिणाम विशेष से मनुष्यानुपूर्वी की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण बांधना प्रारंभ किया तब बध्यमान उस मनुष्यानुपूर्वी की स्थिति में आवलि के ऊपर बंधावलिका से हीन आवलि से उपरितन सभी नरकानुपूर्वी की स्थिति को संक्रान्त करता है, तब मनुष्यानुपूर्वी की भी आवलि मात्र से हीन बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति हो जाती है। मनुष्यानुपूर्वी को बांधता हुआ जीव जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त काल तक बांधता है। वह अन्तर्मुहूर्त आवलि से न्यून बीस कोडाकोडी सागरोपम में से कम हो जाता है और बंधने के अनन्तर काल करके मनुष्यानुपूर्वी का अनुभव करते हुए उसकी अन्तर्मुहूर्त कम बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है।

प्रश्न — मनुष्यगति की भी पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम बंध से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, इसी प्रकार मनुष्यानुपूर्वी की भी। किन्तु दोनों में एक की भी बीस कोडाकोडी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त नहीं होती है। तब दोनों ही संक्रमोत्कृष्ट हैं और संक्रामोत्कृष्टपना समान होने पर भी मनुष्यगति के समान मनुष्यानुपूर्वी की भी तीन आवलि से कम उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य क्यों नहीं होती है ?

उत्तर — यह कहना योग्य नहीं है। क्योंकि मनुष्यानुपूर्वी अनुदय-संक्रमोत्कृष्ट है जैसा कि कहा है —

मणुयाणुपुव्वि मीसग आहारग देवजुगल विगलाणि।
सुहुमात्ति तिगं तित्थं अणुदयसंकमण उक्कोसा॥[1]

अर्थात् मनुष्यानुपूर्वी, मिश्रमोहनीय, आहारकयुगल, देवयुगल, विकलत्रिक, सूक्ष्मत्रिक और तीर्थंकर नाम, इतनी प्रकृतियां अनुदय संक्रमोत्कृष्ट होती हैं।

अनुदय-संक्रमोत्कृष्ट प्रकृतियों की जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त से कम ही उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। परंतु मनुष्यगति तो उदय-संक्रमोत्कृष्ट है। कहा भी है —

मणुगई सायं सम्मं थिर हासाईच्छ वेय सुभखगई।
रिसभचउरंसगाई, पणुच्च उदसंकमुक्कोसा॥[2]

अर्थात् मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्व, स्थिरषट्क, हास्यादिषट्क, वेदत्रिक, शुभ विहायोगति, वज्रऋषभनाराच आदि पांच संहनन, समचतुरस्र आदि पांव संस्थान और उच्चगोत्र ये प्रकृतियां उदय संक्रमोत्कृष्ट होती हैं।

इसलिये मनुष्यगति की तीन आवलिका से हीन ही उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है। इसी प्रकार आतप आदि की भी अन्तर्मुहूर्त न्यून उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा योग्य जानना चाहिये।

प्रश्न — अनुदय-संक्रमोत्कृष्ट स्थिति वाली प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्तहीन उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य भले ही हो, किन्तु आतप नाम तो बंधोत्कृष्ट है। इसलिये उसकी बंधावलिका और उदयावलिका इन दो से रहित ही उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य प्राप्त होती है। फिर उसे अन्तर्मुहूर्त से कम कैसे कहते हैं ?

---

१. पंचसंग्रह तृतीय द्वार गाथा ६४

२. पंचसंग्रह तृतीय द्वार गाथा ६३

उत्तर — देवगति में उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान कोई देव ही एकेन्द्रियों के योग्य आतप, स्थावर और एकेन्द्रिय जाति की उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है, अन्य जीव नहीं बांधता है और वह उसे बांधकर वहीं पर ही देवभव में अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। तत्पश्चात् काल करके बादर पृथ्वीकायिकों के मध्य उत्पन्न होता है और उत्पन्न होता हुआ शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होकर आतप नामकर्म के उदय में वर्तमान रहता हुआ उसकी उदीरणा करता है। इसलिये ऐसा होने पर उसकी अन्तर्मुहूर्त से हीन ही उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य होती है।

यहां आतप प्रकृति का ग्रहण उपलक्षण रूप है। अर्थात् इस पद के द्वारा स्थावर , एकेन्द्रिय जाति, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, औदारिकसप्तक, अंतिम संहनन और निद्रापंचक इन अनुदय-बंधोत्कृष्ट उन्नीस प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त कम उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा के योग्य जानना चाहिये। इनमें से स्थावर, एकेन्द्रिय जाति और नरकद्विक का विचार किया गया, अब शेष प्रकृतियों का विचार करते हैं - कोई नारक तिर्यंचद्विक, औदारिकसप्तक और अंतिम संहनन की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर तत्पश्चात् मध्यम परिणाम वाला हुआ, वहां अन्तर्मुहूर्त तक रहकर पुनः तिर्यंचों में उत्पन्न होकर उक्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट उदीरणा करता है। निद्रापंचक की भी अनुदय में उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थिति बांधकर तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त बीतने पर निद्रा के उदय में उत्कृष्ट उदीरणा करता है तथा —

तित्थयरस्स य पल्ला-संखिज्जइमे जहन्नगे इत्तो।
थावरजहन्नसंतेण, समं अहिगं व बंधंतो॥ ३४॥
गंतूणावलिमित्तं, कसाय बारसगभयदुगंछाणं।
निद्दा य, पंचगस्स य, आयावुज्जोयनामस्स॥ ३५॥

शब्दार्थ — **तित्थयरस्स** — तीर्थंकर नाम की, **य** — और, **पल्लासंखिज्जइमे** — पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण, **जहन्नगे** — जघन्य, **इत्तो** — अब (इसके बाद), **थावरजहन्नसंतेण** — स्थावर की जघन्य स्थिति सत्ता, **समं** — तुल्य, **अहिगं** — अधिक, **व** — अथवा, **बंधंतो** — बांधता हुआ।

गंतूणावलिमित्तं — बंधावलिका के बीतने के बाद, **कसाय बारसग** — आदि की बारह कषाय, **भयदुगंछाणं** — भय और जुगुप्सा की, **निद्दा य पंचगस्स** — और निद्रापंचक की, **य** — और, **आयावुज्जोयनामस्स** — आतप और उद्योत नाम की।

गाथार्थ — तीर्थंकरनाम की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति शेष रहने पर उत्कृष्ट स्थिति उदीरणा होती है। अब इसके बाद जघन्य स्थितिउदीरणा कहते हैं। स्थावर प्रकृति की जघन्य स्थिति सत्ता के तुल्य अथवा कुछ अधिक स्थिति को बांधता हुआ जीव बंधावलिका के पश्चात्

आदि की बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, निद्रापंचक, आतप और उद्योत नाम की जघन्य स्थिति-उदीरणा करता है।

विशेषार्थ — यहां पहले तीर्थंकर नामकर्म की बंधी हुई स्थिति को शुभ अध्यवसायों से अपवर्तना करके पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति को शेष किया। तत्पश्चात् अनन्तर समय में केवलज्ञान को उत्पन्न करते हुए उसकी उदीरणा करता है। उदीरणा करने के प्रथम समय में तीर्थंकर प्रकृति की उत्कृष्ट उदीरणा होती है। तीर्थंकर नामकर्म की इतने प्रमाण वाली उत्कृष्ट स्थिति ही सदा उदीरणा के योग्य प्राप्त होती है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति-उदीरणा के स्वामित्व का विचार करने के बाद अब जघन्य स्थिति उदीरणा के स्वामित्व को बतलाते हैं - 'जहन्नगे इत्तो' - अर्थात् अब इसके बाद जघन्य स्थिति उदीरणा का स्वामित्व कहा जाता है।

जघन्य स्थिति-उदीरणा स्वामित्व

'थावरे त्यादि' अर्थात् स्थावर जीव के जघन्य सबसे कम स्थिति सत्व है, उसके समान अथवा कुछ अधिक अल्प प्रमाण नवीन कर्म बंधक है, वही सर्व जघन्य स्थितिसत्कर्मा स्थावर एकेन्द्रिय जीव उसे बांधता हुआ बंधावलिका के बीतने पर आदि की बारह कषाय, भय, जुगुप्सा, निद्रापंचक, आतप और उद्योत इन इक्कीस प्रकृतियों की जघन्य स्थिति-उदीरणा को करता है। यहां पर आतप और उद्योत को छोड़कर शेष उन्नीस प्रकृतियों के ध्रुवबंधी होने से तथा आतप और उद्योत के प्रतिपक्षी का अभाव होने से अन्यत्र इससे जघन्यतर स्थिति प्राप्त नहीं होती है इसलिये यथोक्त स्वरूप वाला एकेन्द्रिय जीव ही इन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति उदीरणा का स्वामी होता है। तथा —

एगिंदियजोग्गाणं इयरा बंधित्तु आलिगं गंतुं।
एगिंदियागए तट्ठिईए जाईणमवि एवं॥ ३६॥

शब्दार्थ — **एगिंदियजोग्गाणं** — एकेन्द्रिय प्रायोग्य, **इयरा** — इतर, **बंधित्तु** — बांधकर, **आलिगं** — आवलिका, **गंतुं** — बीतने पर, **एगिंदियागए** — एकेन्द्रिय से आगत, **तिट्ठिईए** — उस स्थिति वाला (जघन्य स्थिति वाला), **जाईणमवि** — अन्य जाति वाला भी, **एवं** — इस प्रकार।

गाथार्थ — एकेन्द्रिय प्रायोग्य से इतर प्रकृतियों को बांधकर और बंधावलिका के बीतने पर एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों की वह एकेन्द्रिय जीव जघन्य स्थिति-उदीरणा करता है। इसी प्रकार अन्य जातियों की जघन्य स्थिति-उदीरणा एकेन्द्रियों से आया हुआ और एकेन्द्रियों के योग्य जघन्य स्थिति वाला, उस जाति का वेदक द्वीन्द्रिय आदि जीव अपनी अपनी जाति की जघन्य स्थिति-उदीरणा को करता है।

विशेषार्थ — एकेन्द्रियों के ही जो प्रकृतियां उदीरणा योग्य होती हैं, उन्हें एकेन्द्रिय योग्य कहा जाता है। ऐसी प्रकृतियां एकेन्द्रिय जाति स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नाम हैं। इनकी जघन्य स्थिति की सत्ता वाला एकेन्द्रिय ही उक्त प्रकृतियों से इतर अर्थात् एकेन्द्रिय जाति आदि की प्रतिपक्षी द्वीन्द्रिय जाति आदिक प्रकृतियो को बांधकर, जैसे एकेन्द्रिय जाति की प्रतिपक्षी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति तथा स्थावर, सूक्ष्म और साधारण प्रकृतियों की प्रतिपक्षी क्रमशः त्रस, बादर और प्रत्येक नाम हैं। इन्हें बांधकर पुनः एकेन्द्रिय जाति आदि प्रकृतियों को बांधता है, तत्पश्चात् बंधावलिका को बिताकर बंधावलि के चरम समय में एकेन्द्रिय जाति आदि प्रकृतियों की जघन्य स्थिति-उदीरणा करता है।

इस कथन का यह आशय है कि — सर्व जघन्य स्थिति सत्व वाला एकेन्द्रिय जीव द्वीन्द्रियादि सभी जातियों को परिपाटी क्रम से बांधता है, तत्पश्चात् उनके बंध के अनन्तर ही एकेन्द्रिय जाति को बांधना प्रारंभ करता है, तब बंधावलि के चरम समय में पूर्वबद्ध उस एकेन्द्रिय जाति की जघन्य स्थिति उदीरणा को करता है। यहां बंधावलिका के अनन्तर समय में बंधावलिका के प्रथम समय में बंधी हुई दलिक लतायें भी उदीरणा को प्राप्त होती हैं इसलिये उस समय जघन्य स्थिति-उदीरणा प्राप्त नहीं होती है, इस कारण 'बंधावलिका के चरम समय में' ऐसा कहा है। जितने काल के द्वारा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों को बांधता है, उतने काल से कम एकेन्द्रिय जाति की स्थिति होती है इसलिये वह अल्पतर प्राप्त होती है, यह सूचित करने के लिये प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों के बंध का संकेत किया है।

इसी प्रकार स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नाम प्रकृतियों की जघन्य स्थिति-उदीरणा के लिये समझ लेना चाहिये। इनकी प्रतिपक्ष नामकर्म की प्रकृतियां त्रस, बादर, प्रत्येक जानना चाहिये।

'एगिंदियेत्यादि' अर्थात् द्वीन्द्रियादि जातियों की भी इसी पूर्वोक्त प्रकार से एकेन्द्रिय से आया हुआ तत्स्थितिक अर्थात् एकेन्द्रियों के योग्य जघन्य स्थिति वाला जीव जघन्य स्थिति की उदीरणा करता है। इस का यह आशय है कि - जघन्य स्थिति सत्व वाला एकेन्द्रिय भव से निकलकर द्वीन्द्रिय जीवों के मध्य में उत्पन्न हुआ तब पूर्वबद्ध द्वीन्द्रिय जाति का अनुभव करना प्रारंभ करता है और अनुभव करने के प्रथम समय से लेकर दीर्घकाल तक एकेन्द्रिय जाति को बांधने लगा। तत्पश्चात् उसी प्रकार त्रीन्द्रिय जाति को, चतुरिन्द्रिय जाति को और पंचेन्द्रिय जाति को दीर्घकाल तक क्रम से बांधता है। इस प्रकार चार अन्तर्मुहूर्त व्यतीत किये, पुनः द्वीन्द्रिय जाति को बांधना प्रारंभ करता है। तब बंधावलि के चरम समय में उस द्वीन्द्रियादि जाति की एकेन्द्रिय भव में उपार्जित स्थिति सत्व की अपेक्षा चार अन्तर्मुहूर्त और बंधावलिका से कम शेष स्थिति की जघन्य स्थिति-उदीरणा को करता है। बंधावलिका के चरम समय के ग्रहण करने का कारण पहले कह दिया है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय

जाति के लिये भी जानना चाहिये। तथा —

वेयणिया नोकसाया-समत्तसंघयण पंच नीयाण।
तिरियदुग अयस, दूभगणाइज्जाणं च संनिगए॥ ३७॥

शब्दार्थ — **वेयणिया** — वेदनीय, **नोकसाया** — नोकषाय, **असमत्त** — अपर्याप्त, **संघयण पंच** — संहननपंचक, **नीयाण** — नीचगोत्र, **तिरियदुग** — तिर्यंचद्विक, **अयस** — अयशःकीर्ति, **दूभगणाइज्जाणं** — दुर्भग, अनादेय, **च** — और, **संनिगए** — संज्ञी जीवों में आगत।

गाथार्थ — वेदनीय, नोकषाय, अपर्याप्त, संहननपंचक, नीचगोत्र, तिर्यंचद्विक, अयशःकीर्ति, दुर्भग और अनादेय की जघन्य स्थिति की उदीरणा संज्ञी जीवों में आगत करता है।

विशेषार्थ — साता और असातावेदनीय, हास्य रति, अरति शोक, अपर्याप्तक, अंतिम संहनन पंचक, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, अयशःकीर्ति, दुर्भग और अनादेय इन अठारह प्रकृतियों की संज्ञी पंचेन्द्रिय में जघन्य स्थिति उदीरणा होती है। जिसका आशय इस प्रकार है —

जघन्य स्थिति सत्व वाला एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय भव से निकलकर पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में उत्पन्न हुआ और उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर सातावेदनीय को अनुभव करता हुआ असातावेदनीय को दीर्घतर अन्तर्मुहूर्त तक बांधता है। तत्पश्चात् पुनः सातावेदनीय का बंध प्रारंभ करता है। तब बंधावलिका के चरम समय में पूर्वबद्ध सातावेदनीय की जघन्य स्थिति-उदीरणा को करता है। इसी प्रकार असातावेदनीय की भी जघन्य स्थिति उदीरणा जानना चाहिये। किन्तु सातावेदनीय के स्थान में असातावेदनीय कहना चाहिये। यदि सातावेदनीय की जघन्य स्थिति-उदीरणा का कथन करना हो तो असातावेदनीय के स्थान में सातावेदनीय कहना चाहिये।

हास्य और रति की जघन्य स्थिति-उदीरणा साता के समान और अरति शोक की जघन्य स्थिति-उदीरणा असाता के समान जानना चाहिये।

'असमत्त' अर्थात् असमाप्त नाम अपर्याप्तक का है। जघन्य स्थिति सत्व वाला एकेन्द्रिय एकेन्द्रिय भव से निकलकर अपर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रियों के मध्य उत्पन्न हुआ और उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर पर्याप्त नामकर्म को बहुत बड़े अन्तर्मुहूर्त काल तक बांधता है। तत्पश्चात् पुनः अपर्याप्त नाम कर्म को बांधना प्रारंभ करता है। तब बंधावलिका के चरम समय में पूर्वबद्ध अपर्याप्त नामकर्म की जघन्य स्थिति-उदीरणा को करता है।

संहननपंचक के मध्य में से वेदन किये जाने वाले संहनन को छोड़कर शेष संहननों में से प्रत्येक का बंध काल अति दीर्घ कहना चाहिये। तब वेद्यमान संहनन की बंधावलिका के चरम समय

में जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है।

नीचगोत्र की जघन्य स्थिति-उदीरणा असातावेदनीय के समान जानना चाहिये।

सर्व जघन्य स्थिति सत्व वाला कोई बादर तैजसकायिक अथवा वायुकायिक जीव पर्याप्त संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रियों के मध्य में उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् बड़े अन्तर्मुहूर्त काल तक मनुष्यगति को बांधता है और उसे बांधने के अनन्तर तिर्यंचगति को बांधना आरंभ करता है, तब बंधावलिका के चरम समय में उस तिर्यंचगति की जघन्य स्थिति-उदीरणा को करता है। इसी प्रकार तिर्यंचानुपूर्वी की भी जघन्य स्थिति-उदीरणा समझना चाहिये। विशेष यह है कि अपान्तराल गति में तीसरे समय में जघन्य स्थिति-उदीरणा कहना चाहिये।

अयशःकीर्ति, दुर्भग और अनादेय की जघन्य स्थिति-उदीरणा असातावेदनीय के समान कहना चाहिये। लेकिन विशेष यह है कि यहां पर प्रतिपक्ष प्रकृति यशःकीर्ति, सुभग और आदेय का बंध कहना चाहिये। तथा –

अमणागयस्स चिरठिइ अंते सुरनरयगइउवंगाणं।
अणुपुव्वीतिसमइगे नराण एगिंदियागयगे॥ ३८॥

शब्दार्थ – **अमणागयस्स** – असंज्ञी जीवों से आगत, **चिरठिई** – दीर्घ स्थिति, **अंते** – अन्त में, **सुरनरयगइउवंगाणं** – देवगति, नरकगति, और (वैक्रिय) अंगोपांग की, **अणुपुव्वी** – (देव, मनुष्य और नरक) आनुपूर्वी की, **तिसमइगे** – तीसरे समय में, **नराण** – मनुष्य के, **एगिंदियागयगे** – एकेन्द्रियों से आने वाले।

गाथार्थ – असंज्ञी पंचेन्द्रियों में से आगत देव और नारक के अपनी दीर्घ स्थिति के अंत में देवगति, नरकगति और वैक्रिय अंगोपांग नाम की और देवानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी की असंज्ञी के अपान्तराल गति में तीसरे समय में तथा एकेन्द्रियों से आने वाले जीव के विग्रहगति में तीसरे समय में मनुष्यानुपूर्वी की जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है।

विशेषार्थ – अमनस्क अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय से निकलकर देवों या नारकों में आये हुये जीव के देवगति, नरकगति और वैक्रिय अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति-उदीरणा अपनी आयु की दीर्घ स्थिति के अंत में होती है। इसका तात्पर्य यह है कि –

कोई असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव सर्व जघन्य देवगति या नरकगति की स्थिति को बांधकर और बांधने के अनन्तर दीर्घ काल तक उसमें ही रहकर मरण करके देवों या नारकों के मध्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण आयु स्थिति के धारक देव या नारक के अपने अपने आयु की दीर्घ स्थिति के

अंत में अर्थात् चरम समय में वर्तमान होने पर यथायोग्य देवगति, नरकगति, वैक्रिय अंगोपांग की जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है और यदि वही असंज्ञी पंचेन्द्रिय देव या नारक भव की अपान्तराल गति में वर्तमान हो तो यथाक्रम से देवानुपूर्वी या नरकानुपूर्वी के तीसरे समय में जघन्य स्थिति की उदीरणा करता है।

'नराण एगिंदियागयगे त्ति' अर्थात् सर्व जघन्य मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता वाला कोई एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय भव से निकलकर मनुष्यों में उत्पन्न होता हुआ अपान्तराल गति में वर्तमान तीसरे समय में मनुष्यानुपूर्वी की जघन्य स्थिति उदीरणा का स्वामी होता है। तथा –

समयाहिगालिगाए, पढमठिईए उ सेसवेलाए।
मिच्छत्ते वेएसु य, संजलणासु वि य समत्ते॥ ३९॥

शब्दार्थ – **समयाहिगालिगाए** – समयाधिक आवलि, **पढमठिईए** – प्रथम स्थिति में, **उ**– और, **सेसवेलाए** – बाकी रहने पर, **मिच्छत्ते** – मिथ्यात्व, **वेएसु** – वेदत्रिक, **य** – और, **संजलणासु** – संज्वलन कषायों की, **वि** – **विशेष, य** – और, **समत्ते** – सम्यक्त्व मोहनीय की।

गाथार्थ – मिथ्यात्व, वेदत्रिक और संज्वलन कषायों और सम्यक्त्व मोहनीय की जघन्य स्थिति उदीरणा प्रथम स्थिति की समयाधिक आवलिका शेष रहने पर होती है। विशेष सम्यक्त्व और संज्वलन लोभ की क्षय और उपशम होने पर जानना चाहिये।

विशेषार्थ – अन्तरकरण करने पर अधस्तन स्थिति को प्रथमस्थिति कहते हैं – **'अन्तर-करणे कृतेऽधस्तनी स्थितिः प्रथमा स्थितिरित्युच्यते'** और उपरितन स्थिति को द्वितीयस्थिति कहते हैं। इसमें प्रथम स्थिति का समयाधिक आवलिका प्रमाण काल शेष रह जाने पर मिथ्यात्व, तीन वेद, चारों संज्वलन कषायों और सम्यक्त्व मोहनीय की जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है। विशेष यह है कि सम्यक्त्व प्रकृति और संज्वलन लोभ की क्षय या उपशम होने पर जघन्य स्थिति-उदीरणा जानना चाहिये। तथा –

पल्लासंखियभागू-णुदही एगिंदियागए मिस्से।
बेसत्तभागवेउ-व्वियाए पवणस्स तस्संते॥ ४०॥

शब्दार्थ – **पल्लासंखियभागूण** – पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन, **उदही** – एक सागरोपम प्रमाण, **एगिंदियागए** – एकेन्द्रिय में से आया हुआ, **मिस्से** – मिश्रमोहनीय की, **बेसत्तभागवेउव्वियाए** – सात भागों में से दो भाग सागरोपम की स्थिति वाले वैक्रियषट्क की, **पवणस्स** – वायुकायिक के, **तस्संते** – उसके अन्त में।

गाथार्थ — पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन एक सागरोपम प्रमाण स्थिति वाला और एकेन्द्रियों से आया हुआ जीव मिश्रमोहनीय की जघन्य स्थिति-उदीरणा करता है तथा २/७ सागरोपम की स्थिति वाले वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति-उदीरणा वायुकायिकजीव को जीवन के अंत में होती है।

विशेषार्थ — पल्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून जो एक सागरोपम है उतनी सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति सत्तावाला कोई एकेन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय के भव से निकल कर संज्ञी पंचेन्द्रियों के मध्य उत्पन्न हुआ। तब से लेकर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त किया, उस समय में अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व प्राप्त करने के चरम समय में सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है। क्योंकि एकेन्द्रियों की जघन्य स्थिति सत्ता से नीचे वर्तमान सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति उदीरणा के योग्य नहीं होती है। उतनी स्थिति के रहने पर अवश्य ही मिथ्यात्व का उदय संभव होने से उसकी उद्वलना संभव है।

'वेसत्तभागवेउव्वियाए' अर्थात् एक सागरोपम के सात भाग करने पर उसके दो भाग जितनी अर्थात् २/७ सागरोपम प्रमाण जिसकी स्थिति है ऐसे वैक्रियषट्क यानि वैक्रियशरीर वैक्रियसंघात और वैक्रियबंधनचतुष्क को द्विसप्तभागवैक्रिय कहते हैं। यहां विशेषण समास है। प्राकृत होने से 'वेउव्वियाए' ऐसा स्त्रीलिंग निर्देश किया है। यहां भी पल्य के असंख्यातवें भाग की अनुवृत्ति करना चाहिये। अतएव इसका समुच्चय अर्थ यह हुआ कि सत्तावाले पवन अर्थात् बादर वायुकायिक जीव के विक्रिया करने के अन्तिम समय में जघन्य स्थिति उदीरणा होती है। इसका आशय यह है कि पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के २/७ प्रमाण वैक्रियषट्क की जघन्य स्थिति सत्तावाला जीव अनेक बार विक्रिया को प्रारंभ करके अंतिम विक्रिया के चरम समय में विद्यमान जघन्य स्थिति-उदीरणा करता है। इसके अनंतर समय में एकेन्द्रियों की जघन्य स्थिति सत्ता की अपेक्षा अल्पतर होती है। इस कारण वह उदीरणा के योग्य नहीं होती है, किन्तु उद्वलना के योग्य होती है। तथा —

चउरुवसमेत्तु पेज्जं, पच्छा मिच्छं खवेत्तु तेत्तीसा।
उक्कोससंजमद्धा अन्ते सुतणूउवंगाणं॥ ४१॥

शब्दार्थ — **चउरुवसमेत्तु** — चार बार उपशमित कर, **पेज्जं** — प्रेम, मोहनीय, **पच्छा** — पीछे, **मिच्छ** — मिथ्यात्व को, **खवेत्तु** — क्षय करके, **तेत्तीसा** — तेतीस, **उक्कोस** — उत्कृष्ट, **संजमद्धा** — संयम काल के, **अन्ते** — अन्त में, **सुतणूउवंगाणं** — शुभ शरीर व अंगोपांग अर्थात् आहारकद्विक।

गाथार्थ — चार बार प्रेम अर्थात् मोहनीय कर्म को उपशमित करके पीछे मिथ्यात्व को क्षय

करके तेतीस सागरोपम की आयु वाला देव होकर और वहां से च्युत हो मनुष्यभव धारण कर उत्कृष्ट संयम काल के अंत में आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग की जघन्य स्थिति-उदीरणा करता है।

विशेषार्थ — संसार परिभ्रमण द्वारा चार बार प्रेम अर्थात् मोहनीय कर्म को उपशमित करने के पश्चात् मिथ्यात्व को क्षय किया, यह मिथ्यात्व पद उपलक्षण रूप है, इसलिये मिथ्यात्व से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को भी ग्रहण करके उनको भी क्षय किया। अर्थात् वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुआ और क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर तेतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। तत्पश्चात् उस देवभव से च्युत होकर मनुष्यभव में उत्पन्न हुआ और आठ वर्ष के अनन्तर संयम को धारण किया और प्रमत्त-भाव में आहारकसप्तक को बांधा। तत्पश्चात् देशोन पूर्व कोटि तक संयम का परिपालन किया। तब देशोन पूर्व कोटि के अन्त में आहारकशरीर उत्पन्न करते समय 'सुतणू' अर्थात् आहारकशरीर उवंगति=आहारक-अंगोपांग तथा यहां बहुवचन का प्रयोग होने से आहारकबंधनचतुक और आहारक-संघात का ग्रहण भी समझना चाहिये। इस प्रकार आहारकसप्तक की जघन्य स्थिति-उदीरणा करता है। यहां मोहकर्म का उपशम करता हुआ नामकर्म की शेष प्रकृतियों का स्थितिघात आदि के द्वारा बहुत स्थितिसत्व का घात करता है तथा देवभव में अपवर्तनाकरण के द्वारा उनका अपवर्तन करता है। तत्पश्चात् आहारकसप्तक के बंधकाल में अल्प स्थिति सत्व को ही संक्रमाता है। इसी कारण यहां चार बार मोह को उपशमित किया इत्यादि पदों को ग्रहण किया है। आहारकसप्तक का स्थिति सत्व देशोन पूर्व कोटि प्रमाण काल के द्वारा बहुत अधिक क्षय को प्राप्त हो जाता है, यह बताने के लिये देशोन पूर्व कोटि पद को ग्रहण किया गया है। तथा —

छउमत्थखीणरागे, चउदस समयाहिगालिगठिईए।
सेसाणुदीरणंते, भिन्नमुहुत्तो ठिई कालो॥ ४२॥

शब्दार्थ — **छउमत्थखीणरागे** — छद्मस्थ क्षीणराग, मोह, गुणस्थान में, **चउदस** — चौदह, **समयाहिगालिगठिईए** — समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति, **सेसाण** — शेष प्रकृतियों की, **उदीरणंते**— अन्त में उदीरणा होती है, **भिन्नमुहुत्तो** — अन्तर्मुहूर्त, **ठिई कालो** — स्थिति काल।

गाथार्थ — चौदह प्रकृतियों की समयाधिक आवलिकाप्रमाण स्थिति शेष रह जाने पर छद्मस्थ क्षीणमोह गुणस्थान में जघन्य स्थिति उदीरणा होती है तथा शेष प्रकृतियों की सयोगिकेवलि गुणस्थान के अंत में अन्तर्मुहूर्त स्थिति काल शेष रह जाने पर जघन्य स्थिति-उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — छद्मस्थ क्षीणमोह गुणस्थान ज्ञानावरणपंचक, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण रूप दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपंचक इन चौदह प्रकृतियों की जघन्य स्थितिउदीरणा समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति शेष रह जाने पर होती है तथा शेष प्रकृतियों की अर्थात् मनुष्यगति

पंचेन्द्रियजाति, प्रथम संहनन, औदारिकसप्तक, संस्थानषट्क उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, सुभग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र इन बत्तीस प्रकृतियों की तथा पूर्वोक्त ध्रुव उदीरणा वाली नामकर्म की तेतीस प्रकृतियों की, इस प्रकार सब मिला कर पैंसठ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति उदीरणा सयोगी केवलि के चरम समय में होती है। यह जघन्य स्थिति का काल भिन्नमुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त है।

आयुकर्मचतुष्क की भी जघन्य स्थिति उदीरणा अंतिम समय में होती है। इस प्रकार स्थितिउदीरणा का विवेचन जानना चाहिये।

अनुभाग - उदीरणा

अब अनुभाग - उदीरणा के विचार करने का अवसर प्राप्त है। इसके विचार के छह अर्थाधिकार प्राप्त हैं - १. संज्ञा, २. शुभाशुभ प्ररूपणा, ३. विपाक प्ररूपणा, ४. प्रत्यय प्ररूपणा, ५. सादि अनादि प्ररूपणा ६. स्वामित्व प्ररूपणा। इनमें से सर्व प्रथम संज्ञा, शुभाशुभ और विपाक का कथन करते हैं-

अणुभागुदीरणाए, सन्ना य सुभासुभा विवागो य।
अणुभागबंधि भणिया, नाणत्तं पच्चया चेमे॥ ४३॥

शब्दार्थ — **अणुभागुदीरणाए** — अनुभाग उदीरणा में, **सन्ना** — संज्ञा, **य** — और, **सुभासुभा**— शुभाशुभ, **विवागो** — विपाक, **य** — और, **अणुभागबंधि** — (शतक के) अनुभाग बंध में, **भणिया** — कहा है, **नाणत्तं** — भिन्नता, **पच्चया** — प्रत्यय, **चेमे** — और इस प्रकार।

गाथार्थ — अनुभाग - उदीरणा में संज्ञा, शुभाशुभ और विपाक का कथन जैसा शतक के अनुभाग बंध में कहा है, उसी प्रकार जानना चाहिये। लेकिन यहां जो विशेषता है और प्रत्यय प्ररूपणा है वह इस प्रकार है।

विशेषार्थ — अनुभाग उदीरणा में संज्ञा, शुभ-अशुभ प्ररूपणा और विपाक प्ररूपणा जिस प्रकार 'शतक' नामक ग्रंथ में अनुभागबंध के कथन के संदर्थ में कही गई है, उसी प्रकार यहां पर भी जानना चाहिये। लेकिन जो विशेषता है वह इस प्रकार है —

संज्ञा के दो भेद हैं — स्थानसंज्ञा और घातिसंज्ञा। स्थानसंज्ञा चार प्रकार की है - एक-स्थानक, द्वि-स्थानक, त्रि-स्थानक और चतुःस्थानक। घातिसंज्ञा तीन प्रकार की है - सर्वघाति, देशघाति और अघाति।

शुभ कर्मों का अनुभाग क्षीर, खांड आदि के रस के समान शुभ और अशुभ कर्मों का अनुभाग

घोषातिकी, नीम आदि के रस के समान[1] अशुभ होता है।

स्थानसंज्ञा, घातिसंज्ञा और शुभ-अशुभ प्ररूपणा अनुभाग संक्रम के विवेचन में विस्तार से कही जा चुकी है। इसलिये पुनः यहां विस्तार से नहीं करते हैं।

विपाक चार प्रकार का होता है — यथा १. पुद्गलविपाक, २. क्षेत्रविपाक, ३. भवविपाक और ४. जीवविपाक। इनमें से पुद्गलों का आश्रय करके जिस रस का विपाकोदय है वह पुद्गलविपाक कहलाता है। **पुद्गलानधिकृत्य यस्य रसस्य विपाकोदयः स पुद्गलविपाकः।** यह पुद्गलविपाक नामकर्म की निम्नलिखित छत्तीस प्रकृतियों का जानना चाहिये — संस्थानषट्क, संहननषट्क, आतप, शरीरपंचक अंगोपांगत्रिक उद्योत निर्माण स्थिर-अस्थिर, वर्णादि चतुष्क, अगुरुलघु, शुभ अशुभ, पराघात, उपघात, प्रत्येक और साधारण नाम। इन प्रकृतियों को पुद्गलविपाकी मानने का कारण यह है कि संस्थान नामकर्म आदि ये प्रकृतियां औदारिक आदि पुद्गलों का ही आश्रय करके अपना विपाक दिखाती हैं। इसलिये इनका रस पुद्गलविपाकी ही है।

प्रश्न — इस युक्ति से रति-अरति प्रकृतियों का भी रस पुद्गलविपाकी ही प्राप्त होता है। वह इस प्रकार - कंटक (कांटे) आदि के स्पर्श से अरति का और माला चंदन आदि के स्पर्श से रति का विपाकोदय है अतः इन्हें पुद्गलविपाकी क्यों नहीं कहा ?

उत्तर — रति अरति के विपाक का पुद्गल के साथ व्यभिचार है। तथाहि काटे आदि के स्पर्श नहीं होने पर भी प्रिय और अप्रियजनों के स्मरणादि से कदाचित् रति और अरति का विपाकोदय देखा जाता है। इसलिये इन दोनों का अनुभाग जीवविपाकी मानना युक्तिसंगत है, पुद्गलविपाकी नहीं। इसी प्रकार क्रोधादि के विपाक के लिये जानना चाहिये। कहा भी है —

अरइरईणं उदओ किन्न भवे पोग्गलानि संपप्पा।
अप्पुट्ठेहि वि किन्नो ? एवं कोहाइयाणं पि॥[2]

अर्थात् अरति और रति का उदय अर्थात् विपाकोदय पुद्गलों को प्राप्त हो कर क्यों नहीं होता है ? यानी होता ही है। तब उनका रस पुद्गलविपाकी क्यों नहीं कहा जाता है ? इसका आचार्य युक्ति के द्वारा उत्तर देते हैं — अप्पुट्ठेहि वि किन्नो अर्थात् पुद्गलों के स्पर्श नहीं करने पर भी क्या रति अरति इन दोनों का विपाकोदय नहीं होता है ? अर्थात् होता ही है। इसलिये पुद्गल के साथ व्यभिचार होने से

---

१. 'क्षीर घोषातिकी' शब्द उपमा वाचक समझना चाहिये, न कि कर्म वर्गणाओं में उस प्रकार का रस होता है।

– पंचसंग्रह तृतीय द्वार गाथा – १६५

२. पंच संग्रह तृतीय द्वार गाथा – १६५

उनका रस पुद्गलविपाकी नहीं है, किन्तु जीवविपाकी ही है। इसी प्रकार क्रोधादि कषायों के लिये जानना चाहिये।

क्षेत्र का आश्रय करके जिस रस का विपाकोदय होता है, वह रस क्षेत्रविपाकी कहलाता है– **क्षेत्रमधिकृत्य यस्स रसस्य विपाकोदयः स रसः क्षेत्रविपाकः।** वह चारों आनुपूर्वियों का जानना चाहिये।

भव का आश्रय करके जिस रस का विपाकोदय होता है, उसे भवविपाकी कहते हैं – **भवमधिकृत्य यस्य रसस्य विपाकोदयः स रसो भवविपाकः।** वह चारों आयुकर्मों का जानना चाहिये।

प्रश्न – गतियों का भी भव-आश्रय से विपाकोदय होता है, तब उनका रस भवविपाकी क्यों नहीं कहा जाता है ?

उत्तर – उक्त कथन व्यभिचारी होने से अयुक्त है। क्योंकि आयुकर्मों का अपने अपने भव के बिना परभव में संक्रमण के द्वारा भी उदय नहीं होता है। इसलिये स्वभव के साथ सर्वथा अव्यभिचारी होने से उनको भवविपाकी कहा जाता है, किन्तु गतियों का परभव में भी संक्रमण से उदय होता है। इसलिये अपने भव के साथ व्याभिचार होने से वे भवविपाकी नही हैं। कहा भी है –

आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभवे जम्हा।

नो सव्वहा वि उदयो गईण पुण संकमे णत्थि॥[१]

अर्थात् आयु के समान गति भवविपाकी नहीं है। क्योंकि आयु का परभव में संक्रमण से भी उदय नहीं होता है, किन्तु गतियों का ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि उनका संक्रमण से भी उदय होता है।

पूर्वोक्त सर्व प्रकृतियों से शेष रही अठहत्तर प्रकृतियों का रस जीवविपाकी है। क्योंकि जिसके विपाक का आधार साक्षात् जीव ही है, उसे जीवविपाकी कहते हैं - **जीवमेवधिकृत्य विपाको यस्यासौ जीवविपाकः।** 'णाणत्तमित्यादि' नानात्व अर्थात् विशेषता शतक नामक ग्रन्थ के अनुभागबंध में जो विशेषता नहीं कही गई है उसको यहां कहेंगें तथा वहां बंध का आश्रय करके मिथ्यात्वादि प्रत्यय, (हेतु) कहे हैं, किन्तु यहां उदीरणा का आश्रय करके अन्य ही ये वक्ष्यमाण प्रत्यय जानना चाहिये।

अब नानात्व, (विशेषता) की प्ररूपणा करते हैं –

---

१. पंचसंग्रह तृतीय द्वार गाथा - १६६

मीसं दुट्ठाणे सव्व - घाइदुट्ठाणएगठाणे य।
सम्मत्तमंतरायं च, देसघाइ अचक्खू य॥ ४४॥

शब्दार्थ — **मीसं** — मिश्रमोहनीय, **दुट्ठाणे** — द्विस्थानक, **सव्वघाइ** — सर्वघाति, **दुट्ठाण**— द्विस्थानक, **एगठाणे** — एक स्थानक, **य** — और, **सम्मत्तमंतरायं** — सम्यक्त्व अन्तराय, **च** — और, **देसघाइ** — देशघाति, **अचक्खू** — अचक्षुदर्शनावरण, **य** — और।

गाथार्थ — मिश्रमोहनीय द्विस्थानक और सर्वघाति है। सम्यक्त्व मोहनीय और अन्तराय द्विस्थानक, एकस्थानक और देशघाति है। अचक्षुदर्शनावरण देशघाति है।

विशेषार्थ — मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व स्थानसंज्ञा की अपेक्षा सर्वघाति है। सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति उत्कृष्ट उदीरणा की अपेक्षा द्विस्थानक रस वाली और जघन्य उदीरणा की अपेक्षा एकस्थानक रस वाली और घाति संज्ञा की अपेक्षा देशघाति जानना चाहिये। यह बात वहां अर्थात् शतक में नहीं कही गई है, जिसको यहां बताया है। क्योंकि वहां शतक में अनुभागबंध की अपेक्षा से शुभ-अशुभ प्ररूपणा की गई है किन्तु सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का बंध संभव नहीं है। इसलिये इन दोनों को छोड़ कर ही वहां अशुभ प्रकृतियां निर्दिष्ट की गई हैं। किन्तु उदीरणा तो इन दोनों की भी होती है, इसलिये यहां पर विशेष रूप से इन दोनों का ग्रहण किया गया है।

पांचों ही अन्तराय उत्कृष्ट उदीरणा की अपेक्षा द्विस्थानक रस वाले और जघन्य उदीरणा की अपेक्षा एकस्थानक रस वाले हैं तथा घातिसंज्ञा की अपेक्षा देशघाति जानना चाहिये। बंध की अपेक्षा तो पांचों ही प्रकार के अन्तरायकर्म चारों प्रकार के रस वाले हैं, यथा — चतुःस्थानक, त्रिस्थानक, द्विस्थानक और एकस्थानक। अचक्षुदर्शनावरण घातिसंज्ञा की अपेक्षा देशघाति है। तथा —

ठाणेसु चउसु अपुमं दुट्ठाणे कक्कडं च गुरुकं च।
अणुपुव्वीओ तीसं, नरतिरिएगंतजोग्गा य॥ ४५॥

शब्दार्थ — **ठाणेसु** — स्थानक, **चउसु** — चारों, **अपुमं** — नपुंसक वेद, **दुट्ठाणे** — द्विस्थानक, **कक्कडं** — कर्कश, **च** — और, **गुरुकं** — गुरु स्पर्श, **च** — और, **अणुपुव्वीओ** — आनुपूर्वियां **तीसं** — तीस, **नरतिरिएगंतजोग्गा** — मनुष्य तिर्यंच के एकान्त योग्य, **य** — और।

गाथार्थ — अनुभाग-उदीरणा की अपेक्षा नपुंसकवेद चारों स्थानक रस वाला है। कर्कश और गुरु स्पर्श, चारों अनुपूर्वियां तथा मनुष्य और तिर्यंच के एकान्त योग्य तीस प्रकृतियां द्विस्थानक रस वाली हैं।

विशेषार्थ — नपुंसकवेद बंध की अपेक्षा तीन प्रकार के रस वाला है, यथा — चतुःस्थानक,

त्रिस्थानक और द्विस्थानक। किन्तु यहां अनुभाग उदीरणा का अधिकार है। अतः उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा चतुःस्थानक रस वाला है और अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के अधिकार से चतुःस्थानक, त्रिस्थानक, द्विस्थानक और एकस्थानक रस वाला है।

प्रश्न — बंध के अभाव में नपुंसकवेद का एक स्थानक रस उदीरणा में कैसे पाया जाता है?

उत्तर — नपुंसकवेद के क्षपण काल में उसका रसघात करते हुए क्षपक जीव के एकस्थानक रस भी पाया जाना संभव है।

कर्कश और गुरु स्पर्श नामकर्म बंध की अपेक्षा चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस वाले हैं। किन्तु यहां पर अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा द्विस्थानक रस वाले जानना चाहिये।

चारों आनुपूर्वी नामकर्म तथा मनुष्य और तिर्यंचों के एकान्त उदय योग्य मनुष्यायु, तिर्यंचायु, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, औदारिकसप्तक आदि और अंतिम को छोड़कर शेष चार संस्थान, छह संहनन, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण ये तीस प्रकृतियां बंध की अपेक्षा चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस वाली हैं। किन्तु यहां उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा द्विस्थानक रसवाली जानना चाहिये। तथा —

वेय एगट्ठाणे, दुट्ठाणे वा अचक्खू चक्खू य।
जस्सत्थि एगमवि, अक्खरं तु तस्सेगठाणाणि॥ ४६॥

शब्दार्थ — **वेय** - (शेष) वेद, **एगट्ठाणे** — एकस्थानक, **दुट्ठाणे** — द्विस्थानक, **वा** — और, **अचक्खू** — अचक्षुदर्शनावरण, **चक्खू** — चक्षुदर्शनावरण, **य** — और, **जस्सत्थि** — जिसके भी, **एगमवि** — एक भी, **अक्खरं** — अक्षर, **तु** — और, **तस्सेगठाणाणि** — उसके एक स्थानक वाले।

गाथार्थ — शेष वेद, अचक्षु और चक्षुदर्शनावरण एकस्थानक तथा द्विस्थानक रस वाले हैं तथा जिसको एक भी अक्षर का पूर्ण ज्ञान है उसके मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण एकस्थानक रस वाले हैं।

विशेषार्थ — उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा शेष वेद अर्थात् स्त्रीवेद और पुरुषवेद द्विस्थानक रस वाले तथा अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा द्विस्थानक और एकस्थानक रस वाले जानना चाहिये।

इसी प्रकार अचक्षुदर्शनावरण और चक्षुदर्शनावरण भी जानना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा द्विस्थानक रस वाले और अनुत्कृष्ट अनुभागउदीरणा की अपेक्षा द्विस्थानक और

एकस्थानक रस वाले हैं।

यदि बंध की अपेक्षा विचार किया जाये तो स्त्रीवेद चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस वाला है। पुरुषवेद, अचक्षुदर्शनावरण और चक्षुदर्शनावरण चारों ही प्रकार के रस वाले हैं यथा – चतुःस्थानक, त्रिस्थानक, द्विस्थानक और एकस्थानक।

प्रश्न – 'देसघाई अचक्खू य त्ति' अर्थात् अचक्षुदर्शनावरण देशघाति है यह पहले ही कहा है फिर यहां अचक्षुदर्शनावरण का ग्रहण किस लिये किया गया है ?

उत्तर – स्थान नियम के लिये इसका पुनर्ग्रहण किया है। अर्थात् पहले तो अचक्षुदर्शनावरण का देशघातिपना ही कहा गया था, किन्तु यहां पर उसके रसस्थान का नियम कहा गया है।

'जस्सत्थि' इत्यादि अर्थात् जिस जीव के एक भी अक्षर सर्व पर्यायों (श्रुतज्ञान संबंधी) से परिज्ञात होता है, उस श्रुतकेवली के मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण इन चार प्रकृतियों में एकस्थानक रस पाया जाता है।

संज्वलन कषायों का तो बंध और अनुभाग उदीरणा में चार प्रकार का रस होता है यथा – चतुःस्थानक, त्रिस्थानक, द्विस्थानक और एकस्थानक। तथा –

मणनाणं सेससमं, मीसगसम्मत्तमवि य पावेसु।
छट्ठाणवडियहीणा, संतुक्कस्सा उदीरणया॥ ४७॥

शब्दार्थ – **मणनाणं** – मनःपर्यायज्ञान, **सेससमं** – शेष के समान, **मीसगसम्मत्तमवि** – मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय भी, **य** – और, **पावेसु** – पाप प्रकृतियों, **छट्ठाणवडियहीणा** – षट्स्थान पतित हीन, **संतुक्कस्सा** – (अनुभाग) सत्ता की उत्कृष्ट, **उदीरणया** – उदीरणा।

गाथार्थ – मनःपर्यायज्ञान शेष कर्मों के समान तथा मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय पाप प्रकृतियों के समान जानना चाहिये। षट्स्थानपतित हीन अनुभाग सत्ता की उत्कृष्ट उदीरणा होती है।

विशेषार्थ – मनःपर्यायज्ञान शेष कर्मों के समान जानना चाहिये। इसका आशय यह है –

जिस प्रकार शेष कर्मों की उदीरणा चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस की होती है, उसी प्रकार मनःपर्यायज्ञानावरण की भी जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि बंध में मनः पर्यायज्ञानावरण का रस चारों प्रकार का होता है और शेष कर्मों का रस बंध में तीन प्रकार का होता है। यथा – चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक। उन शेष कर्मों के नाम इस प्रकार है –

केवलज्ञानावरण, निद्रापंचक, केवलदर्शनावरण, सातावेदनीय, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, आदि

की बारह कषाय, छह नोकषाय, नरकायु, देवायु, नरकगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजससप्तक, वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, समचतुरस्रसंस्थान, हुंडकसंस्थान, वर्णपंचक, गंधद्विक, रसपंचक, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, लघु शीत और उष्ण, स्पर्शषट्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, उच्चगोत्र और नीचगोत्र। कुल मिलाकर शेष कर्म रूप ये एक सौ एक प्रकृतियां हैं।

अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा उक्त शेष कर्म रूप एक सौ एक प्रकृतियां का उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा में चतुःस्थानक रस होता है और अनुत्कृष्ट उदीरणा की अपेक्षा उनका चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस होता है।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण का रस उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा सर्वघाती है किन्तु अनुत्कृष्ट उदीरणा की अपेक्षा सर्वघाति भी है और देशघाति भी है।

केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रापंचक, मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय इन बीस प्रकृतियों का रस उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा सर्वघाति है।

सातावेदनीय, असातावेदनीय, आयुचतुष्क और नामकर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियां तथा गोत्रद्विक, इनका रस उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट उदीरणा की अपेक्षा सर्वघाति का प्रतिभाग है।

चारों संज्वलन और नोकषाय, इनका रस उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा सर्वघाति है और अनुत्कृष्ट उदीरणा की अपेक्षा सर्वघाति और देशघाति जानना चाहिये।

अब अशुभ प्रकृतियों के विषय में विशेषता कहते हैं - 'मीसग' इत्यादि अर्थात् सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मोहनीय को अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा पापकर्मों में जानना चाहिये। क्योंकि घाति स्वरूप होने से उन दोनों का रस अशुभ होता है। शेष प्रकृतियां तो जिस तरह शतक ग्रंथ के अनुभागबंध में शुभ और अशुभ बताई हैं उसी प्रकार यहां पर भी जानना चाहिये।

प्रश्न — अनुभाग सत्कर्म में वर्तमान उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा किस प्रकार होती है ?

उत्तर — 'छट्ठाणवडियहीणा' इत्यादि अर्थात् अनुभागसत्व के षट्स्थानपतित हीन, रस में उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा करता है। इसका तात्पर्य यह है कि —

जो सर्वोत्कृष्ट अनुभागसत्व है, उसमें अनन्त भागहीन अथवा असंख्यात भागहीन अथवा संख्यात भागहीन अथवा संख्यात गुणहीन असंख्यात गुणहीन अनन्तगुणहीन उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा

होती (करता) है। क्योंकि अनन्तानन्त स्पर्धकों के अनुभाग का क्षय कर देने पर भी अनन्त स्पर्धक उत्कृष्ट रस वाले अभी भी विद्यमान रहते हैं। इसलिये अनन्त भाग शेष रहने पर अर्थात् मूल अनुभाग सत्व की अपेक्षा अनन्त गुणहीन अनुभाग में उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा पाई जाती है तो फिर असंख्यात गुण आदि अनुभागसत्व में तो कहना ही क्या है ?

अब विपाक में विशेषता बतलाते हैं —

विरियंतराय केवल दंसणमोहणीय णाणवरणाणं।
असमत्त पज्जएसु (च)सव्वदव्वेसु उ विवागो॥ ४८॥

शब्दार्थ — **विरियंतराय** — वीर्यान्तराय, **केवलदंसण** — केवलदर्शनावरण, **मोहणीय** — मोहनीय, **णाणवरणाणं** — ज्ञानावरण का, **असमत्तपज्जएसु** — अपूर्ण पर्यायों में, **च** — और, **सव्वदव्वेसु उ** — सर्व द्रव्यों में (जीवों में), **विवागो** — विपाक।

गाथार्थ — वीर्यान्तराय, केवलदर्शनावरण, मोहनीय और ज्ञानावरण का विपाक सर्व द्रव्यों अर्थात् सभी जीवों में किन्तु उनकी अपूर्ण पर्यायों में होता है।

विशेषार्थ — वीर्यान्तराय, केवलदर्शनावरण, अट्ठाईस प्रकार का मोहनीय और पांच प्रकार का ज्ञानावरण इन पैंतीस प्रकृतियों का विपाक सर्वद्रव्यों अर्थात् सभी जीवों में किन्तु उनकी असमस्त पर्यायों में होता है। इसका आशय यह है कि —

ये वीर्यान्तराय आदि पैंतीस प्रकृतियां द्रव्य की अपेक्षा संपूर्ण ही जीवद्रव्य का घात करती हैं किन्तु सभी पर्यायों का घात नहीं करती हैं। जैसे - अति सघनतर मेघों के द्वारा पूर्ण रूप से आच्छादित होने पर भी सूर्य और चन्द्रमा की प्रभा सर्वथा दूर नहीं की जा सकती है। कहा भी है —

सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं ति।

अर्थात् अत्यन्त गहन मेघ समुदाय के होने पर भी चन्द्र और सूर्य की प्रभा होती है। इसी प्रकार यहां पर भी समझना चाहिये। तथा —

गुरुलघुगा णंतपएसिएसु चक्खुस्स रूविदव्वेसु।
ओहिस्स गहणधारण-जोग्गे सेसंतरायाणं॥ ४९॥

शब्दार्थ — **गुरुलघुगा** — गुरुलघु वाले, **णंतपएसिएसु** — अनन्त प्रदेशी स्कन्धों में, **चक्खुस्स** — चक्षुदर्शनावरण की, **रूविदव्वेसु** — रूपी द्रव्यों में, **ओहिस्स** — अवधिदर्शनावरण का, **गहणधारणजोग्गे** — ग्रहण धारण योग्य, **सेसंतरायाणं** — शेष अन्तरायों का।

गाथार्थ – चक्षुदर्शनावरण का विपाक अनन्त प्रदेशी गुरुलघु स्कन्धों में, अवधिदर्शनावरण का रूपी द्रव्यों में और शेष अन्तराय कर्मों का ग्रहण धारण योग्य पुद्गल द्रव्यों में होता है।

विशेषार्थ – चक्षु अर्थात् चक्षुदर्शनावरण का जो गुरुलघु परिणाम वाले[१] अनन्त प्रदेशी स्कन्ध हैं उनमें विपाक होता है। अवधिदर्शनावरण का विपाक रूपी द्रव्यों में होता है और अन्तराय कर्मों – दान, लाभ, भोग और उपभोग अन्तराय कर्मों का विपाक ग्रहण - धारण योग्य पुद्गल द्रव्यों में होता है, शेष पुद्गलों में नहीं। क्योंकि जितने विषय में चक्षुदर्शन आदि व्यापार करते हैं, उतने ही विषय में चक्षुदर्शनावरण आदि भी अपना व्यापार करते हैं। इसलिये ऊपर कहा हुआ विषय का नियम विरोध को प्राप्त नहीं होता है। शेष प्रकृतियों का विपाक जैसा ऊपर कहा है उसी प्रकार पुद्गलविपाक आदि रूप जानना चाहिये।

इस प्रकार विपाक विषयक विशेषता समझना चाहिये।

प्रत्यय - प्ररूपणा

अब प्रत्ययप्ररूपणा के विचार का क्रम प्राप्त है। अतः उसको बतलाते हैं। प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं – १. परिणामप्रत्यय और २. भवप्रत्यय। इनमें से पहले परिणामप्रत्यय का कथन करते हैं –

वेउव्विय तेयग कम्म वन्न रस गंध निद्धलुक्खाउं।
सीउण्हथिरसुभेयर-अगुरुलघुगा य नरतिरिए॥ ५०॥

शब्दार्थ – **वेउव्विय** – वैक्रिय, **तेयग** – तैजस, **कम्म** – कार्मण, **वन्न** – वर्ण, **रस** – रस, **गंध** – गंध, **निद्धलुक्खाउं** – स्निग्ध, रूक्ष, **सीउण्ह** – शीत, उष्ण, **थिरसुभेयर** – स्थिर, शुभ और इतर, **अगुरुलघुगा** – अगुरुलघु, **य** – और, **नरतिरिए** – मनुष्य तिर्यंच के।

गाथार्थ – वैक्रिय, तैजस, कार्मण, वर्ण, रस, गंध, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, स्थिर, शुभ और इन दोनों के इतर अर्थात् अस्थिर, अशुभ, अगुरुलघु इन प्रकृतियों की अनुभाग उदीरणा मनुष्यों और तिर्यंचों के परिणामप्रत्यय वाली होती है।

विशेषार्थ – वैक्रियसप्तक, तैजस और कार्मण के ग्रहण से तैजससप्तक भी ग्रहीत है, तथा वर्णपंचक, गंधद्विक, रसपंचक, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ और

---

१. 'गुरुलघु परिणाम वाले' यह सामान्य शब्द है। इसमें गुरु अर्थात् पत्थर आदि की तरह गुरुपरिणामी, धूप आदि की तरह लघुपरिणामी और ज्योतिष्क विमान आदि की तरह गुरुलघुपरिणामी यह अर्थ गर्भित है।

अगुरुलघु नाम इतनी प्रकृतियां अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा तिर्यंच और मनुष्यों के परिणामप्रत्यय वाली है। क्योंकि वैक्रियसप्तक तिर्यंच और मनुष्यों के गुणविशेष से उत्पन्न लब्धि के प्रत्यय (निमित्त) से उत्पन्न होते हैं। इसलिये इनकी उदीरणा भी गुण रूप परिणाम के प्रत्यय वाली होती है।

तैजससप्तक आदि तो तिर्यंच और मनुष्यों के द्वारा अन्य अन्य प्रकार से परिणमन कर उदीरित किये जाते हैं, इसलिये उन प्रकृतियों की भी अनुभाग उदीरणा तिर्यंच और मनुष्यों के परिणामप्रत्यय वाली होती है। तथा —

चउरंसमउयलहुगा - परघाउज्जोयइट्ठखगइसरा।
पतेगतणू उत्तर-तणुसु दोसु विय तणू तइया॥ ५१॥

शब्दार्थ — **चउरंस** — समचतुरस्र, **मउय** — मृदु, **लहुगा** — लघु, **परघाउज्जोय** — पराघात, उद्योत, **इट्ठखगइसरा** — प्रशस्त विहायोगति, स्वर, **पतेगतणू** — प्रत्येक शरीर, **उत्तरतणुसु** — उत्तर शरीर में, **दोसु** — दोनों में, **य** — और, **तणू** — शरीर, **तइया** — तीसरा (आहारक)।

गाथार्थ — समचतुरस्रसंस्थान मृदु, लघु, पराघात, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति स्वर और प्रत्येक शरीर ये प्रकृतियां 'उत्तर शरीर में' परिणाम प्रत्यय वाली हैं। तीसरा शरीर (आहारकशरीर) भी गुणपरिणाम प्रत्ययिक है।

विशेषार्थ — समचतुरस्रसंस्थान मृदु, पराघात, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, सुस्वर और प्रत्येक नाम ये आठ प्रकृतियां वैक्रिय और आहारक रूप उत्तर शरीरों में अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा परिणामप्रत्ययिक जानना चाहिये। क्योंकि उत्तर वैक्रियशरीर के अथवा आहारकशरीर के होने पर समचतुरस्रसंस्थान आदि उक्त प्रकृतियों की अनुभाग उदीरणा प्रवर्तमान होती है। अतः वह उत्तरवैक्रिय आदि शरीर के परिणाम की अपेक्षा रखती है।

तीसरा तनु-शरीर अर्थात् आहारकशरीर तथा आहारकशरीर से आहारकसप्तक ग्रहीत जानना चाहिये। यह आहारकसप्तक भी अनुभागउदीरणा की अपेक्षा परिणामप्रत्ययिक है। क्योंकि आहारक मनुष्यों के गुणपरिणाम-प्रत्यय वाला होता है, इसलिये उसके अनुभाग की उदीरणा भी गुणपरिणाम प्रत्यय वाली होती है। तथा —

देसविरय विरयाणं सुभगाएज्जजसकित्तिउच्चाणं।
पुव्वाणुपुव्विगाए असंखभागो थियाईणं॥ ५२॥

शब्दार्थ — **देसविरयविरयाणं** — देशविरत और विरतों के, **सुभगाएज्जजसकित्तिउच्चाणं**— सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र, **पुव्वाणुपुव्विगाए** — पूर्वानुपूर्वी के, **असंखभागो** —

असंख्यातवें भाग, **थियाईणं** – स्त्रीवेद आदि की।

गाथार्थ – देशविरत और विरत जीवों के सुभग, आदेय, यश:कीर्ति और उच्चगोत्र की अनुभाग उदीरणा तथा स्त्रीवेद आदि नौ नोकषायों की अनुभाग उदीरणा पूर्वानुपूर्वी का असंख्यातवां भाग गुणपरिणाम प्रत्ययिक है।

विशेषार्थ – देशविरतों और संयतों के सुभग, आदेय, यश:कीर्ति और उच्चगोत्र इन चार प्रकृतियों की अनुभाग उदीरणा गुणपरिणाम कृत होती है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि –

सुभग आदि प्रकृतियों के प्रतिपक्षभूत, दुर्भग आदि प्रकृतियों के उदय से युक्त भी जो जीव देशविरति अथवा सर्वविरति को प्राप्त होता है, उसके देशविरत आदि गुणों के प्रभाव से सुभग आदि प्रकृतियों की ही उदय पूर्वक उदीरणा प्रवृत्त होती है।

स्त्रीवेद आदि नौ नोकषायों का पूर्वानुपूर्वी से असंख्यातवां भाग देशविरत और सर्वविरत प्रत्येक के गुण परिणाम प्रत्यय से उदीरणा योग्य जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्रीवेद आदि नोकषायों के अति जघन्य अनुभाग स्पर्धक से ले कर क्रम से असंख्यातवां भाग देशविरतादि के गुणपरिणामप्रत्यय से उदीरणा के योग्य होता है, इससे परे अनुभाग की उदीरणा नहीं होती है। तथा -

तित्थयरं घाईणि य परिणाम पच्चयाणि सेसाओ।

भवपच्चइया पुव्वुत्ता वि य पुव्वुत्त सेसाणं॥ ५३॥

शब्दार्थ – **तित्थयरं** – तीर्थंकर नाम, **घाईणि** – घाति प्रकृतियां, **य** – और, **परिणाम पच्चयाणि** – परिणामप्रत्ययिक, **सेसाओ** – शेष, **भवपच्चइया** – भवप्रत्ययिक, **पुव्वुत्तावि** – पूर्वोक्त भी, **य** – और, **पुव्वुत्त सेसाणं** – पूर्वोक्त जीवों से शेष।

गाथार्थ – तीर्थंकरनाम और घाति प्रकृतियां परिणामप्रत्ययिक हैं तथा शेष प्रकृतियां और पूर्वोक्त प्रकृतियां भी पूर्वोक्त जीवों के सिवाय शेष जीवों के भवप्रत्यय वाली हैं।

विशेषार्थ – तीर्थंकरनाम और घाति कर्म अर्थात् पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, नोकषायों को छोड़ कर शेष मोहनीय प्रकृतियां और पांच प्रकार का अन्तराय, कुल मिला कर उनतालीस प्रकृतियां अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा मनुष्यों और तिर्यंचों के परिणामप्रत्यय वाली हैं। इसका अभिप्राय है कि इन प्रकृतियों के अनुभाग की उदीरणा तिर्यंच और मनुष्यों के परिणाम प्रत्यय से होती है। अन्य रूप से स्थित स्वरूप का अन्य रूप कर देना परिणाम कहलाता है - **परिणामो ह्यन्यथाभाव नयनं।** तिर्यंच और मनुष्य गुणप्रत्यय के द्वारा अन्य प्रकार से बंधे हुय कर्मदलिकों को अन्य प्रकार से परिणत कर उनकी उदीरणा करते हैं।

सेसाओ इत्यादि अर्थात् शेष रही सातावेदनीय, असातावेदनीय, आयुचतुष्क, गतिचतुष्क, जातिपंचक, औदारिकसप्तक, संहननषट्क, पहले के सिवाय शेष पांच संस्थान, कर्कश, गुरु स्पर्श, आनुपूर्वीचतुष्क उपघात, आतप, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, साधारण, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र रूप छप्पन प्रकृतियां अनुभाग उदीरणा की अपेक्षा भवप्रत्ययिक जानना चाहिये। अर्थात् इनके अनुभाग की उदीरणा भवप्रत्यय से होती है।

'पुव्वत्ता' इत्यादि अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृतियां भी 'पुव्वुत्त सेसाणं' अर्थात् पूर्वोक्त शेष जीवों के अतिरिक्त यानि तिर्यंच और मनुष्यों के अतिरिक्त शेष जीवों के अनुभाग उदीरणा भवप्रत्ययिक जानना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि —

देव और नारकों के द्वारा तथा व्रत रहित तिर्यंच और मनुष्यों के द्वारा नौ नोकषायों के पश्चानुपूर्वी द्वारा उत्कृष्ट अनुभाग स्पर्धक से लेकर असंख्य अनुभाग स्पर्धक भवप्रत्यय से ही उदीरित किये जाते हैं, तथा वैक्रियसप्तक, तैजससप्तक, वर्णपंचक, गंधद्विक, रसपंचक, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु नाम इन प्रकृतियों के अनुभाग की उदीरणा देव, नारक भवप्रत्यय से करते हैंतथा समचतुरस्रसंस्थान की उदीरणा भवधारणीय शरीर में वर्तमान देव भवप्रत्यय से करते हैं। मृदु लघु स्पर्श, पराघात, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, सुस्वर और प्रत्येक नाम प्रकृतियों के अनुभाग की उदीरणा वैक्रियशरीरी जीवों को छोड़ कर शेष जीवों के भवप्रत्यय से होती है। सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र के अनुभाग की उदीरणा गुणहीन जीवों के भवप्रत्यय और गुणवान जीवों के गुणप्रत्यय से जानना चाहिये तथा सभी घातिप्रकृतियों की अनुभागउदीरणा देव और नारकों के भवप्रत्यय से ही होती है। इस प्रकार से प्रत्यय प्ररूपणा जानना चाहिये।

सादि-अनादि प्ररूपणा

अब क्रम प्राप्त सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है - १. मूलप्रकृति विषयक और २. उत्तरप्रकृति विषयक। इनमें से पहले मूलप्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं —

घाईणं अजघन्ना दोण्हमणुक्को - सियाओ तिविहाओ।
वेयणिएणुक्कोसा अजहन्ना मोहणीए उ॥ ५४॥
साइ अणाई धुव अधुवा य तस्सेसिगा य दुविगप्पा।
आउस्स साइ अधुवा सव्वविगप्पा उ विन्नेया॥ ५५॥

शब्दार्थ – **घाईणं** – मोहनीय कर्म को छोड़ कर घातिकर्मों की, **अजघन्ना** – अजघन्य, **दोण्हं** – दो की (नाम और गोत्र की), **अणुक्कोसियाओ** – अनुत्कृष्ट, **तिविहाओ** – तीन प्रकार की, **वेयणिएणुक्कोसा** – वेदनीय की अनुत्कृष्ट, **अजहन्ना** – अजघन्य, **मोहणीए** – मोहनीय की, **उ** – और।

साइ अणाई – सादि-अनादि, **धुव** – ध्रुव, **अधुवा** – अध्रुव, **य** – और, **तस्सेसिगा** – उसके शेष विकल्प, **य** – और, **दुविगप्पा** – दो विकल्प, **आउस्स** – आयु के, **साइ अधुवा** – सादि अध्रुव, **सव्वविगप्पा** – सर्व विकल्प, **उ** – और, **विन्नेया** – जानना चाहिये।

गाथार्थ – मोहनीय को छोड़ कर तीन घाति कर्मों की अजघन्य, दो कर्मों की अनुत्कृष्ट उदीरणा तीन प्रकार की होती है। वेदनीय की अनुत्कृष्ट और मोहनीय की अजघन्य उदीरणा सादि अनादि ध्रुव और अध्रुव रूप चारों प्रकार की होती है तथा इनके शेष विकल्प दो प्रकार के होते हैं तथा आयुकर्म के सभी विकल्प सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

विशेषार्थ – मोहनीय को छोड़कर शेष तीनों घातिकर्मों की अजघन्य अनुभाग-उदीरणा तीन प्रकार की होती है, यथा – अनादि, ध्रुव, अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

इन कर्मों की क्षीणकषायी जीवस्थिति में समयाधिक आवलिका काल शेष रहने पर जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है, वह सादि और अध्रुव है। शेषकाल उक्त कर्मों की उदीरणा अजघन्य होती है और वह ध्रुवउदीरणा रूप होने से अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा समझना चाहिये।

दोण्हं अर्थात् नाम और गोत्र इन दो कर्मों की अनुत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा तीन प्रकार की होती है यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है कि –

इन दोनों कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा सयोगीकेवली में होती है। अतः वह सादि और अध्रुव है। शेष काल में उनकी उदीरणा अनुत्कृष्ट होती है और वह ध्रुव उदीरणा होने से अनादि है। ध्रुव और अध्रुव पूर्ववत् अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

वेदनीय में अनुत्कृष्ट और मोहनीय में अजघन्य अनुभाग-उदीरणा चार प्रकार की है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है कि –

उपशमश्रेणी में सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में जो सातावेदनीय कर्म बांधा है, उसकी सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होने पर जो प्रथम समय में उदीरणा होती है, वह उत्कृष्ट है और वह सादि तथा अध्रुव है।

उससे अन्य सभी उदीरणा अनुत्कृष्ट होती है। तथा वह अप्रमत्तगुणस्थान आदि में नहीं होती है एवं वहां से प्रतिपात होने पर होती है। अतएव वह सादि है, किन्तु उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

मोहनीयकर्म की जघन्य अनुभाग-उदीरणा सूक्ष्मसंपरायक्षपक के स्थिति में समयाधिक आवलिका काल शेष रह जाने पर होती है, अतः वह सादि है और उसके अनन्तर समय में अभाव हो जाने से अध्रुव है। शेष काल में तो अजघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। और वह उपशान्तमोह गुणस्थान में नहीं होती है, किन्तु वहां से प्रतिपात होने पर होती है, इसलिये वह सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि होती है। ध्रुव अध्रुव विकल्प पूर्ववत् क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

'तस्सेसिगा' इत्यादि अर्थात् ऊपर कहे गये विकल्पों से अतिरिक्त शेष विकल्प दो प्रकार जानना चाहिये, यथा – सादि और अध्रुव। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

चारों घातिकर्मों की उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा मिथ्यादृष्टि जीव में क्रम से पायी जाती है, इसलिये वे दोनों ही सादि और अध्रुव हैं। जघन्य अनुभाग-उदीरणा पहले ही बतायी जा चुकी है। नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की जघन्य, अजघन्य अनुभाग-उदीरणा मिथ्यादृष्टि जीव में क्रम से पायी जाती है अतः वे भी दोनों सादि अध्रुव हैं।

आयुकर्मों के सभी विकल्प सादि और अध्रुव होते हैं और यह सादिता और अध्रुवता अध्रुव उदीरणा से जानना चाहिये।

इस प्रकार मूलप्रकृति विषयक सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तरप्रकृति विषयक सादि अनादि प्ररूपणा का कथन प्रारंभ करते हैं।

मउलहुगाणुक्कोसा चउव्विहा तिण्हमवि य अजहन्ना।
णाइगधुवा य अधुवा वीसाए होयणुक्कोसा॥ ५६॥
तेवीसाए अजहण्णा विय एयासि सेसगविगप्पा।
सव्वविगप्पा सेसाण वावि अधुवा य साईया॥ ५७॥

शब्दार्थ – **मउलहुगाणुक्कोसा** – मृदु, लघु की अनुत्कृष्ट, **चउव्विहा** – चार प्रकार की, **तिण्हमवि** – तीन की भी, **य** – और, **अजहन्ना** – अजघन्य, **णाइगधुवा** – अनादि ध्रुव, **य** – और, **अधुवा** – अध्रुव, **वीसाए** – बीस की, **होय** – होती है, **अणुक्कोसा** – अनुत्कृष्ट।

तेवीसाए – तेईस की, **अजहण्णा** – अजघन्य, **विय** – भी, **एयासि** – इनके,

सेसगविगप्पा – शेष विकल्प, **सव्वविगप्पा** – सर्व विकल्प, **सेसाण** – शेष प्रकृतियों के, **वावि**– भी, **अधुवा य साईया** – अध्रुव और सादि।

गाथार्थ – मृदु, लघु की अनुत्कृष्ट उदीरणा तथा तीन की अजघन्य उदीरणा चार प्रकार की होती है। बीस प्रकृतियों की अनुत्कृष्ट उदीरणा अनादि ध्रुव और अध्रुव होती है। तेईस प्रकृतियों की अजघन्य उदीरणा तीन प्रकार की होती है। इनके शेष विकल्प तथा शेष प्रकृतियों के सर्व विकल्प सादि और अध्रुव होते हैं।

विशेषार्थ – मृदु और लघु की अनुत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा चार प्रकार की होती है, यथा– सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है कि –

इन दोनों प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा आहारकशरीरस्थित संयत के होती हैऔर वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी अनुत्कृष्ट उदीरणा है। वह भी आहारकशरीर का उपसंहार करते समय संयत के सादि है और उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव अध्रुव विकल्प अभव्य और भव्य की अपेक्षा से जानना चाहिये।

'तिण्हमवि य' इत्यादि अर्थात् तीन की भी यानी मिथ्यात्व, गुरु और कर्कश इन तीन प्रकृतियों की भी अजघन्य अनुभाग-उदीरणा चार प्रकार की होती है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है कि –

सम्यक्त्व और संयम को युगपत् प्राप्त करने के इच्छुक जीवों को मिथ्यात्व की जघन्य-उदीरणा होती है और वह सादि और अध्रुव होती है। उससे अन्य सभी अजघन्य उदीरणा है जो सम्यक्त्व से गिरते हुए जीव के होती है, अतः सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव को अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्ववत् अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये। कर्कश और गुरु स्पर्श की जघन्य अनुभाग-उदीरणा केवली समुद्घात से निवर्तमान केवली के छट्ठे समय में होती है, अतः वह सादि और अध्रुव है। क्योंकि वह केवल एक समय मात्र होती है। उससे अन्य सभी अजघन्य उदीरणा है। जो केवली समुद्घात से निवर्तमान केवली के सातवें समय में होती है, अतः सादि है। ध्रुव अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

'वीसाए' अर्थात् तैजससप्तक, मृदु, लघु को छोड़ कर शेष शुभ वर्णादि नवक, अगुरुलघु, स्थिर, शुभ, निर्माण नाम रूप बीस प्रकृतियों की अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीन प्रकार की होती है, यथा – अनादि, ध्रुव, अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट उदीरणा सयोगी केवली के चरम समय में होती है। उससे

अन्य सभी अनुत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा है और वह ध्रुव उदीरणा रूप होने से अनादि है। ध्रुव, अध्रुव, विकल्प, अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

'तेवीसाए अजहण्णा' इत्यादि अर्थात् पांच ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनावरणचतुष्क, कृष्ण, नील वर्ण, दुरभिगंध, तिक्त, कटु रस, रूक्ष, शीत स्पर्श, अस्थिर, अशुभ और पांच अन्तराय इन तेईस प्रकृतियों की अजघन्य अनुभाग उदीरणा तीन प्रकार की होती है, यथा – अनादि, ध्रुव, अध्रुव। वह इस प्रकार समझना चाहिये कि –

इन प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग उदीरणा अपने अपने उदीरणाकाल के अंतिम समय में होती है, इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी अजघन्य है और वह ध्रुव उदीरणा रूप होने से अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प अभव्य और भव्य की अपेक्षा से होते हैं।

'एयासि' इत्यादि अर्थात् इन पूर्वोक्त प्रकृतियों के ऊपर कहे गये विकल्पों के सिवाय शेष विकल्प यानी मृदु लघु आदि बीस प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट विकल्प तथा मिथ्यात्व गुरु और कर्कश आदि तेईस प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य विकल्प सादि और अध्रुव होते हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिये कि –

मृदु लघु तथा तैजससप्तक आदि बीस प्रकृतियों की जघन्य और अजघन्य अनुभाग उदीरणा मिथ्यादृष्टि में पर्याय, (क्रम) से पायी जाती है। इसलिये ये दोनों सादि, अध्रुव हैं। उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा पहले बतायी जा चुकी है। कर्कश, गुरु, मिथ्यात्व एवं पंचविध ज्ञानावरण आदि तेईस प्रकृतियों की उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा मिथ्यादृष्टि में क्रम से पायी जाती है। क्योंकि ये अशुभ प्रकृतियां हैं। इसलिये वे दोनों उदीरणा सादि और अध्रुव हैं। जघन्य अनुभाग-उदीरणा पहले कही गई है।

'सव्वविगप्पा सेसाणं' अर्थात् ऊपर कही गई प्रकृतियों से शेष रही एक सौ दस प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य अजघन्य रूप सभी विकल्प सादि और अध्रुव हैं। और यह सादिता और अध्रुवता अध्रुव-उदीरणा रूप से जानना चाहिये।

इस प्रकार मूल और उत्तरप्रकृति विषयक सादि अनादि प्ररूपणा का विचार किया गया।

स्वामित्व प्ररूपणा

अब स्वामित्व प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है - १. उत्कृष्ट उदीरणा विषयक और २. जघन्य उदीरणा विषयक। इनमें से पहले उत्कृष्ट उदीरणा विषयक स्वामित्व को बतलाते हैं –

दाणाइ अचक्खूणं जेट्ठा आयम्मि हीणलद्धिस्स।
सुहुमस्स चक्खुणो पुण तेइंदिय सव्वपज्जत्ते॥ ५८॥

शब्दार्थ – **दाणाइ** – दानान्तराय आदि की, **अचक्खूणं** – अचक्षुदर्शनावरण की, **जेट्ठा**– उत्कृष्ट, **आयम्मि** – भव के प्रथम समय में, **हीणलद्धिस्स** – अल्पतम लब्धि वालों के, **सुहुमस्स** – सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के, **चक्खुणो** – चक्षुदर्शनावरण की, **पुण** – तथा, **तेइंदिय** – त्रीन्द्रिय, **सव्वपज्जत्ते** – सर्व पर्याप्ति से पर्याप्त।

गाथार्थ – अल्पतम लब्धि वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के प्रथम समय में दानादि पांच अन्तरायों और अचक्षुदर्शनावरण की और संपूर्ण पर्याप्तियों से पर्याप्त त्रीन्द्रिय जीव के चक्षुदर्शनावरण की उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा होती है।

विशेषार्थ – हीन लब्धि वाले अर्थात् सबसे अल्पतम दान लाभादि के क्षयोपशम वाले तथा अचक्षुदर्शनरूप विज्ञान लब्धि से युक्त ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के भव के आदि में अर्थात् प्रथम समय में वर्तमान जीव के पांच प्रकार के अन्तराय और अचक्षुदर्शनावरण इन छह प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा होती है।

सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त त्रीन्द्रिय जीव के[1] पर्याप्ति पूर्ण होने के चरम समय में चक्षुदर्शनावरण के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा होती है तथा

निद्दाइपंचगस्स य, मज्झिमपरिणामसंकिलिट्ठस्स।
अपुमादि असायाणं निरए जेट्ठा ठिइसमत्ते॥ ५९॥

शब्दार्थ – **निद्दाइपंचगस्स** – निद्रादि पंचक की, **य** – और, **मज्झिमपरिणामसंकिलिट्ठस्स**– मध्यम संक्लिष्ट परिणामी, **अपुमादि** – नपुंसकवेद आदि, **असायाणं**– असातावेदनीय की, **निरए** – नारक के, **जेट्ठा** – उत्कृष्ट, **ठिइसमत्ते** – स्थिति वाले।

गाथार्थ – मध्यम संक्लिष्ट परिणामी जीव के निद्रापंचक की उत्कृष्ट उदीरणा होती है तथा नपुंसकवेद आदि और असातावेदनीय की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा उत्कृष्ट स्थिति वाले नारक के होती है।

विशेषार्थ – तत्प्रायोग्य संक्लेश से युक्त मध्यम परिणाम वाले सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव के निद्रापंचक की उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा होती है। क्योंकि अत्यंत विशुद्ध परिणाम वाले अथवा अत्यंत संक्लिष्ट परिणाम वाले जीव के पांचों निद्राओं में से किसी भी निद्रा का उदय ही नहीं होता है,

---

१. लब्धि के प्रति बंध की उत्कर्षता के कारण।

इसीलिये यहां गाथा में मध्यपरिणाम पद का ग्रहण किया गया है।

'अपुमादि' अर्थात् नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा असातावेदनीय इन छह प्रकृतियों की उत्कृष्ट उदीरणा का स्वामी भी ज्येष्ठ स्थितिक उत्कृष्ट स्थिति वाला और सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त तथा सर्वाधिक संक्लिष्ट परिणामी नारक जानना चाहिये। तथा -

पंचिंदिय तस बायर पज्जत्तग साइसुस्सरगईणं।
वेउव्वुस्सासाणं देवो जेट्ठट्ठिइसमत्ता॥ ६०॥

शब्दार्थ — **पंचिंदिय** — पंचेन्द्रिय, **तस** — त्रस, **बायर** — बादर, **पज्जत्तग** — पर्याप्त, **साइसुस्सरगईणं** — सातावेदनीय, सुस्वर, देवगति की, **वेउव्वुस्सासाणं** — वैक्रियसप्तक उच्छ्वास की, **देवो** — देव, **जेट्ठट्ठिइसमत्ता** — उत्कृष्ट स्थिति वाला पर्याप्त।

गाथार्थ — उत्कृष्ट स्थिति वाला पर्याप्त देव पंचेन्द्रिय, त्रस, बादर, पर्याप्त, सातावेदनीय, सुस्वर, देवगति, वैक्रियसप्तक और उच्छ्वास की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी है।

विशेषार्थ — ज्येष्ठस्थितिक अर्थात् तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाला देव जो समाप्त अर्थात् सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त हैऔर सर्व विशुद्ध परिणाम वाला है वह पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सातावेदनीय, सुस्वर, देवगति, वैक्रियसप्तक और उच्छ्वास इन पन्द्रह प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी भी है तथा -

सम्मत्तमीसगाणं सेकाले गहिहिइत्ति मिच्छत्तं।
हासरईणं सहस्सा-रगस्स पज्जत्तदेवस्स॥ ६१॥

शब्दार्थ — **सम्मत्तमीसगाणं** — सम्यक्त्व, मिश्र की, **सेकाले** — अनन्तर समय में, **गहिहिइत्ति** — ग्रहण करने वाला है, **मिच्छत्तं** — मिथ्यात्व को, **हासरईणं** — हास्य रति की, **सहस्सारगस्स** — सहस्रारकल्पगत, **पज्जत्तदेवस्स** — पर्याप्त देव के।

गाथार्थ — जो अनन्तर समय में मिथ्यात्व को ग्रहण करने वाला है, उसके सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की तथा सहस्रारकल्पगत पर्याप्त देव के हास्य और रति की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — जो अनन्तर समय में मिथ्यात्व को ग्रहण करेगा ऐसे सर्वाधिक संक्लिष्ट परिणाम वाले जीव के सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का यथासंभव उदय होने पर उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा होती है तथा सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त सहस्रार स्वर्गवासी देव के हास्य और रति प्रकृति की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा होती है। तथा —

गइहुंडुवघाया णिट्ठखगइनीयाण दुहचउक्कस्स।
निरउक्कस्ससमत्ते असमत्ताए नरस्संते॥ ६२॥

शब्दार्थ – **गइहुंडुवघाया** – (नरक)गति, हुंडक संस्थान, उपघात, **णिट्ठखगइ** – अनिष्ट खगति, **नीयाण** – नीचगोत्र, **दुहचउक्कस्स** – दुर्भग चतुष्क की, **निरउक्कस्ससमत्ते** – उत्कृष्ट स्थिति युक्त पर्याप्त नारक, **असमत्ताए** – अपर्याप्त, **नरस्स** – मनुष्य के, **अंते** – अन्तिम समय में।

गाथार्थ – नरकगति, हुंडक संस्थान, उपघात, अनिष्ट खगति, नीचगोत्र और दुर्भगचतुष्क की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा उत्कृष्ट स्थिति युक्त पर्याप्त नारक के होती है तथा अंतिम समय में वर्तमान अपर्याप्त मनुष्य के अपर्याप्त नाम की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा होती है।

विशेषार्थ – उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त और सर्वोत्कृष्ट संक्लेश युक्त नारक नरकगति हुंडकसंस्थान, उपघात अप्रशस्त विहायोगति, नीचगोत्र तथा 'दुहचउक्कस्स' अर्थात् दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति रूप दुर्भगचतुष्क इन नौ प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी होता है।

अपर्याप्त मनुष्य जो आयु के चरम समय में वर्तमान है और सर्व संक्लिष्ट है, वह अपर्याप्त नामकर्म की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी है। संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय अपर्याप्त से मनुष्य अपर्याप्त अधिक संक्लिष्टतर परिणाम वाला होता है, इसलिये यहां मनुष्य को ग्रहण किया गया है। तथा –

कक्खडगुरुसंघयणा त्थीपुमसंठाणतिरियनामाणं।
पंचिंदिओ तिरिक्खो अट्ठमवासट्ठवासाओ॥ ६३॥

शब्दार्थ – **कक्खडगुरु** – कर्कश गुरु स्पर्श, **संघयणा** – संहनन, **त्थीपुम** – स्त्रीवेद, पुरुषवेद, **संठाण** – संस्थान, **तिरिय नामाणं** – तिर्यंचगतिनाम की, **पंचिंदिओ** – पंचेन्द्रिय, **तिरिक्खो** – तिर्यंच, **अट्ठमवासट्ठवासाओ** – आठवें वर्ष में वर्तमान आठ वर्ष की आयु वाला।

गाथार्थ – आठवें वर्ष में वर्तमान आठ वर्ष की आयु वाला पंचेन्द्रिय तिर्यंच कर्कश, गुरू स्पर्शों (पांच अशुभ) संहनन स्त्री-पुरुष वेद (मध्यम चार) संस्थान और तिर्यंचगति की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा करता है।

विशेषार्थ – कर्कश स्पर्श, गुरु स्पर्श, प्रथम संहनन को छोड़कर शेष पांच अशुभ संहनन, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, आदि और अंतिम को छोड़कर शेष मध्य के चार संस्थान और तिर्यंचगति इन चौदह प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी आठ वर्ष की आयु वाला आठवें वर्ष में वर्तमान सर्वसंक्लिष्ट संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव होता है। तथा –

मणुओरालियवज्ज-रिसहाण मणुओ तिपल्लपज्जत्तो।
नियगठिई उक्कोसो पज्जत्तो आउगाणं पि॥ ६४॥

शब्दार्थ — **मणुओरालियवज्जरिसहाण** — मनुष्य गति, औदारिक, वज्रऋषभनाराच संहनन, **मणुओ** — मनुष्य, **तिपल्लपज्जत्तो** — तीन पल्योपम की आयु वाला पर्याप्त, **नियगठिई** — अपनी अपनी स्थिति, **उक्कोसो** — उत्कृष्ट, **पज्जत्तो** — पर्याप्त, **आउगाणं** — आयुओं का, **पि** — भी।

गाथार्थ — तीन पल्योपम की आयु वाला पर्याप्त मनुष्य मनुष्यगति, औदारिकशरीर, वज्रऋषभनाराच संहनन की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी है तथा अपनी अपनी आयु की उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान पर्याप्त जीव अपनी-अपनी आयु की उत्कृष्ट उदीरणा करता है।

विशेषार्थ — तीन पल्योपम की आयु स्थिति वाला सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त और सर्व विशुद्ध परिणाम वाला मनुष्यगति, औदारिकसप्तक, वज्रऋषभनाराच संहनन इन नौ प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी है।

अपनी अपनी सर्वोत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान और सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त सर्व विशुद्ध देव, मनुष्य और तिर्यंच अपनी अपनी आयु की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा करते हैं और अपनी उत्कृष्ट आयु में वर्तमान सर्वसंक्लिष्ट पर्याप्त नारकी जीव नरकायु के उत्कृष्ट अनुभाग का उदीरक होता है। तथा -

हस्सट्ठिई पज्जत्ता तन्नामा विगलजाइसुहुमाणं।
थावर निगोयएगिं-दियाणमवि बायरो नवरिं॥ ६५॥

शब्दार्थ — **हस्सट्ठिई** — अल्प स्थिति वाले, **पज्जत्ता** — पर्याप्त, **तन्नामा** — उस उस नाम वाली, **विगलजाइ** — विकलेन्द्रिय जातियों, **सुहुमाणं** — सूक्ष्म नाम की, **थावर** — स्थावर, **निगोय**— निगोद (साधारण), **एगिंदियाणमवि** — एकेन्द्रिय की भी, **बायरो** — बादर, **नवरिं** — विशेष।

गाथार्थ — अल्प स्थिति वाले और उस उस प्रकृति के उदय वाले पर्याप्तक जीव उस उस नाम वाली विकलेन्द्रिय जाति और सूक्ष्म नाम के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा करते हैं। विशेष यह है कि स्थावर, निगोद, (साधारण) और एकेन्द्रिय जाति की बादर एकेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा करते हैं।

विशेषार्थ — अल्प स्थिति वाले पर्याप्तक जीव उस उस नाम वाले अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि जाति वाले और सूक्ष्म नाम कर्म के उदय वाले अपनी अपनी नाम वाली विकलेन्द्रिय जातियों की और सूक्ष्म नामकर्म की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के स्वामी हैं। इसका तात्पर्य यह है कि —

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव और सूक्ष्म नामकर्मोदय वाले सूक्ष्म जीव जो सर्व जघन्यस्थिति

में वर्तमान हैं, सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त हैं और सर्व संक्लेश से युक्त हैं, वे यथाक्रम से द्वीन्द्रिय जाति त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म की और सूक्ष्म नामकर्म की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के स्वामी हैं। ह्रस्व (अल्प) स्थिति में वर्तमान जीव सर्वाधिक संक्लेश वाले होते हैं इस कारण गाथा में 'हस्सट्ठिई' 'ह्रस्वस्थिति' पद को ग्रहण किया है।

'थावर निगोय' इत्यादि अर्थात् स्थावर साधारण (निगोद) और एकेन्द्रिय जाति नामकर्मों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के स्वामी जघन्य स्थिति में वर्तमान सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त और सर्व संक्लिष्ट एकेन्द्रिय जीव हैं। लेकिन इतना विशेष है कि स्थावर नाम का उदय वाला बादर एकेन्द्रिय जीव स्थावर नाम की, साधारण नाम का उदय वाला साधारण नाम की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी है और एकेन्द्रिय जाति के दोनों ही प्रकार के (सूक्ष्म और बादर) एकेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के स्वामी होते हैं। बादर जीव के महान संक्लेश होता है। इसलिये गाथा में बादर पद को ग्रहण किया है तथा —

आहारतणू पज्जत्तगो य चउरंसमउयलहुगाणं।
पत्तेयखगइपरघा-याहारतणूण य विसुद्धो॥ ६६॥

शब्दार्थ —**आहारतणू** — आहारकशरीर, **पज्जत्तगो** — पर्याप्त, **य** — और, **चउरंस** — समचतुरस्र, **मउय** — मृदु, **लहुगाणं** — लघु का, **पत्तेय** — प्रत्येक, **खगइ** — विहायोगति (प्रशस्त), **परघाय** — पराघात, **आहारतणूण** — आहारक शरीर (सप्तक), **य** — और, **विसुद्धो** — विशुद्ध।

गाथार्थ — विशुद्ध पर्याप्त आहारकशरीरी समचतुरस्र संस्थान, मृदु, लघु स्पर्श, प्रत्येक नाम, सुखगति, (शुभ विहायोगति) पराघात और आहारकशरीर की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा करता है।

विशेषार्थ - समचतुरस्रसंस्थान, मृदु, लघु स्पर्श, प्रत्येक शरीर, प्रशस्तविहायोगति, पराघात और आहारकसप्तक इन तेरह प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामी सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त और सर्व विशुद्ध आहारकशरीर वाला संयत स्वामी है। तथा —

उत्तरवेउव्विजई उज्जोवस्सायवस्स खरपुढवी।
नियगगईणं भणिया तइए समए णुपुव्वीणं॥ ६७॥

शब्दार्थ — **उत्तरवेउव्विजई** — उत्तरवैक्रियशरीरी यति, **उज्जोवस्स** — उद्योत का, **आयवस्स**— आतप का, **खरपुढवी** — खर (बादर) पृथ्वीकायिक, **नियगगईणं** — अपनी अपनी गति के, **भणिया** — कहे गये हैं, **तइए** — तीसरे, **समए** — समय में, **णुपुव्वीणं** — आनुपूर्वियों के।

गाथार्थ — उत्तरवैक्रियशरीरी यति उद्योत की, बादर पृथ्वीकायिक जीव आतप की और

आनुपूर्वियों के अपनी अपनी गति के तीसरे समय में वर्तमान जीव उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा करने वाले कहे गयें हैं।

विशेषार्थ – उत्तरवैक्रियशरीर में वर्तमान सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त और सर्व विशुद्ध यति–संयत उद्योत नाम की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के स्वामी हैं।

उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त और सर्व विशुद्ध खर पृथ्वीकायिक अर्थात् बादर पृथ्वीकायिक जीव आतप नामकर्म की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के स्वामी हैं।

'नियगगईणं' इत्यादि अर्थात् अपनी अपनी गति के तीसरे समय में वर्तमान विशुद्ध परिणामी मनुष्य और देव क्रमशः मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी के उत्कृष्ट अनुभाग के उदीरक होते हैं तथा संक्लिष्ट परिणामी नारक और तिर्यंच क्रमशः नरकानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी के उत्कृष्ट अनुभाग के उदीरक हैं तथा –

जोगंते सेसाणं सुभाणमियरासि चउसु वि गईसु।
पज्जत्तुक्कडमिच्छ-स्सोहीणमणोहिलद्धिस्स॥ ६८॥

शब्दार्थ – **जोगंते** – सयोगी गुणस्थान के अंत में, **सेसाणं** – शेष, **सुभाणं** – शुभ प्रकृतियों की, **इयरासिं** – इतरों की (अशुभ प्रकृतियों की) **चउसु** – चारों, **वि** – भी, **गईसु** – गतियों में, **पज्जत्तुक्कड** – पर्याप्त उत्कृष्ट, **मिच्छस्स** – मिथ्यात्वी की, **ओहीणं** – अवधिद्विक की, **अणोहिलद्धिस्स** – अवधिलब्धि से रहित जीव के।

गाथार्थ – शेष शुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सयोगी के अंतिम समय में होती है और इतर अर्थात् अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा चारों गतियों में वर्तमान पर्याप्त और उत्कृष्ट संक्लेशी मिथ्यादृष्टि के होती है। अवधिद्विक की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा अवधिलब्धि रहित जीव के होती है।

विशेषार्थ – 'जोगंते' अर्थात् सयोगीकेवलीगुणस्थानवर्ती के सर्व अपवर्तनारूप चरम समय में वर्तमान जिन भगवान् के ऊपर कही गई प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष जो तैजससप्तक मृदु, लघु, स्पर्शों को छोड़कर शुभ वर्णादि नवक, अगुरुलघु, स्थिर, शुभ, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र और तीर्थंकर नाम इन पच्चीस शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा होती है।

'इयरासि' अर्थात् जो शुभ से इतर हैं तथा पूर्व में कही जा चुकी हैं, उनसे शेष रही ऐसी मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, कर्कश और गुरू स्पर्श को छोड़कर अशुभ वर्णादि सप्तक, अस्थिर और अशुभ नाम रूप

इकतीस अशुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान और सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव के होती है।

'ओहीणं' अर्थात् अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण रूप अवधिद्विक की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा भी अनवधिलब्धिक अर्थात् अवधिलब्धि से रहित चारों गतियों के उसी मिथ्यादृष्टि के होती है। अर्थात् उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान और सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिद्विक की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा होती है। यहां गाथा में 'अणोहिलद्धिस्स' अर्थात् अनवधि-लब्धिक पद अवधिलब्धि से युक्त जीव का ग्रहण न करने के लिये दिया गया है। क्योंकि अवधिलब्धि से युक्त जीव के बहुत अनुभाग क्षय को प्राप्त होता है। इसलिये उसके उत्कृष्ट अनुभाग नहीं पाया जाता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामित्व जानना चाहिये। अब जघन्य अनुभाग उदीरणा के स्वामित्व का प्रतिपादन करते हैं —

सुयकेवलिणो मइसुय अचक्खु चक्खूणुदीरणा मंदा।
विपुल परमोहिगाणं मणणाणोहीदुगस्सावि॥ ६९॥

शब्दार्थ — **सुयकेवलिणो** — श्रुतकेवली के, **मइसुय** — मति-श्रुत ज्ञानावरण, **अचक्खुचक्खूणुदीरणा** — अचक्षु-चक्षु दर्शनावरण की उदीरणा, **मंदा** — जघन्य, **विपुल** — विपुलमति, **परमोहिगाणं** — परमावधि वाले के, **मणणाण** — मनःपर्यायज्ञानावरण, **ओहि दुगस्सावि** — अवधिद्विक आवरण की।

गाथार्थ — मतिश्रुत ज्ञानावरण चक्षु-अचक्षु दर्शनावरण की मंद (जघन्य) अनुभाग उदीरणा श्रुतकेवली के होती है। विपुलमति और परमावधिवंत अनुक्रम से मनःपर्यायज्ञानावरण और अवधिद्विक आवरणों की जघन्य अनुभाग उदीरणा करते हैं।

विशेषार्थ — मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण इन चार प्रकृतियों की मंद अर्थात् जघन्य उदीरणा क्षीणकषायगुणस्थान की समयाधिक आवलिका काल शेष रहने की स्थिति में वर्तमान पूर्वधर श्रुतकेवली के होती है। विपुलमति मनःपर्यायज्ञानी क्षीणकषायी, समयाधिक आवलिका काल शेष स्थिति में वर्तमान क्षपक के मनःपर्यायज्ञानावरण की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है तथा परमावधि से युक्त क्षीणकषायी समयाधिक आवलिका शेष स्थिति में वर्तमान क्षपक के अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है तथा —

खवणाए विग्घकेवल संजलणाण य सनोकसायाणं।
सयसयउदीरणंते निद्दा पयलाणमुवसंते॥ ७०॥

शब्दार्थ — **खवणाए** — क्षपक के, **विग्घकेवल संजलणाण** — अन्तराय, केवलद्विक, संज्वलन कषायों की, **य** — और, **सनोकसायाणं** — नोकषायों सहित, **सयसय** — अपनी अपनी, **उदीरणंते** — उदीरणा के अंत में, **निद्दापयलाणं** — निद्रा और प्रचला की, **उवसंते** — उपशान्तमोह में।

गाथार्थ — क्षपक के अन्तरायपंचक, केवलद्विक और नौ नोकषायों सहित संज्वलन कषायों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा अपनी-अपनी उदीरणा के अंत में होती है। निद्रा और प्रचला की जघन्य अनुभाग-उदीरणा उपशांतमोह में होती है।

विशेषार्थ — कर्मक्षपण के लिये उघत क्षपक के पांच प्रकार के अन्तराय, केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, संज्वलनचतुष्क और नौ नोकषाय इन बीस प्रकृतियों के जघन्य अनुभाग की उदीरणा अपनी अपनी उदीरणा के अंतिम समय में होती है। इनमें से पांच प्रकार के अंतराय केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण इन सात प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा क्षीणकषाय के उदीरणा के अंतिम समय में होती है। तीनों संज्वलन कषायों (क्रोध, मान, माया) और तीनों वेदों की जघन्य अनुभाग उदीरणा अनिवृत्तिबादरगुणस्थानवर्ती के अपनी अपनी उदीरणा के अंतिम समय में होती है। छह नोकषायों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा अपूर्वकरणगुणस्थान के चरम समय में होती है तथा निद्रा और प्रचला की जघन्य अनुभाग-उदीरणा उपशान्तमोह गुणस्थान में पाई जाती है। क्योंकि उस गुणस्थानवर्ती जीव विशुद्ध होता है। तथा —

निद्दानिद्दाईणं पमत्तविरए विसुज्झमाणम्मि।
वेयगसम्मत्तस्स उ सगखवणोदीरणाचरमे॥ ७१॥

शब्दार्थ — **निद्दानिद्दाईणं** — निद्रानिद्रादि की, **पमत्तविरए** — प्रमत्त विरत, **विसुज्झमाणम्मि**— विशुद्धमान, **वेयगसम्मत्तस्स** — वेदक सम्यक्त्व की, **उ** — और, **सगखवणोदीरणाचरमे** — स्वक्षपक की उदीरणा के चरम समय में।

गाथार्थ — विशुद्ध्यमान प्रमत्तविरत के निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानर्धि की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है तथा वेदकसम्यक्त्व की अपने क्षपणकाल के चरम उदीरणा समय में जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — 'निद्दानिद्दाईणं' अर्थात् निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्धि इस निद्रात्रिक

की विशुद्ध्यमान अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्तसंयत के जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है तथा क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले वेदक सम्यक्त्वी अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के क्षय कर देने पर और सम्यक्त्वमोहनीय के क्षपण काल में समयाधिक आवलिका काल स्थिति शेष रहने पर प्रवर्तमान उदीरणा के समय जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। और यह जघन्य अनुभाग उदीरणा चारों गतियों में से किसी भी एक गति वाले जीव के जानना चाहिये। तथा –

सेकाले सम्मत्तं, ससंजमं गिण्हओ य तेरसगं।
सम्मत्तमेव मीसे, आऊण जहन्नगठिईसु॥ ७२॥

शब्दार्थ – **सेकाले** – अनन्तर समय में, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व को, **ससंजमं** – संयम सहित, **गिण्हओ** – ग्रहण करने वाले, **य** – और, **तेरसगं** – तेरह प्रकृतियों की ही, **सम्मत्तमेव**– सम्यक्त्व को ही, **मीसे** – मिश्र दृष्टि के, **आऊण** – आयुकर्मों की, **जहन्नगठिईसु** – जघन्य स्थिति में।

गाथार्थ – अनंतर समय में संयम सहित सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाले जीव के मिथ्यात्व आदि तेरह प्रकृतियों की तथा अनन्तर समय में सम्यक्त्व को ही प्राप्त करने वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि के मिश्रप्रकृति की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। आयुकर्मों की अपनी अपनी स्थिति में वर्तमान जीव के जघन्य अनुभाग उदीरणा होती है।

विशेषार्थ – 'सेकाले' अर्थात् अनंतर काल में यानि दूसरे समय में संयम सहित सम्यक्त्व को ग्रहण करने वाला है ऐसे जीव के मिथ्यात्व अनन्तानुबंधीकषायचतुष्क, अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क इन तेरह प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। इस का सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि –

जो मिथ्यादृष्टि अनन्तर समय में संयम सहित सम्यक्त्व को ग्रहण करेगा उस मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों की तथा जो अविरत सम्यग्दृष्टि अनन्तर समय में संयम को प्राप्त करेगा, उसके अप्रत्याख्यानावरण कषायों की और जो देशविरत अनन्तर समय में सर्वसंयम को ग्रहण करेगा उसके प्रत्याख्यानावरण कषायों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है।

मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि अनंत गुण विशुद्ध होता है, उससे भी देशविरत अनन्तगुण विशुद्ध होता है, इस कारण उक्त क्रम से ही जघन्य अनुभाग-उदीरणा संभव है।

'सम्मत्तमेवमीसे' अर्थात् जो सम्यग्मिथ्यादृष्टि अनंतर समय में सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेगा

उसके सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि वाला) जीव सम्यक्त्व और संयम को एक साथ प्राप्त नहीं करता है क्योंकि उसके उस प्रकार की विशुद्धि का अभाव होता है। अतः वह केवल सम्यक्त्व को ही प्राप्त कर सकता है, इसी कारण उसके लिये ही 'एव' पद दिया है।

चारों आयु कर्मों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा अपनी अपनी जघन्य स्थिति में वर्तमान जीव करते हैं। उनमें से तीन आयुकर्मों की जघन्य स्थिति का बंध संक्लेश से ही होता है। इस कारण जघन्य अनुभाग भी वहीं पाया जाता है तथा नरकायु का जघन्य स्थिति बंध विशुद्धि से होता है। इसलिये नरकायु का जघन्य अनुभाग भी वहीं पाया जाता है। ऐसा होने पर देव, मनुष्य और तिर्यंच आयु कर्मों के जघन्य अनुभाग की उदीरणा करने वाले अतिसंक्लेश वाले देव, मनुष्य और तिर्यंच होते हैं और नरकायु की जघन्य अनुभाग की उदीरणा को करने वाला अति विशुद्ध नारकी होता है। तथा —

पोग्गलविवागियाणं भवाइसमये विसेसमवि चासिं।.

आइतणूणं दोण्हं सुहुमो वाऊ य अप्पाऊ॥ ७३॥

शब्दार्थ — **पोग्गलविवागियाणं** — पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियों की, **भवाइसमये** — भव के आदि (प्रथम) समय में, **विसेसमवि** — विशेष भी, **चासिं** — और इनका, **आइतणूणं** — आदि के दो शरीरों की, **दोण्हं** — दो, **सुहुमो** — सूक्ष्म, **वाऊ** — वायुकायिक, **य** — और, **अप्पाऊ** — अल्पायु।

गाथार्थ — पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा भव के आदि समय में होती है। इनके बारे में कुछ विशेष भी है, यथा — आदि के दो शरीरों के जघन्य अनुभाग की उदीरणा अल्पायु सूक्ष्म और बादर वायुकायिक जीव करते हैं।

विशेषार्थ — सभी पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा भव के आदि समय में अर्थात् भव धारण करने के प्रथम समय में होती है, यह सामान्य से कहा है। लेकिन अमुक प्रकृति का अमुक जीव उदीरक होता है, इस प्रकार का विशेष कथन भी इन प्रकृतियों के लिये कहा जायेगा। अतः इस विशेष बात को बतलाने के लिये आचार्य ने गाथा में 'आइतपूणं' इत्यादि वाक्य दिया है। जिसका अर्थ यह है कि आदि के जो दो औदारिक और वैक्रिय शरीर हैं, उनकी यथाक्रम से जघन्य अनुभाग-उदीरणा अल्प आयु वाला सूक्ष्म एकेन्द्रिय (और बादर) वायुकायिक जीव करता है। यहां शरीर के ग्रहण से बंधन और संघात भी गृहीत जानना चाहिये। इसलिये इन सबका यह अर्थ होता है कि औदारिकशरीर, औदारिकसंघात और औदारिकबंधनचतुष्क रूप औदारिकषट्क का अपर्याप्त

सूक्ष्म एकेन्द्रिय वायुकायिक जीव जघन्य अनुभाग उदीरक होता है तथा वैक्रियषट्क अर्थात् वैक्रियशरीर, वैक्रियसंघात और वैक्रियबंधनचतुष्क रूप वैक्रियषट्क का बादर पर्याप्त[1] अल्प आयु वाला वायुकायिक जीव जघन्य अनुभाग उदीरक होता है तथा —

बेइंदिय अप्पाउग निरय चिरठिई असण्णिणो वा वि।
अंगोवंगाणाहार गाए जइणोऽप्पकालम्मि॥ ७४॥

शब्दार्थ — बेइंदिय — द्वीन्द्रिय, **अप्पाउग** — अल्पायुष्क, **निरय** — नारक, **चिरठिई** — दीर्घ स्थिति, **असण्णिणो** — असंज्ञी के, **वावि** — और, **अंगोवंगाण** — अंगोपांग की, **आहारगाए**— आहारक की, **जइणो** — यति के, **अप्पकालम्मि** — अल्प काल में।

गाथार्थ — औदारिक अंगोपांग और वैक्रिय अंगोपांग की जघन्य अनुभाग उदीरणा अनुक्रम से अल्पायु द्वीन्द्रिय जीव और चिर स्थिति वाले नारकों में उत्पन्न होने वाला असंज्ञी जीव करता है। आहारक अंगोपांग की अल्प काल में विद्यमान यति के जघन्य अनुभाग उदीरणा होती है।

विशेषार्थ - औदारिक अंगोपांग और वैक्रिय अंगोपांग इन दो अंगोपांग नामकर्मों की यथाक्रम से अल्पायु वाला द्वीन्द्रिय जीव तथा असंज्ञी होता हुआ जो दीर्घस्थिति वाला नारक हुआ, वह उनके जघन्य अनुभाग का उदीरक होता है। इसका यह भावार्थ है कि —

अल्पायु वाला द्वीन्द्रिय जीव औदारिक अंगोपांग नामकर्म के उदय के प्रथम समय में उसके जघन्य अनुभाग की उदीरणा करता है तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, जिसने पहले वैक्रियशरीर की उद्वलना की है वह वैक्रिय अंगोपांग को अल्पकाल तक बांधकर अपनी भूमिका के अनुसार दीर्घ स्थिति वाला नारकी हुआ। उसके वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म के उदय के प्रथम समय में वर्तमान होने पर जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है।

आहरगाए[2] अर्थात् आहारकशरीर। यहां आहारक शरीर के ग्रहण से आहारकबंधनचतुष्क आहारक अंगोपांग और संघात भी ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये आहारकसप्तक की जघन्य उदीरणा आहारकशरीर को उत्पन्न करने वाले संक्लिष्ट साधु के अल्प काल में अर्थात् प्रथम समय में होती है, यथा —

अमणो चउरंस सुभाणऽप्पाऊसगचिरट्ठिई सेसे[3]।
संघयणाण य मणुओ हुंडुवघायाणमवि सुहुमो॥ ७५॥

---

१. लब्धि पर्याप्त जीव। २. प्राकृत होने से यहां स्त्रीलिंग का निर्देश है।

३. गाथा में 'सेसे' यह सप्तमी विभक्ति का प्रयोग षष्ठी विभक्ति के आशय में किया गया है तथा जाति की अपेक्षा एकवचन का प्रयोग है।

शब्दार्थ – **अमणो** – अमनस्क, **चउरंस** – समचतुरस्र, **सुभाण** – शुभ (वज्रऋषभनाराच संहनन), **अप्पाऊसग** – अल्प आयुष्क, **चिरट्ठिई** – दीर्घायु, **सेसे** – शेष, **संघयणाण** – संहननों की, **य** – और, **मणुओ** – मनुष्य, **हुंडुवघायाणं** – हुंडक संस्थान, उपघात, **अवि** – भी, **सुहुमो**– सूक्ष्म एकेन्द्रिय।

गाथार्थ – अल्पआयुष्क, अमनस्क जीव समचतुरस्रसंस्थान और शुभ संहनन (वज्रऋषभ नाराच संहनन) की तथा शेष मध्यवर्ती चार संस्थानों की भी स्वायुष्क की दीर्घस्थिति में वर्तमान अमनस्क जीव जघन्य अनुभाग-उदीरणा करता है। मध्यवर्ती चार संहननों की मनुष्य और हुंडकसंस्थान व उपघात की सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव जघन्य अनुभाग-उदीरणा करते हैं।

विशेषार्थ – अल्पायु, अतिसंक्लिष्ट प्रथम समय में तद्भवस्थ आहारक[1] असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव समचतुरस्र संस्थान और वज्रऋषभनाराच संहनन के जघन्य अनुभाग की उदीरणा करता है। यहां अल्पायु पद का ग्रहण संक्लेश की अधिकता के लिये किया गया है तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही अपनी आयु की उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान और भव के प्रथम समय में आहारक हो कर हुंडक संस्थान रहित शेष मध्यवर्ती चारों संस्थानों के जघन्य अनुभाग की उदीरणा करता है।

पूर्वकोटि की आयु वाला और अपने भव के प्रथम समय में वर्तमान आहारक मनुष्य सेवार्त और वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़ कर शेष संहननों के जघन्य अनुभाग की उदीरणा करता है। यहां दीर्घ आयु (चिरट्ठिई) पद का ग्रहण विशुद्धि की अधिकता के लिये किया गया है। तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा प्रायः मनुष्य अल्प बल वाले होते हैं, इसलिये मनुष्य पद का ग्रहण किया गया है।

सुदीर्घ आयुस्थिति वाला सूक्ष्म एकेन्द्रिय आहारक जीव भव के प्रथम समय में हुंडकसंस्थान और उपघात नामकर्म के जघन्य अनुभाग का उदीरक होता है। तथा –

सेवट्टस्स बिइंदिय बारसवासस्स मउयलहुगाणं।
सन्नि विसुद्धाणाहार-गस्स वीसा अईकिलिट्ठे॥ ७६॥

शब्दार्थ – **सेवट्टस्स** – सेवार्त संहनन की, **बिइंदिय** – द्वीन्द्रिय, **बारसवासस्स** – बारह वर्ष का, **मउयलहुगाणं** – मृदु लघु, स्पर्श की, **सन्नि** – संज्ञी, **विसुद्ध** – विशुद्ध, **अणाहारगस्स** – अनाहारक के, **वीसा** – बीस, **अईकिलिट्ठे** – अतिसंक्लिष्ट।

गाथार्थ – बारह वर्ष की आयु वाला द्वीन्द्रिय जीव सेवार्तसंहनन की विशुद्ध अनाहारक संज्ञी

१. यहां 'आहारक' से आहारक शरीरधारी का अर्थ न लेकर कर्मों का आहरण करने वाला अर्थात् सकर्मा जीव यह आशय समझना चाहिये।

पंचेन्द्रिय जीव मृदु लघु स्पर्श की तथा अति संक्लिष्ट अनाहारक मिथ्यादृष्टि बीस प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा करता है।

विशेषार्थ — बारह वर्ष की आयु वाला और बारहवें वर्ष में वर्तमान द्वीन्द्रिय जीव सेवार्तसंहनन की जघन्य अनुभाग-उदीरणा करता है तथा अपनी भूमिका के अनुसार अति विशुद्ध अनाहारक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मृदु और लघु स्पर्श की जघन्य अनुभाग उदीरणा होती है और तैजससप्तक, मृदु लघु स्पर्श को छोड़ कर शुभ वर्णादि नवक अगुरुलघु, स्थिर, शुभ और निर्माण इन बीस प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग उदीरणा का स्वामी संक्लिष्ट परिणामी अपान्तराल गति में वर्तमान अनाहारक मिथ्यादृष्टि जीव जानना चाहिये। तथा —

पत्तेगमुरालसमं इयरं हुंडेण तस्स परघाओ।
अप्पाउस्स य आयावुज्जोयाणमवि तज्जोगो॥ ७७॥

शब्दार्थ — **पत्तेग** — प्रत्येकनाम की, **उराल** — औदारिकशरीर के, **समं** — समान, **इयरं**— इतर, **हुंडेण** — हुंडक की, **तस्स** — उसके, **परघाओ** — पराघात की, **अप्पाउस्स** — अल्पायुष्क के, **य** — और, **आया-वुज्जोयाणमवि** — आतप और उद्योत की भी, **तज्जोगो** — उसके योग्य जीव के।

गाथार्थ — प्रत्येकनाम की औदारिकशरीर के समान और उससे इतर अर्थात् साधारण नाम की हुंडक के समान जानना। पराघात की अल्पायुष्क जीव के और आतप उद्योत की उसके योग्य एकेन्द्रिय जीव के जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — प्रत्येकनामकर्म की जघन्य अनुभाग-उदीरणा औदारिकशरीर के समान जानना चाहिये। अर्थात् औदारिकशरीर के समान प्रत्येक नामकर्म का भी भव के प्रथम समय में वर्तमान सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव जघन्य अनुभाग का उदीरक होता है, तथा हुंडकसंस्थान के समान तस्स-उसको, प्रत्येक नाम के इतर-प्रतिपक्षी अर्थात् साधारण नाम की जघन्य अनुभाग उदीरणा का स्वामी जानना चाहिये। जिस का आशय यह है कि जिस प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आहारक जीव के भव के प्रथम समय में हुंडक संस्थान नामकर्म की जघन्य अनुभाग उदीरणा का स्वामित्व पहले कहा गया है, उसी प्रकार साधारण नामकर्म का भी कहना चाहिये तथा शीघ्र पर्याप्त हुए अल्पायुष्क अतिसंक्लिष्ट पर्याप्ति के चरम समय में वर्तमान उसी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के पराघात नामकर्म की भी जघन्य अनुभाग उदीरणा होती है।

उसके योग्य शरीरपर्याप्ति पर्याप्त हो कर प्रथम समय में वर्तमान संक्लिष्ट परिणामी पृथ्वीकायिक जीव आतप और उद्योत नामकर्म के जघन्य अनुभाग का उदीरक होता है। तथा —

जा नाउज्जियकरणं, तित्थगरस्स नवगस्स जोगंते।
कक्खडगुरूणमंते नियत्तमाणस्स केवलिणो॥ ७८॥

शब्दार्थ — **जा** — जब तक, **नाउज्जियकरणं** — आयोजिकाकरण नहीं करते, **तित्थगरस्स**— तीर्थंकर नाम की, **नवगस्स** — नवक की, **जोगंते** — योग के अंत में, **कक्खडगुरूणं** — कर्कश, गुरु स्पर्श की, **अंते** — अंत में, **नियत्तमाणस्स** — निवर्तमान, **केवलिणो** — केवली के।

गाथार्थ — जब तक आयोजिकाकरण नहीं करते, तब तक तीर्थंकर नाम की, नील आदि नौ प्रकृतियों की योग (सयोगी) के अन्त में, कर्कश और गुरु स्पर्श की अंत में निवर्तमान केवली के जघन्य अनुभाग उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — आयोजिकाकरण केवलीसमुद्घात से पहले होता है। इस पद में आङ् उपसर्ग मर्यादा के अर्थ का सूचक है। आयोजन अर्थात् केवलीदृष्ट मर्यादा से योजना अर्थात् व्यापार करना आयोजन कहलाता है - **आ मर्यादया केवलिदृष्टया योजनं व्यापारणं = आयोजनं**। यह आयोजन अति शुभ योग वाले जीवों के जानना चाहिये। इस प्रकार का आयोजन रूप जो करण है उसे आयोजिकाकरण कहते हैं।

कितने ही आचार्य इसे (आयोजिकाकरण को) 'आवर्जितकरण' भी कहते हैं। तब उसका शब्दार्थ है - आवर्जित नाम अभिमुख होने या करने का है। जैसा कि लोक में वक्ता कहते हैं - मेरे द्वारा यह आवर्जित हुआ अर्थात् संमुख किया गया। इसलिये उस प्रकार के भव्यत्वभाव के द्वारा आवर्जित अर्थात् मोक्षगमन के प्रति अभिमुख जीव का जो करण अर्थात् शुभ योग का व्यापार करना वह आवर्जितकरण है — **भव्यत्वेनावर्जितस्स मोक्षगमनं प्रत्याभिमुखीकृतस्यकरणं शुभयोग-व्यापारणं आवर्जितकरणं।**

कुछ दूसरे आचार्य 'जा ना उस्सयकरणं' ऐसा पाठ पढ़ते हैं। तब इस पाठ में आवश्यककरण ऐसा शब्दसंस्कार है और यह अन्वर्थक-सार्थक नाम है। अर्थात् आवश्यक - अवश्य भाव से जो करण होता है, वह आवश्यक करण कहलाता है। जिसका स्पष्ट आशय यह है कि - कितने ही केवलि समुद्घात को करते हैं और कितने ही नहीं करते है, किन्तु इस आवश्यककरण को तो सभी केवलि करते हैं।

यह आयोजिकाकरण असंख्यात समयात्मक अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण होता है। जैसा कि प्रज्ञापना सूत्र में कहा है —

कइसमएणं भंते! आउजियाकरणे पन्नत्ते ?

गोयमा! असंखिज्जसमईए अंतोमुहुत्तिए पन्नत्ते।

प्रश्न — हे भदन्त! आयोजिकाकरण कितने समय वाला कहा गया है ?

उत्तर — हे गौतम! असंख्यात समयरूप अन्तर्मुहूर्त काल वाला कहा गया है। यह आयोजिकाकरण जब तक आरम्भ नहीं किया जाता है, तब तक तीर्थंकरकेवलि के तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। अयोजिकाकरण में तो बहुत अधिक अनुभाग उदीरणा होती है। इसलिये अर्वाक्-पूर्व पद ग्रहण किया गया है।

नील, कृष्ण वर्ण, दुरभिगंध, तिक्त, कटुक रस, शीत, रूक्ष, स्पर्श, अस्थिर और अशुभ नाम इन नौ प्रकृतियों की सयोगीकेवलि के चरम समय में जघन्य अनुभाग उदीरणा होती है। क्योंकि उसी समय उनके सर्वाधिक विशुद्धता होती है।

कर्कश और गुरु स्पर्श की केवलिसमुद्घात से निवर्तमान केवलि के मंथान रूप के उपसंहार के समय जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। तथा —

सेसाण पगइवेई मज्झिमपरिणामपरिणओ होज्जा।
पच्चयसुभासुभा वि य चिंतिय नेओ विवागे य॥ ७९॥

शब्दार्थ — **सेसाण** — शेष प्रकृतियों की, **पगइवेई** — उस उस प्रकृति का वेदक, **मज्झिमपरिणामपरिणओ** — मध्यम परिणाम से परिणत, **होज्जा** — होती है, **पच्चय** — प्रत्यय, **सुभासुभा** — शुभ-अशुभपना, **वि** — भी, **य** — और, **चिंतिय** — चिंतन करके, **नेओ** — जानना चाहिये, **विवागे** — विपाक में, **य** — और।

गाथार्थ — शेष प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग उदीरणा उस उस प्रकृति के वेदक और मध्यम परिणाम से परिणत जीव के होती है। प्रत्यय, शुभाशुभ अवस्था और विपाक का चिन्तवन करके (उत्कृष्ट जघन्य) अनुभाग-उदीरणा के स्वामी जानना चाहिये।

विशेषार्थ — शेष प्रकृतियों के अर्थात् सातावेदनीय, असातावेदनीय, गतिचतुष्क, जाति-पंचक, आनुपूर्वीचतुष्क, उच्छ्वास, विहायोगतिद्विक, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, उच्चगोत्र, नीचगोत्र इन चौंतीस प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा के स्वामी उस उस प्रकृति के उदय में वर्तमान और मध्यम परिणाम से परिणत सभी जीव होते हैं।

इस प्रकार पृथक्-पृथक् रूप से सभी प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग की उदीरणा के स्वामी का कथन करने के अनन्तर अब सामान्य रूप से सभी प्रकृतियों के उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग की उदीरणा के स्वामित्व का ज्ञान कराने के लिये उपाय का निर्देश करते हुए कहा है –

'पच्चय' इत्यादि अर्थात् प्रत्यय-परिणामप्रत्यय और भवप्रत्यय तथा प्रकृतियों का शुभत्व और अशुभत्व तथा पुद्गलविपाकी आदि चार प्रकार का विपाक, इन सब का भलीभांति चिंतन करके जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के स्वामी यथावत् जानना चाहिये। जिसका यह आशय है कि –

परिणामप्रत्यय वाली अनुभाग-उदीरणा प्रायः उत्कृष्ट और भवप्रत्यय वाली अनुभाग-उदीरणा जघन्य होती है और विशुद्धि के समय अशुभ प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग-उदीरणा होती है। इससे विपरीत दशा में उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा होती है, इत्यादि स्वयं विचार कर उस उस प्रकृति के उदय वाले जीव के जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग-उदीरणा का स्वामित्व जानना चाहिये।

इस प्रकार अनुभाग उदीरणा का विवेचन समझना चाहिये।

प्रदेश उदीरणा

अब प्रदेश-उदीरणा का कथन करते हैं। इसके दो अर्थाधिकार हैं, यथा १. सादि-अनादि प्ररूपणा और २. स्वामित्व-प्ररूपणा। सादि-अनादिप्ररूपणा के भी दो प्रकार होते हैं – मूलप्रकृति विषयक और उत्तर प्रकृतिक विषयक, इनमें से पहले मूलप्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा को कहते हैं।

पंचण्हमणुक्कोसा तिहा पएसे चउव्विहा दोण्हं।
सेसविगप्पा दुविहा सव्व विगप्पा य आउस्स॥ ८०॥

शब्दार्थ – **पंचण्हं** – पांच कर्मों की, **अणुक्कोसा** – अनुत्कृष्ट, **तिहा** – तीन प्रकार की, **चउव्विहा** – चार प्रकार की, **दोण्हं** – दो की, **सेसविगप्पा** – शेष विकल्प, **दुविहा** – दो प्रकार के, **सव्व विगप्पा** - सर्व विकल्प, **य** - और, **आउस्स** - आयु के।

गाथार्थ – पांच कर्मों की अनुत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा तीन प्रकार की है। दो कर्मों की चार प्रकार की है। शेष विकल्प दो प्रकार के हैं और आयुकर्म के सभी विकल्प चार प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय इन पांच मूल कर्म प्रकृतियों की प्रदेश विषयक अनुत्कृष्ट-उदीरणा तीन प्रकार की है, यथा – अनादि, ध्रुव, अध्रुव। वह इस प्रकार कि –

इन पांच मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा गुणितकर्मांशिक जीव के अपनी-अपनी उदीरणा के अंतिम समय में पाई जाती है। वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेश-उदीरणा अनुत्कृष्ट होती है और वह ध्रुव-उदीरणा रूप होने से अनादि है, ध्रुव, अध्रुव विकल्प अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

वेदनीय और मोहनीय इन दो कर्मों की अनुत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा चार प्रकार की होती है यथा— सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है —

वेदनीय की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा अप्रमत्तभाव के अभिमुख सर्व विशुद्ध प्रमत्तसंयत के होती है और मोहनीय की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा सूक्ष्मसंपराय के अपनी उदीरणा के अंतिम समय में, इसलिये इन दोनों कर्मों की यह उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेश उदीरणा अनुत्कृष्ट है। वह भी अप्रमत्त गुणस्थान से गिरने वाले जीव के वेदनीय की और उपशांतमोह गुणस्थान से गिरने वाले जीव के मोहनीय की सादि होती है तथा इस स्थान को प्राप्त नहीं करने वाले जीव के दोनों की अनुत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा अनादि होती है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्ववत् अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

'सेसविगप्पा दुविहा इति' अर्थात् इन सातों ही मूल प्रकृतियों के ऊपर कहे गये विकल्पों के अतिरिक्त जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट रूप शेष विकल्प दो प्रकार के होते हैं, यथा - सादि और अध्रुव। वे इस प्रकार हैं कि —

इन सातों मूल कर्म प्रकृतियों की जघन्य प्रदेश-उदीरणा अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के होती है और वह सादि तथा अध्रुव है। संक्लेश परिणाम से च्युत हुए मिथ्यादृष्टि के अजघन्य प्रदेश-उदीरणा होती है। इसलिये वह भी सादि और अध्रुव है। उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा का ऊपर विचार किया जा चुका है।

आयुकर्म के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ये सभी विकल्प दो प्रकार के होते हैं, यथा — सादि और अध्रुव। यह सादिता और अध्रुवता अध्रुव-उदीरणा रूप होने से जानना चाहिये।

इस प्रकार से मूलकर्मप्रकृतियों की सादि, अनादि प्ररूपणा करने के बाद अब उत्तर-प्रकृतियों की सादि - अनादि प्ररूपणा करते हैं —

मिच्छत्तस्स चउद्धा, सगयालाए तिहा अणुक्कोसा।
सेसविगप्पा दुविहा सव्वविगप्पा य सेसाणं॥ ८१॥

शब्दार्थ — **मिच्छत्तस्स** — मिथ्यात्व की, **चउद्धा** — चार प्रकार की, **सगयालाए** —

सैंतालीस प्रकृतियों की, **तिहा** – तीन प्रकार की, **अणुक्कोसा** – अनुत्कृष्ट, **सेसविगप्पा** – शेष विकल्प, **दुविहा** – दो प्रकार के, **सव्वविगप्पा** – सर्व-विकल्प, **य** – और, **सेसाणं** – शेष प्रकृतियों की।

गाथार्थ – मिथ्यात्व की अनुत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा चार प्रकार की है। सैंतालीस प्रकृतियों की अनुत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा तीन प्रकार की है। इनके शेष विकल्प और शेष प्रकृतियों के सर्व विकल्प दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ – मिथ्यात्व की अनुत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा चार प्रकार की होती है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है कि –

जो अनंतर समय में संयम सहित सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, उस मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा होती है और वह सादि एवं अध्रुव है। क्योंकि वह एक समय मात्र होती है, अतः सादि है। इस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि प्रदेश उदीरणा होती है। ध्रुव, अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये, अर्थात् ये दोनों विकल्प अभव्य और भव्य की अपेक्षा होते हैं।

सैंतालीस प्रकृतियों की अनुत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा तीन प्रकार की होती है, यथा - अनादि ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है कि –

पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय और चार दर्शनावरण इन चौदह प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा गुणित कर्मांशिक क्षीणकषाय, संयत के अपनी अपनी उदीरणा के अंतिम समय में होती है। इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेश-उदीरणा अनुत्कृष्ट है और वह ध्रुव उदीरणा रूप होने से अनादि है, ध्रुव, अध्रुव विकल्प अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये। तैजस सप्तक, वर्णादि बीस, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु और निर्माण नाम इन तेतीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा, गुणितकर्मांशिक सयोगिकेवली के चरम समय में होती है। इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उससे भिन्न सभी प्रदेश-उदीरणा अनुत्कृष्ट है और वह ध्रुव-उदीरणा रूप होने से अनादि होती है। इन प्रकृतियों के ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान हैं।

'सेसविगप्पा दुविहा' इत्यादि अर्थात् ऊपर कहे गये विकल्पों से शेष जो जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट रूप विकल्प हैं वे दो प्रकार के होते हैं, यथा - सादि और अध्रुव। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

उक्त सभी प्रकृतियों की जघन्य प्रदेश-उदीरणा अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि में पाई जाती है और अतिसंक्लिष्ट परिणाम से च्युत होने पर उक्त प्रकृतियों की अजघन्य प्रदेश-उदीरणा होती

है। इसलिये ये दोनों ही सादि और अध्रुव हैं। इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा का पहले विचार किया जा चुका है।

ऊपर कही गई प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष एक सौ दस प्रकृतियों के सभी जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट विकल्प दो प्रकार के होते हैं, यथा – सादि और अध्रुव। इनकी सादिता और अध्रुवता अध्रुव उदीरणा रूप होने से जानना चाहिये। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा है।

स्वामित्व प्ररूपणा

अब स्वामित्व प्ररूपणा करते हैं। उसके दो प्रकार हैं १. उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा स्वामित्व और २. जघन्य प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व। इनमें से पहले उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा स्वामित्व कहते हैं।

अणुभागुदीरणाए जहण्णसामी पएसजेट्ठाए।
घाईणं अन्नयरो ओहीण विणोहिलंभेण॥ ८२॥

शब्दार्थ – **अणुभागुदीरणाए** – अनुभाग उदीरणा में, **जहण्णसामी** – जघन्य (अनुभाग उदीरणा के) स्वामी, **पएसजेट्ठाए** – उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा में, **घाईणं** – घाति कर्मों की, **अन्नयरो**– अन्यतर, **ओहीण** – अवधिद्विक का, **विणोहिलंभेण** – अवधिलब्धिरहित।

गाथार्थ – घातिकर्मों की अनुभाग-उदीरणा में जिस प्रकार जघन्य अनुभाग-उदीरणा के, स्वामी हैं, वे उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा में जानना चाहिये। विशेष यह है कि वह अन्यतर अर्थात् श्रुत केवली या अन्य जीव होता है। अवधिद्विक का अवधिलब्धि रहित जीव उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा का स्वामी होता है।

विशेषार्थ – सभी घातिकर्मों की अनुभाग-उदीरणा में जो जो जघन्य अनुभाग-उदीरणा का स्वामी पूर्व में बताया गया है, वही गुणितकर्मांश जीव उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा का स्वामी जानना चाहिये। विशेष यह है कि वह अन्यतर अर्थात् श्रुतकेवली या अन्य कोई जीव होता है। अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरंण की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा करने वाला अवधिलब्धि से हीन जानना चाहिये।

उक्त संक्षिप्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है – अवधिज्ञानावरण को छोड़कर शेष चार ज्ञानावरणों की चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा गुणितकर्मांश समयाधिक आवलिका काल शेष रही स्थिति में वर्तमान श्रुत-केवली या 'इतर' अर्थात् क्षीणकषायी जीव होते हैं।

अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा अवधिलब्धि से रहित

क्षीणकषाय जीव के समयाधिक आवलिका प्रमाण स्थिति के शेष रह जाने पर होती है।

निद्रा और प्रचला की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा उपशांत कषाय के होती है। सत्यानर्धित्रिक की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त संयत के होती है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा अनन्तर समय में संयम सहित सम्यक्त्व को प्राप्त करने के इच्छुक मिथ्यादृष्टि के चरम समय में होती है। सम्यग्मिथ्यात्व की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा सम्यक्त्व प्राप्ति के उपान्त्य समय में होती है। अपूत्याख्यानावरण कषायों की उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा अनन्तर समय में देशविरति को प्राप्त करने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि के होती है। प्रत्याख्यानावरण कषायों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा अनन्तर समय में संयम को प्राप्त करने वाले देश-विरत के होती है। संज्वलन क्रोध, मान और माया की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा उस उस कषाय के वेदक जीव के अपने-अपने उदय के अंतिम समय में होती है। तीनों ही वेदों की और संज्वलन लोभ की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा उस उसके वेदक जीव के समयाधिक आवलि के चरम समय में होती है। हास्यादिषट्क की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा अपूर्वकरण गुणस्थान के चरम समय में वर्तमान क्षपक के होती है।

उक्त सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा गुणितकर्मांश जीव के जानना चाहिये। तथा-

वेयणियाणं गहिहिई सेकाले अप्पमायमिय विरओ।

संघयणपणग तणुदुग उज्जोया अप्पमत्तस्स॥ ८३॥

शब्दार्थ — **वेयणियाणं** — वेदनीयद्विक की, **गहिहिई** — ग्रहण करेगा, **सेकाले** — अनन्तर समय में, **अप्पमायं** — अप्रमत्त भाव को, **इय** — ऐसा, **विरओ** — विरत, **संघयणपणग** — पांच संहनन, **तणुदुग** — शरीरद्विक, **उज्जोया** — उद्योत की, **अप्पमत्तस्स** — अप्रमत्त के।

गाथार्थ — अनन्तर समय में अप्रमत्त भाव को ग्रहण करेगा, ऐसा प्रमत्तसंयत वेदनीयद्विक की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा करता है तथा अप्रमत्त संयत के पांच संहनन शरीरद्विक और उद्योत की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — जो प्रमत्त अनन्तर समय में अप्रमाद भाव को ग्रहण करेगा अर्थात् अप्रमत्त संयत होगा, ऐसा वह प्रमत्तविरत साता, असाता रूप दोनों वेदनीय कर्मों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा करता है क्योंकि वह सर्व विशुद्ध है तथा अप्रमत्तसंयत को आदि के संहनन को छोड़कर शेष संहनन पंचक वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक और उद्योत नामकर्म की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा होती है। तथा —

देवनिरयाउगाणं, जहन्नजेट्ठट्ठिई गुरु असाए।
इयराऊण वि अट्ठम - वासे णेयो अट्ठवासाऊ॥ ८४॥

शब्दार्थ — **देवनिरयाउगाणं** — देवायु, नरकायु की, **जहन्न** — जघन्य, **जेट्ठट्ठिई** — उत्कृष्ट स्थिति, **गुरुअसाए** — उत्कृष्ट असाता (दुःख) के उदय में, **इयराऊण** — इतर आयुयों (मनुष्य तिर्यंचायु) की, **वि** — भी, **अट्ठमवासे** — आठवें वर्ष में, **णेयो** — जानना चाहिये, **अट्ठवासाऊ** — आठ वर्ष की आयु वाले के।

गाथार्थ — जघन्य स्थिति वाले उत्कृष्ट असाता (दुःख) के उदय में वर्तमान देव के देवायु की तथा उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट असातोदय में वर्तमान नारक के नरकायु की एवं आठवें वर्ष में वर्तमान आठ वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंचों के क्रमशः मनुष्यायु और तिर्यंचायु की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा होती है।

विशेषार्थ — जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति वाले गुरु (उत्कृष्ट) दुःखोदय में वर्तमान देव और नारक यथाक्रम से देवायु और नरकायु की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा करने वाले जानना चाहिये। इसका आशय यह है कि दस हजार वर्ष की आयु स्थिति वाला, प्रकृष्ट दुःख के उदय में वर्तमान देव देवायु का उत्कृष्ट प्रदेश उदीरक होता है तथा तेतीस सागरोपम की आयु स्थिति वाला और प्रबल दुःख के उदय में वर्तमान नारक नरकायु का उत्कृष्ट प्रदेश उदीरक होता है। बहुत दुःख का अनुभव करने वाला बहुत से पुद्गलों की निर्जरा करता है, इसलिये गाथा में 'गुरुअसाये' पद दिया है।

'इयराऊण' अर्थात् इतर आयु जो तिर्यंचायु और मनुष्यायु हैं, उनकी यथाक्रम से आठ वर्ष की आयु वाले और आठवें वर्ष में वर्तमान तथा प्रकृष्ट दुःख के उदय से युक्त तिर्यंच और मनुष्य उत्कृष्ट प्रदेश उदीरक होते हैं। तथा —

एगंततिरियजोग्गा नियगविसिट्ठेसु तह अपज्जत्ता।
संमुच्छिममणुयंते तिरियगई देसविरयस्स॥ ८५॥

शब्दार्थ — **एगंततिरियजोग्गा** — एकान्त रूप से, तिर्यंच योग्य, **नियगविसिट्ठेसु** — अपनी-अपनी प्रकृति विशिष्ट जीवों के, **तह** — यथा, **अपज्जत्ता** — अपर्याप्त की, **संमुच्छिममणुयंते**— संमूर्च्छिम मनुष्य को अन्त समय में, **तिरियगई** — तिर्यंचगति, **देसविरयस्स** — देशविरत के।

गाथार्थ — एकान्त रूप से तिर्यंच योग्य प्रकृतियों की अपनी-अपनी प्रकृति विशिष्ट जीवों के तथा अपर्याप्त नाम की संमूर्च्छिम मनुष्य के अंतिम समय में और तिर्यंचगति की देशविरत के उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा होती है।

विशेषार्थ – एकान्त रूप से जो प्रकृतियां तिर्यंचों के ही उदय योग्य होती हैं, ऐसी एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, आतप, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नाम रूप आठ प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा निजक विशिष्ट अर्थात् अपनी-अपनी प्रकृति के उदय से युक्त जीवों के होती है। जिसका स्पष्ट आशय इस प्रकार समझना चाहिये कि –

एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म की सर्व विशुद्ध बादर पृथ्वीकायिक में, आतप, नामकर्म की खर (बादर) पृथ्वीकायिक में, सूक्ष्म नामकर्म की पर्याप्त सूक्ष्म में, साधारण और विकलेन्द्रिय जाति नामकर्मों की उन-उन नामकर्मों के उदय वाले पर्याप्त सर्व विशुद्ध जीवों में उत्कृष्ट प्रदेश-उदीरणा होती है।

अपर्याप्त नामकर्म की अपर्याप्त और आयु के चरम समय में वर्तमान संमूर्च्छिम मनुष्य उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा करता है।

तिर्यंचगति की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा देशविरत तिर्यंच के होती है। क्योंकि वह सर्वविशुद्ध होता है। तथा –

अणुपुव्विगइदुगाणं सम्मद्दिट्ठी उ दूभगाईणं।
नीयस्स य सेकाले, गहिहिई विरय त्ति सो चेव॥ ८६॥

शब्दार्थ – **अणुपुव्विगइदुगाणं** – चार आनुपूर्वी और चार गति इन दो की, **सम्मद्दिट्ठी** – सम्यग्दृष्टि, **उ** – और, **दूभगाईणं** – दुर्भग आदि की, **नीयस्स** – नीचगोत्र की, **य** – और, **सेकाले**– अनन्तर समय में, **गहिहिई** – ग्रहण करेगा, **विरय** – विरत, **त्ति** – ऐसे, **सो चेव**–वही।

गाथार्थ – चार आनुपूर्वी और चार गति की, उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा सम्यग्दृष्टि करता है। दुर्भग आदि की और नीचगोत्र की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा जो अनन्तर काल में विरति को ग्रहण करेगा, ऐसे अविरतसम्यक्त्वी के होती है।

विशेषार्थ - चारों आनुपूर्वियों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा उस-उस गति के तृतीय भाग में वर्तमान सर्व विशुद्ध सम्यग्दृष्टि करता है। लेकिन इतना विशेष है कि नरक और तिर्यंचानुपूर्वी की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा करने वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहना चाहिये। वही क्षायिक सम्यग्दृष्टि, देवगति और नरकगति का भी उत्कृष्ट प्रदेश उदीरक होता है।

जो अनन्तर समय में संयम को प्राप्त करेगा ऐसा अविरतसम्यग्दृष्टि ही दुर्भगादि का अर्थात् दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति रूप दुर्भगचतुष्क तथा नीचगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेश उदीरक होता है। तथा –

जोगंतुदीरगाणं जोगंते सरदुगाणुपाणूणं।
नियगंते केवलिणो सव्वविसुद्धीए सव्वासिं॥ ८७॥

शब्दार्थ – **जोगंतुदीरगाणं** – सयोगी के अन्त्य समय में उदीरणा योग्य, **जोगंते** – सयोगी के अंतिम समय में, **सरदुगाण** – स्वरद्विक, **आणुपाणुणं** – प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) की, **नियगंते** – अपने-अपने अन्त के समय, **केवलिणो** – केवली के, **सव्वविसुद्धीए** – सर्वविशुद्ध जीव के, **सव्वासिं** – सभी प्रकृतियों की।

गाथार्थ – सयोगी के अन्त्य समय में उदीरणा के योग्य प्रकृतियों की सयोगी के अंतिम समय में, स्वरद्विक और प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) नाम की अपने-अपने निरोध के अंतिम समय में केवली भगवान् के उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा होती है तथा सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा सर्व विशुद्ध जीव के होती है।

विशेषार्थ – 'जोगंतुदीरगाणं' अर्थात् सयोगी केवली अंतिम समय में चरम समय में जिन प्रकृतियों की उदीरणा करता है वे प्रकृतियां योग्यन्त उदीरक कहलाती हैं। ऐसी मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिकसप्तक, तैजससप्तक, संस्थानषष्ट्क, प्रथम संहनन, वर्णादि बीस, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, विहायोगतिद्विक, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, आदेय, यश:कीर्ति, निर्माण तीर्थंकर और उच्चगोत्र रूप बासठ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेश उदीरक चरम समय में वर्तमान सयोगी केवली होते हैं तथा केवली भगवान् के स्वरद्विक और प्राणापान की अपने अंत में अर्थात् अपने निरोध काल में उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा होती है। जिसका यह आशय है कि स्वरनिरोध काल में सुस्वर और दु:स्वर की तथा प्राणापान के निरोध काल में प्राणापान नामकर्म की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा होती है।

अब सामूहिक रूप से सभी कर्मों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा के स्वामित्व की यह सामान्य परिभाषा है कि –

जो-जो जीव अपनी-अपनी प्रकृति की उदीरणा का अधिकारी है, वह वह सर्वविशुद्ध जीव उस उस कर्म की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा का स्वामी जानना चाहिये। आयुकर्म को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र का गुणितकर्मांश जीव उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा का स्वामी होता है। इसलिये दानान्तराय आदि पांचों अन्तराय प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा गुणितकर्मांश और समयाधिक आवलिका काल शेष स्थिति में वर्तमान क्षीणकषाय के जानना चाहिये।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा के स्वामित्व का विचार जानना चाहिये। अब जघन्य प्रदेश

उदीरणा के स्वामित्व का विवेचन करते हैं —

तप्पगओदीरग तिसंकिलिट्ठ भावो अ सव्व पगईणं।
नेयो जहण्णसामी अणुभागुत्तो य तित्थयरे॥ ८८॥

शब्दार्थ — **तप्पगओदीरग** — उस उस प्रकृति का उदीरक, **तिसंकिलिट्ठभावो अ** — अति संक्लिष्ट भाव वाला, **सव्वपगईणं** — सभी प्रकृतियों का, **नेयो** — जानना चाहिये, **जहण्णसामी** — जघन्य (प्रदेश उदीरणा का) स्वामी, **अणुभागुत्तो** — अनुभाग उदीरणा में कहे अनुसार, **य** — और, **तित्थयरे** — तीर्थंकर का।

गाथार्थ — सभी प्रकृतियों की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी अति संक्लिष्ट भाव वाला उस उस प्रकृति का उदीरक जानना चाहिये। तीर्थंकर नाम का जघन्य प्रदेश उदीरक जघन्य अनुभाग उदीरणा में कहे गये अनुसार जानना चाहिये।

विशेषार्थ — जो उन उन प्रकृतियों का उदीरक होता है, वह अति संक्लिष्ट परिणामी क्षपित-कर्मांशिक जीव अपने-अपने योग्य सभी प्रकृतियों की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी जानना चाहिये, जिसका स्पष्ट आशय इस प्रकार है —

अवधिज्ञानावरण को छोड़कर शेष चार ज्ञानावरणों का, अवधिदर्शनावरण को छोड़कर शेष तीन दर्शनावरणों का, साता-असाता वेदनीय का, मिथ्यात्व का, सोलह कषायों का और नौ नोकषायों का, कुल मिलाकर इन पैंतीस प्रकृतियों की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त और सर्व संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि है, निद्रापंचक की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी तत्प्रायोग्य संक्लेशयुक्त जीव है।

जो अनन्तर समय में मिथ्यात्व को प्राप्त होगा, वह अति संक्लिष्ट परिणाम वाला जीव सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी होता है। गतिचतुष्क, पंचेन्द्रिय-जाति, औदारिकसप्तक, वैक्रियसप्तक, तैजससप्तक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, वर्णादि बीस, पराघात, उपघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, उद्योत, विहायोगतिद्विक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र, नीचगोत्र और अन्तरायपंचक इन नवासी प्रकृतियों की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी सर्वोत्कृष्ट संक्लेश से युक्त पर्याप्त संज्ञी जानना चाहिये।

आहारकसप्तक का तत्प्रायोग्य संक्लेश से युक्त आहारकशरीरी, आनुपूर्वियों का तत्प्रायोग्य संक्लेश से विग्रहगति वाला, आतप का सर्व संक्लिष्ट बादर पृथ्वीकायिक जीव, एकेन्द्रियजाति, स्थावर और साधारण नाम का सर्वोत्कृष्ट संक्लेश से युक्त एकेन्द्रिय जीव और सूक्ष्म नामकर्म का सर्व संक्लिष्ट

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी है।

अपर्याप्त नामकर्म का सर्व संक्लिष्ट और चरम समय में वर्तमान अपर्याप्त मनुष्य जघन्य प्रदेश उदीरणा करता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जातियों की यथाक्रम से सर्व संक्लिष्ट द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव जघन्य प्रदेश उदीरणा के स्वामी होते हैं।

'अणुभागुत्तो य तित्थयरे' इत्यादि अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी जो पहले जघन्य अनुभाग उदीरणा का स्वामी कहा गया है, वही जानना चाहिये। अर्थात् तीर्थंकर केवली जब तक आयोजिकाकरण प्रारंभ नहीं करते हैं, तब तक तीर्थंकर नामकर्म के जघन्य प्रदेश उदीरक जानना चाहिये। तथा —

ओहीणं ओहिजुए, अइसुहवेईय आउगाणं तु।
पढमस्स जहण्णठिई सेसाणुक्कोसगठिइओ॥ ८९॥

शब्दार्थ — **ओहीणं** - अवधिद्विक आवरण की, **ओहिजुए** - अवधिलब्धि युक्त, **अइसुहवेईय** - अति सुखद वेदक, **आउगाणं** - आयु कर्मों की, **तु** - किन्तु, **पढमस्स** - प्रथम की, **जहण्णठिई** - जघन्य स्थिति, **सेसाणुक्कोसगठिइओ** - शेष की उत्कृष्ट स्थिति वाले।

गाथार्थ — अवधिद्विक आवरण की जघन्य प्रदेश उदीरणा अवधिलब्धि युक्त जीव करता है। आयु कर्मों की जघन्य प्रदेश उदीरणा अति सुख के वेदक जीव करते हैं। किन्तु इतना विशेष है कि इनमें प्रथम आयु (नरकायु) की जघन्य स्थिति वाला नारक और शेष आयुकर्मत्रिक की उत्कृष्ट स्थिति वाले जीव जघन्य प्रदेश उदीरणा करते हैं।

विशेषार्थ — अवधिज्ञानावरण, और अवधिदर्शनावरण की जघन्य प्रदेश उदीरणा का स्वामी लब्धि से युक्त सर्व संक्लिष्ट जीव है। अवधिद्विक को उत्पन्न करने वाले जीव के बहुत कर्म पुद्गल क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये अवधिलब्धि पद का ग्रहण किया गया है।

चारों ही आयु कर्मों की जघन्य प्रदेशों के उदीरक अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अतीव सुख के अनुभव करने वाले जीव होते हैं। इनमें प्रथम नरकायु का उदीरक दस हजार वर्ष प्रमाण जघन्य स्थिति में वर्तमान नारकी जीव होता है, क्योंकि वह शेष नारकों की अपेक्षा अति सुखी है और शेष तिर्यंचायु मनुष्यायु देवायु की उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान और अपनी-अपनी योग्यतानुसार चरम सुखी यथाक्रम से तिर्यंच, मनुष्य और देव जघन्य प्रदेश उदीरणा के स्वामी जानना चाहिये।

इस प्रकार उदीरणाकरण का समस्त विवेचन जानना चाहिये। ❑❑

६ : उपशमनाकरण

उदीरणाकरण का विवेचन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त उपशमनाकरण का विचार करते हैं। उस में निम्न आठ अर्थाधिकार हैं – १. प्रथम सम्यक्त्व - उत्पाद प्ररूपणा, २. देशविरति-लाभ प्ररूपणा, ३. सर्वविरति-लाभ प्ररूपणा, ४. अनन्तानुबंधी विसंयोजना, ५. दर्शनमोहनीय क्षपण, ६.दर्शनमोहनीय-उपशमना, ७. चारित्रमोहनीय-उपशमना और ८. सप्रभेद देशोपशमना।

उपशमनाकरण का सर्व भेद-प्रभेद सहित पूर्ण रूपेण व्याख्यान करना अशक्य है। अतः जिस अंश में व्याख्यान करने की अपनी अशक्ति है, उस अंश के लिंये उसके ज्ञाता आचार्यों - महर्षियों को नमस्कार करते हुए ग्रंथकार आचार्य कहते हैं –

करणकया अकरणा, वि य दुविहा उवसामण त्थ बिइयाए।
अकरण अणुइन्नाए, अणुओगधरे पणिवयामि॥ १॥

शब्दार्थ – करणकया – करणकृत, **अकरणा** – अकरणकृत, **वि** – भी, **य** – और, **दुविहा** – दो प्रकार की, **उवसामणा** – उपशमना, **त्थ** – और, **बिइयाए** – दूसरी, **अकरण** – अकरणकृत, **अणुइन्नाए** – अणुदीर्ण, **अणुओगधरे** – अनुयोगधरों, **पणिवयामि** – प्रणाम (नमस्कार) करता हूँ।

गाथार्थ – करणकृत और अकरणकृत के भेद से उपशमना दो प्रकार की है। इनमें से जो दूसरी अकरणकृत अणुदीर्ण नाम वाली उपशमना है, उसको नहीं जानने वाला मैं उसके अनुयोगधर आचार्यों को नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ – उपशमना दो प्रकार की है - १. करणकृत और २. अकरणकृत। यहां करण नाम क्रिया है, अर्थात् यथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा साध्य होने वाली क्रियाविशेष से जो की जाये, उसे करणकृत उपशमना कहते हैं - **तत्र करणं क्रिया यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणसाध्यः क्रियाविशेषः तेन कृता करणकृता।** उससे विपरीत अर्थात् जो यथाप्रवृत्त आदि करणविशेषों से न की जाये, उसे अकरणकृत उपशमना कहते हैं।

संसारी जीवों के गिरि नदी के पाषाणों में होने वाली वृत्तता (गोलाई) आदि होने के समान यथाप्रवृत्त आदि करण रूप क्रियाविशेष के बिना ही वेदना के अनुभव आदि कारणों से जो उपशमना होती है, वह अकरणकृत उपशमना कहलाती है।

यह करणकृत और अकरणकृत रूप दोनों ही भेद देशोपशमना के जानना चाहिये, सर्वोपशमना के नहीं। क्योंकि वह तो यथाप्रवृत्तादि करणों से ही होती है। पंचसंग्रह मूल की टीका में कहा भी है–

'देशोपशमना करणकृता रहिता च, सर्वोपशमना तु करणकृतैवेति' अर्थात् देशोपशमना करणकृत भी होती है और करण रहित भी, किन्तु सर्वोपशमना करणकृत ही होती है।

इस करणकृत उपशमना के दो नाम हैं, यथा - अकरणोपशमना, अनुदीरणोपशमना। इन दोनों में से वर्तमान में अकरणोपशमना का अनुयोग विच्छिन्न हो गया है। इसलिये ग्रन्थकार आचार्य ने स्वयं उसके अनुयोग को नहीं जानने से उसके जानने वाले विशिष्ट बुद्धिप्रभा से संपन्न चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता आचार्यों को नमस्कार करते हुए 'विइयाए' इत्यादि पद कहा है। जिसका आशय यह है कि दूसरी जो अकरणकृत उपशमना है और अकरण एवं अनुदीर्ण रूप दो नाम वाली हैं, उसके अनुयोगधरों अर्थात् उसकी व्याख्या करने में कुशल आचार्यों को मैं नमस्कार करता हूँ।

करणकृत उपशमना के भेद

अकरणकृत उपशमना के विचार अनुपलब्ध होने से यहां पर करणकृत उपशमना का ही विचार किया जा रहा है। वह दो प्रकार की है, जिसके भेदों का नाम बताने के लिये ग्रंथकार कहते हैं–

सव्वस्स य देसस्स य करणुवसमणा दुसन्नि एक्किक्का।
सव्वस्स गुणपसत्था, देसस्स वि तासि विवरीया॥ २॥

शब्दार्थ – **सव्वस्स** – सर्वविषयक, **य** – और, **देसस्स** – देश (एक देश भाग) विषयक, **य** – और, **करणुवसमणा** – करणोपशमना, **दुसन्नि** – दो संज्ञा नाम वाली, **एक्किक्का** – एक एक प्रत्येक, **सव्वस्स** – सर्वविषयक, **गुणपसत्था** – गुणोपशमना, प्रशस्तोपशमना, **देसस्स** – देशविषयक, **वि** – भी, **तासि** – इनके, **विवरीया** – विपरीत।

गाथार्थ – करणोपशमना सर्वविषयक और देशविषयक इस प्रकार दो नाम वाली है। इन दोनों में से भी एक-एक के दो-दो नाम है, यथा सर्वोपशमना के गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना यह दो नाम हैं और देशोपशमना के इन से विपरीत नाम जानना चाहिये।

विशेषार्थ – करणकृत उपशमना दो प्रकार की है - सर्वविषयक और देशविषयक, अर्थात् सर्वविषयोपशमना और देशविषयोपशमना। इन दोनों में से भी प्रत्येक के दो नाम हैं, यथा – सर्वोपशमना के गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना यह दो नाम हैं तथा देशविषयक अर्थात् देशोपशमना के पूर्वोक्त सर्वोपशमना के नामों से विपरीत दो नाम है, यथा – अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना।

उपशमना योग्य कर्म और उसका अधिकारी

अब यह बतलाते हैं कि उपशमना किस कर्म की होती है और उसका करने वाला कौन होता है–

सव्वुवसमणा मोह-स्सेव तस्सुवसमक्किया जोग्गा।
पंचेंदिओ उ सन्नी, पज्जत्तो लद्धितिगजुत्तो॥ ३॥
पुव्वं पि विसुज्झंतो गंठियसत्ताणइक्कमिय सोहिं।
अन्नयरे सागारे, जोगे य विसुद्धलेसासु॥ ४॥
ठिइ सत्तकम्म अंतो-कोडाकोडी करेत्तु सत्तण्हं।
दुट्ठाणं चउट्ठाणे असुभ सुभाणं च अणुभागं॥ ५॥
बंधंतो धुवपगडी, भवपाउग्गा सुभा अणाऊ य।
जोगवसा य पएसं, उक्कोसं मज्झिम जहण्हं॥ ६॥
ठिइबंधद्धापूरे, नवबंधं पल्लसंख भागूणं।
असुभसुभाणणुभागं, अणंतगुणहाणिवुड्ढीहिं॥ ७॥
करणं अहापवत्तं, अपुव्वकरणमनियट्टिकरणं च।
अंतोमुहुत्तियाइं, उवसंतद्धं च लहइ कमा॥ ८॥

शब्दार्थ – **सव्वुवसमणा** – सर्वोपशमना, **मोहस्सेव** – मोहनीय कर्म की ही, **तस्सुवसमक्किया** – उसकी उपशमना के, **जोग्गा** – योग्य, **पंचेंदिओ** – पंचेन्द्रिय, **उ** – और, **सन्नी**– संज्ञी, **पज्जत्तो** – पर्याप्त, **लद्धितिगजुत्तो** – लब्धित्रय युक्त।

पुव्वं पि – करण से भी पूर्व, **विसुज्झंतो** – अनन्तगुणविशुद्धि वाला, **गंठियसत्ताणइक्कमिय सोहिं** – ग्रंथिवर्ती अभव्य जीव की विशुद्धि का अतिक्रमण कर, **अन्नयरे** – अन्यतर (किसी एक) **सागारे** – साकारोपयोग में, **जोगे** – योग, **य** – और, **विसुद्धलेसासु** – विशुद्ध लेश्या में।

ठिइ – स्थिति, **सत्तकम्म** – कर्म सत्ता की, **अंतोकोडाकोडी** – अंतः कोडाकोडी, **करेत्तु** – करके, **सत्तण्हं** – सात कर्मों की, **दुट्ठाणं** – द्विस्थानक, **चउट्ठाणे** – चतुःस्थानक, **असुभ** – अशुभ, **सुभाणं** – शुभ की, **च** – और, **अणुभागं** – अनुभाग।

बंधंतो – बांधता हुआ, **धुवपगडी** – ध्रुव प्रकृतियों को, **भवपाउग्गा** – भवप्रायोग्य, **सुभा** – शुभ प्रकृतियों को, **अणाऊ** – आयु के अतिरिक्त, **य** – और, **जोगवसा** – योगानुसार, **य**– और, **पएसं** – प्रदेश बंध को, **उक्कोसं** – उत्कृष्ट, **मज्झिम** – मध्यम, **जहण्हं** – जघन्य।

ठिइबंधद्धापूरे – स्थितिबंध काल पूर्ण होने पर, **नवबंधं** – नवीन बंध को, **पल्लसंख**-

भागूणं – पल्य के संख्य भाग हीन, **असुभसुभाणणुभागं** – अशुभ-शुभ अनुभाग को, **अणंतगुणहाणिवुड्ढीहिं** – अनन्तगुण हानि और वृद्धि वाला।

करणं – करण, **अहापवत्तं** – यथाप्रवृत्त, **अपुव्वकरणं** – अपूर्वकरण, **अनियट्टिकरणं**– अनिवृत्तिकरण, **अंतोमुहुत्तियाइं** – अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले, **उवसंतद्धं** – उपशांत अद्धा को, **च** – और, **लहइ** – प्राप्त करता है, **कमा** – अनुक्रम से।

गाथार्थ – सर्वोपशमना मोहनीय कर्म की ही होती है। उसकी उपशमना के योग्य पंचेन्द्रिय संज्ञी, पर्याप्तक, लब्धित्रिक से युक्त, करण से पूर्व भी अनंतगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ ग्रंथिवर्ती अभव्य जीव की विशुद्धि का अतिक्रमण करके अन्यतर साकरोपयोग और योग में वर्तमान और विशुद्ध लेश्याओं में प्रवर्तमान, आयुकर्मों को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थितिसत्ता को अन्तः कोडाकोडी सागर प्रमाण करके अशुभ और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को क्रमशः द्विस्थानक और चतुःस्थानक करता हुआ ध्रुवबंधी प्रकृतियों को बांधता हुआ, आयु के सिवाय स्वभव के योग्य शुभ प्रकृतियों को बांधता हुआ योगानुसार उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य प्रदेश बंध करता हुआ, एक स्थितिबंध काल पूर्ण होने पर पल्य के संख्यात भागहीन नवीन बंध करता हुआ, अशुभ और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को अनन्तगुणवृद्धि और हानि वाला करता हुआ, अन्तर्मुहूर्तकाल तक अनुक्रम से यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को करता हुआ उपशांत-अद्धा को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ – 'सव्वुवसमणा' इत्यादि अर्थात् यह सर्वोपशमना केवल मोहनीयकर्म की ही होती है किन्तु शेष कर्मों की तो देशोपशमना ही होती है।

मोहनीयकर्म की सर्वोपशमना रूप क्रिया के योग्य पंचेन्द्रिय संज्ञी और सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव होता है। ऐसा लब्धित्रय से युक्त जीव अर्थात् पंचेन्द्रियत्व लब्धि, संज्ञित्व लब्धि और पर्याप्तत्व लब्धि से युक्त अथवा उपशमलब्धि, उपदेशश्रवणलब्धि और तीन करण की कारणभूत प्रकृष्ट योगलब्धि से संयुक्त जीव उपशान्ताद्धा को प्राप्त होता है तथा करणकाल से पहले भी ऐसा जीव अन्तर्मुहूर्तकाल तक प्रति समय अनन्तगुणी वृद्धिवाली विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ, निर्मल चित्त संतति वाला ग्रंथिक सत्व वाले अभव्य सिद्धिक जीवों की जो विशुद्धि है, उसको भी उल्लंघन कर आगे की विशुद्धि में वर्तमान अर्थात् अभव्य जीवों की विशुद्धि से अनन्तगुणी विशुद्धि वाला[१] तथा मति

---

१. अभव्य को प्रथम विशुद्धि तथा यथाप्रवृत्तकरण होता है, परन्तु वह किसी भी मोहनीय की सर्वोपशमना नहीं कर सकता है और यहाँ सर्वोपशमना के अधिकारी जो जीव प्रथम विशुद्धि में विद्यमान है, उसकी विशुद्धि सर्वथा सर्वोपशमना नहीं करने वाले अभव्य जीवों के यथाप्रवृत्तकरणवर्ती विशुद्धि से अनन्तगुणी विशुद्धि हो सकती है। यह विशुद्धि भी सर्वोपशमना करने वाले ऐसे विशुद्धि में वर्तमान जीवों की समझना चाहिये।

अज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान इन तीनों में से किसी एक साकारोपयोग में तथा मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनों में से किसी एक योग में वर्तमान तीनों विशुद्ध लेश्याओं में से किसी एक में वर्तमान अर्थात् जघन्य परिणाम से तेजोलेश्या में, मध्यम परिणाम से पद्मलेश्या में और उत्कृष्ट परिणाम से शुक्ललेश्या में वर्तमान तथा आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति को अन्तः कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण करके अशुभ कर्मों में विद्यमान चतुःस्थानक अनुभाग को द्विस्थानक करता है और शुभ कर्मों के विद्यमान द्विस्थानक अनुभाग को चतुःस्थानक करता है तथा पांच प्रकार का ज्ञानावरण, नौ प्रकार का दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, गंध रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और पांच अन्तराय इन सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को बांधता हुआ, परावर्तमान प्रकृतियों में से अपने-अपने भव के योग्य शुभ प्रकृतियों को बांधता है। उन्हें भी आयु को छोड़कर ही बांधता है। क्योंकि अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला भी आयुकर्म का बंध आरम्भ नहीं करता है, इस कारण यहां आयुकर्म को छोड़ा गया है। 'भव के योग्य' इस वचन से यह जानना चाहिये कि यदि वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला तिर्यंच अथवा मनुष्य है तो वह देवगति योग्य –

देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रिय - अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, सातावेदनीय और उच्चगोत्र इन इक्कीस शुभ प्रकृतियों को बांधता है और यदि प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला देव अथवा नारक है तो वह मनुष्यगति के योग्य –

मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, प्रथम संहनन, औदारिकशरीर और औदारिक - अंगोपांग, पराघात उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, सातावेदनीय और उच्चगोत्र इन बाईस शुभ प्रकृतियों को बांधता है।

यहां इतनी विशेषता है कि सप्तम पृथ्वी का नारक प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तो उक्त बाईस प्रकृतियों में मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और उच्चगोत्र के स्थान पर तिर्यंचगति तिर्यचानुपूर्वी और नीचगोत्र कहना चाहिये। शेष उन्हीं प्रकृतियों को बांधता है।

इस बध्यमान प्रकृतियों की स्थिति को अन्तः कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण ही बांधता है, इससे अधिक नहीं तथा योग के वश उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य प्रदेशाग्र को बांधता है। वह इस प्रकार समझना चाहिये कि –

जघन्य योग में वर्तमान जीव जघन्य प्रदेशाग्र बांधता है, मध्यम योग में वर्तमान मध्यम प्रदेशाग्र और उत्कृष्ट योग में वर्तमान उत्कृष्ट प्रदेशाग्र को बांधता है, तथा एक स्थितिबंध के पूर्ण होने

पर दूसरे स्थितिबंध को पहले स्थितिबंध की अपेक्षा पल्योपम से संख्यात भाग से हीन बांधता है। इस प्रकार अन्य अन्य (उत्तरोत्तर) स्थितिबंध को पूर्व पूर्व की अपेक्षा पल्योपम के संख्यातवें भाग से न्यून बंध करता है।

उस समय बंधने वाली अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को द्विस्थानक बांधता है औा उससे भी प्रति समय अनन्तगुणहीन शुभ प्रकृतियों के चतु:स्थानक अनुभाग को बांधता है और उससे भी प्रति समय अनन्तगुणवृद्धि वाला बांधता है।

इस प्रकार करता हुआ वह क्या करता है ? तो इसका उत्तर है –

'करण' इत्यादि, अर्थात् पहले वह यथाप्रवृत्तकरण करता है तत्पश्चात् अपूर्वकरण और उसके अनन्तर अनिवृत्तिकरण करता है। 'करण' परिणाम विशेष को कहते हैं – **करणमिति परिणाम-विशेषः**। इसके लिये 'करणं परिणामोऽत्र।' यह वचन प्रामाण्य है। यह तीनों ही करण प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त अर्थात् सभी करणों का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस क्रम से तीनों करणों को करके वह जीव चौथी उपशान्ताद्धा को प्राप्त करता है और वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

यथाप्रवृत्त आदि करणों का स्वरूप

अब इन यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों का स्वरूप कथन करते हैं –

अणुसमयं वड्ढंतो, अज्झवसाणाण णंतगुणणाए।
परिणामट्ठाणाणं, दोसु वि लोगा असंखिज्जा॥ ९॥

शब्दार्थ – **अणुसमयं** – प्रति समय, **वड्ढंतो** – बढ़ते हैं, **अज्झवसाणाण** – अध्यवसाय, **णंतगुणणाए** – अनन्तगुण वृद्धि से, **परिणामट्ठाणाणं** – परिणामस्थान (अध्यवसायस्थान) **दोसु वि**– दो करणों में, **लोगा** – लोकाकाश प्रदेश प्रमाण, **असंखिज्जा** – असंख्यात।

गाथार्थ – प्रति समय अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्धि से बढ़ते हैं और आदि के दो करणों में अध्यवसायस्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं।

विशेषार्थ – अनुसमय अर्थात् समय समय प्रत्येक समय अध्यवसायों की अनन्तगुणी विशुद्धि से अर्थात् प्रतिसमय अनन्तगुणी वृद्धि वाली अध्यवसायों की विशुद्धि से प्रवर्धमान रहता है यानि करणों की समाप्ति तक वह निरंतर विशुद्धि में बढ़ता रहता है।

प्रत्येक करण में कितने अध्यवसाय होते हैं ? इस प्रश्न में ग्रन्थकार कहते हैं कि – 'परिणामट्ठाणाणं' इत्यादि अर्थात् यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण इन दोनों करणों के परिणामस्थान

अध्यवसायस्थान प्रतिसमय असंख्य लोक प्रदेश प्रमाण होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यथाप्रवृत्तकरण में और अपूर्वकरण में प्रति समय असंख्यात लोकाकाशप्रदेशों की राशि प्रमाण अध्यवसाय स्थान होते हैं। वे इस प्रकार से समझना चाहिये कि –

नाना जीवों की अपेक्षा यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में विशुद्धि स्थान असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होते हैं। द्वितीय समय में उन से विशेषाधिक होते हैं, उनसे भी तृतीय समय में विशेषाधिक होते हैं। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय तक कहना चाहिये। अपूर्वकरण में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। ये यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण संबंधी अध्यवसायस्थान स्थापित किये जाने पर विषम चतुरस्रसंस्थान को व्याप्त करते हैं। इन दोनों करण परिणामों के ऊपर अनिवृत्तिकरण के अध्यवसाय मुक्तावली के आकार वाले होते हैं।[१] ऊपर-ऊपर की ओर मुख वाले ये अध्यवसाय स्थान विचार किये जाने पर प्रति समय अनन्तगुणवृद्धि से प्रवर्धमान जानना चाहिये और तिर्यक् रूप में षट्स्थानपतित[२] जानना चाहिये। इन करण परिणामों की स्थापना इस प्रकार है –

मन्दविसोही पढमस्स, संखभागाहि पढमसमयम्मि।
उक्कस्सं उप्पिमहो, एक्केक्कं दोण्हं जीवाणं॥ १०॥
आचरमाओ सेसु - क्कोसं पुव्वप्पवत्तमिइनामं।
बिइयस्स बिइयसमए, जहण्णमवि अणंतरुक्कस्सा॥ ११॥

शब्दार्थ – **मन्दविसोही** – मन्द (जघन्य) विशुद्धि, **पढमस्स** – प्रथम करण की, **संख भागाहि** – संख्यातवें भाग, **पढमसमयम्मि** – प्रथम समय में, **उक्कस्सं** – उत्कृष्ट, **उप्पिमहो** – ऊपर नीचे, **एक्केक्कं** –.एक एक, **दोण्हं** – दोनों, **जीवाणं** – जीवों की।

आचरमाओ – अन्त्यसमय की, **सेसुक्कोसं** – शेष उत्कृष्ट विशुद्धि, **पुव्वप्पवत्तमिइनामं**– पूर्वप्रवृत्त यह भी नाम है, **बिइयस्स** – दूसरे की, **बिइयसमए,** – दूसरे समय में, **जहण्णं** – जघन्य, **अवि** – भी, **अणंतरुक्कस्सा** – अनंतगुणी।

गाथार्थ – करणप्रतिपन्न दो जीवों में से एक जीव की प्रथम करण के प्रथम समय में मन्द विशुद्धि है। उससे प्रति समय अनंतगुणी बढ़ती हुई जघन्य विशुद्धि करण के संख्यातवें भाग तक जानना चाहिये। उससे अन्य जीव की प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी होती है। इस प्रकार ऊपर

---

१. असत्कल्पना से इन यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों का प्रारूप एवं स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

२. एक ही समयगत अध्यवसाय स्थानों में परस्पर विशुद्धि मात्रा की तारतम्यता की अपेक्षा ही षट्स्थानपतितपना जानना चाहिये।

नीचे के एक एक समय की विशुद्धि अनंतगुणी चरम समय की जघन्य विशुद्धि तक कहना चाहिये। उससे शेष समयों की उत्कृष्ट विशुद्धि चरम समयपर्यन्त अनंतगुणी होती है। इस यथाप्रवृत्तकरण का दूसरा नाम पूर्वप्रवृत्तकरण भी है। दूसरे अपूर्वकरण की जघन्य भी विशुद्धि अनंतर के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि से अनंतगुणी है।

विशेषार्थ – यहां कल्पना से दो पुरुष एक साथ करण को प्राप्त विवक्षित किये गये जानना चाहिये। उनमें से एक सर्वजघन्य श्रेणी से और दूसरा सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि की श्रेणी से करण परिणाम को प्राप्त हुआ। उनमें से प्रथम जीव के प्रथम समय में मन्द अर्थात् सर्वजघन्य विशुद्धि है, जो सबसे अल्प है। उससे दूसरे समय में जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है, उससे भी तृतीय समय में जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है, उससे भी चतुर्थ समय में जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है। इस प्रकार इसी क्रम से तब तक कहना चाहिये जब तक यथाप्रवृत्तकरण का संख्यातवां भाग व्यतीत होता है।

उससे प्रथम समय में दूसरे जीव का उत्कृष्ट विशुद्धि स्थान अनंतगुणा कहना चाहिये। उससे भी जिस जघन्य स्थान से कह कर निवृत्त हुए हैं, उसके ऊपर जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है उससे भी दूसरे समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी होती है। उससे ऊपर जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है। इस प्रकार एक एक विशुद्धिस्थान ऊपर और नीचे अनंतगुणित क्रम से दोनों जीवों के तब तक जानना चाहिये, जब तक कि चरम समय में जघन्य विशुद्धि प्राप्त होती है। उसके पश्चात चरम समय तक जितने अनुक्त उत्कृष्ट विशुद्धि स्थान हैं उन्हें क्रम से अनंतगुणित कहना चाहिये। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण का काल समाप्त होता है।

इस यथाप्रवृत्तकरण का दूसरा नाम पूर्वप्रवृत्तकरण भी है। क्योंकि यह करण शेष दो करणों की अपेक्षा पूर्व में अर्थात् पहले प्रवृत्त होता है, इसलिये उसे पूर्वप्रवृत्तकरण कहते हैं। इस यथाप्रवृत्तकरण में स्थितिघात, रसघात अथवा गुणश्रेणी आरंभ नहीं होती है, केवल उक्त स्वरूप वाली अनंतगुणी विशुद्धि ही होती है। इस करणपरिणाम में अवस्थित जीव जिन अप्रशस्त कर्मों को बांधता है, उनके द्विस्थानक अनुभाग को और जिन शुभ कर्मों को बांधता है, उनके चतुःस्थानक रस को बांधता है, तथा एक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर अन्य (दूसरा) स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग से कम बांधता है।

अब अपूर्वकरण का स्वरूप कहते हैं। इसका विवेचन प्रारम्भ करने के लिये गाथा में 'बिइयस्स' इत्यादि पद दिये हैं। जिनका आशय यह है कि दूसरे अपूर्वकरण नाम के करण का जो दूसरा समय है, उसमें जघन्य भी विशुद्धिस्थान अनन्तरवर्ती प्रथम समय वाले उत्कृष्ट विशुद्धिस्थान से अनन्तगुणा कहना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि इस करण में यथाप्रवृत्तकरण के समान पहले

निरन्तर जघन्य विशुद्धिस्थान अनन्तगुणी वृद्धि रूप में नहीं कहना चाहिये। किन्तु प्रथम समय में सर्वप्रथम सबसे अलग जघन्य विशुद्धि कहना चाहिये, वह भी यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में होने वाले उत्कृष्ट विशुद्धिस्थान से अनन्तगुणी होती है। उससे प्रथम समय में ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे भी द्वितीय समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे भी द्वितीय समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे भी तृतीय समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे भी तृतीय समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार प्रति समय तब तक कहना चाहिये, जब तक कि अपूर्वकरण के चरम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि प्राप्त होती है।[१]

अब अनन्तगुणी विशुद्धि होने के साथ-साथ अपूर्वकरण में होने वाले अन्य कार्यों को बतलाते हैं –

निव्वयणमवि ततो से, ठिइरसघायठिइबंधगद्धा उ।
गुणसेढी वि य समगं, पढमे समये पवत्तंति॥ १२॥

शब्दार्थ – **निव्वयणमवि** – निर्वचन भी (नाम की सार्थकता का दर्शक वचन) **ततो** – तत्पश्चात्, **से** – उसका (अपूर्वकरण का), **ठिइरसघाय** – स्थितिरसघात, **ठिइबंधगद्धा** – स्थिति बंधाद्धा, **उ** – तथा, **गुणसेढीवि** – गुणश्रेणी भी, **य** – और, **समगं** – एक साथ, **पढमे समए** – प्रथम समय में, **पवत्तंति** – प्रारम्भ होते हैं।

गाथार्थ – तत्पश्चात् अपूर्वकरण का निर्वचन करते हैं कि उसमें अपूर्वकरण में प्रवेश करते हुये जीव के स्थितिघात, रसघात, स्थितिबंधाद्धा गुणश्रेणी सभी एक साथ प्रथम समय में प्रारम्भ होते हैं।

विशेषार्थ – तदनन्तर उस अपूर्वकरण का निर्वचन अर्थात् निश्चय रूप सार्थक वचन कहना चाहिये, यथा अपूर्वकरण अर्थात् स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, स्थितिबंध आदि के नवीन कार्य जिसमें हों, उसे अपूर्वकरण कहते हैं – **अपूर्वाणि अपूर्वाणि करणानि स्थितिघातरसघातगुणश्रेणि-स्थितिबंधादीनां निवर्तनानि यस्मिन् तत् अपूर्वकरणं।** जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

अपूर्वकरण में प्रवेश करता हुआ जीव प्रथम समय में ही अन्य स्थितिघात को अन्य रसघात को, अन्य गुणश्रेणी और अन्य स्थितिबंध को एक साथ प्रारम्भ करता है। इसीलिये गाथा में 'ठिईरस' इत्यादि पद कहे गये हैं अर्थात् स्थितिघात, रसघात, स्थितिबंधकाल और गुणश्रेणी यह चारों ही पदार्थ समक अर्थात् एक साथ प्रथम समय में प्रारम्भ होते हैं।

---

१. इसका प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

अब इनमें से स्थितिघात आदि का प्रतिपादन करते हैं –

उयहिपुहुत्तुक्कस्सं, इयरं पल्लस्स संखतमभागो।
ठिइकंडगमणुभागा - णणंतभागा मुहुत्तंतो॥ १३॥
अणुभागकंडगाणं, बहुहिं सहस्सेहिं पूरए एक्कं।
ठिइकंडगं सहस्सेहिं, तेसिं बीयं सहस्सेहिं॥ १४॥

शब्दार्थ – **उयहिपुहुत्तुक्कस्सं** – उत्कृष्टतः उदधि (सागरोपम) पृथक्त्व, **इयरं** – इतर (जघन्य) से, **पल्लस्ससंखतमभागो** – पल्य के संख्यातवें भाग, **ठिइकंडगम** – स्थितिकंडक को, **अणुभागाण** – अणुभाग के, **अणंतभागा** – अनन्तवें भाग को, **आमुहुत्तंत्तो** – अन्तर्मुहूर्त में।

अणुभागकंडगाणं – अनुभाग कंडक, **बहुहिंसहस्सेहिं** – बहुत से हजारों द्वारा, **पूरए** – पूरित करता है, **एक्कं** – एक, **ठिइकंडगं** – स्थितिकंडक को, **सहस्सेहिं** – हजारों द्वारा, **तेसिं** – उसके, **बीयं** – दूसरे, **सहस्सेहिं** – हजारों द्वारा।

गाथार्थ – (अंतिम स्थितिसत्ता में से) उत्कृष्ट सागरोपम पृथक्त्व प्रमाण स्थिति को और जघन्य रूप से पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिकंडक को तथा अनुभागसत्व के अनंतवें भाग को अन्तर्मुहूर्त में उत्कीर्ण करता है। इस प्रकार हजारों अनुभागकंडकों से एक स्थितिकंडक को पूरा करता है। वे हजारों स्थितिकंडक दूसरे अपूर्वकरण को पूरित करते हैं।

विशेषार्थ – पहले स्थितिघात को स्पष्ट करते हैं। कर्मों के स्थितिसत्व के अग्रिम भाग से उत्कर्षतः प्रमाण बहुत से सैकड़ों सागरोपम प्रमाण और जघन्यतः पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिकंडकों को उत्कीर्ण करता है और उत्कीर्ण करके जिन स्थितियों को नीचे खंडित नहीं करेगा, उनमें उस उत्कीर्णदलिक को प्रक्षिप्त करता है। वह एक स्थितिकंडक अन्तर्मुहूर्तकाल से उत्कीर्ण कियां जाता है। तदनन्तर पुनः नीचे के पल्योपम के संख्यातवें भाग मात्र स्थितिकंडक को अन्तर्मुहूर्त[1] काल के द्वारा उत्कीर्ण करता है और पूर्वोक्त प्रकार से ही उसे निक्षिप्त करता है, इस प्रकार अपूर्वकरण के काल में बहुत से हजारों स्थितिखंड व्यतीत करता है। ऐसा होने पर अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो कर्मो का स्थितिसत्व था, उसी अपूर्वकरण के चरम समय में संख्यात गुणाहीन हो जाता है।

अब रसघात को स्पष्ट करते हैं - 'अणुभागाणं' इत्यादि अर्थात् अशुभ प्रकृतियों के अनुभागसत्व के अनन्तवें भाग को छोड़ कर शेष सभी अनुभाग को अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा क्षय करता है। तदनन्तर पहले छोड़े गये उस अनन्तवें भाग के अनन्तवें भाग को छोड़ कर शेष सभी बहुभाग अनुभाग

---

१. पंचसंग्रह में (पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिकंडक) यह पाठ है।

अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा विनाश करता है। इस प्रकार एक एक स्थितिखंड में हजारों अनुभागखंड विनष्ट होते हैं। ऐसे हजारों स्थितिखंडों के द्वारा दूसरा अपूर्वकरण समाप्त होता है।

अब स्थितिबंधाद्धा का आशय बतलाते हैं – अपूर्वकरण के प्रथम समय में पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य ही अपूर्व स्थितिबंध प्रारम्भ करता है। इस प्रकार स्थितिघात और नवीन स्थितिबंध ये दोनों अपूर्वकरण के प्रथम समय में एक साथ ही आरम्भ होते हैं और एक साथ ही पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

अब गुणश्रेणी का स्वरूप कहते हैं –

गुणसेढी निक्खेवो समए समए असंखगुणणाए।
अद्धादुगाइरित्तो सेसे सेसे य निक्खेवो॥ १५॥

शब्दार्थ – **गुणसेढी** – गुणश्रेणी, **निक्खेवो** – निक्षेप, **समए समए** – समय समय में (प्रत्येक समय में), **असंखगुणणाए** – असंख्यात गुणित क्रम से, **अद्धा** – काल, **दुगाइरित्तो** – दो करण काल से अधिक, **सेसे सेसे** – शेष शेष समय में, **य** – और, **निक्खेवो** – निक्षेप होता है।

गाथार्थ – समय समय में असंख्यातगुणित क्रम से जो दलिक निक्षेप किया जाता है, उसे गुणश्रेणी कहते हैं। उसका काल दो करण कालों से कुछ अधिक होता है और शेष शेष समय में दलिक निक्षेप होता है।

विशेषार्थ – जिस स्थितिकंडक को घात करता है, उसके मध्य में से दलिक को ग्रहण कर उदय समय से लेकर प्रतिसमय असंख्यात गुणित क्रम से निक्षिप्त करता है, यथा उदय समय में अल्प दलिक निक्षिप्त करता है, दूसरे समय में असंख्यात गुणित दलिक और उससे भी तीसरे समय में असंख्यात गुणित दलिक निक्षिप्त करता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक कि अन्तर्मुहूर्त का चरम समय प्राप्त हो, वह अन्तर्मुहूर्त अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक जानना चाहिये।

अब इसका विशेष आशय स्पष्ट करते हैं –

गुणश्रेणी में निक्षेप समय समय में असंख्यात गुणित क्रम से पूर्व पूर्व के समय की अपेक्षा उत्तर उत्तर समय में वृद्धि रूप होता है और वह भी निक्षेप अद्धाद्विक से अतिरिक्त अर्थात् अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक काल का होता है। यह विधि प्रथम समय में ग्रहण किये गये दलिकों के निक्षेप की भी जानना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीयादि समय में ग्रहीत दलिकों की निक्षेपविधि भी जानना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि गुणश्रेणी रचना के लिये प्रथम समय में दलिक ग्रहण किये जाते हैं, वे अल्प होते हैं। उनसे दूसरे समय में असंख्यातगुणित दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनसे भी तीसरे समय में असंख्यातगुणित दलिक ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार गुणश्रेणी करने के चरम समय तक जानना चाहिये तथा अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयों को अनुभव करते हुए और क्रम से क्षय होते हुए गुणश्रेणी दलिकों का निक्षेप शेष समय में अर्थात् बाकी रहे हुए समयों में होता है, उससे ऊपर नहीं बढ़ता है।

अपूर्वकरण के पश्चात् अब अनिवृत्तिकरण का स्वरूप बतलाते हैं –

अनियट्टिम्मि वि एवं, तुल्ले काले समा तओ नामं।
संखिज्जइमे सेसे, भिन्नमुहुत्तं अहो मुच्चा॥ १६॥
किंचूणमुहुत्तसमं ठिइबंधद्धाए अंतरं किच्चा।
आवलिदुगेक्कसेसे, आगाल उदीरणा समिया॥ १७॥

शब्दार्थ – **अनियट्टिम्मि** – अनिवृत्तिकरण में भी, **एवं** – इसा प्रकार, **तुल्ले** – तुल्य, **काले** – काल में, **समा** – समान, **तओ** – उससे, **नामं** – नाम, **संखिज्जइमे** – संख्यातवां भाग, **सेसे** – शेष रहने पर, **भिन्नमुहुत्तं** – अन्तर्मुहूर्त, **अहो** – नीचे, **मुच्चा** – छोड़ कर,

किंचूणमुहुत्तसमं – कुछ कम मुहूर्त प्रमाण, **ठिइबंधद्धाए** – स्थितिबंधाद्धा (काल) द्वारा, **अंतरं** – अंतर, **किच्चा** – करके, **आवलिदुगेक्कसेसे** – दो और एक आवलि शेष रहने पर, **आगाल** – आगाल, **उदीरणा** – उदीरणा, **समिया** – विच्छेद होता है।

गाथार्थ – अनिवृत्तिकरण में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। इसमें समान काल में समान विशुद्धि होती है, इसलिये अनिवृत्तिकरण यह नाम सार्थक है। इसका संख्यातवां भाग शेष रह जाने पर एक अन्तर्मुहूर्त नीचे छोड़ कर और कुछ कम मुहूर्त (अन्तर्मुहूर्त) प्रमाण स्थितिबंधाद्धा (काल) जितना अंतर करके दो आवलि रहने पर आगाल का और एक आवलि शेष रहने पर उदीरणा का विच्छेद होता है।

विशेषार्थ – जिस प्रकार अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर स्थितिघात आदि कार्य विशेष एक साथ प्रवर्तमान होते हैं उसी प्रकार अनिवृत्तिकरण में भी कहना चाहिये। इसलिये 'तुल्ले काले समा तओ नामं त्ति' अर्थात् तुल्य यानि समान काल में इस करण में प्रविष्ट सभी जीवों की विशुद्धि समान होती है, विषम नहीं होती है, अतः अनिवृत्तिकरण यह सार्थक नाम है। इसका अभिप्राय यह है कि –

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय जो जीव वर्तमान हैं या जो पूर्व में वर्तमान थे और जो आगे वर्तमान होंगे, उन सभी जीवों की विशुद्धि एक समान होती है, दूसरे समय में भी जो वर्तमान हैं, जो वर्तमान थे और वर्तमान होंगे, उन सभी जीवों की विशुद्धि भी परस्पर समान होती है। लेकिन विशेषता यह है कि प्रथम समय में होने वाले विशुद्धि की अपेक्षा दूसरे समय में होने वाले विशुद्धि अनंतगुणी होती है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक अनिवृत्तिकरण का चरम समय प्राप्त होता है। इसलिये इस करण में समान काल में प्रविष्ट हुए जीवों के अध्यवसायों की परस्पर जो निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति या विभिन्नता है, वह नहीं होती है। इसी कारण इस करण का अनिवृत्तिकरण यह सार्थक नाम है - ... **अस्मिन् करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां परस्परमध्यवसानानां या निवृत्तिर्व्यावृत्तिः सा न विद्यते इत्यनिवृत्तिकरणमितिनाम।**

इस अनिवृत्तिकरण में जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसायस्थान होते हैं और वे पूर्व-पूर्व से अनंतागुणी (विशुद्धिक) वृद्धि वाले होते हैं।

इसके अतिरिक्त 'संखिज्ज इमे सेसे' इत्यादि अर्थात् अनिवृत्तिकरण काल के संख्यात बहु भागों के व्यतीत हो जाने पर और एक संख्यातवें भाग के शेष रहने पर अन्तर्मुहूर्त मात्र काल नीचे छोड़ कर मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है। यह अन्तरकरण काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जो प्रथम स्थिति से कुछ कम है और नवीन स्थितिबंध काल के समान है, वह इस प्रकार समझना चाहिये कि –

अन्तरकरण करने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व के अन्य स्थितिबंध को आरंभ करता है और स्थितिबंध तथा अन्तरकरण को एक साथ ही समाप्त करता है। अन्तरकरण किये जाने के समय गुणश्रेणी के संख्यातवें भाग को अन्तरकरण के दलिक के साथ उत्कीर्ण करता है और उत्कीर्ण किये जाने वाले दलिक को प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थिति में प्रक्षिप्त करता है। अन्तरकरण से नीचे की स्थिति प्रथमस्थिति और ऊपर की स्थिति द्वितीयस्थिति कहलाती है – **अन्तरकरणच्चाधस्तनी प्रथमास्थितिःरित्युच्यते, उपरितनी तु द्वितीया।** प्रथम स्थिति में वर्तमान जीव उदीरणा प्रयोग के द्वारा प्रथम स्थिति संबंधी दलिक को आकर्षित कर उदय में प्रक्षिप्त करता है उसे उदीरणा कहते हैं – **उदीरणाप्रयोगेण दलिकं प्रथमस्थितिसत्कं दलिकं समाकृष्योदयसमये प्रक्षिपति सा उदीरणा** तथा उदीरणा प्रयोग के द्वारा द्वितीय स्थिति से दलिक को खींच कर उदय में प्रक्षिप्त करता है, वह आगाल कहलाता है - **द्वितीय स्थितेः सकाशादुदीरणा प्रयोगेण समाकृष्योदये प्रक्षिपति स आगाल इति।** उदीरणा का ही विशेष ज्ञान कराने के लिये आगाल यह दूसरा नाम पूर्वाचार्यों ने कहा है। इस प्रकार उदय और उदीरणा के द्वारा प्रथमस्थिति को अनुभव करता हुआ तब तक जानना चाहिये जब तक कि दो आवलिका काल शेष रहता है। उस समय आगाल नहीं होता है, किन्तु केवल उदीरणा

ही होती है और वह उदीरणा भी निवृत्त हो जाती है। तत्पश्चात् केवल उदय से ही उस आवलिका का काल अनुभव करता है और उसके भी व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का उदय भी निवृत्त हो जाता है। क्योंकि तब मिथ्यात्व के दलिकों का अभाव हो जाता है और उनके दूर होने पर औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्ति के लाभ

अब औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति से होने वाले लाभ का प्रतिपादन करते हैं –

मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्त-मोवसमियं सो।
लंभेण जस्स लब्भई, आयहियमलद्ध पुव्वं जं॥ १८॥

शब्दार्थ – **मिच्छत्तुदए** – मिथ्यात्व के उदय का, **खीणे** – क्षय हो जाने पर, **लहए** – प्राप्त करता है, **सम्मत्तमोवसमियं** – औपशमिक सम्यक्त्व को, **सो** – वह, **लंभेण** – प्राप्ति से, **जस्स**– जिसकी, **लब्भई** – प्राप्त करता है, **आयहियं** – आत्महित को, **अलद्धपुव्वं** – पूर्व में अप्राप्त, **जं** – जो।

गाथार्थ – मिथ्यात्व के उदय का क्षय हो जाने पर वह जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, जिसकी प्राप्ति से वह जीव जो पूर्व में अप्राप्त, ऐसे आत्महित को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ – उक्त प्रकार से मिथ्यात्व के उदय का क्षय हो जाने पर वह जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, जिसके लाभ से जो आत्महित पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था उस लाभ को अर्थात् अर्हन्त प्रतिपादित तत्व की प्रतिपत्ति रुचि को प्राप्त करता है। जिसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि –

जैसे जन्मांध पुरुष को नेत्र का लाभ होने पर महान् आनन्द प्राप्त होता है, अथवा जैसे महा व्याधि से पीड़ित पुरुष को व्याधि दूर होने पर महान प्रमोद होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के लाभ होने पर यथावस्थित वस्तुतत्त्व का दर्शन हो जाता है। कहा भी है –

जात्यंधस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये।
सद्दर्शनं तथैवास्य सम्यक्त्वे सति जायते॥ १॥

आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्व्याधितस्य सदौषधात्॥ २॥

अर्थात् जैसे पुण्य के उदय होने पर जन्मांध पुरुष को नेत्र के लाभ में जो आनन्द होता है उसी

प्रकार सम्यक्त्व के होने पर जीव को वस्तुओं का यथार्थ दर्शन हो जाता है, उस समय इस आत्मा को अत्यन्त तात्त्विक आनन्द होता है जैसे कि औषधि के सेवन से व्याधि के दूर हो जाने पर वह व्यक्ति आनन्द का अनुभव करता है तथा –

तं कालं बीयठिइं तिहाणुभागेणं (भागं तु) देसघाइत्थ।
सम्मत्तं सम्मिस्सं मिच्छत्तं सव्वघाईओ॥ १९॥

शब्दार्थ – **तं काल** – उस समय, **बीयठिइं** – दूसरी स्थिति के दलिक को, **तिहाणुभागेणं**– अनुभाग भेद तीन प्रकार के, **देसघाइ** – देशघाति, **त्थ** – उसमें, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व, **सम्मिस्सं** – मिश्र सहित, **मिच्छत्तं** – मिथ्यात्व, **सव्वधाईओ** – सर्वघाति।

गाथार्थ – उस समय (मिथ्यात्व क्षय के समय) अनुभाग (रस) भेद से दूसरी स्थिति के दलिक को तीन प्रकार का करता है। उसमें सम्यक्त्वमोहनीय भाग देशघाती है और मिश्र और मिथ्यात्व सर्वघाती है।

विशेषार्थ – उस काल में अर्थात् जिसके अनन्तर समय में औपशमिक सम्यग्दृष्टि होगा, उस प्रथमस्थिति के चरम समय में मिथ्यादृष्टि रहता हुआ भी द्वितीयस्थितिगत दलिक के अनुभाग को भेदन करके तीन प्रकार का करता है, यथा -- शुद्ध, अर्ध शुद्ध और अशुद्ध। इनमें सम्यक्त्व भाग शुद्ध है और वह देशघाती रस से युक्त होने के कारण देशघाती है। सम्यग्मिथ्यात्व भाग अर्द्धविशुद्ध है और वह सर्वघाती रस से संयुक्त होने के कारण सर्वघाती है तथा मिथ्यात्व अशुद्ध है और वह भी सर्वघाती है। इसी बात का संकेत करने के लिये गाथा में 'सम्मिस्सं–संमिश्र' पद दिया है अर्थात् मिश्रसहित मिथ्यात्व (सम्यग्मिथ्यात्व) सर्वघाती है तथा –

पढमे समए थोवो, सम्मत्ते मीसए असंखगुणो।
अणुसमयमवि य कमसो, भिन्नमुहुत्ता हि विज्झाओ॥ २०॥

शब्दार्थ – **पढमे समए** – प्रथम समय में, **थोवो** – स्तोक (अल्प) **सम्मत्ते** – सम्यक्त्व में, **मीसए** – मिश्र में, **असंखगुणो** – असंख्यात गुण, **अणुसमयमवि** – प्रतिसमय में, **य** – और, **कमसो** – अनुक्रम से, **भिन्नमुहुत्ता** – अन्तर्मुहूर्त तक, **हि** – तत्पश्चात्, **विज्झाओ** – विध्यात-संक्रम।

गाथार्थ – सम्यक्त्व प्राप्त करने के प्रथम समय में सम्यक्त्वमोहनीय में अल्प प्रदेशों का निक्षेप करता है और मिश्रमोहनीय में, असंख्यात गुणे प्रदेश निक्षिप्त करता है। इस प्रकार अनुक्रम से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रतिसमय प्रदेश निक्षेप करता है। तत्पश्चात विध्यातसंक्रम प्रवृत्त होता है।

विशेषार्थ – औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के प्रथम समय से लेकर मिथ्यात्व के दलिक को गुणसंक्रम के द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में संक्रमित करता है। संक्रमित करने की विधि इस प्रकार है कि –

प्रथम समय में सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति में अल्पदलिक निक्षिप्त करता है और उससे असंख्यात गुणित दलिक सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रमोहनीय) में निक्षिप्त करता है। उससे भी द्वितीय समय में सम्यक्त्वमोहनीय में असंख्यात गुणित दलिकों का और उससे भी द्वितीय समय में सम्यग्मिथ्यात्व में असंख्यात गुणित दलिकों का निक्षेप करता है। इस प्रकार प्रतिसमय क्रम से तब तक करता है, जब तक कि अन्तर्मुहूर्तकाल पूर्ण होता है। इसके पश्चात विध्यातसंक्रम (जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका है) प्रवृत्त होता है, तथा –

ठिइरसघाओ गुणसेढी वि य तावं पि आउवज्जाणं।
पढमठिइए एग-दुगावलिसेस त्ति मिच्छत्ते॥ २१॥

शब्दार्थ – **ठिइरसघाओ** – स्थितिघात, रसघात, **गुणसेढी** – गुणश्रेणी, **वि** – भी, **य** – और, **तावं पि** – तब तक, **आउवज्जाणं** – आयुकर्म को छोड़कर, **पढमठिइए** – प्रथमस्थिति में, **एगदुगावलिसेसत्ति** – एक और दो आवलि शेष रहने तक, **मिच्छत्ते** – मिथ्यात्व में।

गाथार्थ – गुणसंक्रमण के प्रवर्तमान काल तक आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों का स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणी भी प्रवृत्त होती है। प्रथमस्थिति में एक आवलिका के शेष रहने तक मिथ्यात्व का स्थितिघात और रसघात होता है और दो आवलि के शेष रहने पर गुणश्रेणी होती रहती है।

विशेषार्थ – जब तक गुणसंक्रमण होता है, तब तक आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणी होती है। गुणसंक्रम के निवृत्त हो जाने पर ये सभी निवृत्त हो जाते हैं और मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति में जब तक एक आवलिका शेष नहीं रहती है, तब तक मिथ्यात्व का स्थितिघात और रसघात होता रहता है। किन्तु एक आवलिका शेष रह जाने पर ये दोनों निवृत्त हो जाते हैं तथा प्रथमस्थिति में जब दो आवलि शेष नहीं रहती है तब तक मिथ्यात्व की गुणश्रेणी ही रहती है किन्तु दो आवलिका शेष रह जाने पर गुणश्रेणी निवृत्त हो जाती है।

इस प्रकार अन्तरकरण में प्रविष्ट हुआ वह जीव प्रथमसमय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक औपशमिक सम्यग्दृष्टि रहता है। तत्पश्चात् अब उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य को बतलाते हैं –

उवसंतद्धा अंते, विहिणा ओकड्डियस्स दलियस्स।
अज्झवसाणणुरूवस्सुदओ तिसु एक्कयरयस्स॥ २२॥

शब्दार्थ – **उवसंतद्धा** – उपशान्तद्धा, **अंते** – अंतिम समय में, **विहिणा** – विधि से, **ओकड्डियस्स** – अपकर्षित, **दलियस्स** – दलिक की, **अज्झवसाणाणुरूवस्स** – अध्यवसायानुरूप, **उदओ** – उदय, **तिसु** – तीन में से, **एक्कयरयस्स** – किसी एक का।

गाथार्थ – उपशान्तद्धा की अंतिम समयाधिक आवलिका में अपकर्षित दलिक की विधिपूर्वक निषेकरचना करता है और उसके पश्चात् अध्यवसायानुरूप उन तीन भेदों में से किसी एक का उदय हो जाता है।

विशेषार्थ – औपशमिक काल के अन्त में आवलिका काल शेष स्थिति में वर्तमान वह सम्यक्त्वी जीव द्वितीय स्थितिगत सम्यक्त्व आदि तीनों ही पुंजों के दलिकों को अध्यवसाय विशेष से आकर्षित कर अन्तरकरण की अंतिम आवलि में प्रक्षिप्त करता है तब प्रथमसमय में बहुत दलिक प्रक्षिप्त करता है। द्वितीय समय में उससे अल्प दलिक और तृतीय समय में उससे भी अल्पतर दलिक निक्षिप्त करता है। इस प्रकार तब तक निक्षिप्त करता है जब तक कि आवलिका का चरम समय प्राप्त होता है। इस प्रकार निक्षिप्त किये गये ये दलिक गोपुच्छ के आकार से स्थित होते हैं। तब अन्तरकरण का आवलिका मात्र काल शेष रहने पर उन तीनों पुंजों में से किसी एक दलिक (पुंज) का उदय होता है।

प्रश्न – किस प्रकार के दलिक का उदय होता है ?

उत्तर – अध्यवसाय के अनुरूप दलिक का उदय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि उस समय शुभ परिणाम है तो सम्यक्त्वदलिक का उदय होगा। यदि मध्यम परिणाम है तो सम्यग्मिथ्यात्वदलिक का और यदि जघन्य परिणाम है तो मिथ्यात्वदलिक का उदय होता है। तथा –

सम्मत्तपढमलंभो, सव्वोवसमा तहा विगिट्ठो य।
छालिगसेसाए परं, आसाणं कोइ गच्छेज्जा॥ २३॥

शब्दार्थ – **सम्मत्तपढमलंभो** – सम्यक्त्व का प्रथम लाभ, **सव्वोवसमा** – सर्वोपशमना, **तहा** – तथा, **विगिट्ठो** – वृहत् स्थिति वाला, **य** – और, **छालिगसेसाए परं** – छह आवलिका काल शेष रहने पर, **आसाणं** – सास्वादन गुणस्थान को, **कोइ** – कोई, **गच्छेज्जा** – प्राप्त होता है।

गाथार्थ – औपशमिक सम्यक्त्व का प्रथम लाभ मिथ्यात्व की सर्वोपशमना से होता है और अपेक्षाकृत वृहत् स्थिति वाला होता है। छह आवलिका काल शेष रहने पर कोई जीव सास्वादन गुणस्थान को भी प्राप्त होता है।

विशेषार्थ – इस औपशमिक सम्यक्त्व का प्रथम लाभ मिथ्यात्व के सर्वोपशम से होता है, अन्य प्रकार से नहीं तथा यह प्रथम सम्यक्त्व का लाभ प्रथमस्थिति की अपेक्षा विप्रकर्ष - वृहत्तर

अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण होता है। इस सम्यक्त्व के प्राप्त कर लेने पर कोई जीव सम्यक्त्व के साथ देशविरति को अथवा सर्वविरति को प्राप्त होता है। शतक वृहच्चूर्णि में कहा भी है –

"उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणट्ठिओ कोइ देसविरयं पि लभेई कोई पमत्तपमत्तभावं पि सासायणो पुण न किं पि लहेइत्ति"

अर्थात् अंतरकरण में स्थित कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि देशविरत को भी प्राप्त करता है, और कोई प्रमत्त अप्रमत्त भाव को भी प्राप्त करता है, किन्तु सास्वादन गुणस्थान वाला इनमें से कुछ भी प्राप्त नहीं करता।

लेकिन औपशमिक सम्यक्त्व के काल में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका काल शेष रहने पर कोई जीव सास्वादनभाव को प्राप्त होता है। उसके अनन्तर वह नियम से मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है।

अब सम्यग्दृष्टि का स्वरूप (विशेषता) बतलाते हैं –

सम्मद्दिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु[1] सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भावं, अजाणमाणो, गुरुनियोगा॥ २४॥

शब्दार्थ – **सम्मद्दिट्ठी** – सम्यग्दृष्टि, **जीवो** – जीव, **उवइट्ठं** – उपदिष्ट, **पवयणं** – प्रवचन का, **तु** – भी, **सद्दहइ** – श्रद्धान करता है, **सद्दहइ** – श्रद्धान करता है, **असब्भावं** – असद्भाव को, **अजाणमाणो** – नहीं जानता हुआ, **गुरुनियोगा** – गुरु के नियोग से।

गाथार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव गुरु के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है और तत्त्व को नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भाव की भी श्रद्धा करता है।

विशेषार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव गुरु के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का नियम से यथावत श्रद्धान करता है और यदि वह सम्यग्दृष्टि जीव असद्भाव अर्थात् असद्भूत प्रवचन की श्रद्धा भी करता है तो वह अवश्य ही स्वयं नहीं जानते हुए अर्थात् सम्यक् परिज्ञान से रहित होता हुआ करता है। अथवा उस प्रकार के सम्यक् परिज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि (जमालि सदृश्) गुरु के नियोग आज्ञा की परतंत्रता से विपरीत श्रद्धान करता है, अन्यथा नहीं।

अब मिथ्यात्व के स्वरूप का कथन करते हैं –

---

१. गाथा में पठित यह 'तु' शब्द एक विशेष आशय का द्योतक है कि कदाचित् सम्यग्दृष्टि असद्भूतत्व की श्रद्धा करता है तो अनजान स्थिति में या सुगुरु का योग न मिलने पर।

मिच्छादिट्ठी नियमा, उवइट्ठं पवयणं न सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भावं, उव्वइट्ठं वा अणुवइट्ठं॥ २५॥

शब्दार्थ – **मिच्छादिट्ठी** – मिथ्यात्व दृष्टि, **नियमा** – नियम से (निश्चित रूप से), **उवइट्ठं**– उपदिष्ट, **पवयणं** – प्रवचन को, **न** – नहीं, **सद्दहइ** – श्रद्धान करता है, **सद्दहइ** – श्रद्धान करता है, **असब्भावं** – असद्भूत अर्थ के, **उव्वइट्ठं** – उपदिष्ट, **वा** – अथवा, **अणुवइट्ठं** – अनुपदिष्ट।

गाथार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव नियम से जिनोपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है, किंतु अन्य के द्वारा उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असद्भूत अर्थ की श्रद्धा करता है।

विशेषार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव गुरुजनों के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का नियम से (निश्चित रूप से) श्रद्धान नहीं करता है। अर्थात् उसे सम्यक् भाव से आत्मा में परिणत नहीं करता है। यदि उपदिष्ट या अनुपदिष्ट प्रवचन की श्रद्धा भी करता है तो असद्भूत अर्थात् मिथ्यारूप तत्त्व की ही श्रद्धा करता है, यथार्थ तत्त्व की श्रद्धा नहीं करता है।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) की स्थिति बतलाते हैं –

सम्मामिच्छद्दिट्ठी,सागारे वा तहा अणागारे।
अहवंजणोग्गहम्मि य सागारे होइ नायव्वो॥ २६॥

शब्दार्थ – **सम्मामिच्छद्दिट्ठी** – सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि), **सागारे** – साकारोपयोग में, **वा** – अथवा, **तहा** – तथा, **अणागारे** – अनाकार उपयोग में, **अह** – यदि, **वंजणोग्गहम्मि** – व्यंजनावग्रह में, **य** – और, **सागारे** – साकार उपयोग में, **होइ** – होता है, **नायव्वो** – जानना चाहिये।

गाथार्थ – सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव साकार अथवा अनाकार उपयोग में वर्तमान होता है। यदि साकारोपयोग में हो तो व्यंजनावग्रह में वर्तमान जानना चाहिये।

विशेषार्थ – सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव किस उपयोग में वर्तमान रहता है ? यदि इसका चिंतन किया जाये तो वह साकारोपयोग में भी रहता है अथवा अनाकारोपयोग में भी रहता है। यदि साकारोपयोग में वर्तमान हो तो व्यवहारिक अव्यक्त ज्ञानरूप व्यंजनावग्रह में ही रहता है, अर्थावग्रह में नहीं। क्योंकि संशयज्ञानी के समान सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव जिनप्रवचन के अनुराग और विद्वेष से रहित कहा गया है, किन्तु सम्यक् निश्चय ज्ञानी (जिन प्रवचन के अनुराग से विकल) नहीं होता है और संशयज्ञानी की समानता व्यंजनाग्रह में ही संभव है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के उत्पाद की प्ररूपणा जानना चाहिये।

चारित्रमोहनीय उपशमना

अब चारित्रमोहनीय की उपशमना का विचार करते हैं। उसमें भी सर्वप्रथम जो जीव चारित्रमोहनीय की उपशमना का आरम्भ करता है, उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं –

वेयगसम्मद्दिट्ठी, चरित्तमोहुवसमाए चिट्ठंतो (चेट्ठंतो)।
अजउ देसजई वा, विरतो व विसोहिअद्धाए॥ २७॥

शब्दार्थ – वेयगसम्मद्दिट्ठी – वेदकसम्यग्दृष्टि, **चरित्तमोहुवसमाए** – चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिये, **चिट्ठंतो (चेट्ठंतो)** – उद्यत होता है, **अजउ** – अविरत, **देसजई** – देशविरत, **वा** – अथवा, **विरतो** – सर्व विरत, **व** – और, **विसोहिअद्धाए** – विशुद्धिअद्धा में (विशुद्धि काल में)।

गाथार्थ – अविरत, देशविरत, अथवा सर्वविरत और विशुद्धि के काल में वर्तमान ऐसा वेदक सम्यग्दृष्टि 'क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि' चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिये उद्यत होता है।

विशेषार्थ – चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिये चेष्टा करता - प्रयत्न करता है। कौन प्रयत्न करता है ? तो बतलाते हैं कि वेदकसम्यग्दृष्टि अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहनीय कर्म की उपशमना के लिये चेष्टा अर्थात् प्रयत्न करता है। किन्तु पूर्ववर्णित और औपशमिक सम्यक्त्व से युक्त जीव प्रयत्न नहीं करता है। वह वेदकसम्यग्दृष्टि, अविरत, देशविरत अथवा सर्वविरत होता है। इन तीनों ही प्रकार के जीवों के प्रत्येक के दो दो अद्धा काल होते हैं – संक्लेश-अद्धा और विशुद्धि-अद्धा। इनमें से विशुद्धि-अद्धा में वर्तमान जीव ही चारित्रमोहनीय के उपशमन के लिये यत्न करता है, संक्लेश अद्धा में वर्तमान जीव नहीं करता है।

अविरत, देशविरत और सर्वविरत के लक्षण इस प्रकार हैं –

अण्णाणाण - प्भुवगम - जयणाहजओ अवज्जविरईए।
एगव्वयाइ चरिमो, अणुमइमित्तो त्ति देसजई॥ २८॥
अणुमइविरओय जई, दोण्ह वि करणाणि दोण्हि न उ तईयं।
पच्छा गुणसेढी सिं तावइया आलिगा उप्पिं॥ २९॥

शब्दार्थ – अण्णाणाण - प्भुवगम – जयणाहजओ – अज्ञान, अनुभ्यपगम और अयतना द्वारा अविदित होता है, **अवज्जविरईए** – पाप की विरति से, **एगव्वयाइ** – एक व्रत ग्रहणादि से, **चरिमो** – अंतिम, **अणुमइमित्तो त्ति** – अनुमति मात्र तक, **देसजई** – देशविरत।

अणुमइविरओय – अनुमति मात्र से विरत, **जई** – सर्वविरत, **दोण्ह वि** – दोनों के, **करणाणि** – करण, **दोण्हि** – दोनों, **न उ तईयं** – तीसरा नहीं, **पच्छा** – बाद में, **गुणसेढी** – गुणश्रेणी, **सिं** – उनके, **तावइया** – उतने ही प्रमाण वाली, **आलिगा (उदय)** – आवलिका से, **उप्पिं** – ऊपर।

गाथार्थ – अज्ञान, अनभ्युपगम और अयतना द्वारा अविरत होता है। एक व्रत आदि से लेकर अंतिम अनुमति मात्र देने तक पाप की विरति वाला देशविरत जानना चाहिये और जो अनुमति मात्र से भी विरत है वह सर्वविरम यति है। इन दोनों भावों में देशविरत सर्वविरत यति, आदि के दो करण होते हैं, तीसरा नहीं। पश्चात् उन दोनों के गुणश्रेणी उतने ही प्रमाण वाली होती है, किन्तु उदयावलिका से ऊपर जानना चाहिये।

विशेषार्थ – जो व्रतों को न जानता है, न स्वीकार करता है और न उनके पालन के लिये प्रयत्न करता है, वह अज्ञान, अनभ्युपगम और अयतना से अविरत है। इन तीनों पदों से आठ भंग होते हैं।[१] इनमें से आदि के सात भंगों में नियम से अविरत धुणाक्षर न्यास से व्रतों को पालता भी है, तो भी वे फल वाले नहीं होते हैं। किन्तु सम्यग्ज्ञान और सम्यग्प्रकार से ग्रहणपूर्वक ही पालन किये गये व्रत फल देने वाले होते हैं। इन आठ भंगों में से आदि के चार भंगों में सम्यग्ज्ञान का अभाव हैऔर आगे के तीन भंगों में सम्यग्ग्रहण है किन्तु सम्यक्परिपालन का अभाव है। इसलिये आदि के इन सात भंगों में वर्तमान जीव नियम से अविरत है और अंतिम अष्टम भंग में वर्तमान जीव देशविरत है। क्योंकि उसके अवद्य अर्थात् पाप की एकदेश विरति पाई जाती है।

वह देशविरत (श्रावक) एक व्रतादि अर्थात् एक व्रत ग्राही भी होता है, दो व्रत ग्राही भी होता है, इस प्रकार यावत् चरम अनुमति मात्र प्रतिसेवी तक देशविरत जानना चाहिये। उस अनुमति मात्र प्रतिसेवी ने शेष सकल पाप त्याग दिये हैं। अनुमति तीन प्रकार की जानना चाहिये –

१. प्रतिसेवानुमति, २. प्रतिश्रवणानुमति और ३. संवासानुमति। इनके लक्षण इस प्रकार हैं –

१. जो स्वयं या दूसरों के द्वारा किये गये पाप की प्रशंसा करता है अथवा सावद्य आरंभ से उत्पन्न भोजनादि का उपभोग करता है, तब उसके प्रतिसेवनानुमति जानना चाहिये **यः स्वयं परैर्वा कृतं पापं श्लाघते सावद्यारंभोपपन्नं वाऽशनाद्युपभुंक्ते तदा तस्य प्रतिसेवनानुमतिः।**

२. जब वह पुत्रादिकों के द्वारा किये गये पाप को सुनता है और सुन कर अनुमोदन करता है, किन्तु निषेध नहीं करता है, तब प्रतिश्रवणानुमति कहलाती है, ... **पुत्रादिभिः कृतं पापं शृणोति**

---

१. इन आठ भंगों के नाम और स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखिये।

श्रुत्वाचानुमनुते, न च प्रतिषेधति तदा प्रतिश्रवणानुमतिः।

३. जब सावद्य आरंभ में प्रवृत्त पुत्रादिकों में केवल ममत्व मात्र से युक्त रहता है, अन्य कुछ भी पाप की बात न सुनता है और न प्रशंसा करता है, तब संवासानुमति होती है – **यदा पुनः सावद्यारंभ प्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्र युक्तो भवति नान्यत् किंचित् प्रतिशृणोति श्लाघते वा तदा संवासानुमतिः।**

उक्त तीनों अनुमतियों में से जो केवल संवासानुमति को ही सेवन करता है, वह उत्कृष्ट देशविरत है और वह अन्य सर्वश्रावकों के गुणों में उत्तम है।

जो संवासानुमति से भी विरत हो जाता है, वह यति (सर्वविरत) कहलाता है।

प्रश्न – देशविरति और सर्वविरति काल का लाभ कैसे होता है ?

उत्तर – 'दोण्ह वि' इत्यादि अर्थात् देशविरत और सर्वविरति इन दोनों की ही प्राप्ति में यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण नामक दो करण होते हैं, तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं होता है।

प्रश्न – इसका कारण क्या है ?

उत्तर – इसका कारण यह है कि यहां करणकाल से भी पहले अन्तर्मुहूर्त तक प्रतिसमय अनन्तगुणी वृद्धि वाली विशुद्धि से प्रवर्धमान जीव अशुभ कर्मों के अनुभाग को द्विस्थानक करता है। यह यथाप्रवृत्तकरण के प्रारंभ के पूर्व तक कहना चाहिये। और वह यथाप्रवृत्तकरण भी इसी प्रकार जानना चाहिये। तत्पश्चात् अपूर्वकरण करता है। विशेष यह है कि यहां गुणश्रेणी नहीं होती है। अपूर्वकाल के समाप्त हो जाने पर अनन्तर समय में वह नियम से देशविरति को या सर्वविरति को प्राप्त कर लेता है। इसलिये वह तीसरे अनिवृत्तिकरण को नहीं करता है। इसके साथ ही यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि पूर्वोक्त दोनों करणों को अविरत करता है तो देशविरति अथवा सर्वविरति को प्राप्त करता है और यदि देशविरत दोनों करणों को करता है तो सर्वविरति को ही प्राप्त करता है। तदनन्तर–

'पच्छा' इत्यादि अर्थात् दोनों करणों के बीत जाने पर बाद में देशविरति या सर्वविरति को प्राप्त होता हुआ उदयावलिका के ऊपर गुणश्रेणी की रचना करता है और उसे उतना ही अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रतिसमय दलिकरचना का आश्रय लेकर असंख्यातगुणी वृद्धि वाली रचता है तथा देशविरत अथवा सर्वविरत जीव अपनी देशविरति या सर्वविरति को प्राप्त करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त काल तक अवश्य ही प्रवर्धमान परिणाम वाला होता है। उसके ऊपर कोई नियम नहीं है। कोई प्रवर्धमान परिणाम वाला होता है, कोई स्वभावस्थ या हीन परिणाम वाला हो जाता है। इनमें स्वभावस्थ या हीन परिणाम वाले देशविरत या सर्वविरत में स्थितिघात और रसघात नहीं होते हैं। तथा –

परिणामपच्चया उ, णाभोगगया गया अकरणा उ।
गुणसेढी सिं निच्चं, परिणामा हाणिवुड्ढिजुया॥ ३०॥

शब्दार्थ – **परिणामपच्चया** – परिणाम प्रत्यय (हेतु) से, **उ** – तथा, **णाभोगगया** – अनाभोगपने से, **गया** – गिरते हैं, **अकरणा** – करण किये बिना, **उ** – ही, **गुणसेढी** – गुणश्रेणी, **सिं** – उनके, **निच्चं** – नित्य, सदैव, **परिणामा** – परिणाम वाली, **हाणिवुड्ढिजुया** – हानिवृद्धि युक्त।

गाथार्थ – तथा परिणाम रूप प्रत्यय से अनाभोगपने से देशविरति आदि भावों से जो जीव गिरते हैं, वे करण किये बिना उस भाव को प्राप्त करते हैं। उनको हानि-वृद्धि युक्त परिणाम वाली सदैव गुणश्रेणी होती रहती है।

विशेषार्थ – परिणामों के प्रत्यय से अर्थात् परिणामों के ह्रास के कारणों से जो अनाभोगगत अर्थात् आभोगरहित हो कर देशविरति परिणाम से अथवा सर्वविरति परिणाम से गिर जाते हैं वे अकरण अर्थात् यथाप्रवृत्त आदि करणों से रहित हो पुनः उस पूर्वप्रतिपन्न (प्राप्त) देशविरति या सर्वविरति को प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि –

आभोग के बिना कथंचित् परिणामों के ह्रास से जो देशविरत जीव अविरत को प्राप्त होते हैं वे परिणामों की विशुद्धि के वश पुनः भी उस पूर्व स्वीकृत देशविरति या सर्वविरति को प्राप्त हुए करण के बिना ही प्राप्त होते हैं। किन्तु जो आभोग से अभिसंधिपूर्वक देशविरति से या सर्वविरति से पतित होते हैं और आभोगपूर्वक ही मिथ्यात्व को प्राप्त होते हैं, वे जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा और उत्कृष्ट से बहुत काल द्वारा देशविरति अथवा सर्वविरति को प्राप्त करने के इच्छुक हों तो पूर्वोक्त प्रकार से तीनों करणों पूर्वक ही प्राप्त होते हैं तथा जब तक वे जीव देशविरति को, सर्वविरति को पालन करते हैं, तब तक समय समय में गुणश्रेणी को भी करते हैं।

यहां विशेष बात यह है कि प्रवर्धमान परिणाम वाला जीव अपने अपने परिणामों के अनुसार कदाचित् असंख्यात भाग अधिक, कदाचित् संख्यात गुणवाली, कदाचित् असंख्यात गुणवाली गुणश्रेणी को करते हैं एवं हीयमान परिणाम वाला तो उक्त प्रकार से हीयमान गुणश्रेणी को करता है और अवस्थित परिणाम वाला अवस्थित परिणाम तक गुणश्रेणी को करता है। यह गुणश्रेणी प्रदेशदलिकों की अपेक्षा जानना चाहिये। लेकिन काल की अपेक्षा तो सर्वदा उतने ही प्रमाण वाली होती है और नीचे, क्रम से दलिकों को अनुभव करते हुए क्षय को प्राप्त होने वाले समयों में वह ऊपर ऊपर बढ़ती है। इस प्रकार देशविरति लाभ और सर्वविरति लाभ का आशय जानना चाहिये।

अनन्तानुबंधी - विसंयोजना

अब अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना की प्ररूपणा करते हैं।

प्रश्न – यहां चारित्र मोहनीय की उपशमना के अधिकार में अनन्तानुबंधी की विसंयोजना का विचार किसलिये किया जा रहा है ?

उत्तर – इसका कारण यह है कि जो जीव चारित्रमोहनीय का उपशम प्रारम्भ करता है, वह उसके पूर्व अवश्य ही अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करता है, इसलिये उसकी विसंयोजना का विचार किया जाना आवश्यक है। जो उपशमश्रेणी को प्राप्त नहीं भी हो रहे हैं ऐसे चतुर्गति के वेदकसम्यग्दृष्टि जीव भी अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हैं। इसी बात को अब आगे स्पष्ट करते हैं –

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संयोयणा विजोयंति।

करणेहिं तीहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा॥ ३१॥

शब्दार्थ – **चउगइया** – चारों गति के, **पज्जत्ता** – पर्याप्त, **तिन्नि वि** – अविरत आदि तीनों ही, **संयोयणा** – संयोजना (अनन्तानुबंधी) की, **विजोयंति** – विसंयोजना करते हैं, **करणेहिं**– करणों, **तीहिं** – तीनों, **सहिया** – सहित, **नंतरकरणं** – अन्तरकरण नहीं, **उवसमो** – उपशम, **वा**– परन्तु।

गाथार्थ – चारों गति के पर्याप्तक अविरत आदि तीनों ही तीनों करणों के साथ संयोजना की विसंयोजना करते हैं। किन्तु अन्तरकरण और उपशम नहीं करते हैं।

विशेषार्थ – चारों गति के अर्थात् नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव जो सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त हैं और अविरत, देशविरत और सर्वविरत इन तीनों ही पद को प्राप्त हैं, वे अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हैं। इनमें अविरत सम्यग्दृष्टि तो चारों गति के , देशविरत, तिर्यंच और मनुष्य गति के और सर्वविरत - मनुष्य गति के ही जीव संयोजना की अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना अर्थात् विनाश करते हैं।

प्रश्न – किस विशेषता से युक्त होते हुए विसंयोजना करते हैं ?

उत्तर – 'करणेहिं तीहिं सहिया' अर्थात् तीनों करणों[१] से युक्त होकर विसंयोजना करते हैं। तीनों करणों की व्याख्या पूर्ववत् जाननी चाहिये। विशेष यह है कि यहां अंतरकरण की क्रिया नहीं होती है और उपशम नहीं होता है। क्योंकि अनन्तानुबंधी कषायों का उपशम नहीं होता है। इसका

---

१. यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण।

भावार्थ यह है कि –

जो जीव अनन्तानुबंधी का क्षपण प्रारम्भ करते हैं वे जीव यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों को प्रारम्भ करते हैं। विशेष यह है कि यहां पर अपूर्वकरण में प्रथम समय से ले कर अनन्तानुबंधी कषायों का गुणसंक्रम होना समझना चाहिये। वह इस प्रकार कि अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबंधी कषायों के अल्प दलिकों को संक्रमाता है, द्वितीय समय में उससे भी असंख्यातगुणित दलिकों को संक्रमाता है, तृतीय समय में उससे भी असंख्यातगुणित दलिकों को संक्रमाता है। यह तब तक जानना चाहिये जब तक अपूर्वकरण का चरम समय आता है। यही अनन्तानुबंधी कषायों का गुणसंक्रम है। पुनः अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होता हुआ पूर्वोक्त स्वरूप से उद्वलनासंक्रमण के द्वारा सम्पूर्ण अनन्तानुबंधीकषायों के दलिकों का विनाश करता है, किन्तु अधःस्तन आवलिका मात्र दलिकों को छोड़ देता है। उन्हें भी स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा वेद्यमान प्रवृत्तियों में संक्रमाता है। तब अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अनिवृत्तिकरण का अंत हो जाने पर शेष कर्मों का स्थितिघात रसघात और गुणश्रेणी नहीं होती है, किन्तु वह स्वभावस्थ ही रहता है।

इस प्रकार अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना जानना चाहिये। किन्तु जो आचार्य अनन्तानुबंधी कषायों की भी उपशमना मानते हैं, उनके मत से उपशमना की विधि षड्शीति की टीका से जानना चाहिये।[१]

दर्शनमोहनीय क्षपणा

अब दर्शनमोहनीय की क्षपणा की विधि का विवेचन करते हैं –

दंसणमोहे वि तहा, कयकरणद्धाए पच्छिमे होइ।
जिणकालगो मणुस्सो पट्ठवगो अट्ठवासुप्पिं॥ ३२॥

शब्दार्थ – **दंसणमोहे** – दर्शनमोहनीय में, **वि** – भी, **तहा** – उसी तरह, **कयकरणद्धाए**– कृतकरण अद्धा में, **पच्छिमे** – अंतिम खंड, **होइ** – होता है, **जिणकालगो** – जिनकालिक, **मणुस्सो** – मनुष्य, **पट्ठवगो** – प्रस्तावक, **अट्ठवासुप्पिं** – आठ वर्ष से ऊपर (अधिक)।

गाथार्थ – दर्शनमोहनीय की क्षपणा में भी उसी तरह पूर्ववत् क्रम है। विशेष यह है कि आठ वर्ष की आयु से ऊपर जिनकालिक मनुष्य इसका प्रस्थापक होता है और अंतिम खंड क्षपण करते हुए कृतकरणाद्धा में वर्तमान होता है।

विशेषार्थ – दर्शनमोहनीय की क्षपण का प्रस्थापक अर्थात् आरम्भ करने वाला जिनकालिक

१. षड्शीति टीकागत अनन्तानुबंधी की उपशमना का सारांश परिशिष्ट में देखिये।

अर्थात् तीर्थंकरों के समय में उत्पन्न हुआ मनुष्य ही होता है। (ऋषभ जिन के विचरण काल से ले कर जम्बूस्वामी के केवलोत्पत्ति लाभ तक का समय जिनकाल जानना चाहिये) तथा यह आठ वर्ष की अवस्था से ऊपर वर्तमान और वज्रऋषभनाराच संहनन वाला होता है। दर्शनमोहनीय की क्षपणा भी उसी प्रकार से कहना चाहिये, जिस तरह से पहले अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना का कथन किया गया है। वहां पर यद्यपि सामान्य से ही कथन किया गया है, लेकिन यहां पर कुछ विशेष रूप से कथन करते हैं –

यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृतितकरण ये तीनों ही करण क्षपण के लिये भी किये जाते हैं, जिनका विधान पहले के समान ही कहना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि केवल अपूर्वकरण के प्रथम समय में, उदय को प्राप्त नहीं हुए मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के दलिक गुणसंक्रमण के द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय में प्रक्षेपण करता है। इन दोनों ही प्रकृतियों का उद्वलना संक्रम भी इस प्रकार आरंभ करते हैं – प्रथम स्थिति खंड वृहत्तर उद्वलित करता है, उसके पश्चात् द्वितीय खंड विशेषहीन, उससे भी तृतीय खंड विशेषहीन उद्वलित करता हे। इस प्रकार अपूर्वकरण के चरम समय तक कहना चाहिये। अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो स्थितिसत्व होता है, वह उसी के चरम समय में संख्यात गुणहीन हो जाता है।

तत्पश्चात् वह अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। यहां पर भी स्थितिघात आदि सभी कार्यों को तथैव करता है। अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में दर्शनमोहनीय की तीनों ही प्रकृतियों की देश-उपशमना, निधत्ति और निकाचना विच्छिन्न हो जाती है और दर्शनमोहनीय त्रिक का स्थितिसत्व अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से ले कर स्थितिघात आदि के द्वारा घात किया जाता हुआ सहस्रों स्थितिखंडों के चले जाने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय के स्थितिसत्व के समान हो जाता है। तत्पश्चात् स्थितिखंड सहस्रपृथक्त्व जाने पर चतुरिन्द्रिय के स्थितिसत्व के समान हो जाता है। तत्पश्चात् पुनः उतने ही स्थितिखंडों के जाने पर त्रीन्द्रिय के स्थितिसत्व के समान हो जाता है। तत्पश्चात् पुनः उतने ही स्थितिखंडों के जाने पर द्वीन्द्रिय के स्थितिसत्व के समान हो जाता है। तत्पश्चात् पुनः उतने ही स्थितिखंडों के जाने पर एकेन्द्रिय के स्थितिसत्व के समान हो जाता है और तत्पश्चात् भी उतने ही स्थितिखंडों के जाने पर स्थितिसत्व पल्योपम मात्र प्रमाण वाला हो जाता है[1] तब एक संख्यातवां भाग शेष छोड़ कर तीनों दर्शनमोहनीयों का शेष समस्त स्थितिसत्व विनष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् उस पूर्व उक्त संख्यातवें भाग के भी एक संख्यातवें भाग को छोड़कर शेष संख्यात बहुभागों का विनाश करता

१. यह कथन चूर्णिकार के मत से जानना चाहिये। किन्तु पंचसंग्रह के मतानुसार पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है। तथा– ठितिखंड सहस्साइं एक्केक्के अन्तरम्मि गच्छन्ति। पलिओवमसंखंसे दंसणसंते तओ जाए॥

है। इस प्रकार सहस्रों स्थितिघात व्यतीत होते हैं। तदनन्तर मिथ्यात्व के असंख्यात भागों को सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व के संख्यात भागों को खंडित करता है। इस प्रकार बहुत से स्थितिखंडों के व्यतीत होने पर उस समय मिथ्यात्व का दलिक आवलिका मात्र रह जाता है और सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व का दलिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाता है। इन खंडित किये जाने वाले मिथ्यात्व संबंधी स्थितिखंडों को सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व में तथा सम्यग्मिथ्यात्व संबंधी खंडों को सम्यक्त्व में प्रक्षिप्त करता है और सम्यक्त्व संबंधी स्थितिखंडों को नीचे स्वस्थान में प्रक्षिप्त करता है। मिथ्यात्व के आवलिका मात्र दलिकों को स्तिबुकसंक्रमण से सम्यक्त्व में प्रक्षिप्त करता है।

तदनन्तर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व के असंख्यातवें भागों को खंडित करता है, तब एक भाग अवशिष्ट रहता है और अवशिष्ट एक भाग के भी असंख्यातवें भागों को खंडित करता है। इस प्रकार कितने ही स्थितिखंडों के जाने पर सम्यग्मिथ्यात्व आवलिका मात्र रह जाता है। उस समय सम्यक्त्व का स्थितिसत्व आठ वर्ष प्रमाण रहता है। उसी काल में समस्त विघ्नों के दूर होने से निश्चय नय के मतानुसार वह दर्शनमोहनीय का क्षपक कहलाता है।

इससे आगे सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड को उत्कीर्ण करता है। उस दलिक को उदय समय से लेकर आगे के समयों में प्रक्षिप्त करता है तब केवल उदय समय में सबसे अल्प दलिक होता है। उससे द्वितीय समय में असंख्यात गुणित देता है, उससे भी तृतीय समय में असंख्यात गुणित देता है। इस प्रकार गुणश्रेणी के चरमान्त तक कहना चाहिये। उसके ऊपर विशेषहीन विशेषहीन चरम स्थिति तक देता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त वाले अनेक स्थितिखंडों को तब तक उत्कीर्ण करता है और निक्षिप्त करता है, जब तक कि द्विचरम स्थितिखंड प्राप्त होता है। द्विचरम स्थितिखंड से चरम स्थितिखंड संख्यात गुणा होता है। वह भी गुणश्रेणी के संख्यातवें भाग उनके दलिक को उत्कीर्ण कर उदय समय से लेकर असंख्यात गुणित रूप से प्रक्षिप्त करता है, यथा – उदय समय में अल्पदलिक देता है, उससे द्वितीय समय में असंख्यात गुणित देता है, उससे भी तृतीय समय में असंख्यात गुणित देता है। इस प्रकार गुणश्रेणी के शीर्ष तक कहना चाहिये। उसके ऊपर उत्कीर्यमान ही चरम स्थितिखंड होता है, इसलिये उसमें प्रक्षिप्त नहीं करता है।

चरम स्थितिखंड के उत्कीर्ण होने पर वह क्षपक कृतकरण इस शब्द से संबोधित किया जाता है। इसी का संकेत करने के लिये गाथा में कहा है – 'कयकरणद्धाए पच्छिमे होई' अर्थात् अंतिम चरम खंड के उत्कीर्ण होने पर कृतकरणाद्धा में रहता है यानि कृतकरण हो जाता है।

इस कृतकरणाद्धा में वर्तमान कोई जीव मरण करके चारों गतियों में से किसी एक गति में उत्पन्न होता है। वह पहले शुक्ललेश्या में था और मरण करके अब वह किसी एक लेश्या में जाता है।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रस्थापक मनुष्य होता है और निष्ठापक चारों ही गतियों में होता है। कहा भी है –

पट्ठवगो य मणुस्सो निट्ठवगो चउसु वि गईसु।

अर्थात् दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रस्थापक तो मनुष्य ही होता है, किन्तु निष्ठापक चारों ही गतियों में होता है।

प्रश्न – उक्त सातों प्रकृतियों का क्षपण करने वाला मनुष्य अन्य गति में जाता हुआ कितने समय में मोक्ष प्राप्त करता है ?

उत्तर – तीसरे या चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि–

यदि वह देवगति या नरकगति को जाता है तो देव भव से अन्तरित होकर या नरक भव से अन्तरित होकर तीसरे भव में मोक्ष प्राप्त करता है और यदि वह तिर्यंच या मनुष्यों में उत्पन्न होता है तो अवश्य ही असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिजों में उत्पन्न होता है, संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिजों में उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये उस भव के अनन्तर देवभव में जाता है और उस देवभव से च्युत होकर मनुष्यभव में आता है और उस भव से मोक्ष जाता है। इस प्रकार चौथे भव से मोक्ष-गमन होता है। कहा है कि –

तइय चउत्थे तम्मि व भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे।
जं देव निरइ असंखाउ चरमदेहेसु ते होंति॥

अर्थात् दर्शनमोहनीय के क्षीण हो जाने पर कोई चरम शरीरी मनुष्य उसी भव में सिद्ध हो जाता है, कितने ही जीव तीन भव में जो कि देव या नरक गति में जाते हैं और जो असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य या तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं, वे चौथे भव में सिद्ध होते हैं।

यदि क्षीणसप्तक पूर्वबद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उस समय मरण नहीं करता है तो बद्धायुष्क कोई जीव वेमानिक देवों में उत्पन्न होता है और चारित्रमोहनीय के उपशमन के लिये उद्यत होता है और यदि वह अबद्धायुष्क है तो उक्त सातों प्रकृतियों के क्षय करने के अनन्तर क्षपकश्रेणी को ही प्राप्त होता है।

अब उपशमश्रेणी को प्राप्त करने के इच्छुक का ही प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं –

अहवा दंसणमोहं, पुव्वं उवसामइत्तु सामन्ने।
पढमठिइमावलियं, करेइ दोण्हं अणुदियाणं॥ ३३॥

शब्दार्थ – **अहवा** – अथवा, **दंसणमोहं** – दर्शनमोहनीय को, **पुव्वं** – पूर्व में, **उवसामइत्तु**– उपशमित करके, **सामन्ने** – श्रमण पर्याय में, **पढमठिइं** – प्रथम स्थिति में, **आवलियं** – आवलिका प्रमाण, **करेइ** – करता है, **दोण्हं** – दोनों, **अणुदियाणं** – अनुदित प्रकृतियों की।

गाथार्थ – अथवा श्रमणपर्याय में पूर्व में दर्शनमोह को उपशमित करके दोनों अनुदित प्रकृतियों की प्रथम स्थिति आवलिका प्रमाण करता है।

विशेषार्थ – अथवा यानि प्रकारान्तर से इस मनुष्य भव में यदि वेदक सम्यग्दृष्टि होता हुआ उपशमश्रेणी को प्राप्त होता है तो नियम से दर्शनमोहनीयत्रिक को पहले उपशमाता है और वह श्रामण्य में श्रमण पर्याय में स्थित होता हुआ उपशमाता है, जैसा कि कहा है – श्रामण्य-संयम में स्थित होता हुआ पहले तीनों दर्शनमोहनीय कर्मों को उपशमाता है। यहां पर सभी उपशमना विधि पहले के समान तीन करणों के अनुसार जानना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि अन्तरकरण को करता हुआ अनुदित (उदय को नहीं प्राप्त) मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति आवलिका प्रमाण करता है और सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति को अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है। अन्तरकरण संबंधी तीनों ही कर्मों के उत्कीर्यमाण दलिक को सम्यक्त्व की प्रथमस्थिति में प्रक्षिप्त करता है। शेष वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिये।

दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम करके क्या करता है ? अब इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये कहते हैं –

अद्धापरिवित्तीओ, पमत्त इयरे सहस्ससो किच्चा।
करणाणि तिन्नि कुणए, तइयविसेसे इमे सुणसु॥ ३४॥

शब्दार्थ – **अद्धापरिवित्तीओ** – अद्धापरिवर्तनों को, **पमत्त** – प्रमत्त, **इयरे** – इतर (अप्रमत्त) में, **सहस्ससो** – हजारों, **किच्चा** – करके, **करणाणि** – करणों, **तिन्नि** – तीनों, **कुणए** – करता है, **तइय** – तीसरे, **विसेसे** – विशेषता, **इमे** – यह, **सुणसु** – सुनो।

गाथार्थ – प्रमत्त और अप्रमत्त भाव में हजारों अद्धा परिवर्तनों को करके तीनों करणों को करता है। तीसरे करण में जो विशेषता है, उसे सुनो।

विशेषार्थ – संक्लेश और विशुद्धि के वश प्रमत्तभाव में और इतर अर्थात् अप्रमत्तभाव में सहस्रों अद्धापरिवृत्ति अर्थात् काल परिवर्तन करके चारित्रमोहनीय के उपशमन के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों को करता है। उनका स्वरूप पूर्व के समान जानना चाहिये, लेकिन तीसरे अनिवृत्तिकरण में जो विशेषताएं हैं, उनको यथाक्रम से नीचे स्पष्ट करते हैं –

अंतोकोडाकोडी, संतं अनियट्टिणो य उदहीणं।
बंधो अन्तोकोडी, पुव्वकमा हाणि अप्पबहू॥ ३५॥

शब्दार्थ – **अंतोकोडाकोडी** – अंतः कोडाकोडी प्रमाण, **संतं** – सत्तास्थिति, **अनियट्टिणो**– अनिवृत्तिकरण में, **य** – और, **उदहीणं** – सागरोपम, **बंधो** – बंध, **अन्तोकोडी** – अन्तः कोटि सागरोपम, **पुव्वकमा** – पूर्व क्रम से, **हाणि** – हानि, **अप्पबहू** – अल्पबहुत्व।

गाथार्थ – अनिवृत्तिकरण में (आयु) को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थितिसत्ता अन्तःकोडाकोडी सागरोपम की होती है और बंध भी अंतःकोटि सागरोपम होता है। और पूर्वक्रम से उत्तरोत्तर दोनों हानि रूप होते हैं। इनका अल्पबहुत्व भी पूर्वक्रम से जानना चाहिये।

विशेषार्थ – अनिवृतिकरण के प्रथम समय आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों का स्थितिसत्व अंतःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण और बंध अंत कोडी सागरोपम प्रमाण होता है और यह बंध भी पूर्वक्रम से हानि रूप होता जाता है, यथा - एक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग से हीन अन्य स्थितिबंध को करता है, इत्यादि रूप से उत्तरोत्तर हीन हीन नवीन स्थितिबंध करता है।

बंधने वाले कर्मों के स्थितिबंध का अल्पबहुत्व भी पूर्व क्रम से ही जानना चाहिये, यथा – नाम और गोत्र कर्म में स्थितिबंध सबसे अल्प होता है, किन्तु स्वस्थान में दोनों का परस्पर तुल्य होता है। उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय का स्थितिबंध विशेषाधिक होता है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान होता है। उससे चारित्रमोहनीय का विशेषाधिक अधिक है। यह अल्पबहुत्व अनिवृत्तिकरण में सर्वकाल ही जानना चाहिये, जब तक कि यह गुणस्थान पूर्ण होता है।

ठिइकंडगमुक्कस्सं पि, तस्स पल्लस्स संखतम भागो।
ठिइबंधबहुसहस्से, सेक्केक्कं जं भणिस्सामो॥ ३६॥

शब्दार्थ – **ठिइकंडगं** – स्थिति कंडक, **उक्कस्सं** – उत्कृष्ट, **पि** – भी, **तस्स** – उसका, **पल्लस्स** – पल्योपम का, **संखतम भागो** – संख्यातवें भाग प्रमाण, **ठिइबंध** – स्थितिबंध, **बहुसहस्से** – बहुत से हजारों, **सेक्केक्कं** – एक एक कर्म का, **जं** – जो, **भणिस्सामो** – कहूंगा।

गाथार्थ – उसका उत्कृष्ट स्थितिकंडक भी पल्योपम का संख्यातवें भाग प्रमाण है। बहुत से हजारों स्थितिबंध व्यतीत होने पर (आयु को छोड़ कर) एक एक कर्म की जो भी विशेषता होती है उसे आगे कहेंगे।

विशेषार्थ – *उस अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट चारित्रमोहनीय के उपशम करने वाले जीव के* द्वारा घात किया जाने वाला उत्कृष्ट स्थितिकंडक पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है और

जघन्य भी उसके इतना ही होता है, लेकिन उत्कृष्ट स्थितिकंडक से वह जघन्य स्थितिकंडक अल्पतर जानना चाहिये। इसका आशय यह है कि अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट जीव का स्थितिघात उत्कृष्ट से भी पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण ही प्रवृत्त होता है, अधिक नहीं।

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में, उसके अप्रशस्त उपशमनाकरण, निघतिकरण और निकाचनाकरण विच्छिन्न हो जाते हैं। सहस्रों स्थितिघातों के व्यतीत होने पर बध्यमान प्रकृतियों का स्थितिबंध सागरोपम सहस्र पृथक्त्व प्रमाण रूप होता है। तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरण काल के संख्यातवें भागों के व्यतीत होने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय के बंध तुल्य स्थिति बंध होता है। तदनन्तर स्थितिखंड पृथक्त्व व्यतीत होने पर चतुरिन्द्रिय के बंध समान स्थितिबंध होता है। उसके पश्चात पुनः स्थितिखंड पृथक्त्व बीतने पर त्रीन्द्रिय के बंध तुल्य स्थितिबंध होता है। तत्पश्चात् इसी प्रकार स्थितिखंड पृथक्त्व के बीतने पर द्वीन्द्रिय के बंध तुल्य स्थितिबंध होता है। उसके पश्चात् भी इसी प्रकार स्थितिखंड पृथक्त्व के व्यतीत होने पर एकेन्द्रिय के स्थितिबंध समान स्थितिबंध होता है। उससे ऊपर सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर आयु को छोड़ कर सातों कर्मों का जो एक एक कार्य विशेष होता है, उसे आगे कहा जायेगा।

अब होने वाले उस विशेष को कथन करते हैं –

पल्लदिवड्ढविपल्लाणि, जाव पल्लस्स संखगुण हाणी।
मोहस्स जाव पल्लं, संखेज्जइ भागहाऽमोहा॥ ३७॥
तो नवरमसंखगुणा, एक्कपहारेण तीसगाणमहो।
मोहे वीसग हेट्ठा य, तीसगाणुप्पि तइयं च॥ ३८॥
तो तीसगाणमुप्पिं च, वीसगाइं असंखगुणणाए।
तईयं च वीसगाहि य, विसेसमहियं कमेणेति॥ ३९॥

शब्दार्थ – पल्ल – पल्योपम, **दिवड्ढ** – द्वि-अर्ध (डेढ), **विपल्लाणि** – दो पल्योपम, **जाव** – पर्यन्त, **पल्लस्स** – पल्योपम के, **संखगुणहाणी** – संख्यात गुणहीन, **मोहस्स** – मोहनीय का, **जाव** – पर्यन्त, **पल्लं** – पल्योपम, **संखेज्जइ** – संख्यात, **भागहा** – भागहीन हीनतर, **अमोहा**– मोहनीय के अतिरिक्त।

तो नवरं – तब विशेष, **असंखगुणा** – असंख्यात गुणा, **एक्कपहारेण** – एक प्रहार मात्र से, **तीसगाणं** – तीस कोडाकोडी सागरोपम वालों से, **अहो** – नीचे, **मोहे** – मोहनीय का, **वीसग**– बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों, **हेट्ठा** – नीचे, **य** – और, **तीसगाणुप्पि** – तीस कोडाकोडी सागरोपम वालों के ऊपर, **तइयं** – तीसरे, **च** – और।

तो – तत्पश्चात्, **तीसगाणमुप्पिं** – तीस कोडाकोडी सागरोपम से ऊपर, **च** – और, **वीसगाइं** – बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों का, **असंखगुणणाए** – असंख्यगुणहीन, **तईयं** – तीसरे, **च** – और, **वीसगाहि** – बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों से, **य** – और, **विसेसमहियं** – विशेषाधिक, **कमेणेति** – इसी क्रम से।

गाथार्थ – (नाम और गोत्र का) एक पल्योपम (ज्ञानावरण आदि चार कर्मों का) डेढ़ पल्योपम और (मोहनीय का) दो पल्योपम स्थितिबंध होता है। पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध होने तक संख्यात गुणहीन स्थितिबंध होता है। मोहनीय का पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध होने के पश्चात् संख्यात भागहीन स्थितिबंध होता है। तब विशेष यह है कि उस समय अमोह अर्थात् नाम गोत्र का असंख्यात गुणहीन स्थितिबंध होता है। उसके पश्चात् एक साथ ही तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण वाले चारों कर्मों के नीचे मोहनीय कर्म का स्थितिबंध असंख्यात गुणहीन स्थितिबंध होता है और तीसरे वेदनीयकर्म के स्थितिसत्व की अपेक्षा तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाले कर्मों से ऊपर स्थितिसत्व होता है। तदनन्तर तीस कोडाकोडी सागरोपम वाले कर्मों से ऊपर बीस कोडाकोडी सागरोपम वाले कर्मों का स्थितिसत्व होता है। उसके पश्चात् मोहनीय का असंख्यात गुणहीन स्थितिसत्व होता है और तीसरे वेदनीयकर्म का बीस कोडाकोडी स्थिति वाले कर्मों से ऊपर विशेषाधिक स्थितिसत्कर्म होता है।

विशेषार्थ – एक पल्योपम, डेढ़ पल्योपम दो पल्योपम यावत् पूर्व क्रम से ही हानि और अल्पबहुत्व होता है। जिसका आशय इस प्रकार है कि –

एकेन्द्रिय के समान बंध के अनन्तर सहस्रों स्थितिखंडों के बीतने पर नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबंध पल्योपम प्रमाण होता है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और वेदनीय कर्म का स्थितिबंध डेढ पल्य और मोहनीय का दो पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध होता है। यह पल्योपम डेढ पल्योपम आदि स्थितिबंध यावत् सभी प्राक्तन स्थितिबंध पूर्व पूर्व स्थितिबंध से पल्योपम के संख्यातवें भाग से उत्तरोत्तर हीन हीनतर जानना चाहिये तथा स्थितिसत्व का अल्पबहुत्व भी इसी प्रकार का होता है।

इन दोनों बातों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

'पल्लस्स संखगुणहाणित्ति' अर्थात् पल्योपम के नीचे स्थितिबंध संख्यात गुणहानि से होता है। यानि जिस कर्म का जब पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध होता है, उसका उस समय से लेकर आगे आगे अन्य अन्य स्थितिबंध संख्यात गुणहीन होता है। इसलिये उस समय नाम और गोत्र कर्म के पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध से अन्य स्थितिबंध संख्यात गुणाहीन करता है और शेष कर्मों का पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन स्थितिबंध करता है। इस प्रकार कितने ही स्थितिबंध सहस्रों के बीत जाने पर

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म का स्थितिबंध पल्योपम प्रमाण होता है और मोहनीय का डेढ पल्योपम प्रमाण होता है। तत्पश्चात् ज्ञानावरणादि कर्मों का अन्य स्थितिबंध संख्यात गुणहीन होता है और मोहनीय का संख्यात भागहीन स्थितिबंध होता है। इससे आगे सहस्रों स्थितिबंधों के बीतने पर मोहनीय का स्थितिबंध पल्योपम प्रमाण होता है। पुनः मोहनीय का अन्य स्थितिबंध संख्यात गुणहीन होता है और उस समय शेष कर्मों का स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है। अब इस स्थान पर अल्पबहुत्व का विचार किया जाता है –

नाम और गोत्र का स्थितिसत्व सबसे अल्प है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्म का स्थितिसत्व संख्यातगुणा है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। उससे भी मोहनीय का स्थितिसत्व संख्यातगुणा है और 'मोहस्स जाव पल्ल संखिज्जभागहत्ति' अर्थात् जब तक मोहनीय का स्थितिबंध पल्योपम प्रमाण नहीं होता है तब तक पूर्ववर्ती सभी मोहनीय का स्थितिबंध पल्योपम के संख्येयतम भाग से हीन हीनतर जानना चाहिये। पल्योपम मात्र स्थितिबंध पर अन्य स्थितिबंध संख्यातगुणहीन करता है, यह पहले कहा जा चुका है। इस संख्यात गुणहीन मोहनीय के स्थितिबंध से बहुत से स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर मोहनीय का भी स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण हो जाता है।

उस समय यह कार्य विशेष होता है – 'अमोहा तो नवरमसंखिज्जगुणत्ति' अर्थात् अमोह यानी मोहनीय को छोड़ कर नाम और गोत्र का ग्रहण करना चाहिये। जिसका आशय यह है कि सभी कर्मों का स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण होने पर मोह के सिवाय नाम और गोत्र के असंख्यात गुणहीन अन्य स्थितिबंध को आरम्भ करता है, किन्तु शेष कर्मों का संख्यात गुणहीन स्थितिबंध करता है।

अब इस स्थितिसत्व की अपेक्षा अल्पबहुत्व का विचार करते हैं – इस स्थान पर नाम और गोत्र का स्थितिसत्व सबसे अल्प होता है, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतरायकर्म का स्थितिसत्व असंख्यात गुणा होता है, किन्तु स्वस्थान में चारों कर्मों का परस्पर समान है। उससे भी मोहनीय का स्थितिसत्व संख्यात गुणा होता है। उसके पश्चात् सहस्रों स्थितिघातों के व्यतीत होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म का स्थितिबंध असंख्यात गुणाहीन हो जाता है। उस समय स्थितिसत्व की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है – नाम और गोत्र का स्थितिसत्व सबसे कम है। ज्ञानावरणादि चारों का असंख्यात गुणा है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान है। तत्पश्चात् मोहनीय का स्थितिसत्व असंख्यात गुणा है।

तदनन्तर सहस्रों स्थितिघातों के होने पर 'एक्कपहारेणतीसगाणमहोमोहेत्ति' अर्थात् एक प्रहार

से एक ही तीस तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म के नीचे मोहनीय की स्थिति असंख्यात गुणी हीन होती है। जिसका आशय यह है कि - पहले मोहनीय का सत्व ज्ञानावरण आदि कर्मों के ऊपर असंख्यात गुणा था जो अब एक साथ ही उनके नीचे असंख्यात गुणाहीन हो गया।

इस स्थान का अल्पबहुत्व इस प्रकार है - नाम और गोत्र कर्म का स्थितिसत्व सबसे अल्प होता है। उससे मोहनीय का असंख्यात गुणा होता है, उससे भी ज्ञानावरणादि चारों कर्मोंका स्थितिसत्व असंख्यातगुण होता है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान होता है।

तत्पश्चात् सहस्रों स्थितिबंधों के बीतने पर 'वीसगहेट्ठाए' अर्थात् मोहनीय का स्थितिबंध एक साथ ही बीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म के नीचे असंख्यात गुणाहीन हो जाता है।

इस स्थान संबंधी स्थितिबंध का आश्रय करके अल्पबहुत्व इस प्रकार है – मोहनीय का स्थितिबंध सबसे अल्प होता है, उससे नाम और गोत्र का स्थितिबंध असंख्यात गुणा है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान होता है, उससे ज्ञानावरण आदि चारों कर्मों का स्थितिबंध असंख्यात गुणा है किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान होता है।

तत्पश्चात कितने ही सहस्र स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर 'तीसगाणुप्पि तइयं च' अर्थात् तीसरा वेदनीय कर्म स्थितिसत्व की अपेक्षा तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के ऊपर हो जाता है। इस का तात्पर्य यह है कि मोहनीय, नाम और गोत्र कर्म स्थितिसत्व की अपेक्षा पहले जो तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाले ज्ञानावरणादि कर्मों के स्थितिसत्व के नीचे थे, किन्तु अब वे तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वाले ज्ञानावरणश दर्शनावरण, अन्तराय कर्म वेदनीय के नीचे हो जाते हैं और वेदनीय कर्म सबसे ऊपर हो जाता है। तदनन्तर उस वेदनीय का अन्य स्थितिबंध सब कर्मों से असंख्यात गुणा हो जाता है। यहां स्थितिबंध का आश्रय करके अल्पबहुत्व इस प्रकार है कि –

मोहनीय का स्थितिबंध सब से अल्प होता है, उससे नाम और गोत्र का स्थितिबंध असंख्यात गुणा होता है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान होता है, उससे भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का स्थितिबंध असंख्यात गुणा होता है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान होता है, उससे भी वेदनीय का स्थितिबंध असंख्यात गुणा होता है।

तत्पश्चात् इसी विधि से सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर तीस कोडाकोडी सागरोपम

स्थिति वाले ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय कर्म के स्थितिबंध की अपेक्षा बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म ऊपर हो जाते हैं। इस स्थान का अल्पबहुत्व इस प्रकार है कि –

मोहनीय कर्म का स्थितिबंध सबसे अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का स्थितिबंध असंख्यात गुणा है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान होता है। उससे भी नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबंध असंख्यात गुणा है किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान है। उससे भी वेदनीय का स्थितिबंध विशेषाधिक होता है। तथा 'असंखगुणणाए त्ति' अर्थात् जहां पर मोहनीय कर्म ज्ञानावरणादि कर्मों से असंख्यात गुणा हीन हुआ वहां से ले कर सर्वत्र ही असंख्यात गुणितहीन क्रम से ही चला आता है और तीसरा वेदनीय कर्म बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति वाले नाम और गोत्र से विशेषाधिक होता है। वहां से आगे सर्वत्र ही विशेषाधिक क्रम से अनुवर्तित होता है। तथा –

अहुदीरणा असंखेज्ज - समयबद्धाण देसघाइ त्थ।
दाणंतरायमणपज्जवं च तो ओहिदुगलाभो॥ ४०॥
सुयभोगाचक्खूओ, चक्खू य ततो मई सपरिभोगा।
विरियं च असेढिगया, बंधंति उ सव्वघाईणि॥ ४१॥

शब्दार्थ – **अह** – अब इस समय, **उदीरणा** – उदीरणा, **असंखेज्ज** – असंख्यात, **समयबद्धाण** – समयबद्ध (कर्मों) की, **देसघाइत्थ** – देशघाति, **दाणंतरायमणपज्जवं** – दानान्तराय, मनःपर्यव ज्ञानावरण को, **च** – और, **तो** – उसके बाद, **ओहिदुगलाभो** – अवधिद्विक लाभान्तराय को।

सुयभोगाचक्खूओ – श्रुतज्ञानावरण, भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण, **चक्खू** – चक्षुदर्शनावरण, **य** – और, **ततो** – तत्पश्चात, **मई** – मतिज्ञानावरण, **सपरिभोगा** – परिभोगान्तराय (उपभोगान्तराय) सहित, **विरियं** – वीर्यान्तराय को, **च** – और, **असेढिगया** – अश्रेणीगत, **बंधंति**– बांधते हैं, **उ** – ही, **सव्वघाईणि** – सर्वघाति।

गाथार्थ – इस समय असंख्यात समयबद्ध कर्मों की उदीरणा होती है। पुनः दानान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरण को देशघाति रस से(अनुभाग) बांधता है, तत्पश्चात् अवधिद्विक और लाभान्तराय को देशघाति रस से बांधता है। उसके बाद श्रुतज्ञानावरण, भोगान्तराय और अचक्षुदर्शनावरण को देशघाति रस से बांधता है। पुनः चक्षुदर्शनावरण को पुनः परिभोगान्तराय सहित मतिज्ञानावरण को और पुनः वीर्यान्तराय को देशघाति अनुभाग से बांधता है। किंतु अश्रेणीगत सभी जीव उक्त कर्मों को

सर्वघाति ही बांधते हैं।

विशेषार्थ – गाथा में आगत अथ शब्द अधिकारान्तर का सूचक है कि जिस काल में सब कर्मों का स्थितिबंध पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है, उस काल में असंख्यात समयबद्ध कर्मों की ही उदीरणा होती है।

प्रश्न – यह कैसे जाना जाये ?

उत्तर – जिस समय पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबंध को करता है, उस समय बध्यमान प्रकृतियों की स्थितियों की अपेक्षा जो पूर्वबद्ध एक, दो समयादि हीन स्थितियां हैं, वे ही उदीरणा को प्राप्त होती हैं, अन्य नहीं और वे चिरकाल बद्ध स्थितियां ही क्षीण होती हुई शेष रहती हैं। इसलिये असंख्यात समयबद्ध स्थितियों की उदीरणा उस समय संभव है।

'देशघाइत्थ' इत्यादि अर्थात् तत्पश्चात् सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर इस प्रसंग पर दानान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरण को देशघाति बांधता है। अर्थात् इन दोनों के अनुभाग बंध को देशघाति करता है। तत्पश्चात सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण और लाभान्तराय के अनुभाग को देशघाति बांधता है। पुनः संख्यात सहस्र स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और भोगान्तराय के अनुभाग को देशघाति बांधता है। पुनः संख्यात सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर चक्षुदर्शनावरण के अनुभाग को देशघाति बांधता है। फिर संख्यात सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर 'मइ सपरिभोगा' अर्थत् परिभोगान्तराय (उपभोगान्तराय) सहित मतिज्ञानावरण के अनुभाग को देशघाति बांधता है। तत्पश्चात् पुनः सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर वीर्यान्तराय के अनुभाग को देशघाति बांधता है।

उक्त कथन श्रेणी (क्षपक या उपशम श्रेणी) गत जीवों की अपेक्षा से समझना चाहिये। लेकिन 'असेढिगया' इत्यादि अश्रेणिगत अर्थात् क्षपकश्रेणि या उपशमश्रेणि रहित कर्मबंध करने वाले जीव, पूर्वोक्त सभी कर्म प्रकृतियों के अनुभाग को सर्वघाति बांधते हैं। तथा –

संजमघाइणंतर - मेत्थ उ पढमट्ठिइ य अन्नयरो।
संजलणावेयाणं, वेइज्जंतीण कालसमा॥ ४२॥

शब्दार्थ – **संजमघाइणंतरं** – संयमघाति कर्मों का अन्तरकरण, **एत्थ** – यहां पर, **उ** – तथा, **पढमट्ठिइ** – प्रथम स्थिति, **य** – और, **अन्नयरो** – अन्यतर (किसी एक की), **संजलणावेयाणं**– संज्वलन और वेद की, **वेइज्जंतीण** – वेदन की जा रही, **कालसमा** – उदयकाल समान।

गाथार्थ – यहां पर संयमघातिकर्मों का अन्तरकरण करता है तथा संज्वलन और वेदों में

वेद्यमान किसी एक प्रकृति की प्रथम स्थिति उदय काल के समान जानना चाहिये।

विशेषार्थ – वीर्यान्तराय कर्म के देशघाति अनुभाग बंध के पश्चात संख्यात सहस्रों स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर संयमघातिकर्मों का अर्थात् अनंतानुबंधी कषायों को छोड़ कर शेष प्रत्याख्यानावरण-कषायचतुष्क आदि बारह कषाय और नौ नोकषायों इन इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। उस समय चारों संज्वलन कषायों में से वेद्यमान किसी एक संज्वलन कषाय और तीन वेदों में से वेद्यमान किसी एक वेद की प्रथम स्थिति अपने उदयकाल प्रमाण होती है। अन्य ग्यारह कषायों और आठ नो कषायों की प्रथम स्थिति आवलिका प्रमाण होती है।

चारों संज्वलनों और तीनों वेदों के स्वोदय काल का प्रमाण इस प्रकार है – स्त्रीवेद और नपुंसक वेद का उदय काल सबसे अल्प है। किन्तु स्वस्थान में परस्पर समान है। उससे पुरुषवेद का उदय काल संख्यातगुणा, उससे भी संज्वलन क्रोध का विशेषाधिक, उससे भी संज्वलन मान का विशेषाधिक, उससे भी संज्वलन माया का विशेषाधिक है और उससे भी संज्वलन लोभ का उदयकाल विशेषाधिक है। कहा भी है –

थी अपुमोदयकाला संखेज्जगुणा उ पुरिसवेदस्स।
तस्स वि विसेस अहिओ कोहे तत्तो वि जह कमसो॥

अर्थात् स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और पुरुषवेद का काल संख्यातगुणा है। उससे क्रोध का काल विशेषाधिक है और उससे आगे यथाक्रम से विशेष-विशेष अधिक होता है।

इनमें से संज्वलन क्रोध के साथ उपशमश्रेणि को प्राप्त हुए जीव के जब तक अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम नहीं होता है, तब तक संज्वलन क्रोध का उदय रहता है। संज्वलन मान के साथ उपशमश्रेणि को प्राप्त हुए जीव के जब तक अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम नहीं होता है, तब तक संज्वलन मान का उदय रहता है। संज्वलन माया के साथ उपशमश्रेणि को प्राप्त हुए जीव के जब तक अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम नहीं होता है, तब तक संज्वलन माया का उदय रहता है और संज्वलन लोभ के साथ उपशमश्रेणी को प्राप्त हुए जीव के जब तक अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम नहीं होता है तब तक बादर संज्वलन लोभ का उदय रहता है, उसके आगे सूक्ष्म लोभ के उदय का काल होता है।

इस प्रकार उपरितन भाग की अपेक्षा अन्तरकरण समान स्थिति वाला है और अधोभाग की अपेक्षा उक्त रीति से विषम स्थिति वाला है। जितने काल से स्थितिखंड को घातित करता है अथवा अन्य स्थितिबंध को करता है, उतने काल के द्वारा अन्तरकरण भी करता है। तीनों को ही एक साथ

आरंभ करता है और एक साथ ही समाप्त करता है। यह अंतर प्रथम स्थिति से संख्यात गुणा होता है। अन्तरकरण संबंधी दलिकों के प्रक्षेप की विधि यह है –

जिन कर्मों का उस समय उदय और बंध होता है, उनके अंतरकरण संबंधी दलिक को प्रथम स्थिति में और द्वितीय स्थिति में प्रक्षेपण करता है, यथा पुरुषवेद के उदय से श्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव पुरुषवेद के दलिक को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में प्रक्षिप्त करता है। किन्तु जिन कर्मों का उस समय केवल उदय ही होता है और बंध नहीं होता है, उनके अन्तरकरण संबंधी दलिक को प्रथम स्थिति में ही प्रक्षिप्त करता है, द्वितीय स्थिति में नहीं करता है। जैसे स्त्रीवेद का दलिक प्रथम स्थिति में ही प्रक्षिप्त करता है, द्वितीय सिथति में नहीं तथा जिन कर्मों का उदय नहीं होता है, किन्तु केवल बंध होता है, उनके अन्तरकरण संबंधी दलिक का द्वितीय स्थिति में ही प्रक्षेप करता है, प्रथम स्थिति में नहीं। जैसे संज्वलन क्रोध के उदय से श्रेणी चढ़ा हुआ जीव शेष संज्वलन कषायों के अन्तरकरण संबंधी दलिक का द्वितीय स्थिति में ही प्रक्षेप करता है, प्रथम स्थिति में नहीं। किन्तु जिन कर्मों का यहां पर न बंध ही होता है और न उदय ही होता है, उनके अन्तरकरण संबंधी दलिक का पर प्रकृतियों में प्रक्षेप करता है। जैसे दूसरी, तीसरी कषाय (अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय) के दलिक का पर प्रकृतियों में प्रक्षेप करता है।

'गाथोक्त अन्नयरे'[१] पद का अर्थ है कि संज्वलन कषाय और वेदों में से वेद्यमान किन्हीं प्रकृतियों की प्रथम स्थिति सम अर्थात् उदय काल के समान होती है। तथा –

दुसमयकयंतरे, आलिगाण छण्हं उदीरणाभिनवे।
मोहे एक्कट्ठाणे, बंधुदया संखवासाणि॥ ४३॥

संखगुणहाणिबंधो, एत्तो सेसाणऽसंखगुणहाणी।
पउवसमए नपुंसं, असंखगुणणाए जावंतो॥ ४४॥

शब्दार्थ – **दुसमय** – द्वितीयादि समय, **कयंतरे** – अन्तरकरण करने के बाद, **आलिगाण**– आवलिका काल तक, **छण्हं** – छह, **उदीरणा** – उदीरणा, **अभिनवे** – नवीन, **मोहे** – मोहनीय का, **एक्कट्ठाणे** – एकस्थानक, **बंधुदया** – बंध और उदय, **संखवासाणि** – संख्यात वर्ष का।

संखगुणहाणि – संख्यात गुणहीन, **बंधो** – बंध, **एत्तो** – इसके बाद, **सेसाण** – शेष कर्मों का, **असंखगुणहाणी** – असंख्यगुणहीन, **पउवसमए** – उपशमाता है, **नपुंसं** – नपुंसकवेद को, **असंखगुणणाए** – असंख्यात गुणवृद्धि से, **जावंतो** – अन्त समय तक।

---

१. 'अन्नयरे' यह प्रयोग आर्ष होने से पुलिंग रूप से एकवचन में निर्देश किया गया है।

गाथार्थ — अन्तरकरण करने के बाद द्वितीयादि समय से छह आवलिका काल तक उदीरणा नहीं होती है। मोहनीय का नवीन रसबन्ध एकस्थानक तथा संख्यात वर्ष का बंध और उदय होता है। इसके बाद मोहनीय का अन्य स्थितिबंध संख्यातगुणहीन और शेष कर्मों का असंख्यात गुणहीन पुनः अन्तसमय तक असंख्यात गुणवृद्धि से नपुंसकवेद को उपशमाता है।

विशेषार्थ — 'दुसमयकयंतरे' अर्थात् अन्तरकरण करने पर दूसरे समय में ये सात अधिकार (कार्य) एक साथ प्रारम्भ होते हैं —

१. पुरुषवेद और संज्वलन कषायों का अनुपूर्वी से संक्रम।

२. संज्वलन लोभ के संक्रम का अभाव।

३. अन्तरकरण करने पर अनन्तरवर्ती प्रथम द्वितीयादि समयों में जो मोहनीय संबंधी प्रकृतिसत्व का और उससे व्यतिरिक्त अन्य कर्म संबंधी प्रकृतिसत्व का बंध होता है उनकी उदीरणा छह आवलिका काल के मध्य में नहीं होती है किन्तु छह आवलिका व्यतीत हो जाने पर होती है।

४. मोहनीय का रसबंध एकस्थानक होता है।

५. मोहनीय का स्थितिबंध संख्यात वर्ष वाला होता है।

६. संख्यात वर्ष वाला उदीरणोदय।

७. संख्यात वर्ष वाले स्थितिबंध से परे सभी अन्य स्थितिबंध पूर्व पूर्व स्थितिबंध से संख्यात गुणहीन होता है और शेष कर्मों का स्थितिबंध असंख्यात गुणहीन होता है।

'उवसमएनपुंसं' इत्यादि अर्थात् अन्तरकरण करने के दूसरे समय में नपुंसकवेद की असंख्यात गुणित रूप से उपशमना आरंभ करता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि चरम समय प्राप्त होता है। वह इस प्रकार —

नपुंसकवेद के प्रथम समय में अल्पप्रदेशाग्र (दलिक) उपशमाता है। उससे द्वितीय समय में असंख्यातगुणित, तृतीय समय में असंख्यातगुणित प्रदेशाग्र उपशमाता है। इस प्रकार प्रति समय उपशमित दलिकों की अपेक्षा असंख्यातगुणित द्विचरम समय तक संक्रमाता है, किन्तु चरम समय में उपशमन किया जाने वाला दलिक पर प्रकृतियों में संक्रम्यमाण दलिकों की अपेक्षा असंख्यात गुण जानना चाहिये।

नपुंसकवेद का उपशमन प्रारम्भ करने के प्रथम समय से लेकर सभी कर्मों की उदीरणा दलिकों की अपेक्षा अल्प होती है किन्तु उदय असंख्यात गुणा होता है। नपुंसक वेद के उपशांत होने पर स्त्रीवेद की पूर्वोक्त विधि से उपशमना आरम्भ करता है तथा —

एवित्थी संखतमे गयम्मि घाईण संखवासाणि।
संखगुणहाणि एत्तो, देसावरणाणुदगराई॥ ४५॥

शब्दार्थ – **एव** – इस प्रकार, **इत्थी** – स्त्रीवेद, **संखतमे** – संख्यातवें भाग, **गयम्मि** – बीतने पर, **घाईण** – घातिकर्मों का, **संखवासाणि** – संख्यात वर्षों का, **संखगुणहाणि** – संख्यात गुणहीन, **एत्तो** – इसके आगे, **देसावरणाण** – देशघाति प्रकृतियों का, **उदगराई** – उदक (रेखा) के समान (एकस्थानक)।

गाथार्थ – इस प्रकार से उपशमित किये जा रहे स्त्रीवेद के काल के संख्यातवें भाग के बीतने पर घातिकर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष प्रमाण होता है और उसके आगे संख्यात गुणहीन होता है, उसके पश्चात् देशघाति कर्मों का उदकराजि (जलरेखा) के समान (एकस्थानक) रसबंध होता है।

विशेषार्थ – इस पूर्वोक्त प्रकार से उपशम्यमान स्त्रीवेद के उपशमन काल से संख्यात भाग व्यतीत होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन घातिकर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष प्रमाण होता है। इस संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध से घाति कर्मों का अन्य अन्य स्थितिबंध पूर्व स्थितिबंध से संख्यात गुणहीन होता है और इसी संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध से लेकर केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण को छोड़ कर शेष घाति ज्ञानावरण और दर्शनावरण प्रकृतियों के उदकराजि अर्थात् जलरेखा के समान एकस्थानक रस को बांधता है। तत्पश्चात् इसी प्रकार सहस्रों स्थितिबंधो के व्यतीत होने पर स्त्रीवेद उपशांत हो जाता है तथा –

तो सत्तण्हं एवं, संखतमे संखवासितो दोण्हं।
बिइयो पुण ठिइबंधो, सव्वेसिं संखवासाणि॥ ४६॥

शब्दार्थ – **तो** – तत्पश्चात्, **सत्तण्हं** – सातों, **एवं** – इसी प्रकार, **संखतमे** – संख्यातवें भाग, **संखवासितो** – संख्यात वर्ष का, **दोण्हं** – दो कर्मों का, **बिइयो** – दूसरा, **पुण** – पुनः, **ठिइबंधो** – स्थितिबंध, **सव्वेसिं** – सभी कर्मों का, **संखवासाणि** – संख्यात वर्ष का।

गाथार्थ – तत्पश्चात् (स्त्रीवेद को उपशमाने के पश्चात्) सातों नोकषायों को भी इसी प्रकार उपशमाता है। उनको उपशमाने के संख्यातवें भाग प्रमाण समय बीत जाने पर दो कर्मों का (नाम और गोत्र कर्मों का) स्थितिबंध संख्यात वर्ष का होता है तथा उसके पश्चात् सभी कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष का होता है।

विशेषार्थ – स्त्रीवेद के उपशांत होने पर शेष सातों नोकषायों को उपशमित करना आरंभ करता है और उनको भी पूर्वोक्त प्रकार से उपशमाते हुए उपशमना काल के संख्यातवें भाग के बीतने

पर नाम और गोत्र इन दो कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष का होता है। किन्तु वेदनीय कर्म का स्थितिबंध अभी भी असंख्यात वर्ष का ही होता है। इस स्थितिबंध के पूर्ण होने पर वेदनीय का अन्य दूसरा स्थितिबंध संख्यात वर्ष का होने लगता है और ऐसा होने पर वहां से आगे सभी कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष का ही होता है। किन्तु पूर्व पूर्व स्थितिबंध स आगे हान वाला नवीन नवीन स्थितिबंध असंख्यात गुणहीन होता है। तत्पश्चात् सहस्रों स्थितिबंधों के पूर्ण होने पर सातों ही नोकषायें उपशांत हो जाती हैं। लेकिन विशेषता यह है कि –

छस्सुवसमिज्जमाणे, सेक्का उदयठिई पुरिससेसा।
समऊणावलिगदुगे, बद्धा वि य तावदद्धाए॥ ४७॥

शब्दार्थ – **छस्सुवसमिज्जमाणे** – छह (नोकषायों) के उपशमित होने पर, **सेक्का** – एक, **उदयठिई** – उदयस्थिति, **पुरिस** – पुरुष वेद की, **सेसा** – शेष, **समऊणावलिगदुगे** – एक समय कम दो आवलिका में, **बद्धा वि** – बंधे हुए भी, **य** – और, **तावदद्धाए** – उस काल में।

गाथार्थ – छह नोकषायों के उपशान्त होने पर पुरुषवेद की एक उदय स्थिति शेष रहती है। उतने काल में समयोन दो आवलिका में बांधे हुये दलिकों को उपशमाता है।

विशेषार्थ – छह नोकषायों के उपशम्य होने पर अर्थात् जिस समय छह नोकषाय उपशांत हो जाती हैं, उस समय पुरुषवेद की प्रथम स्थिति में समय मात्र प्रमाण वाली एक उदय स्थिति शेष रहती है।[१] उस समय पुरुषवेद का स्थितिबंध सोलह वर्ष का होता हे और संज्वलन कषायों का स्थितिबंध संख्यात सहस्र वर्ष का होता है तथा पुरुषवेद की प्रथमस्थिति में दो आवलिका काल शेष रह जाने पर आगाल विच्छिन्न हो जाता है किन्तु उदीरणा होती रहती है। उस समय से लेकर छह नोकषायों के दलिक पुरुषवेद में नहीं संक्रमाता है, किन्तु संज्वलन कषायों में संक्रमाता है। जब पहले कही हुई पुरुषवेद की एक भी उदयस्थिति व्यतीत होती है, तभी वह जीव अवेदक अर्थात् वेद के उदय से रहित हो जाता है।

अवेदक काल के प्रथम समय में दो समय कम दो आवलिका काल के द्वारा बांधा हुआ जो दलिक है, केवल वही अनुपशांत रहता है, शेष सभी दलिक नपुंसकवेद में कहे गये प्रकार से उपशांत हो जाते हैं और दो समय कम दो आवलिका काल के द्वारा बंधा हुआ दलिक उतने ही अद्ध अर्थात् दो समय कम दो आवलिका प्रमाण काल के द्वारा उपशांत करता है। उसके उपशमन की विधि यह है कि

---

१. पंचम षष्ठ ग्रंथ की टीका में तो जिस समय नोकषाय उपशम होती हैं उसी समय पुरुषवेद के उदय बंधादि विच्छेद को प्राप्त होते हैं, यह उल्लेख है।

प्रथम समय में अल्प दलिक उपशमाता है, उससे द्वितीय समय में असंख्यात गुणित और उससे भी तृतीय समय में असंख्यात गुणित दलिक उपशमाता है। इसी प्रकार यही क्रम दो समय कम दो आवलिका काल के द्वि चरम समय तक कहना चाहिये और पर प्रकृतियों में प्रति समय दो आवलि काल तक यथाप्रवृत्तसंक्रम से संक्रमाता है। परंतु प्रथम स्थिति में बहुत दलिक संक्रमाता है द्वितीय स्थिति में विशेषहीन और तृतीय समय में उससे भी अधिक विशेषहीन दलिक संक्रमाता है। इस प्रकार चरम समय तक विशेषहीन, विशेषहीन कर्मदलिक संक्रमाता है।

तत्पश्चात् पुरुषवेद उपशांत हो जाता है। उस समय संज्वलन कषायों का स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त कम बत्तीस वर्ष प्रमाण होता है और शेष कर्मों का अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का स्थितिबंध संख्यात सहस्र वर्ष का होता है। तथा –

तिविहमवेओ कोहं, कमेण सेसे वि तिविहतिविहे वि।
पुरिससमा संजलणा, पढमठिइ आलिगा अहिगा॥ ४८॥

शब्दार्थ – **तिविहं** – तीन प्रकार के, **अवेओ** – अवेदक हुआ, **कोहं** – क्रोध को, **कमेण** – अनुक्रम से, **सेसे वि** – शेष भी, **तिविह तिविहे** – तीन तीन प्रकार की कषायों को, **वि**– और, **पुरिससमा** – पुरुषवेद के समान, **संजलणा** – संज्वलन की, **पढमठिइ** – प्रथमस्थिति, **आलिगा अहिगा** – एक आवलिका अधिक।

गाथार्थ – अवेदक हुआ वह तीन प्रकार के क्रोध को उपशमाता है और अनुक्रम से शेष भी तीन तीन प्रकार की मानादि कषायों को उपशमाता है। संज्वलन की उपशमना पुरुषवेद के समान जानना चाहिये, किन्तु प्रथमस्थिति एक आवलिका अधिक है।

विशेषार्थ – जिस समय उपशमश्रेणी पर आरूढ जीव पुरुषवेद का अवेदक होता है, उसी समय से ले कर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधों को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है। उपशमन करते हुए प्रथमस्थितिबंध के पूर्ण होने पर संज्वलन कषायों का अन्य स्थितिबंध संख्यात भागहीन होता है और शेष कर्मों का संख्यात गुणहीन होता है। शेष स्थितिघात आदि कार्य होना पूर्व के समान जानना चाहिये।

संज्वलन क्रोध की प्रथमस्थिति में एक समय कम तीन आवलिका शेष रह जाने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध के दलिक को संज्वलन क्रोध में प्रक्षेप नहीं करता है, किन्तु संज्वलन मान आदि में प्रक्षेप करता है। दो आवलिका काल शेष रह जाने पर आगाल तो नहीं होता है, किन्तु उदीरणा ही होती है और वह उदीरणा भी एक आवलिका शेष रहने तक होती रहती

है। उदीरणावलिका के चरम समय में संज्वलन कषायों का स्थितिबंध चार मास का होता है और शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात सहस्र वर्षों का होता है। उस समय संज्वलन क्रोध के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध उपशांत हो जाते हैं। उस समय एक आवनिका के और समयोन दो आवलिका काल बद्ध दलिक को छोड़ कर संज्वलन क्रोध के शेष अन्य सर्व दलिक उपशांत हो जाते हैं और वह प्रथमस्थिति संबंधी एक चरमावलिका भी स्तिबुकसंक्रमण से संज्वलन मान में प्रक्षिप्त कर दी जाती है तथा एक समय कम दो आवलिका काल से बंधा हुआ दलिक पुरुषवेद में कहे गये प्रकार से उपशांत करता है और संक्रान्त करता है। इसी तरह के क्रम से शेष कषायों को भी अर्थात् तीनों प्रकार के मान, तीनों प्रकार की माया और तीनों प्रकार के लोभ को उपशमाता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि –

अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से मान माया और लोभ तीन तीन प्रकार के होते हैं। जिनको वह उपशमाता है। इनमें संज्वलन की उपशमना पुरुषवेद के समान तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान आदि कषायों की उपशमना छह नोकषायों के समान जानना चाहिये। विशेष यह है कि 'पढमठिइ आलिगा अहिगा' अर्थात् संज्वलनों की प्रथमस्थिति में पुरुषवेद की अपेक्षा एक आवलिका अधिक होती है। वह इस प्रकार छह नोकषायों के उपशांत हो जाने पर पुरुषवेद की प्रथमस्थिति एक समय मात्र अनुपशांत थी। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान आदि के उपशांत होने पर संज्वलन आदि की प्रथमस्थिति का एक आवलिका काल अनुपशांत था।

अब इस संक्षिप्त संकेत का विशेष रूप से विस्तार के साथ विचार करते हैं –

जिस समय संज्वलन क्रोध का बंध, उदय और उदीरणा विच्छिन्न हुई, उसी समय ही संज्वलन मान की द्वितीय स्थिति से दलिक का अपकर्षण कर प्रथम स्थिति को बांधता है और उसे वेदता है। तब उस उदय समय में अल्प दलिक प्रक्षेप करता है। द्वितीय स्थिति में असंख्यात गुणित दलिक और तृतीय स्थिति में उससे भी संख्यात गुणित दलिक निक्षेप करता है। इस प्रकार प्रथमस्थिति के अंतिम समय तक जानना चाहिये। प्रथमस्थिति के चरम समय में ही संज्वलन मान का स्थितिबंध चार मास का होता है और ज्ञानावरण आदि शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात सहस्रों वर्ष का होता है।

इसी समय ही तीनों मान कषायों का एक साथ उपशम आरंभ करता है। संज्वलन मान की प्रथमस्थिति में एक समय कम तीन आवलिका काल शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिक को संज्वलन माया आदि में प्रक्षिप्त करता है। दो आवलिका काल शेष रह जाने पर आगाल विच्छिन्न हो जाता है और केवल उदीरणा ही होती है और वह भी आवलिका के चरम समय तक होती है। उस समय प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहती है। उस समय में संज्वलनों का

स्थितिबंध दो मास का होता है और शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष का होता है। उस समय संज्वलन मान का बंध, उदय और उदीरणा विच्छिन्न हो जाती है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान उपशांत हो जाते हैं और संज्वलन मान की भी प्रथमस्थिति की एक आवलिका और समयोन दो आवलिका बद्धलताओं को छोड़ कर शेष सर्व दलिक उपशांत हो जाते हैं।

उसी समय संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति के दलिक को आकृष्ट कर प्रथमस्थिति करता है और उसे वेदन करता है तथा पूर्वोक्त संज्वलन मान की प्रथमस्थिति संबंधी एक आवलिका को स्तिबुकसंक्रमण से इस संज्वलन माया में प्रक्षिप्त करता है। समयोन आवलिकाद्विक बद्धलता को पुरुषवेद के क्रम से उपशमित और संक्रमित करता है। संज्वलन माया के उदय होने के प्रथम समय में माया और लोभ का स्थितिबंध दो मास है और ज्ञानावरणादि शेष कर्मों का स्थितिबंध संख्यात वर्ष है। उसी समय से लगाकर तीनों ही माया कषायों की एक साथ उपशमना आरंभ करता है। तब संज्वलन माया की प्रथमस्थिति में तीन आवलिका काल शेष रह जाने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिक को संज्वलन माया में प्रक्षिप्त नहीं करता है किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षिप्त करता है। दो आवलिका काल शेष रह जाने पर आगाल विच्छिन्न हो जाता है। तत्पश्चात् उदीरणा ही होती है और वह भी आवलिका के चरम समय प्राप्त होने तक होती है। उस समय में संज्वलन माया और लोभ का स्थितिबंध एक मास होता है और शेष कर्मों का संख्यात वर्ष होता है। उसके अनन्तर समय में संज्वलन माया का बंध, उदय और उदीरणा विच्छिन्न हो जाती है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया उपशांत हो जाती है। संज्वलन माया की प्रथमस्थिति संबंधी एक आवलिका को और समयोन आवलिकाद्विक बद्धलताओं को छोड़ कर शेष अन्य सर्व उपशांत हो जाता है।

उसी समय संज्वलन लोभ की द्वितीयस्थिति से दलिक को आकृष्ट कर प्रथमस्थिति करता है और वेदन करता है तथा पूर्वोक्त माया की प्रथमस्थिति संबंधी एक आवलिका को स्तिबुकसंक्रम से संज्वलन लोभ में संक्रमाता है तथा समयोन आवलिकाद्विक बद्धलताओं को पुरुषवेद के क्रम से उपशमाता है और संक्रमाता है।

अब संज्वलन लोभ की प्रथमस्थिति के प्रमाण का निरूपण करते हैं –

लोभस्स बेतिभागा, ठि(बि)इय तिभागोत्थ किट्टकरणद्धा।
एगफड्डगवग्गण - अणंतभागो उ ता हेट्ठा॥ ४९॥

शब्दार्थ – **लोभस्स** – संज्वलन लोभ के, **बेतिभागा** – दो त्रिभाग, **ठिइय** – स्थिति में, **बिइय** – दूसरा, **तिभागो** – त्रिभाग, **त्थ** – यहां उसमें, **किट्टकरणद्धा** – किट्टीकरणद्धा, **एगफड्डगवग्गण** – एक स्पर्धक की वर्गणाओं की, **अणंतभागो** – अनंतवां भाग, **उ** – और, **ता** – उनमें,

हेट्ठा – नीचे।

गाथार्थ – संज्वलन लोभ के दो त्रिभाग स्थिति में प्रथम अश्वकर्णद्धा त्रिभाग किट्टीकरणद्धा है। उसमें एक स्पर्धक की वर्गणाओं के अनंतवें भाग और उनसे नीचे अनंत गुण हीन रस वाला करता है।

विशेषार्थ – संज्वलन लोभ की प्रथमस्थिति के तीन भाग होते हैं। उनमें पहले दो त्रिभागों में प्रथम स्थिति करता है। अर्थात् दो त्रिभागों में द्वितीय स्थिति से दलिकों को आकर्षित कर निक्षिप्त करता है। इनमें प्रथम त्रिभाग का नाम अश्वकर्णकरणाद्धा है और दूसरे भाग का नाम किट्टीकरणाद्धा है।[१]

संज्वलन लोभ के उदय होने से प्रथम समय में ही अप्रत्याख्यानावरण लोभ आदि तीनों लोभों का एक साथ उपशमन आरंभ करता है। उपशमन की विधि पूर्व के समान ही होती है। उस अश्वकर्णकरणाद्धा नामक प्रथम त्रिभाग में वर्तमान उपशमक जीव प्रतिसमय पूर्व स्पर्धकों से दलिकों को ग्रहण कर उसे अत्यंत हीन रस वाला करके अपूर्व स्पर्धक करता है। आज तक संसार में परिभ्रमण करते हुए बंध की अपेक्षा इस प्रकार के स्पर्धक पहले कभी नहीं किये गये किन्तु अभी ही विशुद्धि के प्रकर्ष से अत्यंत हीन रस वाले करता है। इस लिये ये अपूर्व स्पर्धक कहे जाते हैं। तब इस प्रकार अपूर्व स्पर्धकों को करते हुए संख्यात स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर अश्वकर्णकरणाद्धा को व्यतीत करता है और तब किट्टीकरणाद्धा में प्रवेश करता है। उस समय संज्वलन लोभ का स्थितिबंध दिवसपृथक्त्व प्रमाण और शेष कर्मों का स्थितिबंध वर्षपृथक्त्व प्रमाण है। किट्टीकरणाद्धा में पूर्वस्पर्धकों से और अपूर्वस्पर्धकों से दलिक ग्रहण कर प्रति समय अनंत कृष्टियां करता है। पूर्वस्पर्धकों से और अपूर्वस्पर्धकों से वर्गणाओं को ग्रहण कर और उन्हें अनंत गुणहीन रस वाला बना कर वृहत् अन्तराल रूप से जो अवस्थित किया जाता है उसे किट्टी कहते हैं – **'किट्टियो नामपूर्वस्पर्धकापूर्वस्पर्धकेभ्योवर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य वृहदन्तरालतया यद्व्यवस्थापनं।'** जैसे असत् कल्पना से जिन वर्गणाओं का अनुभाग अंश सौ, एक सौ एक और एक सौ दो था, उन्हीं वर्गणाओं के अनुभाग अंशों को पांच पन्द्रह और पच्चीस प्रमाण कर देना।

अब इन्हीं किट्टियों का विशेष निरूपण करते हैं – 'एगफड्डगवग्गण' इत्यादि अर्थात् एक अनुभागस्पर्धक में जो अनंत वर्गणायें हैं, उनके अनंतवें भाग में जितनी वर्गणायें होती हैं उतने प्रमाण किट्टियां प्रथम समय में करता है और वे किट्टियां अनंत होती हैं।

---

१. तीसरा किट्टीवेदनाद्धा विभाग है। दलिक परिणनम तो आदि के दो भाग रूप में होता है और तीसरा अनुभवकाल है अर्थात् द्वितीय स्थिति में से ग्रहण किये दलिक को प्रथम दो विभागों में प्रक्षेपण करके तीसरे भाग में अनुभव करता है।

प्रश्न – क्या उन किट्टियों को सर्व जघन्य अनुभाग वाले स्पर्धक के अनुभाग के सदृश करता है ? अथवा उससे भी हीन अनुभाग वाली करता है ?

उत्तर – उससे भी हीन अनुभाग वाली करता है। इसके लिये गाथा में संकेत किया है - 'हेट्ठा' अर्थात् जो सर्व जघन्य अनुभाग वाला स्पर्धक है, उसके नीचे करता है। अर्थात् उससे भी अनंत गुणहीन रस वाली किट्टियां करता है। तथा –

अणुसमयं सेढीए, असंखगुणहाणि जा अपुव्वाओ।
तव्विवरीयं दलियं, जहन्नगाई विसेसूणं॥ ५०॥

शब्दार्थ – **अणुसमयं** – प्रति समय, **सेढीए** – श्रेणी से, **असंखगुणहाणि** – असंख्यात गुणहाणि, **जा** – जो, **अपुव्वाओ** – अपूर्व (किट्टियां), **तव्विवरीयं** – उससे विपरीत, **दलियं** – दलिक, **जहन्नगाई** – जघन्य से ले कर, **विसेसूणं** – विशेष हीन।

गाथार्थ – जो अपूर्व किट्टियां करता है, वे प्रति समय असंख्यात गुणहानि की श्रेणी से करता है और उनके दलिक विपरीत संख्या वाले होते हैं। जिन्हें जघन्य किट्टी से ले कर विशेष हीन हीन जानना चाहिये।

विशेषार्थ – जो अपूर्व अर्थात् प्रति समय नवीन नवीन किट्टियां करता है, उन्हें गणना की अपेक्षा प्रति समय असंख्यात गुणहानि की श्रेणी से जानना चाहिये और उनकी नवीनता उत्तरोत्तर अनन्त गुणहीन रस वाली जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है –

प्रथम समय में बहुत किट्टियों को करता है, द्वितीय समय में उनसे असंख्यात गुणहीन किट्टियों को करता है, तृतीय समय में उनसे भी असंख्यात गुणहीन करता है। इस प्रकार किट्टिकरणाद्धा के चरम समय तक समझना चाहिये और दलिकों के लिये 'तव्विवरीय दलियं ' इत्यादि अर्थात् दलिक उससे विपरीत यानी किट्टी संख्या से विपरीत जानना चाहिये –

यथा – प्रथम समय में सम्पूर्ण किट्टीगत दलिक सबसे अल्प होते हैं, उससे द्वितीय समय में सकल किट्टिगत दलिक असंख्यात[१] गुणित होते हैं, उससे भी तृतीय समय में समस्त किट्टिगत दलिक असंख्यात गुणित होते हैं। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक कि किट्टिकरणाद्धा का चरम समय प्राप्त होता है। अब अनुभाग के लिये बताते हैं –

प्रथम समय में की गई किट्टियों में सामान्य रूप से अनुभाग सबसे अधिक होता है, द्वितीय समय में की गई किट्टियों में अनुभाग उससे अनंत गुणहीन होता है, उससे भी तृतीय समय में की गई

१. यहां अनन्त गुणहीन पाठ युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

किट्टियों में अनुभाग अनन्त गुणहीन होता है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक कि किट्टिकरणाद्धा का चरम समय प्राप्त होता है।

अब प्रथम समय में की गई किट्टियों के परस्पर प्रदेश प्रमाण का निरूपण करते हैं –

'जहण्णगाई विसेसूणं त्ति' अर्थात् जघन्य प्रदेश किट्टि को आदि करके उससे क्रम से एक एक किट्टि के प्रति विशेषहीन विशेषहीन प्रदेशाग्र कहना चाहिये। जिसका यह भाव है कि –

प्रथम समय में की गई किट्टियों में जो सबसे मंद अनुभाग वाली किट्टि है, उसके प्रदेशाग्र सबसे अधिक होते हैं। उससे अनन्तर अनन्त गुणित अनुभाग से अधिक दूसरी किट्टि में प्रदेशाग्र हीन होते हैं। उससे भी अनन्तर अनुभाग से अधिक तीसरी किट्टि में प्रदेशाग्र विशेषहीन होते हैं। इस प्रकार अनन्तर अनन्तर अनुभाग से अधिक किट्टियों में प्रदेशाग्र विशेषहीन, विशेषहीन तब तक कहना चाहिये, जब तक कि प्रथम समय में की गई किट्टियों के मध्य में सर्वोत्कृष्ट किट्टि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार सभी समयों में होने वाली प्रत्येक किट्टि के लिये समझ लेना चाहिये तथा –

अणुभागोऽणंतगुणो, चाउम्मासाइ संखभागूणो।
मोहे दिवसपुहुत्तं, किट्टिकरणाइसमयम्मि॥ ५१॥

शब्दार्थ – **अणुभागो** – अनुभाग, **अणंतगुणो** – अनंतगुणा, **चाउम्मासाइ** – चातुर्मासिक, **संखभागूणो** – संख्यात भागहीन, **मोहे** – मोहनीय के, **दिवसपुहुत्तं** – दिवसपृथक्त्व, **किट्टिकरणाइसमयम्मि** – किट्टिकरण के प्रथम समय में।

गाथार्थ – किट्टियों का अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा होता है। मोहनीय कर्म के चातुर्मासिक स्थितिबंध से अन्य स्थितिबंध संख्यात भागहीन होते हुए किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय में दिवसपृथक्त्व प्रमाण स्थितिबंध होता है।

विशेषार्थ – प्रथम समय में की गई किट्टियों का अनुभाग उत्तरोत्तर अनंतगुणा जानना चाहिये, यथा – प्रथम समय में की गई किट्टियों के मध्य में जो सर्वमंद अनुभाग वाली किट्टि है, वह सब से अल्प अनुभाग वाली है। उससे दूसरी किट्टि अनंतगुणी अनुभाग वाली है, उससे भी तीसरी किट्टि अनंतगुणी अनुभाग वाली है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक प्रथम समय में की गई किट्टियों के मध्य में सर्वोत्कृष्ट अनुभाग वाली किट्टि प्राप्त होती है। इसी प्रकार द्वितीय आदि समयों में की गई किट्टियों की प्ररूपणा करना चाहिये।

अब इन्हीं किट्टियों का परस्पर अल्पबहुत्व कहते हैं – प्रथम समय में की गई किट्टियों के मध्य में जो सर्वाधिक प्रदेश वाली किट्टि है, वह वक्ष्यमाण किट्टियों की अपेक्षा अल्प प्रदेश वाली है,

उससे दूसरे समय में की गई किट्टियों के मध्य में जो सर्वाल्प प्रदेश वाली किट्टि है, वह असंख्यात गुणित प्रदेश वाली है, उससे भी तीसरे समय में की गई किट्टियों के मध्य में जो सर्वाल्प प्रदेश वाली किट्टि है, वह असंख्यात गुणित प्रदेश वाली है। इस प्रकार चरम समय प्राप्त होने तक कहना चाहिये तथा प्रथम समय में की गई किट्टियों के मध्य में जो सर्वमंद अनुभाग वाली किट्टि है वह वक्ष्यमाण किट्टियों की अपेक्षा सर्वाधिक अनुभाग वाली है, उससे दूसरे समय में की गई किट्टियों के मध्य में जो सर्वोत्कृष्ट अनुभाग वाली किट्टि है, वह अनन्त गुणहीन अनुभाग वाली है, उससे भी तीसरे समय में की गई किट्टियों के मध्य में जो सर्वोत्कृष्ट अनुभाग वाली किट्टि है, वह अनन्त गुणहीन अनुभाग वाली है। इस प्रकार चरम समय तक कहना चाहिये।

'चाउम्मासाइ' इत्यादि अर्थात् मोहनीय कर्म में संज्वलन कषायों के चातुर्मासिक स्थितिबंध से ले कर अन्य स्थितिबंध संख्यातवें भाग से हीन हीनतर तब तक कहना चाहिये जब तक कि किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय में दिवसपृथक्त्व प्रमाण स्थितिबंध होता है। जिसे प्रायः पूर्व में कहा जा चुका है तथा –

भिन्नमुहुत्तो संखि-ज्जेसु य घाईणि दिणपुहुत्तं ता।
वाससहस्सपुहुत्तं, अंतो दिवसस्स अंते सिं ॥५२॥
वाससहस्सपुहुत्ता, बिवरसअंतो अघाइकम्माणं।
लोभस्स अणुवसंतं, किट्टीओ जं च पुव्वुत्तं॥५३॥

शब्दार्थ – **भिन्नमुहुत्तो** – अन्तर्मुहूर्त, **संखिज्जेसु** – संख्यात, **य** – और, **घाईणि** – घाति कर्मों का, **दिणपुहुत्तं** – दिवस पृथक्त्व, **तु** – और, **वाससहस्सपुहुत्तं** – वर्षसहस्रपृथक्त्व प्रमाण, **अंतो दिवसस्स** – अन्तर्मुहूर्त और अन्तर्दिवस का, **अंते** – अंत में, **सिं** – उनका।

वाससहस्सपुहुत्ता – वर्षसहस्रपृथक्त्व से, **बिवरस अंतो** – दो वर्ष के अन्दर, **अघाइकम्माणं**– अघातिकर्मों का, **लोभस्स** – संज्वलन लोभ का, **अणुवसंतं** – अनुपशांत, **किट्टीओ**– किट्टिगत दलिक, **जं** – जो, **च** – और, **पुव्वुत्तं** – पूर्व में कहा था।

गाथार्थ – संख्यात स्थितिबंधों के व्यतीत होने पर संज्वलन लोभ का अन्तर्मुहूर्त, शेष घातिकर्मों का दिवसपृथक्त्व और तीन अघाति कर्मों का वर्षसहस्रपृथक्त्व प्रमाण स्थितिबंध होता है, और अन्त में (किट्टिकरणाद्धा के अंत में) उनका क्रमशः अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्दिवस और अधाति कर्मों का वर्ष सहस्र से हीन हीनतर हो कर दो वर्ष के अन्दरप्रमाण वाला स्थितिबंध होता है। संज्वलन लोभ का किट्टिगत दलिक जो पहले कहा था, वह अभी अनुपशांत है।

विशेषार्थ — इस किट्टिकरणाद्धा के संख्यात भागों के व्यतीत होने पर संज्वलन लोभ का स्थितिबंध भिन्नमुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है और तीन घति कर्मों का स्थितिबंध दिवसपृथक्त्व प्रमाण होता है और नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन अघाति कर्मों का स्थितिबंध वर्षसहस्रपृथक्त्व[१] होता है तथा किट्टिकरणाद्धा के अंत में अर्थात् चरम समय में संज्वलनलोभ का स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। लेकिन यह अन्तर्मुहूर्त पूर्व की अपेक्षा अल्पतर जानना चाहिये तथा घातिकर्मों का स्थितिबंध अन्तर्दिवस अर्थात् दिन-रात्रि के भीतर होता है। नाम, गोत्र और वेदनीय इन अघाति कर्मों का स्थितिबंध वर्षसहस्रपृथक्त्व प्रमाण से हीन हीनतर होता हुआ उस किट्टिकरणाद्धा के चरम समय में दो वर्षों के भीतर होता है।

ऐसे समय में -

किट्टिकरणाद्धा में जब एक समय कम तीन आवलिका काल शेष रह जाने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ के दलिक संज्वलन लोभ में नहीं संक्रमाता है, किन्तु स्वस्थान में ही स्थित रहते हुए उपशम को प्राप्त होते हैं। पुनः किट्टिकरणाद्धा में दो आवलिका काल शेष रहने पर बादर संज्वलन लोभ का आगाल नहीं होता है, किन्तु उदीरणा ही होती है और वह भी आवलिका काल तक होती है। इस उदीरणावलिका के चरम समय में जो किट्टिकृत द्वितीय स्थितिगत दलिक हैं और जो पूर्वोक्त अर्थात् समयोन आवलिकाद्विक बद्ध दलिक हैं और जो एक आवलिका किट्टिकरणाद्धा की शेष है, यह सब संज्वलन लोभ अभी अनुपशांत है और शेष सब उपशांत हो गया है और उसी चरम समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ उपशांत हो जाते हैं। उसी समय संज्वलन लोभ का बंध व्यवच्छेद, बादर संज्वलन लोभ के उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। यही अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान का चरम समय है तथा —

सेसद्धं तणुरागो, तावईया किट्टिओ य पढमठिई।
वज्जिय असंखभागं, हेट्ठुवरिमुदीरई सेसा॥ ५४॥

शब्दार्थ — **सेसद्धं** - शेष काल में, **तणुरागो** - सूक्ष्म संपरायी, **तावईया** - उतनी ही, **किट्टिओ** - किट्टियों में से, **य** - और, **पढमठिई** - प्रथम स्थिति, **वज्जिय** - छोड़ कर, **असंखभागं** - असंख्यात भाग, **हेट्ठुवरिं** - नीचे और ऊपर का, **उदीरई** - उदीरणा करता है, **सेसा** - शेष।

गाथार्थ — शेष काल में (तीसरे भाग में) वह सूक्ष्म संपरायी होता है और किट्टियों में से उतनी ही प्रथम स्थिति एवं अंतिम किट्टि के नीचे का और प्रथम किट्टि के ऊपर का असंख्यातवां भाग

---

१. यहां पृथक्त्व शब्द बहुत्व का वाचक - द्योतक है।

छोड़ कर शेष किट्टियों की उदीरणा करता है।

विशेषार्थ – शेषाद्धा अर्थात् शेषकाल के तीसरे त्रिभाग में वह उपशामक सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला होता है और पहले की हुई कितनी ही किट्टियों का द्वितीय स्थिति से आकर्षण कर सूक्ष्म संपराय काल के समान प्रमाण वाली प्रथम स्थिति करता है। किट्टिकरणाद्धा की अंतिम आवलिका मात्र को स्तिबुकसंक्रम से संक्रमाता है तथा प्रथम और अंतिम समय में की गई किट्टियों को छोड़ कर शेष किट्टियां सूक्ष्म संपराय काल के प्रथम समय में उदय को प्राप्त होती है तथा 'वज्जिय असंखभागं' इत्यादि अर्थात् चरम समय कृत किट्टियों के नीचे असंख्यातवें भाग प्रमाण और प्रथम समय कृत किट्टियों के ऊपर असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियों को छोड़ कर शेष किट्टियों की उदीरणा करता है तथा –

गिण्हंतो य मुयंतो, असंखभागं तु चरम समयम्मि।
उवसामेइय बिईय, ठिइं पि पुव्वं व सव्वद्धं॥ ५५॥

शब्दार्थ – **गिण्हंतो** – ग्रहण करता हुआ, **य** – और, **मुयंतो** – छोड़ता हुआ, **असंखभागं**– असंख्यातवें भाग को, **तु** – और, **चरम समयम्मि** – चरम समय तक, **उवसामेइय** – उपशमाता है, **बिईय** – दूसरी, **ठिइं** – स्थितिगत (दलिक) को, **पि** – भी, **पुव्वं व** – पूर्व की तरह, **सव्वद्धं** – सर्वकाल तक।

गाथार्थ – (सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान काल के) अंतिम समय तक किट्टियों के असंख्यातवें भाग को ग्रहण करता और छोड़ता हुआ सम्पूर्ण काल तक द्वितीय स्थितिगत दलिक को पूर्ववत् उपशमाता है।

विशेषार्थ – द्वितीय समय में उदय प्राप्त किट्टियों के असंख्यातवें भाग को छोड़ता है, अर्थात् उपशान्त हो जाने पर उदय में नहीं देता है और अपूर्वकरण असंख्यातवें भाग को अनुभव करने के लिये उदीरणा के द्वारा ग्रहण करता है। इस प्रकार किट्टियों के असंख्यातवें भाग को ग्रहण करता व छोड़ता हुआ तब तक जानना चाहिये जब तक कि सूक्ष्मसंपराय काल का चरम समय प्राप्त होता है तथा द्वितीय स्थितिगत दलिक को भी सूक्ष्मसंपराय काल के प्रथम समय से लेकर सर्वाद्धा अर्थात् समस्त सूक्ष्म संपराय के काल तक पूर्व के समान उपशमाता है और समयोन आवलिकाद्विकबद्ध दलिक को भी उपशमाता है। सूक्ष्म संपराय काल के चरम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, नाम और गोत्र का सोलह मुहूर्त प्रमाण और वेदनीय का चौबीस मुहूर्त प्रमाण स्थितिबंध होता है। उसी के चरम समय में सभी मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाते हैं और उसके अनन्तर समय में वह उपशांतमोह गुणस्थान को प्राप्त होता है।

उवसंतद्धा भिन्नमुहुत्तो तीसे य संखतमतुल्ला।
गुणसेढी सव्वद्धं, तुल्ला य पएसकालेहिं॥ ५६॥

शब्दार्थ – **उवसंतद्धा** – उपशांताद्धा, **भिन्नमुहुत्तो** – भिन्नमुहूर्त (अन्तर्मुहूर्त) प्रमाण **तीसे** – उसके, **संखतमतुल्ला** – संख्यातवें भाग तुल्य, **गुणसेढी** – गुणश्रेणी, **सव्वद्धं** – सर्वकाल **तुल्ला** – समान, **य** – और, **पएसकालेहिं** – प्रदेश और काल की अपेक्षा।

गाथार्थ – यह उपशान्ताद्धा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उसके असंख्यातवें भाग काल के तुल्य गुणश्रेणी की रचना करता है। वह गुणश्रेणी प्रदेश और काल की अपेक्षा सर्व काल समान होती है।

विशेषार्थ – उपशांताद्धा अर्थात् उपशांतमोह गुणस्थान का काल भिन्नमुहूर्त अर्थात् अन्तर्मुहूर्त है। इसमें वह उपशांत संयत उस उपशांताद्धा के संख्यातवें भाग प्रमाण वाली गुणश्रेणी रचता है। वह सम्पूर्ण गुणश्रेणी सर्वाद्धा अर्थात् सम्पूर्ण उपशांत काल तक प्रदेश और काल की अपेक्षा समान करता है क्योंकि उस समय परिणाम अवस्थित रहते हैं। तत्पश्चात् –

उपशमक का पतन

उवसंता य अकरणा, संकमणोवट्टणा य दिट्ठितिगे।
पच्छाणुपुव्विगाए, परिवडइ पमत्तविरतो त्ति॥ ५७॥

शब्दार्थ – **उवसंता** – उपशान्त प्रकृतियां, **य** – और, **अकरणा** – करणरहित, **संकमणोवट्टणा** – संक्रम, अपवर्तन, **य** – और, **दिट्ठितिगे** – दर्शनमोहत्रिक में, **पच्छाणुपुव्विगाए**– पश्चातनुपूर्वी से, **परिवडइ** – गिरता है, **पमत्तविरतो** – प्रमत्तविरत गुणस्थान, **त्ति** – तक।

गाथार्थ – उपशांत प्रकृतियां करण रहित होती हैं। किन्तु दर्शनमोहत्रिक में संक्रम और अपवर्तन होते हैं और पश्चातनुपूर्वी से पतित होता हुआ प्रमत्तविरत गुणस्थान तक गिरता है।

विशेषार्थ – उपशांत हुई मोहनीय की प्रकृतियां अकरण अर्थात् करण रहित होती हैं – अर्थात् वे संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना करण के अयोग्य होती हैं। लेकिन दृष्टित्रिक अर्थात् दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम होने पर भी उनमें संक्रमण और अपवर्तन करण होते हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिये कि मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रम सम्यक्त्व मोहनीय में होता है किन्तु अपवर्तना तीनों ही प्रकृति की होती है।

इस प्रकार उपयुक्त सर्व उपशमनविधि संज्वलनक्रोध के साथ उपशमश्रेणी को प्राप्त जीव की जानना चाहिये।

किन्तु जब तक कोई जीव मान के उदय के साथ श्रेणी को प्राप्त होता है, तब मान को वेदन करता हुआ ही पहले नपुंसकवेद को पूर्वोक्त क्रम से तीनों क्रोधों को उपशमाता है। तत्पश्चात् क्रोधोक्त प्रकार से तीनों मानों को उपशमाता है। इसके अतिरिक्त शेष कथन पूर्व के समान ही जानना चाहिये।

जब कोई जीव माया के साथ श्रेणी को प्राप्त होता है, तब माया को वेदन करता हुआ पहले नपुंसकवेदोक्त प्रकार से क्रोधत्रिक को उपशमाता है और उसके बाद मानत्रिक को उपशमाता है और उसके पश्चात् क्रोधोक्त प्रकार से तीनों माया कषायों को उपशमाता है। शेष कथन तथैव (पूर्व के समान) जानना चाहिये।

जब कोई जीव लोभ के उदय के साथ श्रेणी को प्राप्त होता है, तब लोभ का वेदन करता हुआ पहले तीनों क्रोधों को नपुंसकवेदोक्त क्रम से उपशमाता है। तत्पश्चात् तीनों मानों को और उसके पश्चात् तीनों माया कषायों को उपशमाता है और उसके अनन्तर पूर्वोक्त प्रकार से तीनों लोभों को उपशमाता है।

अब प्रतिपात का कथन करते हैं अर्थात् उपशमश्रेणी की चरमस्थिति प्राप्त करने के बाद जीव वहां से गिरता है, तो अब उस पतन के रूप को बतलाते हैं —

प्रतिपात दो प्रकार से होता है — १. भव के क्षय से और २. उपशांताद्धा के क्षय से। इनमें से भवक्षय वाला प्रतिपात मरने वाले जीव के होता है और अद्धाक्षय वाला प्रतिपात उपशांताद्धा के समाप्त होने से होता है।

भव क्षय से जो जीव गिरता है, उसके प्रथम समय में ही सभी करण आरम्भ हो जाते हैं। वह प्रथम समय में जिन कर्मों की उदीरणा करता है, उन्हें उदयावलि में प्रविष्ट करता है और जो उदीरणा को प्राप्त नहीं होते हैं उनके दलिकों की उदयावलि से बाहर गोपुच्छ के आकार से रचना करता है। किन्तु जो जीव उपशांतमोह गुणस्थान के काल का परिक्षय हो जाने से गिरता है, वह जिस क्रम से स्थितिघात, आदि को करता हुआ चढ़ा था, उसी क्रम से पश्चातनुपूर्वी से स्थितिघात आदि को करता हुआ गिरता है और प्रमत्तगुणस्थान तक गिरता है। गिरते समय होने वाली अवस्था इस प्रकार है —

ओकड्डित्ता बिइय-ठिईहिं उदयादिसुं खिवइ दव्वं।
सेढिए विसेसूणं, आवलिउप्पिं असंखगुणं॥ ५८॥

शब्दार्थ — **ओकड्डित्ता** — आकर्षित करके, **बिइय** — दूसरी, **ठिईहिं** — स्थिति में से, **उदयादिसुं** — उदयादि में, **खिवइ** — प्रक्षेप करता है, **दव्वं** — द्रव्य को, **सेढिए** — श्रेणी से, **विसेसूणं** — विशेषहीन, **आवलिउप्पिं** — आवलिका से ऊपर, **असंखगुणं** — असंख्यातगुणित।

गाथार्थ — द्वितीय स्थिति में से दलिक को आकर्षित कर उदयादि समयों में विशेषहीन श्रेणी से प्रक्षेप करता है और आवलिका से ऊपर असंख्यात गुणित प्रक्षेप करता है।

विशेषार्थ — उपशांतमोह गुणस्थान से गिरता हुआ क्रम से संज्वलन लोभ आदि कर्मों का अनुभव करता है, यथा - सर्व प्रथम संज्वलन लोभ को, तत्पश्चात् जहां माया का उदयविच्छेद हुआ था, वहां से लेकर माया को तत्पश्चात् जहाँ मान के उदय का विच्छेद हुआ था वहाँ से नीचे मान को और जहां पर क्रोध के उदय का विच्छेद हुआ था, वहां से क्रोध को आरम्भ करके उसका अनुभव करता है। इस प्रकार क्रम से उदय को प्राप्त उन कर्मों का अनुभव करने के लिये द्वितीय स्थिति से उनके दलिकों का अपकर्षण करके अर्थात् खींचकर प्रथम स्थिति को करता है और उदय समय को आदि लेकर शेष स्थितियों में श्रेणी के क्रम से विशेषहीन विशेषहीन प्रक्षेपण करता है, यथा — उदय समय में बहुत प्रक्षेप करता है उससे दूसरे समय में विशेषहीन और उससे भी तीसरे समय में विशेषहीन प्रक्षेप करता है। इस प्रकार उदयावलिका के चरम समय तक जानना चाहिये और उसके पश्चात् उदयावलिका से ऊपर असंख्यात गुणित दलिक प्रक्षेप करता है यथा — उदयावलि से ऊपर प्रथम समय में उससे पूर्ववर्ती अनन्तर समय वाले दलिक निक्षेप की अपेक्षा असंख्यात गुणित दलिक निक्षेप करता है, उससे भी दूसरे समय में असंख्यात गुणित और उससे भी तीसरे समय में असंख्यात गुणित दलिक निक्षेप करता है। इस प्रकार गुणश्रेणी के शीर्ष तक जानना चाहिये। इसके पश्चात् फिर पूर्वोक्त क्रम से विशेषहीन विशेषहीन दलिक निक्षेप करता है तथा —

वेइज्जंतीणेवं, इयरासिं आलिगाए बाहिरओ।
न हि संकमोणुपुव्विं, छावलिगोदीरणा उप्पिं॥ ५९॥

शब्दार्थ — **वेइज्जंतीणेवं** — इस प्रकार वेद्यमान प्रकृतियों का, **इयरासिं** — इतर का, **आलिगाए** — आवलिका से, **बाहिरओ** — बाहर, **न हि** — नहीं ही, **संकमोणुपुव्विं** — अनुपूर्वी संक्रमण, **छावलिगा** — छह आवलिका, **उदीरणां** — उदीरणा, **उप्पिं** — ऊपर।

गाथार्थ — इस प्रकार वेद्यमान प्रकृतियों का दलिक निक्षेप जानना चाहिये, किन्तु इतर का आवलिका से बाहर निक्षेप होता है। उनका सिर्फ अनुपूर्वी संक्रम ही नहीं होता है और छह आवलिकाओं से ऊपर उदीरणा नहीं होती है।

विशेषार्थ — पूर्व गाथा में कहा गया यह दलिक निक्षेप उस काल में वेद्यमान प्रकृतियों का ही जानना चाहिये, इतर का नहीं। किन्तु इतर अर्थात् अवेद्यमान प्रकृतियों का दलिक निक्षेप आवलिका से ऊपर ही होता है और वह भी असंख्यात गुणित क्रम से गुणश्रेणीशीर्ष तक होता है। उससे आगे पुनः पहले कहे गये क्रम से विशेषहीन होता है। गाथा में 'हि' शब्द अर्थात् अवधारणार्थक है अर्थात् विशेष

अर्थ बोधक है। अत: उसका यह अर्थ हुआ कि यहां सिर्फ आनुपूर्वी से ही संक्रम नहीं होता है किन्तु अनानुपूर्वी संक्रम भी होता है तथा बंध के अनन्तर छह आवलिकाओं से ऊपर उदीरणा होती है, ऐसा जो पहले कहा था, वह नहीं होता है किन्तु बंधावलिका मात्र काल के बीतने पर भी उदीरणा होती है तथा —

वेइज्जमाण संजलण-द्धाए अहिगा उ मोहगुणसेढी।
तुल्ला य जयारूढो, अतो य सेसेहि से तुल्ला॥ ६०॥

शब्दार्थ — **वेइज्जमाण** — वेद्यमान, **संजलणद्धाए** — संज्वलन काल से, **अहिगा** — अधिक, **उ** — तथा, **मोहगुणसेढी** — मोहनीय प्रकृति की गुणश्रेणी, **तुल्ला** — समान, **य** — और, **जयारूढो** — जिससे आरूढ हुआ, **अतो य** — वहां से, **सेसेहि** — शेष कर्मों से, **से** — वह, **तुल्ला**— समान तुल्य।

गाथार्थ — मोहनीय प्रकृतियों की गुणश्रेणी वेद्यमान संज्वलन काल से अधिक होती है तथा जिस संज्वलन कषाय के उदय से श्रेणी पर आरूढ हुआ, वहां से गुणश्रेणी शेष कर्मों की गुणश्रेणी के समान आरम्भ करता है।

विशेषार्थ — मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की गुणश्रेणी काल की अपेक्षा वेद्यमान संज्वलन काल से अधिक गिरते हुये आरम्भ करता है, किन्तु आरोहण काल की गुणश्रेणी की अपेक्षा वह समान है, तथा गाथा में आगत 'जयारूढो' पद का यह अर्थ है कि संज्वलन कषाय के उदय से उपशमश्रेणी को प्राप्त हुआ था, उसके उदय को प्राप्त होता हुआ, उससे लगाकर आगे की उसकी गुणश्रेणी को शेष कर्मों की गुणश्रेणी के साथ समान आरम्भ करता है। जैसे कोई जीव संज्वलन क्रोध के उदय से उपशमश्रेणी को प्राप्त हुआ, तब श्रेणी से गिरता हुआ वह संज्वलन क्रोध के उदय को प्राप्त होता है, वहां से आगे उसकी गुणश्रेणी शेष कर्मों के समान होती है। इसी प्रकार मान और माया की गुणश्रेणी का भी कथन करना चाहिये तथा संज्वलन लोभ से उपशमश्रेणी को प्राप्त जीव के प्रतिपात काल में प्रथम समय से ही लेकर संज्वलन लोभ की गुणश्रेणी शेष कर्मों की गुणश्रेणी के साथ एक समान होती है और शेष कर्मों का उपशमश्रेणी को आरोहण करते हुए जहां जो बंध, संक्रम आदि प्रवृत्त था, वह उसी प्रकार से प्रतिपतित जीव के भी पश्चानुपूर्वी के क्रम से हीन और अधिकता से रहित जैसा को तैसा अन्यूनातिरिक्त जानना चाहिये तथा —

खवगुवसामगपडि - वयमाणदुगुणो तहिं तहिं बंधो।
अणुभागो णंतगुणो, असुभाण सुभाण विवरीओ॥ ६१॥

शब्दार्थ – **खवगुवसामग** – क्षपक, उपशामक, **पडिवयमाण** – प्रतिपतत के, **दुगुणो**– द्विगुण, दुगुना, **तहिं तहिं** – उस उस स्थान पर, **बंधो** – बंध, **अणुभागो** – अनुभाग, **अणंतगुणो**– अनन्त गुना, **असुभाण** – अशुभ प्रकृतियों का, **सुभाण** – शुभ प्रकृतियों का, **विवरीओ** – विपरीत।

गाथार्थ – क्षपक के उपशामक और उपशमप्रतिपतत के उस उस स्थान पर अनुक्रम से दुगना बंध होता है, तथा अशुभ प्रकृतियों का अनन्तगुणा अनुभाग होता है और शुभ प्रकृतियों का उससे विपरीत अनुभाग बंध होता है।

विशेषार्थ – क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने वाले क्षपक के जिस स्थान पर जितना स्थितिबंध होता है, उसी स्थान पर उपशमश्रेणी चढ़ने वाले जीव का स्थितिबंध उससे दुगना होता हैऔर उससे भी उसी स्थान पर उपशमश्रेणी के गिरने वाले जीव के दुगुणा है अर्थात् उपशमश्रेणी से गिरने वाले जीव के क्षपक संबंधी स्थितिबंध की अपेक्षा चतुर्गुणित स्थितिबंध होता है।

स्थितिबंध की तरह अनुभाग के विषय में यह स्थिति है कि क्षपक के जिस स्थान पर अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग जितना होता है, उसकी अपेक्षा उसी स्थान पर उन्हीं अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग उपशामक के अनंतगुणा होता है। और उसी स्थान पर उपशमश्रेणी से गिरते हुए जीव के उन्हीं अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग उपशामक की अपेक्षा अनंतगुणा होता है। लेकिन 'सुभाण विवरीओ' अर्थात् शुभ प्रकृतियों का विपरीत कहना चाहिये और वह इस प्रकार से उपशमश्रेणी से गिरते हुए जीव के जिस स्थान पर शुभ प्रकृतियों का जितना अनुभाग होता है, उसकी अपेक्षा उसी स्थान पर उन्हीं शुभ प्रकृतियों का अनुभाग उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाले उपशामक के अनन्तगुणा होता हैऔर उससे भी उसी स्थान पर उन्हीं शुभ प्रकृतियों का अनुभाग क्षपक के अनन्तगुणा होता है।

शेष वर्णन जैसा आरोहण करने वाले जीव का किया है, उसी प्रकार गिरने वाले जीव का भी प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक जानना चाहिये।

अब अप्रमत्त संयत गुणस्थान में गिरने के बाद की स्थिति का वर्णन करते हैं -

किच्चा पमत्ततदियर, ठाणे परिवत्ति बहुसहस्साणि।
हिट्ठिल्लाणंतरदुगं, आसाणं वा वि गच्छिज्जा॥ ६२॥

शब्दार्थ – **किच्चा** – करके, **पमत्ततदियरठाणे** – प्रमत्त और उससे इतर स्थान में, **परिवत्ति** – परावर्तन, **बहुसहस्साणि** – अनेकों सहस्र, **हिट्ठिल्लाणंतरदुगं** – नीचे के अनन्तरवर्ती दो गुणस्थानों को, **आसाणं** – सास्वादन को, **वा** – अथवा, **वि** – भी, **गच्छिज्जा** – जा सकता है।

गाथार्थ – प्रमत्तगुणस्थान में आने के बाद प्रमत्त और इतर अप्रमत्त गुणस्थान में अनेकों सहस्र परावर्तन करके नीचे के अनन्तरवर्ती दो गुणस्थानों को अथवा सास्वादन गुणस्थान को भी जा सकता है।

विशेषार्थ – प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में बहुत से हजारों परिवर्तन करके अर्थात् छठे से सातवें और सातवें से छठे गुणस्थान में हजारों बार जाने आने के बाद कोई जीव उससे अधोवर्ती अनन्तर गुणस्थान द्विक को प्राप्त होता है। अर्थात् कोई देशविरत भी हो जाता है और कोई अविरत सम्यग्दृष्टि भी हो जाता है और जिन आचार्यों के मत से अनन्तानुबंधी कषायों की उपशमना होती है, उनके मतानुसार कोई जीव सास्वादन भाव को भी प्राप्त होता है। तथा -

उवसमसम्मत्तद्धा, अंतो आउक्खया धुवं देवो।
तिसु आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ॥ ६३॥

शब्दार्थ – **उवसमसम्मत्तद्धाअंतो** – उपशम सम्यक्त्व के काल में रहते, **आउक्खया** – आयु के क्षय होने पर, **धुवं** – निश्चित रूप से, **देवो** – देव, **तिसु** – तीन, **आउगेसु** – आयुकर्मों के, **बद्धेसु** – बंधने पर, **जेण** – जिस कारण से, **सेढिं** – श्रेणी का, **न** – नहीं, **आरुहइ** – आरोहण करता है।

गाथार्थ – उपशम सम्यक्त्व के काल में रहते जीव का यदि आयुक्षय से मरण होता है तो निश्चित रूप से देव होता है। क्योंकि शेष तीन आयुकर्मों के बंधने पर जीव श्रेणी पर आरोहण नहीं करता है।

विशेषार्थ – औपशमिक सम्यक्त्व के काल में वर्तमान कोई जीव यदि आयु क्षय के कारण काल करता है, तो वह अवश्य ही देव होता है, और यदि वह सास्वादन भाव को भी प्राप्त होता हुआ काल करता है तो वह भी देव ही होता है। क्योंकि ऐसा कहा गया है – जिस कारण से देवायु को छोड़ कर शेष तीनों आयुकर्मों में से किसी एक आयु के बंध हो जाने पर जीव उपशमश्रेणी पर आरोहण नहीं करता है। इसलिये श्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव श्रेणी से गिरकर काल करके देव ही होता है तथा–

उग्घाडियाणि करणाणि, उदयट्ठिइमाइगं इयरतुल्लं।
एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमेइ॥ ६४॥

शब्दार्थ – **उग्घाडियाणि** – उद्घटित, प्रकट हो जाते हैं, **करणाणि** – करण, **उदय ट्ठिइमाइगं** – उदयस्थिति बंधाद्विक, **इयरतुल्लं** – इतर (श्रेणी आरोहण) के समान, **एगभवे** – एक

भव में, **दुक्खुत्तो** – दो बार, **चरित्तमोहं** – चारित्रमोह को, **उवसमेइ** – उपशमाता है।

गाथार्थ – उपशमश्रेणी पर आरोहण करते समय जहां जहां जो करण विच्छिन्न हुए थे, वे वे गिरते समय वहां वहां प्रगट हो जाते हैं। उदय और स्थितिबंधादिक श्रेणी के समान ही होते हैं। एक भव में जीव दो बार चारित्रमोह को उपशमाता है।

विशेषार्थ – उपशमश्रेणी पर आरोहण करते हुए जहां जिस जिस स्थान पर बंधनकरण, संक्रमकरण आदि में से जिन जिन को विच्छिन्न किया था, उपशमश्रेणी के गिरते हुये और उस उस स्थान को प्राप्त करते हुये वे वे करण उदघाटित हो जाते हैं। अर्थात् उन करणों का वहां कार्य प्रारम्भ हो जाता है तथा उदय, स्थितिबंध आदिक इतर तुल्य अर्थात् उपशमश्रेणी आरोहण करते समय होने वाले उदय और स्थिति आदि के समान होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उपशमश्रेणी पर आरोहण करते हुये जो कर्म उदय और स्थिति आदि से विच्छिन्न हुए थे उस उस के उदय, स्थिति आदिक प्रतिपात के समय वहां वहां होने लगते हैं।

'एगभवे' इत्यादि अर्थात् जीव एक भव में दो बार चारित्रमोह की उपशमना करता है। यानि दो बार उपशमश्रेणी पर चढ सकता है, किन्तु उसी भव में तीसरी बार नहीं चढ़ सकता है[१]।

इस प्रकार पुरुषवेद के उदय से उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाले जीव की विधि बतलाई। अब स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद के उदय से उपशमश्रेणी को प्राप्त होने वाले जीव की विधि कहते हैं –

उदयं वज्जी इत्थी, इत्थिं समयइ अवेयगा सत्त।
तह वरिसवरो वरि-सवरिं इत्थिं समगं कमारद्धे॥ ६५॥

शब्दार्थ – **उदयं** – उदय समय को, **वज्जी** – छोड़कर, **इत्थी** – स्त्री, **इत्थिं** – स्त्रीवेद को, **समयइ** – उपशमाती है, **अवेयगा** – अवेदक होकर, **सत्त** – सात, **तह** – इसी तरह, **वरिसवरो** – नपुंसक, **वरिसवरिं** – नपुंसकवेद को, **इत्थिं** – स्त्रीवेद, **समगं** – साथ, **कमारद्धे** – क्रम से आरम्भ करने के समय।

गाथार्थ – (अंतिम) उदय समय मात्र स्थिति को छोड़कर स्त्रीवेद को उपशमाती स्त्री अवेदक होती हुई, उसी समय सात नोकषायों को उपशमाती है और इसी क्रम से उपशमश्रेणी को आरम्भ करने के समय नपुंसक जीव नपुंसकवेद को स्त्रीवेद के साथ उपशमाता है।

---

१. जो जीव दो बार उसी भव में उपशमश्रेणी पर आरोहण कर लेता है। वह जीव उसी भव में क्षपकश्रेणी पर आरोहण नहीं करता। किन्तु जो जीव एक बार उपशमश्रेणी पर आरोहण करता है। वह उसी भव में क्षपकश्रेणी पर भी आरोहण कर सकता है। यह कर्म सिद्धान्त का अभिप्राय है। आगमिक दृष्टिकोण से तो जीव एक भव में एक ही श्रेणी पर आरोहण करता है। उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणी "अन्नयर सेढिवज्जं एग भवेणं च सव्वाइं"।

विशेषार्थ — उपशमश्रेणी को प्राप्त होती हुई स्त्री पहले नपुंसकवेद को उपशमाती है और उसके पश्चात् स्त्रीवेद को उपशमाती रहती है जब तक कि अपने उदय का द्विचरम प्राप्त होता है उस समय एक चरम समय मात्र उदयस्थिति को छोड़कर शेष सम्पूर्ण स्त्रीवेद संबंधी दलिक उपशांत हो जाते हैं। तत्पश्चात् चरम समय के व्यतीत होने पर अवेदक होती हुई पुरुषवेद और हास्यादि षट्क इन सातों प्रकृतियों को एक साथ उपशमाना प्रारम्भ करती है। शेष सर्वविधि पुरुषवेद से श्रेणी को प्राप्त करने वाले जीव के समान जानना चाहिये।

अब नपुंसकवेद से उपशमश्रेणी को प्राप्त होने वाले जीव की विधि कहते हैं —

'तह वरिसवरो' इत्यादि अर्थात् वर्षवर यानि नपुंसक जीव भी उपशमश्रेणी को प्राप्त होता हुआ उसी प्रकार से (पूर्वोक्त प्रकार से) एक उदयस्थिति को छोड़कर नपुंसक और स्त्रीवेद को एक साथ उपशमाता है। 'कमारद्धे इति' अर्थात् क्रम से उपशम करना प्रारम्भ करने पर भी इन दोनों वेदों को एक साथ उपशमाता है।

यहां एक मतान्तर है - स्त्रीवेद या पुरुषवेद से उपशमश्रेणी को प्राप्त होता हुआ जीव जिस स्थान पर नपुंसकवेद को उपशमाता है, उतनी दूर तक नपुंसकवेद से भी श्रेणी को प्राप्त होता हुआ केवल नपुंसकवेद को ही उपशमाता है। पुनः उससे आगे नपुंसकवेद और स्त्रीवेद को एक साथ उपशमाने लगता है और उपशमाता हुआ वह नपुंसकवेद के द्विचरम समय तक जाता है। उस समय स्त्रीवेद उपशांत होता है और नपुंसकवेद की एक समय मात्र उदयस्थिति रहती है, शेष सर्वदलिक उपशांत हो जाते हैं। उस उदयस्थिति के भी व्यतीत होने पर वह जीव अवेदक हो जाता है। तत्पश्चात पुरुषवेद आदि सातों प्रकृतियों को एक साथ उपशमाने के लिये प्रयत्न करता है। शेष कथन पूर्व के समान जानना चाहिये।[१]

उपशमश्रेणी में उपशांत होती हुई मोहनीय की २८ प्रकृतियों के अनुक्रम का प्रारूप इस प्रकार है[२] —

उपशांतमोह गुणस्थान उपशमश्रेणी का चरम स्थान	
संज्वलन लोभ	१

क्रमशः आगे देखें

१. दिगम्बर कर्मग्रन्थों में इसी प्रकार उपशम का विधान किया है। किन्तु उसमें अनन्तानुबंधी का विधान नहीं किया है देखो लब्धिसार २०५ से ३९१ तक।

. *उपशमना प्रकरण में उपशमश्रेणी का वर्णन किया है। उपशमना मोहनीय कर्म की होती है और क्षपकश्रेणी में सभी कर्मों*

अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ	२
संज्वलन माया	१
अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया	२
संज्वलन मान	१
अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान	२
संज्वलन क्रोध	१
अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध	२
पुरुषवेद	१
हास्यादि नोकषाय	६
स्त्रीवेद	१
नपुंसकवेद	१
दर्शनमोहनीयत्रिक	३
अनन्तानुबंधी कषाय का चतुष्क	४

१. पुरुषवेद प्रारम्भक की अपेक्षा यह प्रारूप है।

२. आरोहण की अपेक्षा नीचे से (अनन्तानुबंधी चतुष्क से) ऊपर की ओर क्रम समझना चाहिये। और अवरोहण की अपेक्षा इससे विपरीत अर्थात् ऊपर से (उपशांतमोह गुणस्थान से) प्रारम्भ कर नीचे की ओर (अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क तक) क्रम जानना चाहिये। इस प्रकार सर्वोपशमना का विवेचन किया गया ।

देशोपशमना

अब देशोपशमना का प्रतिपादन करते हैं —

पगइठिई अणुभाग – प्पएसमूलत्तराहि पविभत्ता।
देसकरणोवसमणा तीए समियस्स अट्ठपयं॥ ६६॥

शब्दार्थ — **पगइठिईअणुभागप्पएस** – प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, **मूलत्तराहि**– मूल और उत्तर भेद से, **पविभत्ता** – प्रविभक्त, **देसकरणोवसमणा** – देशकरणोपशमना, **तीए** – उसके, **समियस्स** – उपशमित का, **अट्ठपयं** – अर्थपद (तात्पर्य)।

गाथार्थ — मूल और उत्तर के विभाग से प्रविभक्त देशकरणोपशमना प्रकृति स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद वाली है। उसके द्वारा उपशमित कर्म का यह अर्थपद (तात्पर्य) है।

विशेषार्थ — देशतः अर्थात् यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण नामक दो करणों के द्वारा कर्म-प्रकृतियों की जो उपशमना होती है, उसे देशकरणोपशमना कहते हैं — **देशतः करणाभ्यां यथाप्रवृत्तापूर्वकरण संज्ञाभ्यां कृत्वा प्रकृत्यादीनामुपशमना देशकरणोपशमना।** इसका यह आशय है कि यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण के द्वारा प्रकृतियों के जो दलिक एकदेश उपशमाये जाते हैं किन्तु सम्पूर्ण रूप से नहीं वह देशकरणोपशमना कहलाती है।[1] वह चार प्रकार की है —

१. प्रकृतिदेशोपशमना
२. स्थितिदेशोपशमना
३. अनुभागदेशोपशमना
४. प्रदेशदेशोपशमना

यह चारों ही प्रत्येक दो प्रकार की हैं — १. मूलप्रकृति विषयक और २. उत्तरप्रकृति विषयक। इस देशकरणोपशमना से शमित अर्थात् उपशम को प्राप्त किये गये कर्म का यह तात्पर्य है। जिसको आगे की गाथा में विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं —

उव्वट्टणओवट्टण-संकमणाइं च तिन्नि करणाइं।
पगईतयासमईओ[2], पहू नियट्टिंमि वट्टंतो॥ ६७॥

शब्दार्थ — **उव्वट्टणओवट्टण** — उद्वर्तना, अपवर्तना, **संकमणाइं** — संक्रमण, **च** — और, **तिन्नि** — तीन, **करणाइं** — करण, **पगईतयासमईओ** — प्रकृतियों को उपशमाने के लिये, **पहू**— समर्थ **नियट्टिंमि** — निवृत्तिबादर (अपूर्वकरण)में , **वट्टंतो** — वर्तमान।

गाथार्थ — उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण ये तीन करण देशोपशमना में होते हैं और निवृत्तिकरण में वर्तमान जीव इसे देशोपशमना द्वारा प्रकृतियों को उपशमाने के लिये समर्थ है।

विशेषार्थ — देशोपशमना से उपशांत हुए कर्म के उद्वर्तन, अपवर्तन और संक्रमण रूप तीन करण प्रवर्तित होते हैं, उदीरणा आदि करण नहीं होते हैं। यह देशोपशमना की विशेषता है। तथा निवृत्तिकरण अर्थात् अपूर्वकरण में उस देशोपशमना से मूल प्रकृतियों या उत्तर प्रकृतियों को उपशमाने के लिये प्रभू अर्थात् समर्थ होता है।

---

१. यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणाभ्यां यत् प्रकृत्यादिकं देशतः उपशमयति, न सर्वात्मना सा देशकरणोपशमना।

२. 'उवसमिओ' - इति पाठान्तरम्

यहां निवृत्ति पद का ग्रहण अंतिम सीमा बतलाने के लिये समझना चाहिये। इसलिये यह अर्थ होता है – सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, नारक, देव और मनुष्य यथासंभव अपूर्वकरण के अंत तक सभी कर्मों की देशोपशमना के स्वामी जानना चाहिये।

अब इसका विचार करते हैं –

दंसणमोहाणंता-णुबंधिणं सगनियट्टिओ णुप्पिं।
जा उवसमे चउद्धा, मूलुत्तरणाइसंताओ॥ ६८॥

शब्दार्थ – दंसणमोहाणंताणुबंधिणं – दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी की, **सगनियट्टिओ णुप्पिं** – अपने अपने अपूर्वकरण से आगे, **जा** – यह, **उवसमे** – उपशमना, **चउद्धा** – चार प्रकार की, **मूलुत्तरणाइसंताओ** – मूल उत्तर और अनादि प्रकृतियों की सत्ता वाली।

गाथार्थ – दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी की अपने अपने अपूर्वकरण से आगे देशोपशमना नहीं होती है। मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति और अनादि सत्ता वाली प्रकृतियों की यह देशोपशमना चार प्रकार की है।

विशेषार्थ – दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबंधी कषायों की अपने अपने अपूर्वकरण से परे देशोपशमना नहीं होती है। जिसका आशय यह है कि दर्शनमोहनीयत्रिक की देशोपशमना क्षपक अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत अथवा सर्वविरत तथा उपशमक विरत अपने अपूर्वकरण के अंतिम समय तक करते हैं तथा अनंतानुबंधी कषायों की विसंयोजना के समय चारों गतियों के जीव अपने अपूर्वकरण के अंतिम समय तक देशोपशमना करते हैं, उससे आगे नहीं करते हैं।

इनके अतिरिक्त शेष रही चारित्रमोहनीय प्रकृतियों की उपशमना में या क्षपण में अपूर्वकरण गुणस्थान के चरम समय तक देशोपशमना नहीं होती है।

इस प्रकार की मोहनीय की प्रकृतियों की देशोपशमना का विधान है। मोहनीय के सिवाय शेष ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों की सर्वोपशमना नहीं होती है, किन्तु देशोपशमना ही होती है और वह अपूर्वकरण गुणस्थान तक जानना चाहिये।

अब प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा करते हैं – जो मूल प्रकृतियां अथवा अनादि सत्ता वाली उत्तर प्रकृतियां हैं, वे उपशम में देशोपशमना की अपेक्षा चार प्रकार की हैं, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। आठों ही मूल प्रकृतियां चारों प्रकार की होती हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिये – अपूर्वकरण गुणस्थान से परे जाकर पतित होने वाले जीवों के प्रवर्तमान वह देशोपशमना

सादि है। उस स्थान के अप्राप्त जीवों के अनादि है। अभव्य जीवों के ध्रुव और भव्य जीवों के अध्रुव होती है।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा करते हैं –

वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, नरकद्विक, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, उच्चगोत्र इन उद्वलना योग्य तेईस प्रकृति, तीर्थंकर और चार आयु, इन अट्ठाईस प्रकृतियों को छोड़ कर शेष एक सौ तीस प्रकृतियां ध्रुवसत्ता वाली हैं। इनकी देशोपशमना चार प्रकार की है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जो इस प्रकार है – मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों की देशोपशमना अपने अपने अपूर्वकरण से परे नहीं होती हैं। शेष कर्मों की भी देशोपशमना अपूर्वकरण गुणस्थान से परे नहीं होती है और उससे परवर्ती स्थान से गिरने वाले जीवों के होती है, इसलिये वह सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीवों को अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये। शेष जो उद्वलन योग्य तेईस आदि अट्ठाईस प्रकृतियां ऊपर कही हैं, उनकी अध्रुव सत्ता होने से ही देशोपशमना सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

देशोपशमना के प्रकृतिस्थान

अब देशोपशमना का आश्रय करके प्रकृतिस्थान की प्ररूपणा करते हैं –

चउरादिजुया वीसा, एक्कवीसा य मोहठाणाणि।
संकमनियट्टिपाउ-ग्गाइं सजसाइनामस्स॥ ६९॥

शब्दार्थ – **चउरादिजुया वीसा** – चार आदि से युक्त बीस, **एक्कवीसा** – इक्कीस, **य** – और, **मोहठाणाणि** – मोहनीय के स्थान, **संकम** – संक्रम, **नियट्टिपाउग्गाइं** – निवृत्तिप्रायोग्य, **सजसाइ** – यश:कीर्ति सहित, **नामस्स** – नामकर्म के।

गाथार्थ – चार आदि से युक्त बीस तथा इक्कीस ये छह मोहनीयकर्म के देशोपशमना के प्रकृतिस्थान हैं। नामकर्म के यश:कीर्ति सहित जो संक्रमस्थान कहे हैं, वे ही अपूर्वकरण में देशोपशमना संबंधी जानना चाहिये।

विशेषार्थ – देशोपशमना की अपेक्षा मोहनीयकर्म के छह प्रकृतिस्थान होते हैं, यथा – चार आदि युक्त बीस, अर्थात् चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस तथा इक्कीस। शेष स्थान अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में पाये जाते हैं, इसलिये वे देशोपशमना में संभव नहीं है। उक्त छह स्थानों में से –

अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान मिथ्यादृष्टि, सास्वादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के पाया जाता है।

सत्ताईस प्रकृतिक स्थान सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना करने वाले मिथ्यादृष्टि के अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि के पाया जाता है।

छब्बीस प्रकृतिक स्थान सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना करने वाले सादि मिथ्यादृष्टि के अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि के पाया जाता है।

पच्चीस प्रकृतिक स्थान छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हुये अपूर्वकरण से आगे जानना चाहिये। क्योंकि उसके मिथ्यात्व की देशोपशमना का अभाव होता है।

अनन्तानुबंधी कषायों का उद्वलन करते समय अपूर्वकरण से परे वर्तमान जीव के चौबीस प्रकृतिक स्थान होता है। अथवा चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाले जीव के चौबीस प्रकृतिक स्थान होता है।

दर्शनमोहत्रिक और अनन्तानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों का क्षय करने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि के इक्कीस प्रकृतिक स्थान होता है।

अब नामकर्म के प्रकृतिस्थानों का कथन करते हैं —

'संकम नियट्टिपाउग्गाइं' इत्यादि अर्थात् प्रकृतिस्थान संक्रम में नामकर्म के जो यशःकीर्ति के साथ स्थान कहे हैं, वे ही निवृत्ति प्रायोग्य अर्थात् अपूर्वकरण के योग्य यानि देशोपशमना के योग्य होते हैं। वे स्थान इस प्रकार हैं — एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तिरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतिक।

इनमें से आदि के चार स्थान अपूर्वकरण गुणस्थान के चरम समय तक जानना चाहिये, उससे आगे नहीं, तथा शेष तिरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृति रूप स्थान एकेन्द्रिय आदि जीवों के होते हैं। वे श्रेणी को प्राप्त होने वाले जीवों के सम्भव नहीं हैं। तथा शेष नामकर्म के स्थान अपूर्वकरण गुणस्थान से आगे पाये जाते हैं, उससे पहले नहीं पाये जाते हैं, इसलिये देशोपशमना के योग्य नहीं है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का एक एक प्रकृतिस्थान देशोपशमना के योग्य नहीं है। इनमें ज्ञानावरण और अन्तराय का पंच प्रकृत्यात्मक स्थान दर्शनावरण का नव प्रकृत्यात्मक स्थान, वेदनीय का द्विक प्रकृत्यात्मक स्थान देशोपशमना के योग्य होता है।

आयु कर्म तथा गोत्रकर्म के एक प्रकृतिक और दो प्रकृतिक इस तरह दो स्थान देशोपशमना के योग्य होते हैं। इस प्रकार देशोपशमना का विवेचन जानना चाहिये।

स्थिति - देशोपशमना

अब स्थिति देशोपशमना का कथन करते हैं —

ठिइसंकमव्व ठिइ उवसमणा णवरि जहन्निया कज्जा।
अब्भवसिद्धि जहन्ना उव्वलगनियट्टिगे वियरा॥ ७०॥

शब्दार्थ — **ठिइसंकमव्व** — स्थितिसंक्रम के स्थान, **ठिइउवसमणा** — स्थिति उपशमना, **णवरि** — विशेष, **जहन्निया** — जघन्य स्थिति में, **कज्जा** — कहना चाहिये, **अब्भवसिद्धि** — अभव्यसिद्धिक, **जहन्ना** — जघन्य, **उव्वलगनियट्टिगे** — उद्वलना और अपूर्वकरण में, **वियरा** — उससे इतर।

गाथार्थ — स्थितिसंक्रम के समान स्थिति - देशोपशमना कहना चाहिये। विशेष यह है कि जघन्य स्थिति - देशोपशमना में अभव्यसिद्धिकप्रायोग्य जघन्यस्थिति जानना और उससे इतर स्थिति वाली प्रकृतियों की देशोपशमना उद्वलना में अथवा अपूर्वकरण में जानना चाहिये।

विशेषार्थ — स्थितिसंक्रम के समान स्थिति - देशोपशमना जानना चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि यहां जघन्य स्थिति - देशोपशमना के योग्य जानना चाहिये। जिसका अभिप्राय यह है कि यह जघन्य स्थिति अभव्यसिद्धिक के योग्य ग्रहण करना चाहिये।

स्थिति - देशोपशमना दो प्रकार की होती है — मूल प्रकृति - देशोपशमना और उत्तरप्रकृति-देशोपशमना। ये दोनों प्रत्येक दो दो प्रकार की हैं — जघन्य और उत्कृष्ट। इनमें मूल प्रकृतियों की और उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति देशोपशमना का स्वामी जो पहले उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम का स्वामी प्रतिपादित किया गया है, वही जानना चाहिये तथा जघन्य स्थिति देशोपशमना का स्वामी भी जघन्य स्थितिसंक्रम के स्वामी के समान ही जानना चाहिये। केवल उसमें यह विशेष है कि जघन्य स्थिति-देशोपशमना का स्वामी अभव्यसिद्धिक के योग्य जघन्य स्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय जानना चहिये। क्योंकि उसके ही प्रायः सर्वकर्मों की अति जघन्य स्थिति प्राप्त होती है और जो अन्य प्रकृतियां अभव्य-सिद्धिक के योग्य जघन्य स्थिति वाली होती हैं, उनकी उद्वलना करने वाले जीव में अथवा अपूर्वकरण में वर्तमान जीव में जघन्य स्थिति - देशोपशमना जानना चाहिये।

उद्वलन प्रायोग्य प्रकृतियों के पल्योपम के अंख्यातवें भाग मात्र अंतिम स्थिति खंड में वर्तमान एकेन्द्रिय अथवा अनेकेन्द्रिय जीव आहारकसप्तक, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की जघन्य

देशोपशमना करता है। शेष प्रकृतियां जो उद्वलना योग्य हैं ऐसी वैक्रियसप्तक देवद्विक, नरकद्विक, मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र इनकी जघन्य देशोपशमना एकेन्द्रिय जीव ही करता है। इनके सिवाय अन्य सभी प्रकृतियों की जघन्य देशोपशमना अपूर्वकरण के चरम समय में वर्तमान जीव करता है।

अनुभाग और प्रदेश - देशोपशमना

स्थिति - देशोपशमना के अनन्तर अब अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना का कथन करते हैं-

अणुभागसंकमसमा, अणुभागुवसामणा नियट्टिम्मि।
संकमपएसतुल्ला, पएसुवसामणा चेत्थ ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ — **अणुभागसंकमसमा** — अनुभागसंक्रम के समान, **अणुभागुवसामणा** — अनुभाग- देशोपशमना, **नियट्टिम्मि** — निवृत्तिकरण में, **संकमपएसतुल्ला** — प्रदेशसंक्रम के समान, **पएसुवसामणा** — प्रदेश - देशोपशमना, **च** — और, **इत्थ** — यहां पर।

गाथार्थ — यहां पर अनुभागसंक्रम के समान अनुभाग देशोपशमना निवृत्तिकरण (अपूर्वकरण) में और प्रदेशसंक्रम के तुल्य प्रदेश - देशोपशमना जानना चाहिये।

विशेषार्थ — अनुभागसंक्रम के समान अनुभाग - देशोपशमना कहना चाहिये। विशेष यह है कि यह निवृत्तिकरण अर्थात् अपूर्वकरण के चरम समय तक होती है। जिसका तात्पर्य यह है कि पहले जो जीव उत्कृष्ट अनुभाग-संक्रम का स्वामी बताया गया है वही उत्कृष्ट अनुभाग - देशोपशमना का भी स्वामी है। उनमें अशुभ प्रकृतियों का मिथ्यादृष्टि और शुभ प्रकृतियों का सम्यग्दृष्टि स्वामी है। उक्त स्वामित्व विषयक मंतव्य का स्पष्ट आशय है कि सातावेदनीय, यश:कीर्ति और उच्चगोत्र के उत्कृष्ट अनुभाग - संक्रम के स्वामी अपूर्वकरण गुणस्थान से परे भी होते हैं। किन्तु उत्कृष्ट अनुभाग - देशोपशमना के स्वामी उत्कृष्ट से भी अपूर्वकरण गुणस्थान के अंत तक ही जानना चाहिये। तीर्थंकरप्रकृति को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग - देशोपशमना अभवसिद्धिक प्रायोग्य जघन्यस्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय के जानना चाहिये।

प्रदेश - देशोपशमना प्रदेशसंक्रम के तुल्य जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट प्रदेशोपशमना उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम के समान है। विशेष यह है कि जिन कर्मों का अपूर्वकरण से परे भी उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम पाया जाता है, उनकी भी उत्कृष्ट प्रदेशोपशमना अपूर्वकरण गुणस्थान के चरम समय तक ही जानना चाहिये और जघन्य प्रदेशोपशमना जघन्य प्रदेशसंक्रम के ही समान है।

इस प्रकार उपशमनाकरण का विवेचन समाप्त हुआ।

❑❑

७, ८ : निधत्ति, निकाचनाकरण

उपशमनाकरण का विवेचन करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त निधत्ति और निकाचनाकरण का प्रतिपादन करते हैं — निधत्ति और निकाचना का लक्षण इस प्रकार है —

देसोवसमणतुल्ला, होइ निहत्ति निकाइया नवरं।
संकमणं पि निहत्तीए, नत्थि सेसाण वियरस्स॥ १॥

शब्दार्थ — देसोवसमणतुल्ला — देशोपशमना के तुल्य, **होइ** — होते है, **निहत्ति** — निधत्तिकरण, **निकाइया** — निकाचनाकरण, **नवरं** — विशेष, **संकमणं** — संक्रमण, **पि** — भी, **निहत्तीए** — निधत्ति में, **नत्थि** — नहीं होता है, **सेसाण** — शेष, **वि** — भी, **इयरस्य** — इतर में (निकाचना में।)

गाथार्थ — निधत्तिकरण और निकाचनाकरण देशोपशमना के समान होते हैं। विशेष यह है कि निधत्तिकरण में संक्रम भी नहीं होता है तथा इतर (निकाचनाकरण) में शेष करण भी नहीं होते हैं।

विशेषार्थ — निधत्ति और निकाचनाकरण देशोपशमना के समान है। इसका तात्पर्य यह है कि देशोपशमना के जो भेद और स्वामी कहे गये हैं, वे हीनाधिकता से रहित जैसे के तैसे निधत्तिकरण और निकाचनाकरण के भी जानना चाहिये। विशेष — निधत्ति और निकाचना का अर्थपद यह है कि निधत्ति में संक्रमण अर्थात परप्रकृति संक्रमण भी नहीं होता है तथा गाथा में आगत 'पि' शब्द का आशय यह है कि उदीरणा आदिकरण भी निधत्त हुए कर्मों में नहीं होते हैं। किन्तु उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण होते हैं। तथा इत्तर यानि निकाचनाकरण में शेष भी अर्थात् उद्वर्तना और अपवर्तना भी नहीं होते हैं। सारांश यह है कि निकाचित्त कर्म सकल करणों के अयोग्य होता है — सकल-करणायोग्यं **निकाचितमित्यर्थः**।

जहां पर गुणश्रेणी होती है, वहां पर प्रायः देशोपशमना निधत्ति निकाचना और यथाप्रवृत्त संक्रम भी होते हैं, इसलिये अब इनके अल्पबहुत्व का कथन करते हैं -

गुणसेढिपएसग्गं, थोवं पत्तेगसो असंखगुणं।
उवसामणाइ (सु) तीसुवि, संकमणेहप्पवत्ते य ॥ २॥

शब्दार्थ — गुणसेढिपएसग्गं — गुणश्रेणी में प्रदेशाग्र, **थोवं** — अल्प, **पत्तेगसो** — प्रत्येक के, **असंखगुणं** — असंख्यगुणित, **उवसामणाइ** — उपशमना आदि, **तिसु** —तीन में, **वि** — तथा, **संकमणेहप्पवत्ते** — यथाप्रवृत्तसंक्रमण में, **य** — और।

गाथार्थ — गुणश्रेणी में प्रदेशाग्र अल्प होते हैं उन से उपशमनादि तीन करणों में और यथाप्रवृत्तसंक्रमण में अनुक्रम से प्रत्येक के प्रदेशाग्र असंख्यातगुणित होते हैं।

विशेषार्थ — गुणश्रेणी में प्रदेशाग्र सबसे अल्प हैं। तत्पश्चात् उपशमना आदि तीन में और यथाप्रवृत्तसंक्रमण में प्रत्येक के प्रदेशाग्र असंख्यात गुणित जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी कर्म का गुणश्रेणी संबंधी प्रदेशाग्र सबसे अल्प है, उससे देशोपशमना में असंख्यात गुणित प्रदेशाग्र होता है। उससे निधत्ति में असंख्यात गुणित्त प्रदेशाग्र होता है। उससे भी निकाचित प्रदेशाग्र असंख्यात गुणित और उससे भी यथाप्रवृत्तसंक्रमण के द्वारा संक्रांत प्रदेशाग्र असंख्यात गुणित होता है।

इस प्रकार बंधदि निकाचना पर्यन्त आठों करणों का विवेचन पूर्ण करने के पश्चात अब उपसंहार करते हुए आठों करणों के अध्यवसायों के परिणाम का निरूपण करते हैं —

थोवा कसायउदया, ठिइबंधोदीरणा य (इ) संकमणा।
उवसामणाइसु अज्झवसाया कमसो असंखगुणा॥ ३॥

शब्दार्थ — **थोवा** — स्तोक, अल्प, **कसायउदया** — कसायोदया, **ठिइबंधा** — स्थितिबंध के, **उदीरणा** — उदीरणा, **य** — और, **संकमणा** — संक्रमण के, **उवसामणाइसु** — उपशमनादिक के संक्रम के और, **अज्झवसाया** — अध्यवसाय, **कमसो** — क्रम से, **असंखगुणा** — असंख्यात गुणित।

गाथार्थ — स्थितिबंध के कषायोदय अध्यवसाय अल्प हैं। उन से उदीरणा के, संक्रमण के और उपशमना आदि के अध्यवसाय क्रम से असंख्यात गुणित हैं।

विशेषार्थ — स्थितिबंध यह उपलक्षण पद है। इस लिये स्थितिबंध और अनुभागबंध में जो कषायोदय अर्थात् बंधन कराने वाले अध्यवसाय हैं, वे वक्ष्यमाण पदों की अपेक्षा सबसे अल्प हैं। प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योग से होते हैं, इसलिये ये दोनों यहां ग्रहण नहीं किये गये हैं और अनुभाग बंध उपलक्षण के व्याख्यान से ग्रहण किया गया है। तदनन्तर स्थितिबंध में कषायोदय स्तोक है इसका तात्पर्य यह है - बंधनकरण के अध्यवसाय सबसे अल्प हैं। उनसे उदीरणाकरण के अध्यवसाय असंख्यात गुणित हैं। उनसे भी संक्रमणकरण के अध्यवसाय असंख्यात गुणित हैं। संक्रमण पद के ग्रहण से यहां पर उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण भी ग्रहण किये हुए जानना चाहिये। क्योंकि ये दोनों संक्रमणकरण के भेद हैं। उनसे उपशमनाकरण के अध्यवसाय असंख्यात गुणित हैं। उनसे भी निधत्तिकरण के अध्यवसाय असंख्यात गुणित हैं और उनसे भी निकाचनाकरण के अध्यवसाय असंख्यात गुणित होते हैं। इस प्रकार आठों करणों का सांगोपांग विवेचन सम्पूर्ण हुआ। ❑❑

९ : उदय प्रकरण

बंधन आदि आठ करणों का कथन पूर्ण करने के अनन्तर अब उद्देश क्रम से प्राप्त उदय की प्ररूपणा करते हैं। प्रकृति उदय, स्थिति उदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय के भेद से उदय के चार प्रकार हैं। यथाक्रम से जिनका विवेचन किया जायेगा। सर्व प्रथम प्रकृति-उदय का प्रतिपादन करते हैं—

उदओ उदीरणाए, तुल्लो मोत्तूण एक्कचत्तालं।
आवरणविग्घसंज - लणलोभवेए य दिट्ठिदुगं॥ १॥
आलिगमहिगं वेए (इं) ति आउगाणं पि अप्पमत्ता वि।
वेयणियाण य दुसमय तणुपज्जत्ता य निद्दाओ॥ २॥
मणुयगइजाइ तस - बायरं च पज्जत्त सुभगमाएज्जं।
जसकित्तिमुच्चगोयं, चाजोगी (गा) केइ तित्थयरं॥ ३॥

शब्दार्थ — उदओ — उदय, **उदीरणाए** - उदीरणा, **तुल्लो** - तुल्य, **मोत्तूण** - छोड़कर, **एक्कचत्तालं** - इकतालीस, **आवरण** - आवरणद्विक, **विग्घ** - अन्तराय, **संजलणलोभे** - संज्वलन लोभ, **वेए** - वेद, **य** - और, **दिट्ठिदुगं** - दर्शनमोहनीयद्विक।

आलिगमहिगं - आवलिका अधिक, **वेएन्ति** - वेदे जाते हैं, **आउगाणं** - आयु कर्मों का, **पि** - भी, **अप्पमत्ता** - अप्रमत्तादिक, **वेयणियाण** - वेदनीय आदि, **य** - और, **दुसमय** - द्वितीय समय, **तणुपज्जत्ता** - शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त, **य** - और, **निद्दाओ-निद्राओं को।**

मणुयगइ - मनुष्यगति, **जाई** - पंचेन्द्रिय जाति, **तसबायरं** - त्रस बादर, **च** - और, **पज्जत्त सुभगमाएज्जं** - पर्याप्त, सुभग, आदेय, **जसकित्ति** - यश:कीर्ति, **उच्चगोयं** - उच्च गोत्र, **च** - और, **अजोगी** - अयोगी, **केई** - कोई, **तित्थयरं** - तीर्थंकर।

गाथार्थ — इकतालीस प्रकृतियों को छोड़कर उदय उदीरणा तुल्य है। आवरणद्विक (ज्ञानावरण पंचक, दर्शनावरणचतुष्क) अन्तराय (पंचक), संज्वलन लोभ, वेद (त्रिक) और दर्शनमोहद्विक एक आवलिका अधिक वेदन किये जाते हैं। वेदनीय को अप्रमत्त जीव उदय से वेदन करते हैं और शरीरपर्याप्त जीव द्वितीय समय से निद्राओं का उदय से वेदन करते हैं। मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस,

बादर, पर्याप्त सुभग, आदेय, यश:कीर्ति और उच्चगोत्र को अयोगी उदय से वेदन करते हैं।

विशेषार्थ — उदय, उदीरणा के तुल्य है। इसका आशय यह है उदीरणा के प्रकृति उदीरणा आदि जो भेद पहले कहे गये हैं, जो सादि अनादि प्ररूपणा की है, जो स्वामित्व का कथन किया है, वह सब हीनाधिकता से रहित जैसा का तैसा उदय में भी जानना चाहिये। क्योंकि उदय और उदीरणा सहभावी हैं। वह इस प्रकार समझना चाहिये कि जहां जिस प्रकृति का उदय होता है, वहां उसकी उदीरणा भी होती है और जहां जिस प्रकृति की उदीरणा होती है, वहां उसका उदय भी होता है।

प्रश्न — क्या सर्वत्र ही ऐसा नियम है ?

उत्तर — हाँ इकतालीस प्रकृतियों को छोड़कर ऐसा ही नियम है। क्योंकि इन इकतालीस प्रकृतियों का उदीरणा के बिना भी कितने ही काल तक उदय पाया जाता है। वे इकतालीस प्रकृतियां इस प्रकार है —

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क,अन्तरायपंचक, संज्वलन लोभ, वेदत्रिक, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन बीस प्रकृतियों को जीव अपने अपने उदय का पर्यवसान होने पर आवलिका मात्र काल अधिक वेदन करते हैं। अर्थात् उदीरणा के बिना भी केवल उदय से एक आवलिका प्रमाण काल तक जीव उनका उदय से अनुभव करते हैं। यह आवलिका मात्र काल तीनों वेदों का, मिथ्यात्व का अन्तरकरण की प्रथम स्थिति में एक आवलिका शेष रह जाने पर और शेष कर्मों का अपनी अपनी सत्ता के अंत में तथा चारों ही आयु कर्मों का अपनी अपनी स्थिति के अंत में आवलिका मात्र उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।

मनुष्यायु और दोनों वेदनीय की अप्रमत्त अर्थात् अप्रमत्त आदि ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीव उदीरणा के बिना ही केवल उदय से वेदन करते हैं।

'तनुपर्याप्त' अर्थात् शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त होते हुये जीव द्वितीय समय से लेकर अर्थात् शरीरपर्याप्ति के अनन्तर समय से आरम्भ करके इन्द्रियपर्याप्ति के चरम समय तक उदीरणा के बिना केवल उदय से ही पांचों निद्राओं का वेदन करते हैं।

मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यश:कीर्ति और उच्चगोत्र इन नौ प्रकृतियों को अयोगिकेवली उदीरणा के बिना अपने काल तक केवल उदय से ही वेदन करते हैं तथा कितने ही अयोगिकेवली जो तीर्थंकर हैं, वे तीर्थंकर नाम को भी उदय से ही वेदन करते हैं।

इस प्रकार प्रकृति - उदय के विवेचन में इकतालीस प्रकृतियों के उदययोग्य होने के कार को स्पष्ट किया गया है। अब स्थिति - उदय का प्रतिपादन करते हैं —

स्थिति - उदय

ठिइउदओ वि ठिइक्खय-पओगसा ठिइ उदीरणा अहिगो।
उदयठिई उ हस्सो, छत्तीसा एग उदयठिई॥ ४॥

शब्दार्थ — **ठिइउदओ** — स्थिति - उदय, **वि** — भी, **ठिइक्खय** — स्थितिक्षय, **पओगसा**— प्रयोग से, **ठिइउदीरणा** — स्थिति - उदीरणा, **अहिगो** — अधिक, **उदयठिई** — उदयस्थिति, **उ** — और, **हस्सो** — जघन्य, **छत्तीसा** — छत्तीस, **एग** — एक, **उदयठिई** — उदयस्थिति।

गाथार्थ — स्थिति - उदय भी स्थिति के क्षय से और प्रयोग से होता है। उत्कृष्ट स्थिति - उदय उदीरणा से एक समय अधिक है और छत्तीस प्रकृतियों का जघन्य स्थिति - उदय एक उदय स्थिति प्रमाण है।

विशेषार्थ — उदय दो प्रकार का है — स्थितिक्षय से होने वाला और प्रयोग से होने वाला। अबाधा काल रूप स्थिति के क्षय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप उदय के कारणों की प्राप्ति होने पर जो स्वभाव से उदय होता है वह स्थितिक्षय से होने वाला उदय कहलाता है — "**स्थितिरबाधा-काल-रूपा तस्याः क्षयेण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-रूपाणामुदयहेतूनां प्राप्तौ सत्यां यः स्वभावतः उदयः प्रवर्तते स स्थितिक्षयेणोदयः**" और जो उस उदय के प्रवर्तमान होने पर उदीरणाकरण रूप प्रयोग से दलिक को खींचकर अनुभव किया जाता है उसे प्रयोग उदय कहते हैं — '**यः पुनस्तस्मिन्नुदये प्रवर्तमाने सति उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेणदलिकमाकृष्यानुभवति स प्रयोगोदयः।**' इसी बात का गाथा में संकेत दिया गया है कि स्थिति उदय भी स्थिति के क्षय से और प्रयोग से होता है।

स्थिति - उदय दो प्रकार का है — उत्कृष्ट और जघन्य। जो उत्कृष्ट स्थिति - उदय है, वह उदीरणा के द्वारा स्थितिउदय से अधिक होता है। जिसका आशय यह है कि उत्कृष्ट स्थिति के बंधने पर अबाधा काल में भी पहले बंधा हुआ दलिक है, इस कारण बंधावलिका के व्यतीत होने पर अनन्तर स्थिति में विपाकोदय से जीव वर्तमान उदयावलिका से ऊपर की सभी स्थितियों की उदीरणा करता है और उदीरणा करके वेदन करता है। इसलिये बंधावलिका और उदयावलिका से हीन शेष सभी स्थिति की उदय और उदीरणा समान होती है। वेद्यमान स्थिति में उदीरणा नहीं होती है, किन्तु केवल उदय ही होता है। इसलिये वेद्यमान समय मात्र स्थिति से अधिक स्थिति - उदीरणा से उत्कृष्ट स्थिति - उदय, बंधावलिका उदयावलिका से हीन उत्कृष्ट स्थितिउदय उदयोत्कृष्ट बंध वाली प्रकृतियों का जानना चाहिये और शेष प्रकृतियों का यथायोग्य जानना चाहिये। उनमें भी ऊपर कही गई रीति से

स्थिति उदय से अधिक उत्कृष्ट उदय जानना चाहिये।

'उदयठिई उ हस्सो' इत्यादि अर्थात् ह्रस्व यानी जघन्य स्थिति - उदय छत्तीस प्रकृतियों का एक समय मात्र स्थिति - उदय है। इसका तात्पर्य यह है कि छत्तीस प्रकृतियों का जघन्य स्थिति - उदय समय मात्र स्थिति - उदय प्रमाण जानना चाहिये। और एक स्थिति एक समय मात्र प्रमाण वाली होती है। वह चरम स्थिति जानना चाहिये। ये छत्तीस प्रकृतियां पूर्व में कही गई इकतालीस प्रकृतियों में से पांच निद्राओं का उदीरणा के अभाव में भी शरीरपर्याप्ति के अनन्तर केवल उदय काल में अपवर्तना की प्रवृत्ति होने पर भी एक स्थिति प्राप्त नहीं होती है। इसलिये निद्राओं को यहां छोड़ा गया है। शेष समस्त वर्णन जघन्य उदीरणा के समान जानना चाहिये।

इस प्रकार स्थिति - उदय का विचार किया गया। अब अनुभाग - उदय का विचार करते हैं—

अनुभाग - उदय

अणुभागुदओ वि जहण्ण, नवरि आवरण विग्घवेयाणं।
संजलण लोभसम्मत्ताण य गंतूणमावलिगं ॥५॥

शब्दार्थ — **अणुभागुदओ** - अनुभागोदय, **वि** - भी, **जहण्ण** - जघन्य, **नवरि** - विशेष, **आवरण विग्घवेयाणं** - आवरणाद्विक विघ्न, वेदों का, **संजलणलोभसम्मत्ताण** - संज्वलन लोभ, सम्यक्त्व का, **य** - और, **गंतूणमावलिगं** - आवलिका व्यतीत होने पर।

गाथार्थ — अनुभागोदय भी अनुभाग-उदीरणा के समान होता है। विशेष - आवरणद्विक, विघ्न-अन्तराय, वेद, संज्वलन लोभ, सम्यक्त्व का आवलिका व्यतीत होने पर जघन्य अनुभागोदय जानना चाहिये।

विशेषार्थ — जिस प्रकार पहले अनुभाग - उदीरणा विस्तार से कही है, उसी प्रकार अनुभाग - उदय भी कहना चाहिये। लेकिन विशेष यह है कि ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अंतरायपंचक, वेदत्रिक, संज्वलन लोभ और सम्यक्त्व मोहनीय का उदीरणा के विच्छेद होने पर उससे आगे एक आवलिका के बीतने के समय उस आवलिका के चरम समय में जघन्य अनुभागोदय जानना चाहिये।

इस प्रकार अनुभागोदय का विचार किया गया। अब प्रदेशोदय के कथन का अवसर प्राप्त है।

प्रदेश - उदय

प्रदेशोदय का विचार करने के दो अर्थाधिकार हैं, यथा – सादि-अनादि प्ररूपणा और स्वामित्व। सादि-अनादि प्ररूपणा दो प्रकार की है - मूल प्रकृति विषयक और उत्तर प्रकृति विषयक। इनमें से पहले मूल प्रकृति विषयक सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं –

अजहण्णाणुक्कोसा, चउ त्तिहा छण्ह चउव्विहा मोहे।
आउस्स साइअधुवा, सेसविगप्पा य सव्वेसिं॥ ६॥

शब्दार्थ – अजहण्णाणुक्कोसा – अजघन्य अनुत्कृष्ट, **चउ त्तिहा** – चार और तीन प्रकार का, **छण्ह** – छह कर्मों का, **चउव्विहा** – चार प्रकार का, **मोहे** – मोहनीय का, **आउस्स** – आयुकर्म का, **साइअधुवा** – सादि, अध्रुव, **सेसविगप्पा** – शेष विकल्प, **य** – और, **सव्वेसिं** – सर्वकर्मों के।

गाथार्थ – छह कर्मों का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय क्रमशः चार और तीन प्रकार का है। मोहनीय कर्म का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय चार प्रकार का है। आयु के सभी विकल्प और शेष सर्व कर्मों के शेष विकल्प सादि और अध्रुव हैं।

विशेषार्थ – मोहनीय और आयुकर्म को छोड़ कर शेष छह कर्मों का अजघन्य प्रदेशोदय चार प्रकार का है, यथा - सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार जानना चाहिये –

कोई क्षपितकर्मांश जीव देवलोक में उत्पन्न हुआ और वहां संक्लेश परिणामी हो कर उक्त छह कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधता हुआ उत्कृष्ट प्रदेशाग्र की उद्वर्तना करता है। पुनः बंध के अंत में काल करके एकेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ। उसके प्रथम समय में पूर्वोक्त छहों कर्मों का जघन्य प्रदेशोदय होता है और वह एक समय वाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशोदय अजघन्य है। वह भी उसके दूसरे समय में होता है, इसलिये सादि है और उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प क्रमशः अभव्य और भव्य जीवों की अपेक्षा पूर्ववत् समझना चाहिये।

इन्हीं छहों कर्मों का अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय तीन प्रकार का होता है, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार है –

इन छहों कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय पूर्वोक्त स्वरूप वाले गुणितकर्मांश के अपने अपने उदय के अंत में गुणश्रेणीशीर्ष पर वर्तमान जीव में पाया जाता है और वह एक समय वाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशोदय अनुत्कृष्ट है और वह अनादि है। क्योंकि सदैव पाया

जाता है। ध्रुव, अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

मोहनीयकर्म का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय चार प्रकार का है, यथा – सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

क्षपितकर्मांश जीव के अन्तरकरण करने पर अन्तरकरणपर्यन्त होने वाले गोपुच्छाकार से स्थित आवलिका प्रमाण दलिकों के अंत समय में मोहनीय का जघन्य प्रदेशोदय होता है और वह एक समय वाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशोदय अजघन्य है और वह भी दूसरे समय में होता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव, अध्रुव विकल्प पूर्व के समान समझना चाहिये। अर्थात् अभव्य की अपेक्षा ध्रुव और भव्य की अपेक्षा अध्रुव है तथा गुणितकर्मांश जीव के सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अंत समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और वह एक समय मात्र होता है, इसलिये सादि और अध्रुव है, उससे अन्य सभी अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय है और वह उपशमश्रेणी से गिरने वाले जीव के होने से सादि है। उस स्थान को अप्राप्त को अनादि तथा ध्रुव, अध्रुव पूर्ववत् समझना चाहिये।

आयुकर्म के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य रूप चारों ही भेद सादि और अध्रुव होते हैं। क्योंकि चारों ही भेद यथायोग्य नियतकाल में होते हैं।

पूर्व में कहे गये सभी कर्मों के और मोहनीय के शेष रहे उत्कृष्ट और जघन्य रूप विकल्प सादि और अध्रुव हैं। जिनको पूर्व में यथाप्रसंग स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों की सादि - अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियों की सादि - अनादि प्ररूपणा करते हैं –

अजहण्णाणुक्कोसो, सगयालाए चउत्तिहा चउहा।
मिच्छत्ते सेसासिं, दुविहा सव्वे य सेसाणं॥ ७॥

शब्दार्थ – अजहण्णाणुक्कोसो – अजघन्य, अनुत्कृष्ट, **सगयालाए** – सैंतालीस प्रकृतियों का, **चउत्तिहा** – चार और तीन प्रकार का, **चउहा** – चार प्रकार का, **मिच्छत्ते** – मिथ्यात्व का, **सेसासिं** – उनके शेष विकल्प, **दुविहा** – दो प्रकार के, **सव्वे** – सर्व विकल्प, **य** – और, **सेसाणं**– शेष प्रकृतियों के।

गाथार्थ – सैंतालीस प्रकृतियों का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय क्रमशः चार और तीन प्रकार का है तथा मिथ्यात्व का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय चार प्रकार का है। उक्त प्रकृतियों के शेष विकल्प और शेष प्रकृतियों के सर्व विकल्प दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ — तैजससप्तक, वर्णादि बीस, स्थिर, अस्थिर, निर्माण, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क, इन सैंतालीस प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशोदय चार प्रकार का है, यथा — सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वे इस प्रकार जानना चाहिये —

कोई क्षपितकर्मांश देव उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान उत्कृष्ट स्थिति को बांधता हुआ उत्कृष्ट प्रदेशाग्र की उद्वर्तना करता है। तत्पश्चात् बंध के अंत में एकेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ, उसके प्रथम समय में पूर्वोक्त सैंतालीस प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय होता है। विशेष यह है कि अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का जघन्य प्रदेशोदय बंधावलिका के चरम समय में उस देव के जानना चाहिये और वह एक समय वाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशोदय अजघन्य है और वह दूसरे समय में होता है, अतः वह सादि है। इस स्थान को अप्राप्त जीव के वह अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

इन्हीं पूर्वोक्त सैंतालीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय तीन प्रकार का है, यथा — अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण यह है —

गुणितकर्मांशिक और गुणश्रेणी शीर्ष पर वर्तमान के अपने अपने उदय के अंत में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, और वह एक समय वाला है, इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशोदय अनुत्कृष्ट है और वह अनादि है क्योंकि सदैव पाया जाता है। ध्रुव अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

मिथ्यात्व का अजघन्य और अनुत्कृष्ट प्रदेशोदय चार प्रकार का है, यथा — सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वे इस प्रकार जानना चाहिये -

जिस क्षपितकर्मांश जीव ने प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न हुये, अन्तरकरण कर लिया है और औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में आने पर अन्तरकरण पर्यन्त होने वाले गौपुच्छाकार से स्थित आवलिका प्रमाण दलिकों के अन्तसमय में वर्तमान हो उस जीव के जघन्य प्रदेशोदय होता है और वह एक समय मात्र का है। इस कारण सादि और अध्रुव है। इससे अन्य सभी प्रदेशोदय अजघन्य है वह भी दूसरे समय में होता है, इसलिये सादि है। अथवा वेदक सम्यक्त्व से पतित जीव के होता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

अब मिथ्यात्व के अनुत्कृष्ट विकल्प के चार प्रकारों को स्पष्ट करते हैं —

देशविरति की गुणश्रेणी में वर्तमान कोई गुणितकर्मांश जीव जब सर्वविरति को प्राप्त होता है

और तन्निमित्तक गुणश्रेणी को करता है और उसे करता हुआ दोनों ही गुणश्रेणियों के शीर्ष पर पहुँचता है, उस समय कोई मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, तब उसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और वह एक समय मात्र का होता है, इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशोदय अनुत्कृष्ट है और वह भी दूसरे समय में होता है अतः सादि है। अथवा वेदक सम्यक्त्व से गिरने वाले के सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

इन सैंतालीस प्रकृतियों और मिथ्यात्व के कहने से शेष रहे जघन्य और उत्कृष्ट रूप विकल्प दो प्रकार के हैं, यथा – सादि और अध्रुव। इन दोनों को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

पूर्वोक्त से शेष रही एक सौ दस अध्रुवोदयी प्रकृतियों के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट रूप सभी विकल्प दो प्रकार के (सादि, अध्रुव) जानना चाहिये। क्योंकि ये अध्रुवोदयी प्रकृतियां हैं।

इस प्रकार प्रदेशोदय की सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये।

अब स्वामित्व का कथन करते हैं।

गुणश्रेणी निरूपण

स्वामित्व दो प्रकार का है – उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व और जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व। इनमें उत्कृष्ट प्रदेशोदय स्वामित्व का प्रतिपादन करने के लिये होने वाली सभी गुणश्रेणियों का निरूपण करते हैं –

सम्मत्तुप्पासावय-विरए संजोयणा विणासे य।
दंसण - मोहक्खवगे, कसाय उवसामगुवसंते॥ ८॥
खवगे य खीणमोहे, जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी।
उदओ तव्विवरीओ, कालो संखेज्ज गुणसेढी॥ ९॥

शब्दार्थ – **सम्मत्तुप्पा** – सम्यक्त्व की उत्पति में, **सावय** – श्रावक (देशविरति), **विरए**– सर्वविरति में, **संजोयणाविणासे** – संयोजना (अनन्तानुबंधी) कषायों के विनाश में, **य** – और, **दंसण मोहक्खवगे** – दर्शनमोह के क्षपणों में, **कसाय उवसामग** – कषायों के उपशम, **उवसंते** – उपशांत मोह में।

खवगे – क्षपण में (कषायों के क्षपण में) **य** – और, **खीणमोहे** – क्षीणमोह में, **जिणे**– जिन भगवान में, **य** – और, **दुविहे** – दोनों प्रकार के (सयोगि अयोगि), **असंखगुणसेढी** –

गुणश्रेणी असंख्यातगुणित, **उदओ** – उदय, **तव्विवरीओ** – उससे विपरीत, **कालो** – काल, **संखेज्जगुणसेढी** – संख्यात गुणश्रेणी।

गाथार्थ -सम्यक्त्व की उत्पति में, श्रावक(देशविरति) में, सर्वविरति में, संयोजना कषायों के विनाश में, दर्शनमोह के क्षपण में, कषायों के उपशम में, उपशांतमोह में, क्षपण में, क्षीणमोह में, और दोनों प्रकार के जिन, सयोगी केवली, अयोगी केवली भगवान में गुणश्रेणी असंख्यातगुणित क्रम से होती है। उदय अर्थात् उदय रचना असंख्यात गुणाकार वाली है और इनका काल उनसे विपरीत संख्यात गुणश्रेणी रूप है।

विशेषार्थ - ग्यारह गुणश्रेणियां होती हैं। जो इस प्रकार हैं –

१. सम्यक्त्वोत्पत्तिप्रत्ययिक, २. श्रावक देशविरतिप्रत्ययिक, ३. विरत - सर्वविरति (प्रमत्त और अप्रमत्त)प्रत्ययिक, ४. संयोजना-अनन्तानुबंधी, विसंयोजनाप्रत्ययिक, ५. दर्शनमोहनीयत्रिक क्षपणाप्रत्ययिक, ६.चारित्रमोहनीयउपशमनप्रत्ययिक, ७. उपशांतमोहनीयप्रत्ययिक, ८. मोहनीयक्षपणप्रत्ययिक, ९. क्षीणमोहप्रत्ययिक, १०. सयोगिकेवलीप्रत्ययिक, ११. अयोगिकेवलीप्रत्ययिक।[१] ये ग्यारह गुणश्रेणियां हैं तथा प्रदेशोदय की अपेक्षा ये गुणश्रेणियां असंख्यात गुणित होती हैं, 'असंखगुणसेढीउदयो' सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय होने वाली गुणश्रेणी में दलिक वक्ष्यमान श्रेणियों की अपेक्षा सबसे कम होते हैं, उससे असंख्यातगुणित दलिक देशविरति की गुणश्रेणी में हैं, उससे भी असंख्यात गुणित दलिक सर्व विरति की गुणश्रेणी में होते हैं। इस प्रकार अयोगि केवली की गुणश्रेणी तक दलिक उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित कहना चाहिये। इसलिये प्रदेशोदय के आश्रय से ये गुणश्रेणियां क्रमशः उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित कहना चाहिये।

---

१. आचारांग वृत्ति में २७ गुणश्रेणियां बतलाई हैं। जो यहां बताई गई गुणश्रेणियों का विस्तार है। दोनों में संक्षेप और विस्तार विवक्षा के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। आचारांगवृत्ति गत श्रेणियों के नाम इस प्रकार हैं - १. अल्पस्थितिकग्रंथिसत्व, २. धर्मप्रश्नाभिमुखी, ३. धर्मप्रश्नागमनकर्त्ता, ४. धर्मपृच्छक, ५. धर्मस्वीकाराभिलाषी, ६. धर्मप्रतिपद्यमान, ७. प्रतिपन्नधर्मी, ८. प्रतिपत्युभिमुख देशविरत, ९. प्रतिपद्यमानदेशविरत, १०. प्रतिपन्नदेशविरत, ११. प्रतिपत्यभिमुखसर्वविरत, १२. प्रतिपद्यमानसर्वविरत, १३. प्रतिपन्नसर्वविरत, १४. प्रतिपत्त्यमि, १५. प्रतिपत्यभिमुख दर्शनमोहक्षपक, १६. प्रतिपन्नअनन्तानुबंधीविसंयोजक (क्षपक), १७. प्रतिपत्यभिमुखसर्वविरत, १८. प्रतिपद्यमानदर्शनमोहक्षपक, १९. प्रतिपन्नदर्शनमोहक्षपक, २०. प्रतिपन्नचारित्रमोहोपक्षपक, २३. प्रतिपत्त्यभिमुखचारित्रमोहक्षपक, २४. प्रतिपद्यमानचारित्रमोहक्षपक, २५. प्रतिपन्नचारित्रमोहक्षपक, २६. भवस्थ सर्वज्ञ, २७. शैलेशी वंत।

इन २७ प्रकारों में अनुक्रम से संख्यात गुणहीन अन्तर्मुहूर्त में क्रमशः असंख्यात गुण अधिक कर्मप्रदेशों की निर्जरा होती है। इनमें से आदि की ७ श्रेणियों का सम्यक्त्वप्रत्ययिक गुणश्रेणी में समावेश हो जाता है।

यदि इनके काल का विचार किया जाये तो 'तव्विवरीओकालो संखेज्जगुणसेढी' अर्थात् इन सभी गुणश्रेणियों में काल उससे विपरीत अर्थात् प्रदेशोदय से विपरीत संख्यात गुणितश्रेणी से होता है, यथा – अयोगिकेवली की गुणश्रेणी का काल सबसे अल्प है उससे सयोगिकेवली की गुणश्रेणी का काल संख्यात गुण है। उससे भी क्षीणमोह गुणश्रेणी का काल संख्यात गुणा है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सम्यक्त्वोत्पाद गुणश्रेणी तक काल संख्यात गुणा अधिक कहना चाहिये।

प्रदेशोदय और काल की अपेक्षा इन गुणश्रेणियों की स्थापना का प्रारूप इस प्रकार समझना चाहिये –

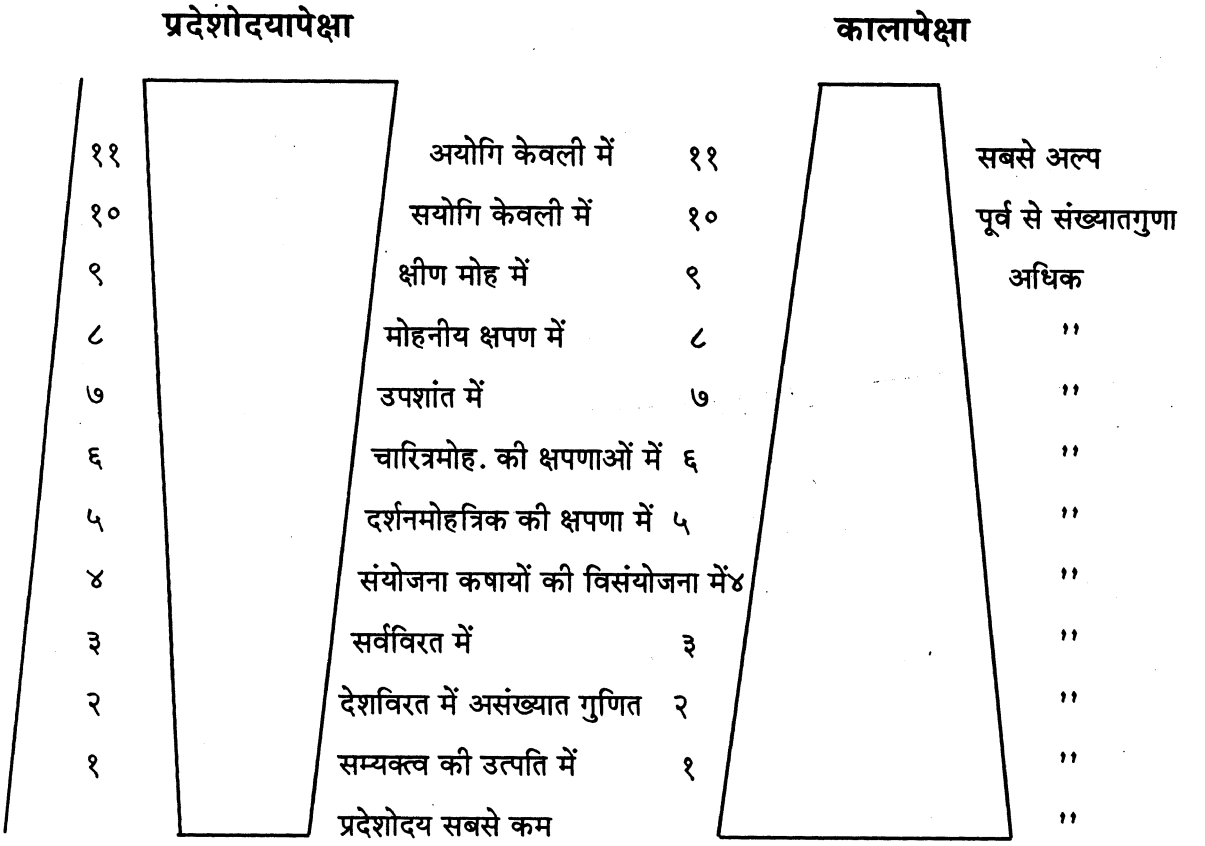

गुणश्रेणियों की प्रदेशोदय और काल की अपेक्षा उक्त स्थापना प्रारूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि पहली दूसरी तीसरी आदि में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः प्रदेशोदय असंख्यात गुणित अधिक है, काल की अपेक्षा ग्यारहवीं, दसवीं आदि में ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः काल संख्यातगुण अधिक है। सारांश यह है कि सम्यक्त्व उत्पाद की गुणश्रेणी से आगे की गुणश्रेणियां पहली के बाद

दूसरी इत्यादि उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित अधिक प्रदेश वाली हैं। जबकि कालापेक्षा अयोगिकेवली प्रत्ययिक गुणश्रेणी से नीचे की गुणश्रेणियां अधिक अधिक काल वाली हैं अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर पृथक् पृथक् उत्तरोत्तर विशालतर काल वाली हैं, उनमें काल अधिक लगता है।

प्रश्न – सम्यक्त्वोत्पादप्रत्ययिक गुणश्रेणी से आगे आगे की गुणश्रेणियों में दलिक उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित कैसे प्राप्त होते हैं ?

उत्तर – सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर पूर्व की गुणश्रेणी की अपेक्षा असंख्यात गुणित दलिक वाली गुणश्रेणी हो जाती है, क्योंकि वह विशुद्धि वाला है। उससे देशविरत की गुणश्रेणी असंख्यात गुणित दलिक वाली है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशविरत के अधिक विशुद्धता हैं। उससे भी सर्वविरत की गुणश्रेणी असंख्यात गुणित दलिक वाली होती है। क्योंकि देशविरत से सर्वविरत की विशुद्धि और भी अधिक होती है। उससे भी संयत के अनन्तानुबंधी की विसंयोजना में गुणश्रेणी असंख्यात गुणी दलिक वाली होती है। क्योंकि उसके विशुद्धि और भी अधिक होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशुद्धि के प्रकर्ष से यथोत्तर असंख्यात गुणित दलिकों वाली समझना चाहिये।

कौनसी गुणश्रेणी किस गति में पाई जाती है ? अब इसका निरूपण करते हैं –

तिन्नि वि पढमिल्लाओ, मिच्छत्तगए वि होज्ज अन्न भवे।
पगयं तु गुणियकम्मे, गुणसेढीसीसगाणुदये॥ १०॥

शब्दार्थ – **तिन्निवि** – तीनों ही, **पढमिल्लाओ** – पहले से लेकर, **मिच्छत्तगए** – मिथ्यात्व में जाकर, **होज्ज** – होती हैं, **अन्नभवे** – अन्य भव में, **पगयं** – प्रकृत में, **तु** – और, **गुणियकम्मे** – गुणितकर्मांश, **गुणसेढीसीसगाण** – गुणश्रेणी के शीर्ष में, **उदये** – उदय में।

गाथार्थ – पहले से लेकर तीनों ही गुणश्रेणियां मिथ्यात्व में जाकर तत्काल मरने वाले जीव के अन्यभव में होती हैं और यहां प्रकृत प्रदेशोदय - स्वामित्व में गुणश्रेणीशीर्ष पर वर्तमान गुणितकर्मांशिक जीव का अधिकार है।

विशेषार्थ – आदि की तीनों ही अर्थात् सम्यक्त्वोत्पाद देशविरति और सर्वविरतिनिमित्तक गुणश्रेणियां शीघ्र ही मिथ्यात्व को प्राप्त और अप्रशस्त मरण से शीघ्र ही मरे हुये जीव के अन्य भव में अर्थात् नारक आदि भव में कुछ काल तक उदय की अपेक्षा पायी जाती हैं किन्तु शेष गुणश्रेणियां नारकादिरूप परभव में नहीं पाई जाती हैं। क्योंकि नारकादि भव अप्रशस्त मरण से प्राप्त होता है। शेष गुणश्रेणियों के होने पर अप्रशस्त मरण संभव नहीं है, किन्तु उन गुणश्रेणियों के क्षीण हो जाने पर ही

संभव है। जैसा कि कहा है –

झति गुणाओ पडिए मिच्छत्तगयम्मि आइमा तिन्नि।
लब्भिंति न सेसाओ, जं झीणासु असुभमरणं॥[1]

अर्थात् ऊपर के गुणस्थानों से शीघ्र पतित और मिथ्यात्वगत जीव में आदि की तीनों गुण-श्रेणियां पाई जाती हैं, शेष नहीं। किन्तु उनके क्षीण होने पर अशुभमरण संभव है।

यहां उत्कृष्ट प्रदेशोदय - स्वामित्व में गुणश्रेणी शीर्ष के उदय में वर्तमान गुणितकर्मांश जीव से प्रयोजन है।

इस प्रकार सामान्य से उत्कृष्ट प्रदेशोदय - स्वामित्व के अधिकारी जीव का संकेत करने के बाद अब पृथक् पृथक् प्रकृतियों के स्वामियों का कथन करते हैं –

आवरणविग्घमोहाण, जिणोदइयाण वा वि नियगंते।
लहुखवणाए ओही - णणोहिलद्धिस्स उक्कस्सो ॥ ११॥

शब्दार्थ – **आवरणविग्घमोहाण** – आवरणद्विक अन्तराय मोह का, **जिणोदइयाण** – जिनोदयिक प्रकृतियों का, **वा** – और, **वि** – भी, **नियगंते** – अपने अपने उदय के अंत में, **लहुखवणाए** – लघुकाल में (शीघ्र ही), क्षपणा के लिये उद्यत, **ओहीण** – अवधिद्विक का, **अणोहिलद्धिस्स** – अवधिलब्धिरहित के, **उक्कस्सो** – उत्कृष्ट।

गाथार्थ – लघुकाल में (शीघ्र ही) क्षपणा के लिये उद्यत जीव के आवरणद्विक, अन्तरायपंचक, मोहकर्म का और जिनोदयिक प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट प्रदेशोदय अपने अपने उदय के अंत में तथा अवधिद्विक का अवधिलब्धि से रहित जीव के होता है।

विशेषार्थ – आवरण अर्थात् पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, विघ्न अर्थात् पांच अन्तराय, इन चौदह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय शीघ्र ही कर्मक्षपण के लिये उद्यत हुये जीव के पाया जाता है। क्षपणा दो प्रकार की होती है – लघुक्षपणा और चिरक्षपणा। इनमें से जो मनुष्य जन्म लेने के पश्चात् सात मास अधिक आठ वर्ष की अवस्था में संयम को धारण करने के अनन्तर मुहूर्त काल से क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है, उसकी कर्मक्षपणा, लघुक्षपणा कहलाती है और जो जन्म लेने के पश्चात् दीर्घकाल के बाद संयम को अंगीकार करता है और संयम को स्वीकार करने के पश्चात् बहुत काल बाद क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करता है उसकी कर्मक्षपणा को चिरक्षपणा कहते हैं। इस क्षपणा से बहुत

---

१. पंचसंग्रह पंचमद्वार गाथा १०९

पुद्गल निर्जीण होते हैं और अल्प ही शेष रहते हैं। इसलिये उससे उत्कृष्ट प्रदेशोदय प्राप्त नहीं होता है। इसलिये गाथा में 'लहुखवणाए' 'लघुक्षपणा' से अभ्युत्थित जीव के यह पद दिया है उस गुणित-कर्मांश और गुणश्रेणी के शीर्ष पर वर्तमान जीव के क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

अवधिद्विकावरणों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामित्व के लिये यह विशेष है कि 'ओहीणणोहि-लद्धिस्स त्ति'। अर्थात् अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का उत्कृष्ट प्रदेशोदय अनवधिलब्धिक अर्थात् अवधिलब्धि से रहित और कर्मक्षपणा के लिये उद्यत जीव को जानना चाहिये। क्योंकि अवधिज्ञान को उत्पन्न करते हुये बहुत से पुद्गल क्षय होते हैं। इसलिये अवधिलब्धि से युक्त जीव के उत्कृष्ट प्रदेशोदय नहीं होता है। इसलिये 'अनवधिलब्धि युक्तजीव' यह विशेषण दिया गया है।

मोहनीयकर्म की सम्यक्त्वमोह, संज्वलनचतुष्क वेदत्रिक इन आठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय गुणितकर्मांश क्षपक के अपने अपने उदय के चरम समय में प्राप्त होता है।

'जिणोदइयाण' अर्थात् जिनोदयिक यानि जिन 'केवली' अवस्था में जिन प्रकृतियों का उदय पाया जाता है, ऐसी औदारिकसप्तक, तैजससप्तक, संस्थानषट्क, प्रथमसंहनन, वर्णादिबीस, पराघात, उपघात, अगुरुलघु, विहायोगतिद्विक, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ और निर्माण रूप बावन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय गुणितकर्मांश जीव के सयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में होता है तथा सुस्वर और दुस्वर का स्वर के निरोधकाल में, उच्छ्वास नाम का उच्छ्वास के निरोध काल में उत्कृष्ट प्रदेशोदय प्राप्त होता है तथा अन्यतर वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र इन बारह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय गुणितकर्मांश अयोगि केवली के चरम समय में होता है, तथा -

उवसंतपढमगुण - सेढीए निद्दादुगस्स तस्सेव।
पावइ सीसगमुदयंति जाय देवस्स सुरनवगे॥ १२॥

शब्दार्थ – **उवसंत** - उपशांत मोही के, **पढमगुणसेढीए** - प्रथम गुणश्रेणी पर, **निद्दादुग्गस्स** - निद्राद्विक का, **तस्सेव** - उसी के, **पावइ** - प्राप्त होता है, **सीसगं** - शीर्ष को, **उदय** - उदय, **अंति**-अनन्तर, **जायदेवस्स** - देव हुए, **सुरनवगे** - सुरनवक का।

गाथार्थ – अपनी गुणश्रेणी के शीर्ष पर वर्तमान उपशांत मोही के निद्राद्विक का और मर कर देव भव में उत्पन्न एवं उस समय स्वगुणश्रेणी शीर्ष पर विद्यमान उसी जीव के सुरनवक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय प्राप्त होता है।

विशेषार्थ – अपनी प्रथम गुणश्रेणी के शीर्षत्व पर वर्तमान गुणितकर्मांश उपशांत कषायी जीव के निद्राद्विक अर्थात् निद्रा और प्रचला का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा अपनी प्रथम गुणश्रेणी के शीर्षोदय को अनन्तर समय में प्राप्त करेगा और उसी समय में मरण कर देव रूप से उत्पन्न हुए ऐसे उसी देवरूप उपशांत कषायी जीव के अपनी प्रथम गुणश्रेणी शीर्ष पर वर्तमान रहते वैक्रियसप्तक और देवद्विक रूप सुर - देवनवक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। तथा –

मिच्छत्तमीसणंता - णुबंधि असमत्त थीणगिद्धीणं।
तिरिउदएगंताण य, बिइया तइया य गुणसेढी॥ १३॥

शब्दार्थ – **मिच्छत्तमीसणंताणुबंधि** – मिथ्यात्व मिश्र मोहनीय अनन्तानुबंधी, **असमत्त**– अपर्याप्त, **थीणगिद्धीणं** – स्त्यानर्द्धित्रिक का, **तिरिउदएगंताण** – एकान्तरूप में तिर्यंच - उदयप्रायोग्य का, **य** – और, **बिइया** – दूसरी, **तइया** – तीसरी, **य** – और, **गुणसेढी** – गुणश्रेणी।

गाथार्थ – मिथ्यात्व, मिश्र मोहनीय, अनन्तानुबंधी कषायों, अपर्याप्त, स्त्यानर्द्धित्रिक और एकान्त रूप से तिर्यंच - उदयप्रायोग्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय दूसरी और तीसरी गुणश्रेणीशीर्ष पर वर्तमान जीव के होता है।

विशेषार्थ – किसी जीव ने देशविरति होते हुए देशविरति निमित्तक गुणश्रेणी की और तत्पश्चात् वह संयम को प्राप्त हुआ और संयम निमित्तक गुणश्रेणी की। तब जिस काल में दोनों ही गुणश्रेणियों के शीर्ष एकत्र मिलते हैं, उस काल में वर्तमान गुणितकर्मांश कोई जीव मिथ्यात्व को प्राप्त होता हो तब उसके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और यदि वह जीव सम्यक्त्व - मिथ्यात्व को प्राप्त होता हो तो सम्यग्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा मिथ्यात्व को गये या नहीं गये उसी जीव के स्त्यानर्द्धित्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय जानना चाहिये। क्योंकि स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय प्रमत्तसंयत में भी पाया जाता है।

'तिरिउदएगंताण' अर्थात् तिर्यंच जीवों में ही एकान्त से जिनका उदय पाया जाता है, वे प्रकृतियां 'तिर्यगुदयैकान्त' कहलाती हैं – **तिर्यक्ष्वेव उदय एकान्तेन यासां तास्तिर्यगुदयैकान्ताः।** ऐसी प्रकृतियां सात हैं। जिनके नाम हैं – एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण। इनका तथा अपर्याप्त नामकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशोदय तिर्यंचभव की प्राप्ति होने पर देशविरति और सर्वविरति के गुणश्रेणीशीर्ष के एकत्र योग में वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीव के अपने अपने उदय में वर्तमान होने पर होता है तथा –

अंतरकरणं होहित्ति, जायदेवस्स तं मुहुत्तंतो।
अट्ठण्ह कसायाणं, छण्हं पि य नोकसायाणं॥ १४॥

शब्दार्थ – **अंतरकरणं** – अंतरकरण, **होहित्ति** – अनन्तर समय में होगा, **जायदेवस्स** – देव रूप में उत्पन्न के, **तं** – उसके, **मुहुत्तंतो** – अन्तर्मुहूर्त के अंत में, **अट्ठण्ह** – आठ, **कसायाणं**– कषायों का, **छण्हं** – छह, **पि** – भी, **य** – और, **नोकसायाणं** – नोकषायों का।

गाथार्थ – अनन्तर समय में जिसके अंतरकरण होगा कि उसके पूर्व ही मरकर देव रूप में उत्पन्न हुआ, उसके अंतर्मुहूर्त के अंत में आठों कषायों और छहों नोकषायों का भी उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – उपशमश्रेणी को प्राप्त होकर अंतरकरण करेगा कि उसके एक समय पूर्व ही मरण कर देव हुआ और देवों में उत्पन्न होने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त से परे गुणश्रेणी के शीर्ष पर वर्तमान ऐसे किसी जीव के अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क इन आठ मध्यम कषायों का और तीन वेदों को छोड़ कर शेष नोकषायों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा –

हस्सठिइं बंधित्ता, अद्धाजोगाइठिइनिसेगाणं।
उक्कस्सपए पढमो,-दयम्मि सुरनारगाऊणं॥ १५॥

शब्दार्थ – **हस्सठिइं** – जघन्य स्थिति को, **बंधित्ता** – बांध कर, **अद्धाजोगाइठिइनिसेगाणं**– अद्धा (बंधकाल) योग आदि स्थिति के निषेकों में, **उक्कस्सपए** – उत्कृष्ट पद में, **पढमोदयम्मि** – प्रथम उदय में, **सुरनारगाऊणं** – देवायु और नरकायु के।

गाथार्थ – अद्धा, योग आदि स्थिति के निषेकों के उत्कृष्ट पद में अल्प स्थिति बांध कर देवायु और नरकायु के प्रथमोदय में वर्तमान जीव के उस उस आयु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – अद्धा अर्थात् बंधकाल, योग अर्थात् मन, वचन, काय का निमित्तभूत वीर्य और आदिस्थिति अर्थात् प्रथम स्थिति, उसमें जो दलिकनिक्षेप होता है, वह आदिस्थिति दलिकनिक्षेप (निषेक रचना) कहलाता है। इन तीनों के उत्कृष्ट पद में होने पर, जिसका यह तात्पर्य है कि उत्कृष्ट बंधकाल के द्वारा उत्कृष्ट बंध के योग में वर्तमान कोई जीव ह्रस्व अर्थात् जघन्य स्थिति को बांधकर और प्रथम स्थिति में उत्कृष्ट दलिक निक्षेप करके मरण करता हुआ देव अथवा नारक उत्पन्न हुआ, तब उस प्रथम स्थिति के उदय में वर्तमान देव के देवायु और नारक के नरकायु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है, तथा –

अद्धाजोगुक्कोसो, बंधित्ता भोगभूमिगेसु लहुं।
सव्वप्पजीवियं वज्ज-इत्तु ओवट्टिया दोण्हं॥ १६॥

शब्दार्थ – **अद्धाजोगुक्कोसो** – उत्कृष्ट अद्धा और योग में, **बंधित्ता** – बाँध कर, **भोगभूमिगेसु** – भोगभूमिक जीवों सम्बन्धी, **लहुं** – शीघ्र, **सव्वप्पजीवियं** – सबसे अल्प जीवन को, **वज्जइत्तु** – छोड़कर, **ओवट्टिया** – अपवर्तना के बाद, **दोण्हं** – दोनों की।

गाथार्थ – उत्कृष्ट अद्धा और उत्कृष्ट योग में भोगभूमिक मनुष्य तिर्यंच संबंधी आयु को बांधकर और शीघ्र मरण कर सर्वाल्प जीवन को छोड़कर दोनों आयुयों की अपवर्तना के बाद प्रथम समय में उन दोनों के उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – उत्कृष्ट बंधकाल और उत्कृष्ट योग में वर्तमान कोई जीव भोगभूमिज तिर्यंचों में तिर्यंचायु की और कोई मनुष्यों में मनुष्यायु की उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति बांध कर और लघुकाल में (शीघ्र) मरण कर कोई तीन पल्योपम की आयु वाले तिर्यंचों में और कोई तीन पल्योपम की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। वहां पर सबसे कम जीवन अर्थात् अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़ कर यानी एक अन्तर्मुहूर्त जीवन धारण कर वे दोनों ही अपवर्तनाकरण से अपनी अपनी शेष समस्त आयु को अपवर्तित करते हैं। तब अपवर्तना के अनन्तर प्रथम समय में उन दोनों – तिर्यंच और मनुष्यों के यथाक्रम से तिर्यंचायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा –

दूभगणाएज्जाजस - गइदुगअणुपुव्वितिग सनीयाणं।
दंसणमोहक्खवाणे, देसविरइ विरइ गुणसेढी॥ १७॥

शब्दार्थ – **दूभगणाएज्जाजस** – दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति का, **गइदुगअणुपुव्वितिग**– गतिद्विक आनुपूर्वीत्रिक **स** – सहित, **नीयाणं** – नीचगोत्र, **दंसणमोहक्खवाणे**– दर्शनमोहक्षपण की, **देसविरइ** – देशविरति की, **विरइ** – सर्वविरति की, **गुणंसेढी** – गुणश्रेणी।

गाथार्थ – दर्शनमोहक्षपण की, देशविरति की और सर्वविरति की गुणश्रेणी के शीर्ष पर वर्तमान जीव के नीचगोत्र सहित दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और गतिद्विक सहित आनुपूर्वीत्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – कोई अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों का क्षपण करने के लिये उद्यत होता हुआ गुणश्रेणी करता है, तत्पश्चात वही देशविरति को प्राप्त हुआ तब सर्व विरति निमित्तक गुणश्रेणी करता है, तत्पश्चात् वही सर्वविरति को प्राप्त हुआ तब सर्वविरति निमित्तक

गुणश्रेणी करता है। तत्पश्चात् उन करण परिणामों के समाप्त होने पर संक्लेश युक्त हो कर पुनः अविरति को प्राप्त हुआ, तब उसके तीनों ही गुणश्रेणियों के शीर्ष पर वर्तमान और उसी भव में स्थित उस अविरतिसम्यग्दृष्टि के दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। यदि वह बद्धायुष्क होने से नरकों में नारक हुआ तो उसके नरकद्विक सहित पूर्वोक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। यदि वह तिर्यंचों में बद्धायुष्क होने से तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ तो उसके तिर्यक्द्विक सहित पूर्वोक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है और यदि वह मनुष्यों में बद्धायुष्क होने से मनुष्यों में उत्पन्न हुआ तो उसके मनुष्यानुपूर्वी सहित उन पूर्वोक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा –

संघयणपंचगस्स य, बिइयादीतिन्नि होंति गुणसेढी।
आहारगउज्जोया - णुत्तरतणु अप्पमत्तस्स॥ १८॥

शब्दार्थ – संघयणपंचगस्स – संहननपंचक, **य** – और, **बिइयादी** – द्वितीयादि, **तिन्नि**– तीन, **होंति** – होती हैं, **गुणसेढी** – गुणश्रेणी, **आहारग** – आहारकशरीर, **उज्जोयाण** – उद्योत का, **उत्तरतणु** – उत्तर शरीर में वर्तमान, **अप्पमत्तस्स** – अप्रमत्त के।

गाथार्थ – द्वितीयादि तीन गुणश्रेणियों के शीर्ष पर वर्तमान जीव के अशुभ संहननपंचक का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। उत्तर आहारकशरीर में वर्तमान अप्रमत्त के आहारकशरीर और उद्योत का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – कोई मनुष्य देशविरति को प्राप्त हुआ, तब वह देशविरति निमित्तक गुणश्रेणी करता है। तत्पश्चात् वही विशुद्धि के प्रकर्ष से सर्वविरति को प्राप्त हुआ, तब सर्वविरति निमित्तक गुणश्रेणी को करता है और तत्पश्चात् वही जीव उस प्रकार की विशुद्धि के प्रकर्ष से अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना के लिये उद्यत हुआ, तब तन्निमित्तक गुणश्रेणी करता है। इस प्रकार द्वितीय आदि तीन गुणश्रेणियां होती हैं। उनको करके और उनके शीर्षों पर वर्तमान उस मनुष्य के प्रथम संहनन छोड़कर यथायोग्य उदय को प्राप्त पांचों संहननों का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।

'उत्तरतणु' इत्यादि अर्थात् उत्तर आहारकशरीर में वर्तमान अप्रमत्त भाव को प्राप्त और प्रथम गुणश्रेणी के शीर्ष पर वर्तमान ऐसे उस संयत के आहारकसप्तक और उद्योत नाम का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है तथा –

बेइंदिय थावरगो, कम्मं काऊण तस्समं खिप्पं।
आयावस्स उ तव्वेइ, पढमसमयम्मि वट्टंतो॥ १९॥

शब्दार्थ – **बेइंदिय** – द्वीन्द्रिय, **थावरगो** – स्थावर होकर, **कम्मं काऊण** – कर्मस्थिति करके, **तस्समं** – उसके तुल्य, **खिप्पं** – शीघ्र, **आयावस्स** – आतप का, **उ** – और, **तव्वेइ** – उसका वेदन करने वाला, **पढमसमयम्मि** – प्रथम समय में, **वट्टंतो** – वर्तता हुआ।

गाथार्थ – द्वीन्द्रिय जीव स्थावर होकर और उसके समान कर्मस्थिति करके शीघ्र शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होकर आतप के उदय वाला हुआ, तब उसके प्रथम समय में वर्तमान होकर आतप का उत्कृष्ट प्रदेशोदय करता है।

विशेषार्थ – कोई गुणितकर्मांशिक पंचेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि हुआ तब उसने सम्यक्त्व निमित्तक गुणश्रेणी को किया। तत्पश्चात् वह उस गुणश्रेणी से गिर कर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और मरकर द्वीन्द्रियों में उत्पन्न हुआ। वहां द्वीन्द्रिय प्रायोग्य स्थिति को छोड़कर शेष सभी स्थिति का अपवर्तन किया। तत्पश्चात् वहां से भी मरकर एकेन्द्रिय हुआ, वहां पर एकेन्द्रियों के समान स्थिति को किया और शीघ्र ही शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुआ, तब आतप नामकर्म का वेदन करने वाले खर (बादर) पृथ्वीकायिक जीव के शरीरपर्याप्ति के अनंतर प्रथम समय में आतप नामकर्म का उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है। एकेन्द्रिय जीव द्वीन्द्रिय की स्थिति को शीघ्र ही अपने योग्य कर लेता है, किन्तु त्रीन्द्रिय आदि की स्थिति को अपने योग्य नहीं कर पाता, इसलिये गाथा में द्वीन्द्रिय पद का ग्रहण किया है।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशोदय के स्वामित्व का विचार किया गया। अब जघन्य प्रदेशोदय के स्वामित्व के अधिकार में प्रयोजनीय का संकेत करते हुए जघन्य प्रदेशादय - स्वामित्व का कथन प्रारम्भ करते हैं –

पगयं तु खवियकम्मे, जहन्न सामी जहन्नदेवठिइ।
भिन्नमुहुत्ते सेसे मिच्छत्त - गतो अतिकिलिट्ठो ॥ २०॥
कालगएगिंदियगो, पढमे समये व मइसुयावरणे ।
केवलदुग मणपज्जव चक्खु अचक्खुण आवरणा॥ २१॥

शब्दार्थ – **पगयं** – प्रकृत, **तु** – ही, **खवियकम्मे** – क्षपितकर्मांश, **जहन्नसामी** – जघन्य स्वामी, **जहन्नदेवठिइ** – जघन्य देवस्थिति वाला, **भिन्नमुहुत्ते** – अन्तर्मुहूर्त, **सेसे** – शेष रहने पर, **मिच्छत्तगतो** – मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ, **अतिकिलिट्ठो** – अतिसंक्लिष्ट।

कालगएगिंदियगो – काल करके एकेन्द्रियों में गया, **पढमेसमये** – प्रथम समय में, **व** – और, **मइसुयावरणे** – मतिश्रुतावरण, **केवलदुग** – केवलद्विक, **मणपज्जव** – मनःपर्यव, **चक्खु**– चक्षुदर्शन, **अचक्खुण** – अचक्षुदर्शन, **आवरणा** – आवरणों।

गाथार्थ – जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व में क्षपितकर्मांश जीव ही प्रकृत है। कोई जघन्य स्थिति वाला देव होकर अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और अति संक्लिष्ट परिणाम वाला होकर काल करके एकेन्द्रिय जीवों में गया। वहां उसके प्रथम समय में मतिश्रुतावरण, केवलद्विक, मनःपर्यय, चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन आवरणों का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – 'जघन्य स्वामी' यह भावप्रधान निर्देश है। जिसका अर्थ है कि जघन्य प्रदेशोदय के स्वामित्व में क्षपितकर्मांश जीव का अधिकार है।

इस प्रकार प्रदेशोदय स्वामित्व के कथन के लिये अधिकारी जीव का संकेत करने के बाद अब विस्तार से स्वामित्व का वर्णन करते हैं –

कोई क्षपितकर्मांश जीव दस हजार वर्ष की जघन्य स्थिति वाले देवों में उत्पन्न होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त बीतने पर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और वहां कुछ कम दस हजार वर्ष तक परिपालन करके अन्तर्मुहूर्त जीवन के शेष रहने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और अतिसंक्लिष्ट परिणामी हो कर वक्ष्यमाण कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधना प्रारम्भ किया। उस समय वह अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रभूत दलिकों की उद्वर्तना करता है और पुनः संक्लिष्ट परिणामों से ही काल करके एकेन्द्रिय हुआ। तब उसके प्रथम समय में मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण का जघन्य प्रदेशोदय होता है। यहां प्रायः सर्वदलिक उद्वर्तित किये गये हैं, इस कारण प्रथम समय में अल्प दलिक प्राप्त होते हैं तथा दूसरी बात यह है कि उत्कृष्ट संक्लेशयुक्त जीव के अनुभाग - उदीरणा अधिक होने से प्रदेशोदीरणा अल्प होती है और जहां अनुभाग - उदीरणा अधिक होती है वहां प्रदेशोदीरणा अल्प होती है। इसीलिये गाथा में मिथ्यात्वगत और अति संक्लिष्ट इत्यादि पद दिये हैं तथा –

ओहीणसंजमाओ देवत्तगए गयस्स मिच्छत्तं।
उक्कोसठिइबंधे विकड्ढणा आलिगं गंतुं॥ २२॥

शब्दार्थ – **ओहीणसंजमाओ** – संयम से अवधिलब्धि (प्राप्त कर), **देवत्तगए** – देव पर्याय में उत्पन्न हो कर, **गयस्समिच्छत्तं** – मिथ्यात्व में गये हुए के, **उक्कोसठिइबंधे** – उत्कृष्ट स्थिति बांधकर, **विकड्ढणा** – विकर्षणा (उद्वर्तना), **आलिगं** – आवलिका काल, **गंतुं** – जाने पर।

गाथार्थ – संयम से अवधिलब्धि प्राप्त कर, देव पर्याय में उत्पन्न हो कर मिथ्यात्व में गये हुए जीव के उत्कृष्ट स्थिति बांध कर बहुत से दलिकों की उद्वर्तना कर आवलिका काल जाने पर अवधिद्विक आवरण का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – कोई क्षपितकर्मांश जीव संयम को प्राप्त हुआ और संयम प्राप्त करने के अनन्तर अवधिज्ञान और अवधिदर्शन को प्राप्त किया और अवधिज्ञान अवधिदर्शन को नहीं छोड़ते हुए मर कर देव हुआ और वहां अन्तर्मुहूर्त बीतने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। तब मिथ्यात्व के निमित्त से अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण की उत्कृष्ट स्थिति को बांधना प्रारम्भ किया और प्रभूत दलिकों की उद्वर्तना की। तत्पश्चात् एक आवलिका का अतिक्रमण करके अर्थात् बंधावलि के बीतने पर उस जीव के अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण का जघन्य प्रदेशोदय होता है तथा –

वेयणियंतर सोगारउच्च ओहिव्व निद्दपयला य।
उक्कस्स ठिईबंधा पडिभग्ग पवेइया नवरं॥ २३॥

शब्दार्थ – **वेयणियंतरसोगारउच्च** – वेदनीय अन्तराय शोक, अरति, उच्च गोत्र, **ओहिव्व**– अवधिज्ञानावरण के सदृश, **निद्दपयला** – निद्रा प्रचला, **य** – और, **उक्कस्स** – उत्कृष्ट, **ठिईबंधा**– स्थितिबंध के, **पडिभग्गपवेइया** – पतित और भोग करने वाले (वेदन करने वाले) के, **नवरं** – विशेष।

गाथार्थ – वेदनीय, अन्तराय, शोक, अरति और उच्चगोत्र का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व अवधिज्ञानावरण के समान है। निद्रा और प्रचला का भी इसी प्रकार है। विशेष उत्कृष्ट स्थितिबंध से पतित और उनका वेदन करने वाले के जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – साता और असाता वेदनीयद्विक का, पांचों अन्तरायों का, शोक अरति और उच्चगोत्र का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व अवधिज्ञानावरण के समान जानना चाहिये। निद्रा प्रचला का भी जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व भी तथैव जानना। लेकिन यह विशेष है कि उत्कृष्ट स्थितिबंध से प्रतिपतित और निद्रा, प्रचला का अनुभव करने में संलग्न जीव के उनका जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये। क्योंकि उत्कृष्ट स्थितिबंध अतिशय संक्लेशयुक्त जीव के होता है और अतिसंक्लेश में वर्तमान जीव के निद्रा का उदय संभव नहीं है। इसलिये गाथा में 'उक्कस्स ठिइबंध पडिभग्ग' उत्कृष्ट स्थितिबंध पद जीव के लिये दिया है तथा –

वरिसवरतिरियथावर-नीयं पि इ (य) मइसमं नवरि तिन्नि।
निद्दानिद्दा इंदिय - पज्जत्ती पढमसमयम्मि ॥ २४॥

शब्दार्थ – **वरिसवर** – वर्षवर नपुंसकवेद, **तिरिय** – तिर्यंचगति, **थावर** – स्थावर, **नीयं**– नीचगोत्र, **पि** – भी, **य** – और, **मइसमं** – मतिज्ञानावरण, **नवरि** – विशेष, **तिन्नि** – तीन, **निद्दानिद्दा** – निद्रानिद्रादि, **इंदियपज्जती** – इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्त के, **पढमसमयम्मि** – प्रथम समय में।

गाथार्थ – नपुंसकवेद, तिर्यंच, स्थावर और नीचगोत्र का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व मतिज्ञानावरण के समान जानना और निद्रानिद्रादि तीनों निद्राओं का भी इसी प्रकार समझना चाहिये। लेकिन विशेष - इन तीनों निद्राओं का इन्द्रिय पर्याप्त जीव के प्रथम समय में होता है।

विशेषार्थ – वर्षवर अर्थात् नपुंसकवेद, तिर्यंचगति, स्थावर और नीचगोत्र का जघन्य प्रदेशोदय स्वामित्व मतिज्ञानावरण के समान जानना चाहिये। निद्रानिद्रादि तीनों प्रकृतियों का भी जघन्य प्रदेशादय स्वामित्व मतिज्ञानावरण के समान है। विशेष यह है कि इन्द्रियपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के प्रथम समय में जानना चाहिये। क्योंकि उसके अनन्तर समय में उदीरणा संभव होने से जघन्य प्रदेशोदय का होना असंभव है। तथा –

दंसणमोहे तिविहे, उदीरणुदए उ आलिगं गंतुं।
सतरसण्ह वि एवं, उवसमइत्ता गए देवे॥ २५॥

शब्दार्थ – **दंसणमोहेतिविहे** – तीनों प्रकार के दर्शनमोह का, **उदीरणुदए** – उदीरणोदय, **उ** – की, **आलिगं** – आवलिका, **गंतुं** – जाने पर, **सतरसण्ह** – सत्रह का, **वि** – भी, **एवं** – इसी प्रकार, **उवसमइत्ता** – उपशमन करके, **गए देवे** – देवों में गए हुए।

गाथार्थ – तीनों प्रकार के दर्शन मोह का जघन्य प्रदेशोदय उदीरणोदयावलिका के जाने पर होता है। इसी प्रकार सत्रह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय भी उनका उपशमन करके देवों में गये हुए जीव के होता है।

विशेषार्थ – क्षपितकर्मांश औपशमिक सम्यग्दृष्टि के औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होते हुए अन्तरकरण में स्थित रह कर द्वितीयस्थिति से सम्यक्त्व आदि प्रकृतियों के दलिकों को आकर्षित करके अन्तरकरण की अंतिम आवलिका मात्र भाग में गोपुच्छाकार संस्थान रचता है, यथा – प्रथम समय में बहुत दलिकों को देता है, द्वितीय समय में उससे विशेषहीन और तृतीय समय में उससे विशेषहीन देता है। इस प्रकार चरम समय तक विशेषहीन विशेषहीन जानना चाहिये। इनके उदय को उदीरणोदय कहा जाता है। उस उदीरणोदय में आवलिकापर्यन्त जा कर आवलिका के चरम समय में सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व इन मोहनीयत्रिक का अपने अपने उदय से युक्त जीव के जघन्य प्रदेशोदय होता है तथा अनन्तानुबंधी को छोड़कर शेष बारह कषाय, पुरुषवेद, हास्य रति, भय और जुगुप्सा, इन सत्रह प्रकृतियों की उपशमना कर देवलोक में गये हुए जीव के इसी प्रकार से उदीरणोदय के चरम समय में इन सत्रह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय होता है। इन सत्रह प्रकृतियों का अन्तरकरण करके देवलोक में गया हुआ जीव प्रथम समय में ही द्वितीयस्थिति में से दलिकों को आकृष्ट करके उदय समय से लेकर गोपुच्छाकार से उनकी रचना करता है, यथा – उदय समय में बहुत दलिक देता है,

द्वितीय समय में उससे विशेषहीन देता है और तृतीय समय में उससे भी विशेषहीन देता है। इस प्रकार आवलिका के चरम समय तक विशेषहीन विशेषहीन देता जाता है। तब आवलिका के चरम समय में उक्त सत्रह प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय पाया जाता है तथा –

चउरुवसमित्तु पच्छा, संजोइय दीहकालसम्मत्ता।
मिच्छत्तगए आवलि - गाए संजोयणाणं तु॥ २६॥

शब्दार्थ – **चउरुवसमित्तु** – चार बार मोहनीय को उपशमा कर, **पच्छा** – पश्चात्, **संजोइय** – अनन्तानुबंधी बांधकर, **दीहकालसम्मत्ता** – दीर्घकाल तक सम्यक्त्वी रहकर, **मिच्छत्तगए**– मिथ्यात्व में गये हुये, **आवलिगाए** – आवलिका के अन्त में, **संजोयणाणं** – अनन्तानुबंधी, कषायों का।

गाथार्थ – चार बार मोहनीय को उपशमा कर पश्चात् अनन्तानुबंधी कषायों को बांधकर दीर्घकाल तक सम्यक्त्वी रहकर मिथ्यात्व में गये हुये जीव के आवलिका के अन्त में अनन्तानुबंधी कषायों का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – कोई जीव चार बार मोहनीयकर्म का उपशमन करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त बीतने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। तब मिथ्यात्व के निमित्त से संयोजना अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायों को बांधा और तत्पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त किया और एक सौ बत्तीस सागरोपम जैसे दीर्घकाल तक उसे परिपालन करता हुआ सम्यक्त्व के प्रभाव से अनन्तानुबंधी कषायों संबंधी बहुत से पुद्गलों को प्रदेशसंक्रम से निर्जीण करता है। तत्पश्चात् पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और मिथ्यात्व के निमित्त से पुनः अनन्तानुबंधी कषायों का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

आवलिका के अनन्तरवर्ती समय में प्रथमसमयबद्ध दलिक का उदय होता है। अतः जघन्य प्रदेशोदय नहीं पाया जाता है, इस कारण गाथा में आवलिका के चरम समय में पद दिया है और संसार में एक जीव के चार बार ही मोहनीय का उपशम होता है, पांच बार नहीं .....। इस कारण 'चउरुवसमित्तु' चार बार उपशमना करके पद को ग्रहण किया है।

प्रश्न – यहां मोहनीय के उपशमन से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – जीव मोहनीय का उपशमन करता हुआ अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के बहुत से दलिकों को गुणसंक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृतियों में संक्रमाता है। इसलिये क्षीण होने से शेष रही उन कषायों के दलिकों को अनन्तानुबंधी कषायों के बंध काल में अल्प ही संक्रमाता है। इस बात का संकेत करने के लिये 'मोह का उपशम' कहने का प्रयोजन है तथा –

इत्थीए संजमभवे, सव्वनिरुद्धम्मि गंतुं मिच्छत्तं।
देवीए लहुमिच्छी जेट्ठठिइ आलिगं गंतुं॥ २७॥

शब्दार्थ – **इत्थीए** – स्त्रीवेद का, **संजमभवे** – संयम भव में, **सव्वनिरुद्धम्मि** – सर्व निरुद्ध काल के, **गंतुं** – जाकर, **मिच्छत्तं** – मिथ्यात्व में, **देवीए** – देवी रूप में, **लहु** – लघुकाल, **मिच्छी** – मिथ्यात्व द्वारा, **जेट्ठठिइ** – उत्कृष्ट स्थिति, **आलिगं** – आवलिका के, **गंतुं** – बीतने पर (अंत में)।

गाथार्थ – संयमभव में सर्व निरुद्ध काल अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के शेष रहने पर मिथ्यात्व में जाकर काल करके देवी रूप में उत्पन्न होकर लघु (शीघ्र) पर्याप्त होकर मिथ्यात्व के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति बांधकर आवलिका के अंत में स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – संयमभव से उपलक्षित (संयुक्त) भव अर्थात् संयमभव में सर्व निरुद्ध अर्थात् अन्तर्मुहूर्तकाल के शेष रह जाने पर मिथ्यात्व को प्राप्त हुई स्त्रीवेद के और तत्पश्चात् अनन्तर भव में देवी होकर शीघ्र ही पर्याप्त हुई देवी के उत्कृष्ट स्थितिबंध के अनन्तर आवलिका काल के बीतने पर आवलिका के चरम समय में शीघ्र स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है। इसका भावार्थ यह है कि कोई क्षपितकर्मांशिक स्त्री देशोनपूर्व कोटि वर्ष तक संयम को पालन कर आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर मिथ्यात्व में जाकर और मरकर अनन्तर भव में देवी रूप से उत्पन्न होकर शीघ्र ही पर्याप्त हुई तब उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान होकर वह स्त्रीवेद की उत्कृष्ट स्थिति को बांधती है और पूर्वबद्ध स्थिति की उद्वर्तना करती है तब उत्कृष्ट बंध के आरम्भ से परे आवलिका के चरम समय में स्त्रीवेद का जघन्य प्रदेशोदय होता है। तथा -

अप्पद्धाजोगचिया - णाऊणुक्कस्सगठिईणंते।
उवरिं थोवनिसेगे, चिरतिव्वासायवेईणं॥ २८॥

शब्दार्थ – **अप्पद्धाजोगचियाण** – अल्प बंधकाल और अल्प योग द्वारा, **आऊण** – आयु प्रकृतियों के, **उक्कस्सगठिईणंते** – उत्कृष्ट स्थिति के अंत में, **उवरिं** – ऊपर के समय में, **थोवनिसेगे** – अल्प निषेक करने पर, **चिर** – चिरकाल (दीर्घकाल), **तिव्वासायवेईणं** – तीव्र असाता का वेदन करने वालों के।

गाथार्थ – अल्प बंधकाल और अल्प योग के द्वारा बंधी हुई आयु प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति के अंत में ऊपर के समय में सबसे अल्पनिषेक करने पर (दीर्घकाल तक), चिरकाल तक तीव्र असाता का वेदन करने वालों के उस उस आयु का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – अल्पबंधाद्धा अर्थात् अल्प बंधकाल और अल्प योग से संचित अर्थात् बांधे हुए चारों आयु कर्मों की ज्येष्ठ स्थिति (उत्कृष्ट स्थिति) के अंत में उपरितन सर्वोपरि समय में सबसे अल्प दलिक निक्षेप करने पर चिरकाल तक तीव्र असाता की वेदना से पीड़ित क्षपितकर्मांश और उस उस आयु का वेदन करने वाले जीवों के तत्तत् आयुकर्म का जघन्य प्रदेशोदय होता है। इसका कारण यह है कि तीव्र असाता की वेदना से अभिभूत जीवों के बहुत पुद्गल निर्जीण हो जाते हैं। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये गाथा में चिर तीव्र 'असातावेदी' पद का ग्रहण किया गया है तथा –

संजोयणा विजोजिय, देवभवजहन्नगे अइनिरुद्धे।
बंधिय उक्कस्सठिई, गंतुणेगिंदियासन्नी॥ २९॥
सव्वलहुं नरयगए, निरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते।
अणुपुव्वीओ य गई-तुल्ला नेया भवादिम्मि॥ ३०॥

शब्दार्थ – **संजोयणा** – अनन्तानुबंधी, **विजोजिय** – विसंयोजना करके, **देवभवजहन्नगे**– जघन्य स्थिति वाले देवभव में, **अइनिरुद्धे** – अतिनिरुद्धकाल (अन्त्य अन्तर्मुहूर्तकाल) में, **बंधिय** – बांधकर, **उक्कस्सठिई** – उत्कृष्ट स्थिति को, **गंतुणेगिंदियासन्नी** – एकेन्द्रिय होकर , असंज्ञी में उत्पन्न होकर।

सव्वलहुं – सर्वलघुकाल में, **नरयगए** – नरक में जाकर, **निरयगई** – नरकगति का, **तम्मि**– उसमें वहां, **सव्वपज्जत्ते** – सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त होने वाले के, **अणुपुव्वीओ** – आनुपूर्वियों का, **य** – और, **गईतुल्ला** – गति के तुल्य, **नेया** – जानना चाहिये, **भवादिम्मि** – भव के आदि समय में।

गाथार्थ – अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करके जघन्य स्थिति वाले देव भव में उत्पन्न होकर अंतिम अन्तर्मुहूर्तकाल में मिथ्यात्वी होकर उत्कृष्ट स्थिति से एकेन्द्रियप्रायोग्य प्रकृतियों को बांधकर और एकेन्द्रिय होकर पुनः असंज्ञी पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होकर सर्वलघुकाल में नरक में जाकर नारक हो, वहां पर सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त होने वाले के नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है। आनुपूर्वियों का जघन्य प्रदेशोदय अपनी अपनी गति के तुल्य भव के प्रथम समय में जानना चाहिये।

विशेषार्थ – संयोजनाओं की अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायों की विसंयोजना करके (क्योंकि इनकी विसंयोजना होने पर शेष कर्मों के भी बहुत से पुद्गल निर्जीण होते हैं, इसलिये यहां विसंयोजना ग्रहण किया है) जघन्य स्थिति वाले देवत्व को प्राप्त हुआ। वहां अति निरुद्धकाल में अर्थात् अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व को प्राप्त हो एकेन्द्रिय प्रायोग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर सर्व

संक्लिष्ट परिणामी होकर काल करके एकेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ और वहां अन्तर्मुहूर्त रहने के बाद असंज्ञियों में उत्पन्न हुआ। देव मरकर असंज्ञियों में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिये यहां एकेन्द्रियों को ग्रहण किया गया है। तत्पश्चात् असंज्ञी भव से अल्पकाल में ही मरण करके नारक हुआ और सर्व पर्याप्तियों से शीघ्र पर्याप्त हुआ, ऐसे उस सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त नारक के नरकगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है। पर्याप्त जीव के बहुत प्रकृतियां विपाकोदय को प्राप्त होती हैं और उदयगत प्रकृतियां स्तिबुकसंक्रमण से संक्रांत नहीं होती हैं। इसलिये अन्य प्रकृतियों के दलिकों का संक्रम नहीं होने से जघन्य प्रदेशोदय प्राप्त होता है। इसलिये सर्व पर्याप्त यह पद दिया है।

चारों ही आनुपूर्वी गतितुल्य हैं, अर्थात् इनके जघन्य प्रदेशोदय का स्वामित्व अपनी अपनी गति के समान जानना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि भव के आदि में अर्थात् भव में उत्पन्न होने के प्रथम समय में आनुपूर्वियों का जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये। क्योंकि तीसरे समय में बंधावलिका के व्यतीत हो जाने पर अन्य भी कर्मलतायें उदय में आने लगती हैं। इसलिये यहां पर भव के प्रथम समय को ग्रहण किया गया है तथा –

देवगई ओहिसमा, नवरिं उज्जोयवेयगो ताहे।
आहार (रि) जाइ अइचिर-संजममणुपालिऊणंते॥ ३१॥

शब्दार्थ – **देवगईओहिसमा** – देवगति का अवधि के समान, **नवरिं** – विशेष, **उज्जोयवेयगो** – उद्योतवेदक के, **ताहे** – वहां, **आहारिजाइ** – आहारकशरीर को उत्पन्न करने वाले के, **अइचिर** – अतिचिरकाल, **संजममणुपालिऊणंते** – संयम का अनुपालन कर अंत में।

गाथार्थ – देवगति का जघन्य प्रदेशोदय अवधिज्ञानावरण के समान है। विशेष यह है कि जब उद्योत का वेदक होता है, तब जानना चाहिये। चिरकाल तक संयम का अनुपालन कर अंत में आहारकशरीर को उत्पन्न करने वाले के आहारकसप्तक का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – देवगति अवधि समान है, अर्थात् अवधिज्ञानावरण के समान देवगति का भी जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये। विशेष यह है कि जब वह उद्योत नाम का वेदक हो तब उसे देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

प्रश्न – इस का क्या कारण है ?

उत्तर – जब तक उद्योत का उदय नहीं होता है, तब तक देवगति में स्तिबुकसंक्रमण से उसे संक्रांत करता है, इसलिये उद्योतवेदक पद का ग्रहण किया गया है और उद्योत का वेदकत्व पर्याप्त जीव

के होता है, अपर्याप्त के नहीं होता है। इस कारण पर्याप्त अवस्था में देवगति का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

'आहारिजाइ' इत्यादि अर्थात् जो संयत चिरकाल तक यानि देशोन पूर्वकोटि वर्ष तक संयम का अनुपालन कर अंतिम समय में आहारकशरीरी हुआ है और उद्योत का वेदन करता है, उसके आहारकसप्तक का जघन्य प्रदेशोदय होता है। क्योंकि चिरकाल तक संयम का परिपालन करने पर बहुत से कर्मपुद्गल निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण 'चिरकाल संयम का भी परिपालन कर' इस पद का ग्रहण किया है और उद्योत के ग्रहण करने का कारण पूर्व कथनानुसार जानना चाहिये तथा—

सेसाणं चक्खुसमं, तंमि व अन्नंमि व भवे अचिरा।
तज्जोगा बहुगीओ, पवेययं तस्स ता ताओ ॥ ३२॥

शब्दार्थ – **सेसाणं** – शेष प्रकृतियों का, **चक्खुसमं** – चक्षु (दर्शनावरण) के समान, **तंमि** – उसी समय, **व** – अथवा, **अन्नंमि** – अन्य में, **भवे** – भव में, **अचिरा** – जघन्य, **तज्जोगा**– उस उस के योग्य, **बहुगीओ** – बहुत सी, **पवेययं** – वेदन करने वाले, **तस्स** – उसके, **ता ताओ** – उन उन का।

गाथार्थ – शेष प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय चक्षुदर्शनावरण समान जानना चाहिये और जिन जिन कर्म प्रकृतियों का उसी (एकेन्द्रिय के) भव में अथवा अन्य भव में उदय होता है उसके उस उस भव के योग्य बहुत सी प्रकृतियों का वेदन करते हुए उस उस प्रकृति का जघन्य प्रदेशोदय होता है।

विशेषार्थ – पूर्वोक्त प्रकृतियों से शेष रही प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय चक्षुदर्शनावरण के समान तब तक कहना चाहिये, जब तक कि वह एकेन्द्रिय रहता है। इसलिये जिन कर्मों का उसी एकेन्द्रिय भव में उदय होता है, उन कर्मों का उसी एकेन्द्रिय भव में जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये। और जिन कर्मों का अर्थात् मनुष्यगति, द्वीन्द्रियजातिचतुष्क, आदि के पांच संस्थान, औदारिकअंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, संहननषट्क, विहायोगतिद्विक, त्रस, सुभग, सुस्वर, दुःस्वर और आदेय इन प्रकृतियों का उस एकेन्द्रिय भव में उदय संभव नहीं है। अतः इनका एकेन्द्रिय भव से निकलकर उन उन कर्मों के उदय योग्य भवों में उत्पन्न हुए जीव के उस भव के योग्य उन उन बहुत सी प्रकृतियों का वेदन करने वाले के उन उन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय होता है। उस उस भव के योग्य बहुत सी प्रकृतियों का वेदन पर्याप्तक जीव के होता है। इसलिये सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव के उन उनका जघन्य प्रदेशोदय

होता है। पर्याप्त जीव के बहुत सी प्रकृतियां उदय में आती हैं और उदय को प्राप्त प्रकृतियों का स्तिबुकसंक्रमण नहीं होता है। ऐसा होने पर विवक्षित प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशोदय पाया जाता है। इसलिये 'पर्याप्त के' ऐसा कहा गया है।

तीर्थंकर नामकर्म का तो क्षपितकर्मांश सयोगीकेवली के तीर्थंकर प्रकृति के उदय होने के प्रथम समय में जघन्य प्रदेशोदय जानना चाहिये। उसके पश्चात् गुणश्रेणी संबंधी दलिक बहुत पाये जाते हैं, इसलिये वहां जघन्य प्रदेशोदय संभव नहीं है।

इस प्रकार उदय का विवेचन जानना चाहिये।

❑❑

१० : सत्ताप्रकरण

उदय के कथन के अनन्तर क्रमप्राप्त सत्ता का विवेचन किया जा रहा है। इसमें तीन अर्थाधिकार हैं – 1. भेदप्ररूपणा, 2. सादि - अनादिप्ररूपणा ओर 3. स्वामित्वप्ररूपणा। इनमें से भेद और सादि - अनादि प्ररूपणा का निरूपण करते हैं –

भेदप्ररूपणा

मूलुत्तरपगइगयं, चउव्विहं संतकम्ममवि नेयं।
धुवमध्धुवणाईयं, अट्ठण्हं मूल पगईणं॥ १॥

शब्दार्थ – **मूलुत्तरपगइगयं** – मूल और उत्तर प्रकृतिगत, **चउव्विहं** – चार प्रकार, **संतकम्ममवि** – सत्कर्म भी, **नेयं** – जानना चाहिये, **धुवमध्धुवणाईयं** – ध्रुव, अध्रुव और अनादि, **अट्ठण्हं** – आठों, **मूलपगईणं** – मूल प्रकृतियों का।

गाथार्थ – मूल और उत्तर प्रकृतिगत सत्कर्म (सत्व) भी चार प्रकार का जानना चाहिये। इनमें आठों मूल प्रकृतियों का सत्कर्म ध्रुव, अध्रुव और अनादि है।

विशेषार्थ – सत्कर्म (सत्व, सत्ता) दो प्रकार का है – मूल प्रकृतिगत सत्कर्म और उत्तर प्रकृतिगत सत्कर्म। मूल प्रकृतिगत सत्कर्म आठ प्रकार का है, यथा – ज्ञानावरण, दर्शनावरण इत्यादि। उत्तर प्रकृतिगत सत्कर्म एक सौ अट्ठावन प्रकार का है, यथा – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण इत्यादि। पुनः यह प्रत्येक भी चार प्रकार का है, यथा – १. प्रकृति सत्कर्म, २. स्थिति सत्कर्म, ३. अनुभाग-सत्कर्म और ४. प्रदेश सत्कर्म।

इस प्रकार भेद प्ररूपणा का विचार किया गया।

सादि - अनादिप्ररूपणा

अब सादि - अनादिप्ररूपणा करते हैं।

इस सादि - अनादिप्ररूपणा का प्रारंभ करने के लिये गाथा में "ध्रुव-मध्ध्रुव" इत्यादि पद दिया है, जिसका आशय यह है कि आठों मूल प्रकृतियों का सत्कर्म तीन प्रकार का है, यथा– ध्रुव, अध्रुव और अनादि। इन तीनों में अनादित्व तो सभी कर्मों का सदैव सद्भाव पाये जाने से है तथा ध्रुव और अध्रुव विकल्प क्रमशः अभव्यों और भव्यों की अपेक्षा से जानना चाहिये।

मूल प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा करने के पश्चात अब उत्तर प्रकृतिों को सादि

अनादि प्ररूपणा करते हैं –

दिट्ठिदुगाउगछग्ग तितणुचोद्दसगं च तित्थगरमुच्चं।
दुविहं पढमकसाया, होंति चउद्धा तिहा सेसा॥ २॥

शब्दार्थ – **दिट्ठिदुगा** – दृष्टिद्विक (दर्शनमोहनीयद्विक), **आउग** – आयुचतुष्क, **छग्गति**– गतिषट्क, **तणुचोद्दसगं** – तनुचतुर्दशक (वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक), **च** – और, **तित्थगरं**– तीर्थकर, **उच्चं** – उच्चगोत्र, **दुविहं** – दो प्रकार का, **पढमकसाया** – प्रथम कषाय (अनन्तानुबंधी कषाय) **होंति** – होता है, **चउद्धा** – चार प्रकार का, **तिहा** – तीन प्रकार का, **सेसा** – शेष कर्मों का।

गाथार्थ – दृष्टिद्विक, आयुचतुष्क, गतिषट्क, तनुचतुर्दशक तीर्थंकर और उच्चगोत्र का सत्कर्म दो प्रकार का है। प्रथम कषाय का सत्कर्म चार प्रकार का है और शेष कर्मप्रकृतियों का सत्कर्म तीन प्रकार का है।

विशेषार्थ – दृष्टिद्विक अर्थात सम्यक्त्वमोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय, चारों आयुकर्म, छग्गति अर्थात् मनुष्यद्विक, देवद्विक और नरकद्विक, तनुचतुर्दशक अर्थात् वैक्रियसप्तक और आहारकसप्तक तथा तीर्थकर नाम और उच्चगोत्र, इन अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता दो प्रकार की है, यथा – सादि और अध्रुव। ये प्रकृतियां अध्रुवसत्ताक होने से इनको सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

प्रथम कषाय अर्थात् अनन्तानुबंधीकषायचतुष्क की अपेक्षा चार प्रकार की हैं, यथा – सादि-अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है – यह कषाय सम्यग्दृष्टि के द्वारा पहले उद्वर्तित होती है। तत्पश्चात् मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव के द्वारा मिथ्यात्व के निमित्त से बंधती हैं तब सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

शेष एक सौ छब्बीस प्रकृतियां सत्ता की अपेक्षा तीन प्रकार की हैं, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। इनमें से अनादित्व तो इन प्रकृतियों के ध्रुवसत्ताक होने की अपेक्षा से है और ध्रुवत्व, अध्रुवत्व पूर्ववत् अभव्य और भव्य की दृष्टि से क्रमशः जानना चाहिये।

इस प्रकार सादि अनादि प्ररूपणा का विचार किया गया।

स्वामित्व प्ररूपणा

अब स्वामित्व वक्तव्य है। वह दो प्रकार का है – एक एक प्रकृतिगत और प्रकृतिस्थान गत। इन दोनों में से पहले एक एक प्रकृतिगत स्वामित्व का कथन करते हैं –

छउमत्थंता चउदस, दुचरम समयंमि अत्थि दो निद्दा।
बद्धाणि ताव आऊणि वेइयाइं ति जा कसिणं॥ ३॥

शब्दार्थ – **छउमत्थंता** – छद्मस्थ के अंतिमसमय तक, **चउदस** – चौदह, **दुचरमसमयंमि** – द्विचरम समय में, **अत्थि** – होती हैं, **दो निद्दा** – निद्राद्विक, **बद्धाणि** – बद्ध, **ताव** – तब तक, **आऊणि** – आयुचतुष्क, **वेइयाइंति** – वेदन की जाती हैं, **जा** – तक, **कसिणं**– कृत्स्न पूर्ण।

गाथार्थ – छद्मस्थ के चौदह प्रकृतियां ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अंतरायपंचक अंतिम समय तक और निद्राद्विक द्विचरम समय तक होती हैं। किसी भी जीव के बद्ध आयुचतुष्क में से कोई भी आयु जहां तक वेदन की जाती हैं, वहां तक रहती है।

विशेषार्थ – ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क ये चौदह प्रकृतियां छद्मस्थ के अन्त तक अर्थात् क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ के अन्तिम समय तक विद्यमान रहती हैं, इसके आगे क्षय हो जाने से इनका अभाव है। इसी प्रकार आगे कही जाने वाली प्रकृतियों में भी जहां तक जिसका सद्भाव बतलाया जाये, उस गुणस्थान से आगे उनका अभाव जानना चाहिये।

दो निद्रायें अर्थात् निद्रा और प्रचला क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान के द्विचरम समय तक विद्यमान रहती हैं।

चारों ही आयु बंधने के पश्चात् तब तक विद्यमान रहती हैं जब तक की सम्पूर्ण रूप से उनका वेदन नहीं हो जाता है तथा –

तिसु मिच्छत्तं नियमा, अट्ठसु ठाणेसु होई भइयव्वं।
आसाणे सम्मत्तं, नियमा सम्मं दससु भज्जं ॥ ४॥

शब्दार्थ – **तिसु** – तीन, **मिच्छत्तं** – मिथ्यात्व, **नियमा** – निश्चित रूप से, **अट्ठसुठाणेसु**– आठ गुणस्थानों में, **होइ** – होता है, **भइयव्वं** – (भजितव्य), भजना, **आसाणे**– सास्वादन में, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व, **नियमा** – नियम से, **सम्मं** – सम्यक्त्व, **दससु** – दस में, **भज्जं** – भजनीय।

गाथार्थ – आदि के तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व निश्चित रूप से होता है, उसके आगे आठ गुणस्थानों में वह भजनीय है। सास्वादन में सम्यक्त्वमोहनीय नियम से है और शेष दस में भजनीय है।

विशेषार्थ – मिथ्यादृष्टि सास्वादन और सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) रूप आदि के तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व नियम से अवश्य विद्यमान रहता है, किन्तु शेष में अर्थात् चौथे गुणस्थान से लेकर उपशांतमोह पर्यन्त आठ गुणस्थानों में उसका अस्तित्व भाज्य है। वह इस प्रकार समझना चाहिये – अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के द्वारा उसका क्षय कर दिये जाने तक उसका अस्तित्व रहता हें और क्षीणमोह आदि गुणस्थानों में उसका अवश्य अभाव है।

'आसाणे सम्मत्तं' इत्यादि अर्थात आसादन यानि सास्वादन गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय नियम से रहता है। किन्तु दस गुणस्थानों में अर्थात् मिथ्यादृष्टि से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान पर्यन्त उसका अस्तित्व भाज्य है अर्थात् कभी रहता है और कभी नहीं रहता है। उसे इस प्रकार समझना चाहिये कि मिथ्यादृष्टि अभव्य में सम्यक्त्वमोहनीय नहीं पाया जाता है, भव्य में भी कदाचित् रहता है और कदाचित् नहीं रहता है तथा सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति के उद्वलन होने पर भी कुछ काल तक रहता है, इसलिए वहां पर भी वह भाज्य है। किन्तु अविरल आदि क्षपकों में नहीं रहता है, परन्तु उपशामकों में रहता है, अतः वहां पर भी भाज्य है। तथा –

बिइय तईएसु मिस्सं, नियमा ठाणनवगम्मि - भयणिज्जं।
संजोयणा उ नियमा, दुसु पंचसु होइ भइयव्वं ॥ ५॥

शब्दार्थ – **बिइय तईएसु** – द्वितीय तृतीय गुणस्थान में, **मिस्सं** – मिश्रमोहनीय, **नियमा** – नियम से, **ठाण नवगम्मि** – नौ गुणस्थानों में, **भयणिज्जं** – भजनीय, **संजोयणा** – संयोजना – कषाय, **उ** – और, **नियमा** – नियम से, **दुसु** – दो में, **पंचसु** – पांच में, **होइ** – होता है, **भइयव्वं** – भजितव्य (भजनीय)।

गाथार्थ – द्वितीय और तृतीय गुणस्थान में मिश्रमोहनीय नियम से होता है और शेष नौ गुणस्थानों में भजनीय है। संयोजना कषाय आदि के दो गुणस्थानों में नियम से है और आगे के पांच गुणस्थानों में भजनीय है।

विशेषार्थ – दूसरे और तीसरे गुणस्थान में मिश्रमोहनीय अर्थात् सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व नियम से रहता है क्योंकि सास्वादन गुणस्थान वाला नियम से मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला ही होता है और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्व के बिना नहीं होता है।

इसलिए सास्वादन और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों में सम्यग्मिथ्यात्व अवश्य रहता है तथा मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान पर्यन्त आठ कुल मिलाकर नौ गुणस्थानों में भजनीय है, अर्थात् कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता है। इसका विवेचन पूर्वोक्त प्रकार से स्वयमेव समझ लेना चाहिए।

'संयोजणा उ नियमा' इत्यादि अर्थात् अनन्तानुबंधी कषायें मिथ्यादृष्टि और सास्वादन सम्यग्दृष्टि इन दो गुणस्थानों में नियम से होती हैं। क्योंकि ये दोनों ही गुणस्थानवर्ती जीव अवश्य ही अनन्तानुबंधी कषायों को बांधते हैं और पांच गुणस्थानों में अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) से अप्रमत्तसंयत पर्यन्त पांच गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी कषाय भजनीय हैं। यदि उनका उद्वलन हो जाता है तो नहीं रहती हैं, अन्यथा उनका अस्तित्व रहता है यथा –

खवगानियट्टिअद्धा, संखिज्जा होंति अट्ठ वि कसाया।
निरयतिरियतेर - सगं निद्दानिद्दातिगेणुवरिं ॥ ६॥

शब्दार्थ – **खवगानियट्टिअद्धा** – अनिवृत्तिकरणकाल के, **संखिज्जा** – संख्याताभाग, **होंति** – होती हैं, **अट्ठवि** – आठों ही, **कसाया** – कषाय, **निरयतिरियतेरसगं** – नरक तिर्यंच त्रयोदशक, **निद्दानिद्दातिग** – निद्रानिद्रात्रिक, **इण** – इन, **उवरिं** – ऊपर, आगे।

गाथार्थ – आठों ही कषाय क्षपक के अनिवृत्तिकरणकाल के संख्याता भाग तक रहती हैं तथा नरक-तिर्यंचत्रयोदशक और निद्रनिद्रात्रिक इन सोलह प्रकृतियों की सत्ता अनिवृत्तिकरण के संख्याता भाग से आगे भी होती है।

विशेषार्थ – अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क रूप आठों कषायें क्षपक के अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान के संख्याता काल तक विद्यमान रहती हैं। उसके आगे क्षय हो जाने से नहीं रहती हैं। किन्तु उपशमश्रेणी की अपेक्षा उपशान्तमोह गुणस्थान में उनका सत्व जानना चाहिये।

एकान्तरूप से नरक-तिर्यंचप्रायोग्य नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म साधारण रूप नामकर्म की तेरह प्रकृतियां एवं निद्रनिद्रात्रिक अर्थात् निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि, आठों मध्यम कषायों के क्षय से आगे स्थितिखंड सहस्त्र व्यतीत होने पर एक साथ क्षय को प्राप्त होती हैं। इसलिये जब तक उनका क्षय नहीं होता है, तब तक उनका सत्व रहता है, और क्षय हो जाने पर सत्व नहीं रहता है। किन्तु उपशमश्रेणी में तो ये सोलह प्रकृतियां उपशांतमोह गुणस्थान तक विद्यमान रहती हैं।

यथा – **अपुमित्थीए समं वा, हासछक्कं च पुरिससंजलणा।**
पत्तेगं तस्स कमा, तणुरागंतोत्ति लोभो य ॥ ७॥

शब्दार्थ – **अपुमित्थीए** – नपुंसकवेद और स्त्रीवेद, **समं** – साथ, **वा** – अथवा, **हासछक्कं** – हास्यषट्क, **च** – और, **पुरिस** – पुरुषवेद, **संजलणा** – संज्वलन कषायें, **पत्तेग** – प्रत्येक, **तस्स** – उनका, **कमा** – अनुक्रम से, **तणुरागंतोत्ति** – सूक्ष्मसंपराय के अन्त में, **लोभो** – संज्वलन लोभ, **य** – और।

गाथार्थ – (पूर्वोक्त सोलह प्रकतियों के क्षय के पश्चात्) नंपुसकवेद और स्त्रीवेद का एक साथ अथवा क्रम से तत्पश्चात् हास्यषट्क और पुरुषवेद का एक साथ अथवा क्रम से तथा संज्वलन प्रत्येक कषायों का क्रम से क्षय होता है और सूक्ष्मसंपराय के अंत में संज्वलन लोभ का क्षय होता है।

विशेषार्थ – अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों के क्षय के अनन्तर संख्यात स्थितिखंडों के व्यतीत होने पर नपुंसकवेद क्षय को प्राप्त होता है। जब तक उसका क्षय नहीं होता है तब तक उसका सत्व रहता है। तत्पश्चात् पुनः संख्यात स्थितिखंडों के व्यतीत होने पर स्त्रीवेद क्षय को प्राप्त होता है। वह भी जब तक क्षय नहीं होता है, तब तक उसका सत्व रहता है। इस प्रकार यह क्षय का क्रम स्त्रीवेद के साथ अथवा पुरुषवेद के साथ क्षपकश्रेणी को प्राप्त हुए जीव के जानना चाहिये। किन्तु नपुंसकवेद से क्षपकश्रेणी पर चढ़े हुए जीव के स्त्रीवेद और नपुंसकवेद एक साथ क्षय को प्राप्त होते हैं। अतएव जब तक वे क्षय को प्राप्त नहीं होते हैं तब तक उनका सत्व रहता है। परन्तु उपशमश्रेणी की अपेक्षा उपशान्तमोह गुणस्थान तक उन दोनों का सत्व रहता है।

स्त्रीवेद का क्षय होने के अनन्तर संख्यात स्थितिखंडों के व्यतीत होने पर हास्यादि षट्क, एक साथ क्षय को प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलिका काल बीतने पर पुरुषवेद क्षय को प्राप्त होता है। यह विधान पुरुषवेद के साथ क्षपकश्रेणी पर चढ़े हुए जीव का जानना चाहिये। किन्तु स्त्रीवेद के साथ अथवा नपुंसकवेद के साथ क्षपकश्रेणी को प्राप्त हुए जीव के पुरुषवेद और हास्यादिषट्क एक साथ क्षय को प्राप्त होते हैं।

पुरुषवेद के क्षय होने के अनन्तर संख्यात स्थितिखंडों के व्यतीत होने पर संज्वलन क्रोध क्षय को प्राप्त होता है। तदनन्तर पुनः संख्यात स्थितिखंडों के व्यतीत होने पर संज्वलनमान क्षय को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् पुनः संख्यात स्थितिखंडों के व्यतीत होने पर संज्वलनमाया क्षय को प्राप्त होती है। इस प्रकार ये हास्यादि प्रकृतियां जब तक क्षय को प्राप्त नहीं होती हैं, तब तक उनका

सत्व रहता है।

"तणुरागंतोत्तिलोभो य" अर्थात् जब तक तनुरागांत यानि सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान का अन्त नहीं होता है तब तक संज्वलन लोभ का सत्व जानना चाहिये। इससे आगे उसका असत्व है। किन्तु उपशमश्रेणी की अपेक्षा हास्यादि सभी प्रकृतियां उपशांतमोह गुणस्थान तक जानना चाहिये तथा –

मणुयगइजाइतस - बायरं च पज्जत्तसुभगआएज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं, वेयणिउच्चं च मणुयाणं ॥ ८॥
भवचरिमस्समयम्मि उ, तम्मग्गिल्लसमयम्मि सेसाउ।
आहारगतित्थयरा, भज्जा दुसु नत्थि तित्थयरं ॥ ९॥

शब्दार्थ – **मणुयगइ** – मनुष्यगति, **जाइ** – (पंचेन्द्रिय) जाति, **तसबायरं** – त्रस बादर, **च** – और, **पज्जत्त** – पर्याप्त, **सुभग** – सुभग, **आएज्जं** – आदेय, **जसकित्ती** – यश कीर्ति, **तित्थयरं** – तीर्थकर, **वेयणि** – वेदनीय, **उच्चं** – उच्चगोत्र, **च** – और, **मणुयाणं** – मनुष्यायु

भवचरिमस्समयम्भि – भव के चरम समय तक, **उ** – और, **तम्मग्गिल्लसमयम्मि** – उसके (अयोगि के) उपान्त्य समय तक, **सेसाउ** – शेष प्रकृतियों का, **आहारग** – आहारक, **तित्थयरा** – तीर्थंकर, **भज्जा** – भजनीय, **दुसु** – दो में, **नत्थि** – नहीं है, **तित्थयरं** – तीर्थंकर।

गाथार्थ – मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस बादर पर्याप्त सुभग आदेय, यशकीर्ति तीर्थंकर, वेदनीय, उच्चगोत्र और मनुष्यायु का सत्व आयोगि के भव के चरम समय तक रहता है। शेष प्रकृतियों का सत्व उसके उपान्त्य समय तक रहता है। आहारक और तीर्थंकर नामकर्म सभी गुणस्थानों में भजनीय है किन्तु तीर्थंकर नाम दूसरे और तीसरे गुणस्थानों में नहीं पाया जाता है।

विशेषार्थ – मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस बादर, पर्याप्त सुभग, आदेय, यशः कीर्ति, अन्यतर वेदनीय, उच्चगोत्र और मनुष्यायु ये बारह प्रकृतियां भव के चरम समय तक रहती हैं। अर्थात् अयोगिकेवली के चरम समय तक ये विद्यमान रहती हैं, इससे परे यानी सिद्धों में नहीं रहती हैं।

उक्त बारह प्रकृतियों के सिवाय शेष सभी तिरासी प्रकृतियां 'तस्सग्गिलसमयम्मि' अर्थात् भव के चरम समय के पूर्व के समय में यानि अयोगिकेवली के द्विचरम समय में विद्यमान रहती हैं, किन्तु चरम समय में विद्यमान नहीं रहती हैं।

आहारक और तीर्थंकर नामकर्म सभी गुणस्थानों में भजनीय है।[१] लेकिन इतना विशेष है कि सास्वादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि इन दो गुणस्थानों में तीर्थंकर नाम नियम से नहीं पाया जाता है। क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म की सत्तावाले जीव का स्वभाव से ही उक्त दोनों गुणस्थानों में गमन नहीं होता है।

इस प्रकार एक एक प्रकृति-सत्कर्म का विचार किया जाना चाहिये।

प्रकृतिस्थान-सत्कर्म निरूपण

अब प्रकृतिस्थान-सत्कर्म का प्रतिपादन करते हैं –

पढमचरिमाणमेगं, छन्नवचत्तारि बीयगे तिन्नि।
वेयणियाउयगोएसु, दोन्नि एगो त्ति दो होंति॥ १०॥

---

१. जो अप्रमत्त संयतदि आत्मा संयम के निमित्त आहारक सप्तक का बंधन करके विशुद्धि वश उपरितन गुणस्थानों पर आरोहण करता है किंतु अशुद्ध अध्यवसायों के कारण पुनः नीचे गिर जाता है। ऐसे पतितमान जीव के आहारकसप्तक की सत्ता सभी गुणस्थानों में होती है। परंतु जो जीव आहारकसप्तक का बंधन नहीं करता है और बंध के बिना ही उपरितन गुणस्थानों पर आरोहण करता है। उस जीव के उन-उन गुणस्थानों में आहारकसप्तक की सत्ता नहीं होती है।

जो जीव अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान के षट्भागों तक सम्यक्त्व के निमित्त से तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का बंधन करके उपरितन गुणस्थानों पर आरोहण करता है। किंतु कोई जीव तीर्थंकर नाम का बंधन करने के बाद अविशुद्धि के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान में भी आ जाता है। तब सास्वादन और मिश्र गुणस्थान को छोड़कर बारह ही गुणस्थानों में तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति की सत्ता पाई जाती है। किंतु जो विशुद्ध सम्यक्त्वी होते हुए भी तीर्थंकर नामकर्म का बंधन नहीं करता है। उस जीव की अपेक्षा सभी गुणस्थानों में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता नहीं पाई जाती है।

अतः आहारकसप्तक और तीर्थंकर नाम प्रकृति के बंधन की अनिवार्यता नहीं होने से इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता अनिवार्य रूप से नहीं पाई जाती है। तीर्थंकर और आहारक इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता एक साथ मिथ्यादृष्टि में नहीं पाई जाती है। कहा भी है – "उभए संति न मिच्छो" तीर्थकर नामकर्म की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नहीं रहता है। यथा –

"तित्थगरे अन्तर मुहुत्तं" इसका तात्पर्य यह है – जो जीव नरक आयु का बंधन करके तदनंतर तीर्थंकर नाम प्रकृति का बंधन कर चुका है ऐसा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव नरक में जाते समय में अन्तर्मुहूर्त काल तक अवश्य सम्यक्त्व रहित होकर मिथ्यात्व अवस्था में आ जाता है। नरक में उत्पत्ति के अनंतर अन्तर्मुहूर्त के व्यतीत होने के बाद सम्यक्त्वी बन जाता है। इस अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त काल तक तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाले जीव के मिथ्यात्व का उदय होता है।

शब्दार्थ – **पढमचरिमाणमेगं** – प्रथम और अंतिम का एक एक, **छन्नवचत्तारि** – छह, नौ और चार का, **बीयगे** – दूसरे में, **तिन्नि** – तीन, **वेयणियाउयगोएसु** – वेदनीय आयु और गोत्र में, **दोन्नि** – दो का, **एगो** – एक का, **त्ति** – इस प्रकार, **दो** – दो, **होंति** – होते हैं।

गाथार्थ – प्रथम और अंतिम कर्म का एक स्थान होता है दूसरे कर्म के छह का नौ का, चार का इस प्रकार तीन स्थान हैं। वेदनीय, आयु और गोत्र में दो और एक प्रकृतिक इस तरह दो दो सत्वस्थान हैं।

विशेषार्थ – प्रथम और चरम अर्थात् ज्ञानावरण और अंतराय कर्म इन दोनों कर्मों का पांच प्रकृत्यात्मक एक एक सत्वस्थान है और वह क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय तक पाया जाता है।

दूसरे दर्शनावरण कर्म के तीन प्रकृतिस्थान हैं, यथा – नौ, छह और चार प्रकृतिक। इनमें से दर्शनावरण की सर्व प्रकृति समुदाय रूप नौ प्रकृतिक सत्वस्थान है। ये नौ प्रकृतियां उपशमश्रेणी की अपेक्षा उपशांतमोह गुणस्थान तक विद्यमान रहती हैं और क्षयकश्रेणी की अपेक्षा अनिवृत्तिबादरसंपराय काल के संख्यात भागों तक विद्यमान रहती हैं। उससे आगे स्त्यानर्धित्रिक का क्षय हो जाने पर छह प्रकृतियां क्षीणकषायगुणस्थान के द्विचरम समय तक विद्यमान रहती हैं। उस द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला सत्व से विच्छिन्न होती हें। इसलिए क्षीणकषाय गुणस्थान में चरम समय में दर्शनावरण की चार प्रकृतियां विद्यमान रहती हैं। अंतिम समय में वे भी सत्व से विच्छिन्न हो जाती हैं।

वेदनीय आयु और गौत्र कर्म के दो प्रकृतिस्थान हैं, यथा – द्विप्रकृतिक, और एक-प्रकृतिक। इनमें जब तक वेदनीय की एक भी प्रकृति का क्षय नहीं होता, तब तक दोनों की सत्ता रहती हैं और एक के क्षय हो जाने पर एक ही की सत्ता रहती है। गोत्र की दोनों प्रकृतियों में से जब तक एक का क्षय या उद्वलन नहीं होता, तब तक दोनों की सत्ता रहती है किन्तु नीचगोत्र के क्षय हो जाने पर अथवा उच्चगोत्र का उद्वलन हो जाने पर एक प्रकृति की सत्ता रहती है। आयुकर्म की बंधी हुई आगामी भव की आयु उदय को प्राप्त नहीं होती है, तब तक आयुकर्म की दो प्रकृतियां विद्यमान रहती हैं और बद्ध आयुकर्म के उदय होने पर पूर्व आयुकर्म क्षीण हो जाता है। इसलिये एक प्रकृति की सत्ता रहती है।

ऊपर छह कर्मों के प्रकृतिसत्वस्थानों का कथन किया गया है। अब शेष रहे मोहनीय और नामकर्म के प्रकृतिसत्वस्थानों का प्रतिपादन करते हैं। उनमें से मोहनीय कर्म के स्थान इस प्रकार हैं –

एगाइ जाव पंचग - मेक्कारस बार तेरसिगवीसा।
बिय तिय चउरो छ, सत्त अट्ठवीसा य मोहस्स॥ ११॥

शब्दार्थ – **एगाइ** – एक को आदि करके, **जाव** – तक, **पंचग** – पांच, **एक्कारस** – ग्यारह, **बार** – बारह, **तेरसिगवीसा** – तेरह इक्कीस, **बिय** – दो, **तिय** – तीन, **चउरो** – चार, **छ** – छह, **सत्त** – सात, **अट्ठ** – आठ (अधिक), **वीसा** – बीस, **य** – और, **मोहस्स** – मोहनीय कर्म के।

गाथार्थ – एक को आदि करके पांच तक ग्यारह, बारह, तेरह, इक्कीस और दो, तीन, चार, छह, सात ओर आठ अधिक बीस, कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के ये पन्द्रह प्रकृति-सत्वस्थान है।

विशेषार्थ – मोहनीय कर्म के पन्द्रह प्रकृतिसत्वस्थान होते हैं, यथा – एक, दो, तीन, चार, पांच, ग्यारह, बारह, तेरह, इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतिक।

इन सत्वस्थानों का सरलता पूर्वक बोध कराने के लिये गाथा के विपरीत क्रम से इनकी व्याख्या की जाती है। अर्थात् पश्चानुपूर्वी क्रम से अट्ठाईस प्रकृतिसत्वस्थान से इनका स्पष्टीकरण किया जाता है, जो इस प्रकार है –

मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का समुदाय रूप अट्ठाईस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। उसमें से सम्यक्त्व की उद्वलना होने पर सत्ताईस प्रकृतिक और सत्ताईस प्रकृतिक स्थान में से सम्यग्मिथ्यात्व के उद्वलित होने पर २६ प्रकृतिक अथवा अनादिमिथ्यादृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व के उद्वलित होने पर २६ प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। २८ प्रकृतिक में से अनन्तानुबंधीकषायचतुष्क के क्षय होने पर चौबीस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। उसमें से मिथ्यात्व के क्षय होने पर तेईस प्रकृतिक, उसमें से सम्यग्मिथ्यात्व के क्षीण होने पर बाईस प्रकृतिक, उसमें से सम्यक्त्व के क्षीण होने पर इक्कीस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। उसमें से आठ मध्यम कषायों के क्षय होने पर तेरह प्रकृतिक, उसमें से भी नंपुसक वेद के क्षय हो जाने से बारह प्रकृतिक, उसमें से स्त्रीवेद के क्षीण होने पर ग्यारह प्रकृतिक उसमें हास्यादिषट्क नोकषायों के क्षय होने पर पांच प्रकृतिक, उसमें से पुरुषवेद के क्षय होने पर चार प्रकृतिक, उसमें से संज्वलन क्रोध के क्षय होने पर तीन प्रकृतिक और उसमें से संज्वलन मान के क्षय हो जाने पर दो प्रकृतिक सत्वस्थान, उसमें से संज्वलन माया के क्षय होने पर एक प्रकृतिक सत्वस्थान होता है।

अब मोहनीयकर्म के उक्त प्रकृतिसत्वस्थानों का गुणस्थानों में विचार करते हैं –

तिन्नेग तिगं पणगं, पणगं, पणगं च पणगमह दोन्नि।
दस तिन्नि दोन्नि मिच्छा - इगेसु जावोवसंतोत्ति॥ १२॥

शब्दार्थ – **तिन्नेग** – तीन, एक, **तिगं** – तीन, **पणगं** – पांच, **पणगं** – पांच, **पणगं** – पांच, **च** – और, **पणगं** – पांच, **अह** – अनन्तर, **दोन्नि** – दो, **दस** – दस, **तिन्नि** – तीन, **दोन्नि** – दो, **मिच्छाइगेसु** – मिथ्यात्व को आदि लेकर, **जाव** – तक, **उवसंतोत्ति** – उपशांतमोहगुणस्थान।

गाथार्थ – मिथ्यात्व को आदि लेकर उपशांतमोहगुणस्थान पर्यन्त क्रम से तीन, एक, तीन, पांच, पांच, पांच, पांच, दो, दस तीन और दो सत्वस्थान होते हैं।

विशेषार्थ – उपशांतमोहगुणस्थान तक मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में यथाक्रम से तीन आदि प्रकृति सत्कर्म स्थान होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण क्रम से नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये–

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – तीन प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा – अट्ठाईस, सत्ताईस और छब्बीस प्रकृतिक। इनकी व्याख्या पूर्व गाथा में की जा चुकी है।

सास्वादन गुणस्थान – अट्ठाईस प्रकृतिक एक सत्वस्थान होता है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान – तीन प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा – अट्ठाईस, सत्ताईस[१] और चौबीस प्रकृति। यहां जो अट्ठाईस प्रकृति की सत्तावाला होकर सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा अट्ठाईस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है और जिसने मिथ्यादृष्टि होते हुए पहले सम्यक्त्व की उद्वलना कर दी और पुनः सत्ताईस की सत्तावाला होता हुआ सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभव प्रारम्भ करता है, उसके सत्ताईस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है।[१] चौबीस प्रकृतियों की सत्तावाले जीव के सम्यग्मिथ्यात्वदृष्टि होने की अपेक्षा चौबीस प्रकृतिक सत्वस्थान प्राप्त होता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान – पांच प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा – अट्ठाईस, चौबीस, तेईस, बाईस और इक्कीस प्रकृतिक। इनमें से अट्ठाईस प्रकृतिक सत्वस्थान औपशमिक सम्यग्दृष्टि के अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के पाया जाता है। अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाले वेदक सम्यग्दृष्टि के अथवा औपशमिक सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधीचतुष्क के क्षय होने पर चौबीस प्रकृतिक सत्वस्थान

---

१. दिगम्बर कर्म ग्रन्थों में सम्यग्मिथ्यात्दृष्टि के २७ प्रकृतिक सत्वस्थान नहीं कहा है।

पाया जाता है। वेदकसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व के क्षय होने पर तेईस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है और उसी वेदकसम्यग्दृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व के क्षय होने पर २२ प्रकृतिक और सम्यक्त्वमोह के क्षय हो जाने पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि के इक्कीस प्रकृतिक सत्वस्थान पाया जाता है।

देशविरति - प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान – इन तीन गुणस्थानों में भी अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बताये गये अट्ठाईस, चौबीस, तेईस, बाईस और इक्कीस प्रकृतिक ये पांच प्रकृतिसत्वस्थान जानना चाहिये तथा उनके होने के कारणों को पूर्ववत् समझना चाहिये।

अपूर्वकरण गुणस्थान – 'अह दोन्नि त्ति' अर्थात् सप्तमगुणस्थान के अनन्तर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में दो प्रकृतिसत्वस्थान होते हैं, यथा – चौबीस और इक्कीस प्रकृतिक। इनमें से उपशमश्रेणी को प्राप्त जीव के चौबीस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। और क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा दोनों ही श्रेणियों में इक्कीस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है।

अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान – दस प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा – चौबीस, इक्कीस, तेरह, बारह, ग्यारह, पांच, चार, तीन, दो, एक प्रकृतिक। इनमें से उपशमश्रेणी की अपेक्षा चौबीस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के दोनों श्रेणियों में इक्कीस प्रकृतिक सत्वस्थान होता है और शेष आठ स्थान क्षपकश्रेणी में होते हैं। जिनकी व्याख्या पहले कर दी गई है।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान – तीन प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा – चौबीस, इक्कीस और एक प्रकृतिक। इनमें से चौबीस प्रकृतिक स्थान क्षायिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि के और इक्कीस प्रकृतिक सत्वस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि को होता है। ये दोनों प्रकृतिक सत्वस्थान उपशमश्रेणी में होते हें और एक प्रकृतिक सत्वस्थान क्षपकश्रेणी में होता है।

उपशांतमोह गुणस्थान – दो प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा – चौबीस प्रकृतिक और इक्कीस प्रकृतिक। इन दोनों सत्वस्थानों की व्याख्या पूर्वोल्लेखानुसार समझ लेना चाहिये।

अब इन प्रकृति सत्वस्थानों के सम्बंध में एक मतान्तर का उल्लेख करते हैं –

संखीणदिट्ठिमोहे, केई पणवीसइं पि इच्छंति।
संजोयणाण पच्छा, नासं तेसिं उवसमं च॥ १३॥

शब्दार्थ – **संखीणदिट्ठिमोहे** – दर्शनमोहनीय का क्षय हो जाने पर, **केई** – कितने ही, **पणवीसइं** – पच्चीस प्रकृतिक, **पि** – भी, **इच्छंति** – मानते हैं, **संजोयणाण** – संयोजना (अनन्तानुबंधी) का, **पच्छा** – पीछे, **नासं** – क्षय (नाश), **तेसिं** – उसका, **उवसमं** – उपशाम, **च** – और।

गाथार्थ – कितने ही आचार्य दर्शनामोहनीयत्रिक का क्षय हो जाने पर पच्चीस प्रकृतिक सत्वस्थान भी मानते हैं और अनन्तानुबंधी का नाश (क्षय) या उपशम पीछे मानते हैं।

विशेषार्थ – कितने ही आचार्य पच्चीस प्रकृतियों वाले सत्वस्थान को भी स्वीकार करते हैं। वे पहले दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का क्षय हो जाने के पश्चात् अनन्तानुबंधी कषायों का नाश मानते हैं। इसलिये उनके मत से दर्शनमोहत्रिक के क्षय हो जाने पर पच्चीस प्रकृतिरूप सत्वस्थान भी प्राप्त होता है।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो उनका यह मत स्वीकार क्यों नहीं किया जाता है?

उत्तर – उनके इस मत का आर्ष (आगम) के साथ विरोध होने से स्वीकार नहीं करते हैं। जैसा कि चूर्णिकार ने कहा है –

तं आरिसे न मिलइ तेण न इच्छिज्जइ त्ति,

अर्थात् उनका यह मत आर्ष में नहीं मिलता, इसके अतिरिक्त वे ही आचार्य अनन्तानुबंधी कषायों का उपशम मानते हैं, किन्तु परमार्थ के ज्ञाता अन्य आचार्य ऐसा नहीं मानते हैं। इसीलिये यहां भी पहले अनन्तानुबंधी कषायों की उपशमना का कथन नहीं किया गया है।

मोहनीयकर्म के स्थानों का विचार करने के पश्चात अब नामकर्म के प्रकृतिसत्वस्थानों का प्रतिपादन करते हैं –

तिगदुगसयं छप्पंचग - तिगनउई नउइ गुणनउई च।
चउतिगदुगाहिगासी, नव अट्ठ य नामठाणाइं॥ १४॥

शब्दार्थ – **तिगदुगसयं** – तीन और दो सौ, **छप्पंचगतिनउई** – छह पांच तीन अधिक नव्वे, **नउइ** – नव्वै, **गुणनउई** – नवासी, **चउ** – चार, **तिग** – तीन, **दुग** – दो, **अहिग** – अधिक, **असी** – अस्सी, **नव** – नौ, **अट्ठ** – आठ, **य** – और, **नामठाणइं** – नामकर्म के स्थान।

गाथार्थ – एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तैरानवै, नव्वै, नवासी, चौरासी, तिरासी, बयासी, नौ और आठ ये बारह नामकर्म के सत्तास्थान हैं।

विशेषार्थ – नामकर्म के बारह प्रकृतिसत्वस्थान होते हैं, यथा – एक सौ तीन प्रकृतिक, एक सौ दो प्रकृतिक, छियानवै प्रकृतिक, पंचानवै प्रकृतिक, तेरानवै प्रकृतिक, नव्वै प्रकृतिक, नवासी प्रकृतिक, चौरासी प्रकृतिक, तेरासी प्रकृतिक, बयासी प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक और आठ

प्रकृतिक।[1] इनमें नामकर्म की सभी प्रकृतियों का समुदाय रूप एक सौ तीन प्रकृतिक स्थान है। यही तीर्थकर नाम रहित एक सौ दो प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। एक सौ तीन में से आहारकसप्तक के बिना छियानवै प्रकृतिक सत्वस्थान होता है और वही तीर्थंकर नाम रहित पंचानवै प्रकृतिकसत्वस्थान होता है। पंचानवै में से देवद्विक रहित अथवा नरकद्विक रहित, तेरानवै प्रकृतिक सत्वस्थान होता है तथा एक सौ तीन में से नामकर्म की तेरह प्रकृतियां कम करने पर नव्वै प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। वही तीर्थंकर रहित नवासी प्रकृतिक सत्वस्थान होता है तथा तेरानवै में से नरकद्विक और वैक्रियसप्तक रहित अथवा देवद्विक और वैक्रियसप्तक रहित चौरासी प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। छियानवै में से नाम त्रयोदश रहित तेरासी प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। पंचानवै में से नामत्रयोदश रहित बयासी प्रकृतिक सत्वस्थान होता है अथवा चौरासी में से मनुष्यद्विक रहित बयासी प्रकृतिक सत्वस्थान होता है। मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थकर रूप नौ प्रकृतिक सत्वस्थान होता है और यही तीर्थंकर रहित आठ प्रकृतिक सत्वस्थान होता है।

अब इन्हीं प्रकृति सत्वस्थानों का गुणस्थानों में विचार करते हैं –

एगे छ दोसु, दुगं, पंचसु चत्तारि अट्ठगं दोसु।
कमसो तीसु चउक्कं, छत्तु अजोगम्मि ठाणाणि॥ १५॥

शब्दार्थ – **एगे** – एक में, **छ** – छह, **दोसु** – दो में, **दुगं** – दो, **पंचसु** – पांच में, **चत्तारि** – चार, **अट्ठग** – आठ, **दोसु** – दो में, **कमसो** – क्रम से, **तीसु** – तीन में, **चउक्कं**– चार, **छ** – छह, **तु** – और, **अजोगम्मि** – अयोगि में, **ठाणाणि** – स्थान।

गाथार्थ – क्रम से एक गुणस्थान में छह, दो गुणस्थान में दो, पांच गुणस्थान में चार, दो गुणस्थानों में आठ, तीन गुणस्थानों में चार और अयोगि में छह सत्वस्थान होते हैं।

विशेषार्थ – एक अर्थात् पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में छह प्रकृति सत्कर्मस्थान होते हैं, यथा – १ एक सौ दो, २ छियानवै, ३ पंचानवै, ४ तेरानवै, ५ चौरासी ओर ६ बयासी प्रकृतिक।

प्रश्न – छियानवै प्रकृतिक सत्वस्थान तीर्थकर नाम सहित होता है। अतः वह मिथ्यादृष्टि में कैसे पाया जाता है ?

उत्तर – कोई मनुष्य पहले नरक की आयु बांधकर और पीछे सम्यक्त्व प्राप्त कर उसके निमित्त से तीर्थकर नामकर्म को बांधकर नरक में जाने के अभिमुख होता हुआ सम्यक्त्व को

---

१. यहां बंधन नामकर्म के १५ भेद ग्रहण करके नाम कर्म के एक सौ तीन आदि १२ प्रकृतिक सत्वस्थान बतलायें हैं।

छोड़कर मिथ्यादृष्टि हो गया, तत्पश्चात् मरण कर नरक में उत्पन्न होता हुआ अन्तर्मुहूर्त के अनंतर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है। तब मिथ्यादृष्टि में अन्तर्मुहूर्त काल तक छियानवै प्रकृतिक सत्वस्थान पाया जाता है। किन्तु आहारकसप्तक और तीर्थकर नाम की सत्ता वाला जीव मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है। कहा भी है — **उभए संति न मिच्छो।**

अर्थात् तीर्थंकर और आहारक इन दोनों की सत्ता रहते हुए जीव मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है। इसलिये एक सौ तीन प्रकृतिक सत्वस्थान मिथ्यादृष्टि में नहीं पाया जाता है।

सास्वादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि इन दो गुणस्थानों में दो-दो प्रकृतिक सत्वस्थान होते हैं, यथा — १ एक सौ दो प्रकृतिक और २ पंचानवै प्रकृतिक।

'पंचसु चत्तारि' अर्थात् पांच गुणस्थानों में यानि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान ले लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक प्रत्येक में चार चार प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा १ एक सौ तीन प्रकृतिक, २ एक सौ दो प्रकृतिक, ३ छियानवै प्रकृतिक और, ४ पंचानवै प्रकृतिक। शेष सत्वस्थान क्षपकश्रेणी में और एकेन्द्रियादि जीवों में पाये जाते हैं। इस कारण वे इन गुणस्थानों में नहीं पाये जाते हैं।

'अट्ठगं दोसु' अर्थात् अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसंपराय इन दो गुणस्थानों में आठ आठ प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा — १ एक सौ तीन प्रकृतिक, २ एक सौ दो प्रकृतिक, ३ छियानवै प्रकृतिक, ४ पंचानवै प्रकृतिक, ५ नव्वै प्रकृतिक, ६ नवासी प्रकृतिक, ७ तेरासी प्रकृतिक और ८ बयासी प्रकृतिक। इनमें से अनिवृत्तिबादर के आदि के चार सत्वस्थान उपशमश्रेणी में अथवा क्षपकश्रेणी में, जब तक तेरह प्रकृतियां क्षय नहीं होती हैं, तब तक पाये जाते हैं और शेष स्थान क्षपकश्रेणी में ही पाये जाते हैं। सूक्ष्मसंपराय में आदि के चार प्रकृतिक सत्वस्थान उपशमश्रेणी में और शेष चार स्थान क्षपकश्रेणी में पाये जाते हैं।

'तीसु चउक्कं' अर्थात उपशांतमोह क्षीणमोह और सयोग केवली इन तीन गुणस्थानों में चार चार प्रकृति सत्वस्थान होते हैं। उनमें से उपशांतमोह में १ एक सौ तीन प्रकृतिक, २ एक सौ दो प्रकृतिक, ३ छियानवै प्रकृतिक, ४ पंचानवै प्रकृतिक ये चार तथा क्षीणमोह और सयोगिकेवली में १ नव्वै प्रकृतिक, २ नवासी प्रकृतिक, ३ तेरासी प्रकृतिक और ४ बयासी प्रकृतिक ये चार स्थान होते हैं।

'छत्तु अजोगम्मि ठाणाणि' अर्थात अयोगिकेवली में छह प्रकृति सत्वस्थान होते हैं, यथा— १ नव्वै प्रकृतिक, २ नवासी प्रकृतिक, ३ तेरासी प्रकृतिक, ४ बयासी प्रकृतिक, ५ नौ प्रकृतिक और

६ आठ प्रकृतिक। इनमें से आदि के चार प्रकृति सत्वस्थान अयोगिकेवली के द्विचरम समय तक पाये जाते हैं तथा चरम समय में तीर्थंकर और अतीर्थंकर केवली की अपेक्षा अन्तिम दो प्रकृति सत्वस्थान होते हैं।

इस प्रकार प्रकृतिसत्व का विवेचन किया।

स्थिति-सत्कर्म निरूपण

अब स्थिति-सत्कर्म (सत्ता) का विवेचन प्रारंभ करते हैं। इसके भी १ भेद, २ सादि - अनादि प्ररूपणा और ३ स्वामित्व ये तीन अर्थाधिकार हैं।

भेद का वर्णन पूर्वोक्त प्रकृतिसत्व के समान समझना चाहिये।

सादि-अनादि प्ररूपणा

सादि-अनादि प्ररूपणा दो प्रकार की है – मूलप्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक। इनमें से पहले मूलप्रकृतिविषयक सादि-अनादि प्ररूपणा का कथन करते हैं –

मूलठिई अजहन्नं तिहा चउद्धा य पढमगकसाया।
तित्थयरुव्वलणायु - गवज्जाणि तिहा दुहाणुत्तं॥ १६॥

शब्दार्थ – **मूलठिई** – मूलकर्मों की स्थिति, **अजहन्नं** – अजघन्य, **तिहा** – तीन प्रकार का, **चउद्धा** – चार प्रकार का, **य** – और, **पढमग** – प्रथम, **कसाया** – कषाय, **तित्थयरुव्वलण** – तीर्थकर और उद्वलन प्रकृतियों, **आयुग** – आयु, **वज्जाणि** – छोड़कर, **तिहा** – तीन प्रकार का, **दुहाणुत्तं** – अनुक्त दो प्रकार का।

गाथार्थ – मूल प्रकृतियों सम्बंधी अजघन्य स्थितिसत्व तीन प्रकार का और प्रथम कषाय सम्बन्धी अजघन्य स्थितिसत्व चार प्रकार का है। तीर्थंकर और उद्वलन प्रकृतियों तथा आयु को छोड़कर शेष प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसत्व तीन प्रकार का है और अनुक्त विकल्प दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ – मूल प्रकृतियों सम्बन्धी अजघन्य स्थितिसत्व तीन प्रकार का है, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है – मूल प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसत्व अपने अपने क्षय होने के अंत में एक समय मात्र स्थिति के शेष रहने पर पाया जाता है। इसलिये वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी स्थितिसत्व अजघन्य है, और वह अनादि है। क्योंकि सदा ही पाया जाता है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान क्रमशः अभव्य और भव्य जीवों की

अपेक्षा से जानना चाहिये। उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट दोनों ही स्थितिसत्व परिवर्तन से अनेक बार होते रहने के कारण सादि और अध्रुव हैं।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा जानना चहिये।

उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा का प्रारम्भ गाथा में 'चउद्धा य' इत्यादि पद से किया गया है। इसका आशय यह है कि प्रथम अनन्तानुबंधी कषायों का अजघन्य स्थितिसत्व चार प्रकार का है, यथा – सादि अनादि ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि इनका जघन्य स्थितिसत्व अपने क्षय के उपान्त्य समय में स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र एक स्थिति रूप है। अन्यथा दो समय प्रमाण है और वह सादि तथा अध्रुव है। इससे अन्य सभी स्थितिसत्व अजघन्य है और वह भी उद्वलित प्रकृतियों का पुनः बंध होने पर सादि है और उस स्थान को अप्राप्त जीवों के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

तीर्थंकर नामकर्म, उद्वलन योग्य तेईस प्रकृतियों और चारों आयु कर्मों को छोड़कर शेष एक सौ छब्बीस प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिसत्व भी तीन प्रकार का होता है – अनादि ध्रुव और अध्रुव। जिन्हें इस प्रकार समझना चाहिये कि इन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिसत्व अपने अपने क्षय के अंत में उदयवती प्रकृतियों का एक समय मात्र स्थिति रूप है और अनुदयवती प्रकृतियों का स्वरूपतः एक समय मात्र स्थिति रूप है, अन्यथा दो समय मात्र है और वह सादि एवं अध्रुव है। उससे अन्य सभी स्थितिसत्व अजघन्य है और वह अनादि है। क्योंकि सदैव पाया जाता है। ध्रुवत्व, अध्रुवत्व पूर्व के समान अभव्य और भव्य की अपेक्षा समझना चाहिये।

'दुहाणुत्तंति' अर्थात् उक्त प्रकृतियों के अनुक्त उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट और जघन्य रूप स्थितिसत्व एवं तीर्थकर नाम तथा उद्वलन योग्य देवद्विक, नरकद्विक, मनुष्यद्विक वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, उच्चगोत्र सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन तेईस प्रकृतियों के तथा चारों आयुकर्मों के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट रूप चारों विकल्प दो प्रकार के हैं, यथा सादि और अध्रुव। वे इस प्रकार हैं – उक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थितिसत्व पर्याय से अर्थात् परिवर्तन होते रहने से अनेक बार होता है। इसलिये ये दोनों ही सादि और अध्रुव हैं। जघन्य स्थितिसत्व पहले कहा जा चुका है। तीर्थंकर नाम आदि प्रकृतियां की अध्रुवसत्ता होने से चारों ही विकल्प सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

मूल प्रकृतियों के नहीं कहे गये जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट स्थितिसत्व भी दो प्रकार के हैं। जो पूर्व में कहे जा चुके है। इस प्रकार सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिए।

स्थितिसत्व-स्वामित्व निरूपण

अब क्रमप्राप्त स्वामित्व का कथन करते हैं। वह दो प्रकार का है – उत्कृष्ट स्थिति सत्कर्म-स्वामित्व और जधन्य स्थिति सत्कर्म-स्वामित्व। इन दोनों में से पहले उत्कृष्ट स्थिति सत्कर्म का निरूपण करते है –

जेट्ठठिई बंधसमं, जेट्ठं बंधोदया उ जासि सह।
अणुदय बंधपराणं, समऊणा जट्ठिई जेट्ठं॥ १७॥

शब्दार्थ – **जेट्ठठिई** – उत्कृष्ट स्थिति, **बंधसमं** – (स्थिति)बंध के समान, **जेट्ठं** – उत्कृष्ट, **बंधोदया** – बंध और उदय, **उ** – किन्तु, **जासि** – जिनके, **सह** – साथ, **अणुदय बंधपराणं** – अनुदय बंधवती प्रकृतियों का, **समऊणा** – समयोन, **जट्ठिई** – उत्कृष्टस्थिति, **जेट्ठं**– उत्कृष्ट (स्थितिसत्व)।

गाथार्थ – जिन प्रकृतियों का बंध और उदय समकाल में होता है उनका उत्कृष्ट स्थितिसत्व उत्कृष्ट स्थितिबंध के समान है। किन्तु अनुदयबंधवती प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्व समयोन उत्कृष्ट स्थितिबंध के तुल्य है।

विशेषार्थ – जिन प्रकृतियों का बंध और उदय एक साथ होता है उनका उत्कृष्ट स्थितिसत्व उत्कृष्ट स्थितिबंध के समान होता है।

प्रश्न – किन प्रकृतियों का एक साथ बंध और उदय होता ?

उत्तर – वे प्रकृतियों इस प्रकार हैं – ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, असातावेदनीय, मिथ्यात्व सोलह कषाय, पंचेन्द्रियजाति, तैजससप्तक, हुंडकसंस्थान वर्णादि बीस प्रकृति, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अप्रशस्तविहायोगति, उद्योत, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय अयशःकीर्ति, निर्माण, नीचगोत्र, अंतरायपंचक और मनुष्य एवं तिर्यंचों की अपेक्षा वैक्रियसप्तक, इन छियासी प्रकृतियों का बंध और उदय एक साथ होता है। इन युगपत् बंधोदय वाली प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रमाण होता है। इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में अबाधा काल में भी पूर्वबद्ध दलिक पाये जाते हैं और उनकी प्रथम स्थिति अन्य प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा संक्रान्त नहीं होती है। क्योंकि वे उदयवती हैं, इसलिये उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिसत्व होता है।

किन्तु अनुदय बंधपरक प्रकृतियों का एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म है। अनुदय अर्थात् उदय के अभाव में जिन प्रकृतियों का पर अर्थात उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है वे अनुदय

बंधपरक प्रकृतियां कहलाती हैं। ये अनुदय बंधपरक प्रकृतियां बीस हैं – निद्रापंचक, नरकद्विक, तिर्यचद्विक औदारिकसप्तक, एकेन्द्रियजाति सेवार्तसंहनन, आतप और स्थावर। इन अनुदय बंधपरक बीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्व एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण होता है। वह इस प्रकार है- इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के प्रारम्भ में यद्यपि अबाधा काल में भी पूर्वबद्ध दलिक होते हैं, तथापि उनकी प्रथम स्थिति को उदयवाली प्रकृतियों के मध्य में स्तिबुकसंक्रम से संक्रान्त करता है। इसलिये उस एक समय प्रमाणवाली प्रथम स्थितियों से ही उत्कृष्ट स्थितिसत्व होता है।

प्रश्न – निद्रा आदि प्रकृतियों के उदय नहीं होने पर बंध से उत्कृष्ट स्थिति कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर – उत्कृष्ट संक्लेश होने पर ही उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। किन्तु उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान जीव के निद्रापंचक का उदय संभव नहीं है। इसी प्रकार नरकद्विक का उत्कृष्ट स्थितिबंध तिर्यंच अथवा मनुष्य करते हैं। किन्तु उन तिर्यंचों या मनुष्यों के नरकद्विक का उदय संभव नहीं है। शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध यथायोग्य देव अथवा नारक करते है। किन्तु उनमें भी इन प्रकृतियों का उदय घटित नहीं होता है। इसलिये निद्रा आदि प्रकृतियों के उदय नहीं होने पर भी बंध से उत्कृष्ट स्थिति पाई जाती है, तथा –

संकमओ दीहाणं, सहालिगाए उ आगमो संतो (तं)।
समऊणमणुदयाणं, उभयासिं जट्ठिई तुल्ला॥ १८॥

शब्दार्थ – **संकमओ** – संक्रम से, **दीहाणं** – दीर्घ स्थिति वाली, **सहालिगाए** – आवलिका, सहित, **उ** – किन्तु, **आगमो** – आगम, **संतो** – सत्व, **समऊणं** – समयोन, **अणुदयाणं**– अनुदयवती की, **उभयांसि** – दोनों प्रकार की, **जट्ठिइ** – यत्स्थिति, **तुल्ला** – तुल्य।

गाथार्थ – संक्रम से दीर्घ स्थिति वाली प्रकृतियों का आवलिका सहित आगम उत्कृष्ट स्थितिसत्व है। किन्तु अनुदयवती प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्व पूर्वोक्त स्थिति में से समयोन जानना चाहिये और उभय प्रकार की प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्व यत्स्थिति के तुल्य होता है।

विशेषार्थ – संक्रमण से जिन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्व पाया जाता है, किन्तु बंध से नहीं पाया जाता है, परन्तु उदय होता है, वे प्रकृतियां संक्रम से दीर्घ अर्थात् संक्रमण के वश से प्राप्त उत्कृष्ट स्थितिवाली कहलाती हैं। उन प्रकृतियों का जो आगमन अर्थात् संक्रमण से दो आवलिका हीन उत्कृष्ट स्थिति का समागम है, वह उदयावलिका रूप आवलिका सहित उन प्रकृतियों

का उत्कृष्ट स्थितिसत्व होता है। इसका तात्पर्य यह है –

सातावेदनीय को वेदन करने वाला कोई जीव असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति बांधता है और उसे बांधकर पुनः सातावेदनीय को बांधने लगा। बंधावलिका के व्यतीत होने के पश्चात् एक आवलिका से उपरितन संपूर्ण ही आवलिकाद्विक से हीन तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण जो असातावेदनीय का स्थितिसत्व है, उसे उस वेद्यमान और बध्यमान सातावेदनीय में उदयावलिका से ऊपर संक्रान्त करता है, तब उस उदयावलिका से सहित संक्रमण के द्वारा आवलिकाद्विक से हीन जो उत्कृष्ट स्थिति का समागम हुआ वह असातावेदनीय का उत्कृष्ट स्थितिसत्व है।

इसी प्रकार नव नोकषाय, मनुष्यगति, आदि के पांच संहनन, आदि के पांच संस्थान प्रशस्त विहायोगति, स्थिर शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र इन अट्ठाईस प्रकृतियों का आवलिकाद्विक से हीन अपनी अपनी सजातीय उत्कृष्ट स्थिति का समागम है। इन उदयावलिका सहित उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म उस प्रकृति का जानना चाहिये।

सम्यक्त्व मोहनीय का उत्कृष्ट स्थितिसत्व अन्तर्मुहूर्त हीन उदयावलिका सहित उत्कृष्ट स्थिति समागम है। वह इस प्रकार – कोई जीव मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर और उसी मिथ्यात्व में अन्तर्मुहूर्त रहकर तत्पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। उसके सम्यक्त्व को प्राप्त होने पर मिथ्यात्व की आवलिका से ऊपर जो उत्कृष्ट स्थिति है तो भी संख्या से अन्तर्मुहूर्त कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उस सभी को उदयावलिका से ऊपर सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रान्त करता है। इसीलिये अन्तर्मुहूर्त कम ही उत्कृष्ट स्थिति समागम उदयावलिका सहित सम्यक्त्व का उत्कृष्ट स्थितिसत्व है।

जिन प्रकृतियों की संक्रमण से उत्कृष्ट स्थिति पाई जाती है, किन्तु संक्रमण काल में जिनका उदय नहीं है। ऐसी संक्रम काल में अनुदय वाली उन प्रकृतियों का उतना ही पूर्वोक्त स्थितिसत्व एक समय से कम जानना चाहिये। अर्थात् आवलिकाद्विक से हीन उत्कृष्ट स्थिति समागम एक समय से कम आवलिका सहित उन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिसत्व होता है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि कोई मनुष्य उत्कृष्ट संक्लेश के वश से उत्कृष्ट नरकगति की स्थिति को बांधकर परिणाम के परिवर्तन से देवगति को बांधने लगा, तब बध्यमान उस देवगति में आवलिका से ऊपरी बंधावलिका रहित नरकगति की स्थिति को उदयावलिका से ऊपरी बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सम्पूर्ण ही स्थिति को संक्रमाता है और एक समय प्रमाण देवगति की जो प्रथम स्थिति है, उसे वेद्यमान मनुष्यगति में स्तिबुकसंक्रमण से संक्रान्त करता है। तब उस एक समय प्रमाण स्थिति से हीन आवलिका से अधिक आवलिकाद्विक हीन उत्कृष्ट स्थिति समागम देवगति का

उत्कृष्ट स्थितिसत्व है। इसी प्रकार द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, आहारकसप्तक मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी का यथोक्त प्रमाण वाला उत्कृष्ट स्थितिसत्व जानना चाहिये।

सम्यग्मिथ्यात्व का अन्तर्मुहूर्तोन उत्कृष्ट स्थितिसमागम एक समय कम आवलिका से अधिक उत्कृष्ट सत्व भी सम्यक्त्वमोहनीय के उत्कृष्ट स्थितिसत्व के अनुसार समझना चाहिये।

'उभयासिं जट्ठिई तुल्ला त्ति' अर्थात् उदयवती और अनुदयवति दोनों ही प्रकार की संक्रमोत्कृष्ट स्थितिवाली प्रकृतियों के संक्रमणकाल में जो यत्स्थिति है, उसके समान ही उनका स्थितिसत्व होता है। क्योंकि अनुदयवती प्रकृतियों की भी उस समय स्तिबुकसंक्रमण से उदयवती प्रकृतियों में संक्रान्त होती हुई भी प्रथम स्थिति दलिक रहित ही पाई जाती है। क्योंकि काल का संक्रम नहीं किया जा सकता है। किन्तु उस काल में (समय में) स्थित दलिक ही संक्रमण किया जाता है। इसलिये प्रथम स्थितिगत दलिक के संक्रान्त हो जाने पर भी दलिक रहित प्रथमस्थिति उस समय पाई ही जाती है। इसलिये उन दोनों की उदयवती और अनुदयवती प्रकृतियों की जो यत्स्थिति है उसके तुल्य ही उनका स्थितिसत्व होता है और जो जीव जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है और जो उत्कृष्ट स्थिति को संक्रान्त करता है वह जीव उन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिसत्व का स्वामी होता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट स्थितिसत्व का स्वामित्व जानना चाहिये।

जघन्य स्थितिसत्व का स्वामित्व

संजलणतिगे सत्तसु य, नोकसाएसु संकम जहन्नो।
सेसाण ठिई एगा दुसमयकाला अणुदयाणं ॥ १९॥

शब्दार्थ – **संजलणतिगे** – संज्वलनत्रिक, **सत्तसु**– सात, **य** – और, **नोकसाएसु** – नोकषायों का, **संकमजहन्नो** – जघन्य स्थितिसंक्रम, **सेसाण** – शेष की, **ठिई** – स्थिति, **एगा**– एक, **दुसमयकाला** – दो समय काल प्रमाण, **अणुदयाणं** – अनुदयवती प्रकृतियों का।

गाथार्थ – संज्वलनत्रिक और सात नोकषायों का जघन्य स्थितिसत्व जघन्य स्थिति संक्रम के समान है। शेष उदयवती प्रकृतियों का एक समय प्रमाण और अनुदयवती प्रकृतियों का दो समय प्रमाण जघन्य स्थिति सत्व है।

विशेषार्थ – क्रोध मान माया रूप संज्वलनत्रिक का पुरुषवेद हास्यादि षट्क इन सात नोकषायों का जघन्य स्थितिसत्व जघन्य स्थितिसंक्रम के समान जानना चाहिये। क्योंकि ये प्रकृतियां बंध और उदय के विच्छिन्न हो जाने पर अन्य प्रकृति में संक्रमण से क्षय को प्राप्त होती हैं। इस

कारण इन प्रकृतियों का जो चरम संक्रमण है वही जघन्य स्थितिसत्कर्म है। कहा भी है –

हासाई पुरिस कोहादि तिन्नि संजलण जेण बंधुदये।
वोच्छिन्ने संकमइ तेण इहं संकमो चरिमो॥[१]

अर्थात् जिस कारण से हास्यादि छह नोकषाय, पुरुषवेद और क्रोधादि तीन संज्वलन बंध और उदय के विच्छिन्न होने पर अन्य प्रकृति में संक्रान्त होते हैं इसलिये इनका चरम संक्रम ही जघन्य स्थितिसत्व है।

उक्त दस प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष ज्ञानावरणपंचक दर्शनावरणचतुष्क वेदक सम्यक्त्व, संज्वलन लोभ, आयुचतुष्क, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, सातावेदनीय, असातावेदनीय, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, पंचन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय यश:कीर्ति, तीर्थंकरनाम और अंतरायपंचक इन चौतीस प्रकृतियों का अपने-अपने क्षय के अंतिम समय मे जो एक समय मात्र स्थिति है, वही उनका जघन्य स्थितिसत्व है।

अनुदयवती प्रकृतियों की अपने-अपने क्षय के उपान्त्य समय मे जो दो समय मात्र काल वाली और स्वरूप की अपेक्षा एक समय प्रमाण काल वाली जघन्य स्थिति है, वह उनका जघन्य स्थितिसत्व है। क्योंकि अनुदयवती प्रकृतियों का चरम समय में स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा उदयवती प्रकृतियों के मध्य में प्रक्षेप होता है और इस स्वरूप से उनका अनुभव होता है, इसलिये चरम समय मे उन अनुदयवती प्रकृतियों के दलिक स्वरूप से प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु पररूप से प्राप्त होते हैं। इसीलिये कहा है कि उपान्त्य समय में स्वरूप की अपेक्षा समय मात्र स्थिति होती है। अन्यथा दो समय मात्र काल वाली स्थिति होती है।

अब सामान्य से सभी कर्मों की जघन्य स्थिति के सत्कर्म का प्रतिपादन करते है –

अनन्तानुबंधी कषायों और दर्शनमोहनीयत्रिक के जघन्य स्थितिसत्व के स्वामी यथासंभव अविरत आदि अप्रमत्त पर्यन्त के जीव होते है। नरकायु तिर्यंचायु और देवायु के अपने-अपने आयु के चरम समय में वर्तमान नारक तिर्यंच और देव जघन्य स्थितिसत्व के स्वामी होते हैं। आठ मध्यम कषाय, स्त्यानर्द्धित्रिक, नामत्रयोदशक, नव नोकषाय और संज्वलनत्रिक, इन छत्तीस प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसत्व का स्वामी अनिवृत्तिबादरसंपरायसंयत है। संज्वलन लोभ के जघन्य स्थितिसत्व का स्वामी सूक्ष्मसंपरायसंयत, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क और अन्तरायपंचक, इन सोलह प्रकृतियों के जघन्य स्थितिसत्व का स्वामी क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थ है। शेष पंचानवै प्रकृतियों

१. पंच संग्रह पंचम द्वार सत्ताधिकार गा. १४७

के जघन्य स्थितिसत्व के स्वामी अयोगिकेवली हैं।

इस प्रकार जघन्य स्थितिसत्कर्म के स्वामित्व का वर्णन जानना चाहिये।

स्थितिभेद निरूपण

अब स्थिति के भेदों का विचार करते हैं –

ठिइसंतट्ठाणाइं, नियगुक्कस्सा हि थावरजहन्नं।
नेरंतरेण हेट्ठा, खवणाइसु संतराइं पि॥ २०॥

शब्दार्थ – **ठिइसंतट्ठाणाइं** – स्थितिसत्वस्थान, **नियगुक्कस्सा** – अपने-अपने उत्कृष्ट, **हि** – किन्तु, **थावरजहन्नं** – स्थावर योग्य जघन्य स्थितिस्थान, **नेरंतरेण** – निरन्तर रूप से, **हेट्ठा**– नीचे, **खवणाइसु** – क्षपणा आदि में, **संतराई** – सान्तर, **पि** – भी।

गाथार्थ – अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिसत्वस्थान से नीचे स्थावरों के योग्य जघन्य स्थितिस्थान तक निरन्तर रूप से स्थितिस्थान है। किन्तु क्षपणा आदि में सान्तर स्थितिस्थान भी होता है।

विशेषार्थ – सभी कर्मों के अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिस्थान से एक समय से आरंभ करके एक-एक समय कम तब तक करते जाना चाहिये जब तक कि स्थावर-जघन्य अर्थात् एकेन्द्रिय प्रायोग्य जघन्य स्थितिस्थान होते हैं, इतने प्रमाण स्थितिकंडकों में जितने समय होते हैं उतने प्रमाण स्थितिस्थान नाना जीवों की अपेक्षा निरन्तर अर्थात् अन्तराल रहित पाये जाते हैं, यथा– उत्कृष्ट स्थितिवाला अंतिम एक स्थितिस्थान, एक समय कम उत्कृष्ट स्थितिवाला दूसरा स्थितिस्थान है, दो समय कम उत्कृष्ट स्थिति वाला तीसरा स्थितिस्थान है। इस प्रकार एकेन्द्रियों के योग्य जघन्य स्थितिसत्व प्राप्त होने तक कहना चाहिये।

एकेन्द्रिय प्रायोग्य जघन्य स्थितिसत्व के नीचे कर्म क्षपणा के समय और उद्वलना में सान्तर अर्थात् अन्तराल वाले स्थितिस्थान पाये जाते है। वहां निरन्तर स्थान भी पाये जाते हैं। जिनका ग्रहण करने के लिये गाथा में अपि शब्द दिया है।

प्रश्न – ये निरन्तर सान्तर स्थितिस्थान कैसे पाये जाते हैं ?

उत्तर – एकेन्द्रिय प्रायोग्य जघन्य स्थितिसत्व उपरितन अग्रिम भाग से पल्योपम के असंख्यातवें स्थितिखण्ड को खंडन करना प्रारम्भ करता है। खंडन प्रारम्भ करने के प्रथम समय से लेकर समय समय अधोवर्ती स्थितिसत्व से उदयवती प्रकृतियों के अनुभव से और अनुदयवती

प्रकृतियों के स्तिबुकसंक्रमण से एक-एक समय प्रमाण स्थिति क्षीण होती है। इसलिये प्रतिसमय नये-नये स्थितिविशेष प्राप्त होते हैं, यथा – वह स्थावर प्रायोग्य जघन्य स्थितिसत्कर्म प्रथम समय के व्यतीत होने पर एक समय कम स्थितिसत्व हो जाता है, दूसरे समय के व्यतीत होने पर दो समय कम हो जाता है, तीसरे समय के बीतने पर तीन समय कम हो जाता है, इत्यादि क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा उस स्थितिखंड को घात करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल के समय प्रमाण स्थितिस्थान निरन्तर पाये जाते हैं और उसके बाद इतनी स्थिति एक साथ ही त्रुटित होती है, इस कारण अन्तर्मुहूर्त से ऊपर निरन्तर स्थितिस्थान नहीं पाये जाते हैं।

तत्पश्चात् पुनः दूसरे पल्योपम के असंख्यात भाग मात्र खंड को अन्तर्मुहूर्त मात्र काल से घात करता है। वहां पर भी प्रति समय अघःस्तन एक-एक समय प्रमाण स्थिति के क्षय की अपेक्षा निरन्तर स्थितिस्थान पूर्व प्रकार से पाये जाते हैं। इस दूसरे स्थितिखंड के घात होने पर पुनः पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति एक साथ ही टूटती है। इसलिये पुनः अन्तर्मुहूर्त से ऊपर निरन्तर स्थितिस्थान नहीं पाये जाते हैं।

इस प्रकार निरन्तर और सान्तर स्थितिस्थानों के प्राप्त होने का क्रम एक आवलिका शेष रहने तक जानना चाहिये। वह आवलिका भी उदयवती प्रकृतियों के अनुभवन से और अनुदयवती प्रकृतियों के स्तिबुकसंक्रमण से समय-समय में क्षय को तब तक प्राप्त होती है, जब तक कि एक स्थिति शेष रहती है। इसलिये ये आवलिका मात्र समय प्रमाण स्थितिसत्वस्थान निरन्तर पाये जाते हैं।

इस प्रकार स्थितिस्थान के भेदों का वर्णन जानना चाहिये।

अनुभागसत्कर्म निरूपण

अब अनुभागसत्व का प्रतिपादन करते है –

संकमसममणुभागे, नवरि जहन्नं तु देसघाईणं।
छन्नोकसायवज्जाण (वज्जं) एगट्ठाणंमि देसहरं ॥ २१॥
मणनाणे दुट्ठाणं, देसहरं सामिगो य सम्मत्ते।
आवरणविग्ध सोलसग - किट्टिवेएसु य सगंते ॥ २२॥

शब्दार्थ – **संकमसममणुभागे** – (अनुभाग) संक्रम के तुल्य अनुभागसत्व में, **नवरि**– विशेष, **जहन्नं** – जघन्य, **तु** – किन्तु, **देसघाईणं** – देशघातिनी प्रकृतियों का, **छन्नोकसायवज्जाण**– *छह नोकषाय को छोड़कर*, ***एगट्ठाणंमि*** – *एक स्थानक*, **देसहरं** – *देशघाती*।

मणनाणे – मन:पर्यवज्ञानावरण का, **दुट्ठाणं** – द्विस्थानक, **देसहरं** – देशघाती, **सामिगो** – स्वामि, **य** – और, **सम्मत्ते** – सम्यक्त्वमोहनीय, **आवरणविग्घसोलसग** – आवरण और विघ्न (अंतराय) की सोलह प्रकृतियों के, **किट्टि** – किट्टिकृत संज्वलनलोभ, **वेएसु** – वेदों का, **य** – और, **सगंते** – स्व अन्त्य समय में (वर्तमान जीव)।

गाथार्थ – अनुभागसंक्रम के तुल्य अनुभागसत्व जानना चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि छह नोकषायों को छोड़कर शेष घातिनी प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसत्व देशघाती और एक स्थानक है। मनपर्यवज्ञानावरण का अनुभागसत्व द्विस्थानक और देशघाती है। सम्यक्त्वमोहनीय, आवरण और अन्तराय की सोलह प्रकृतियों के किट्टिकृत संज्वलनलोभ और तीनों वेदों के जघन्य अनुभागसत्व का स्वामी स्व अन्त्य समय में वर्तमान जीव है।

विशेषार्थ – अनुभागसंक्रमण के तुल्य अनुभागसत्व समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अनुभागसंक्रम में स्थान, प्रत्यय, विपाक, शुभाशुभत्व, सादि-अनादित्व और स्वामित्व का पूर्व में प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार वे सब अधिकार यहां अनुभागसत्व में भी जानना चाहिये। किन्तु विशेषता यह है कि हास्यादि षट्क को छोड़कर शेष मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, संज्वलनचतुष्क, वेदत्रिक और अतंरायपंचक इन अठारह देशघाती प्रकृतियों का जघन्य अनुभागसत्व स्थान की अपेक्षा एकस्थानक और घाति संज्ञा की अपेक्षा देशहरं अर्थात् देशघाति जानना चाहिये। किन्तु मन:पर्यवज्ञानावरण का अनुभागसत्व स्थान की अपेक्षा द्विस्थानक और घाति संज्ञा की अपेक्षा देसहर-देशघाति है।

उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी ही उत्कृष्ट अनुभागसत्व के स्वामी हैं और जघन्य अनुभागसत्व के स्वामियों का कथन 'सामिगो य' पद से प्रारम्भ करते हुए बताया है कि सम्यक्त्वमोहनीय, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणषट्क अन्तरायपंचक रूप सोलह प्रकृतियों, किट्टिरूप संज्वलनलोभ और तीनों वेदों के जघन्य अनुभागसत्व के स्वामी अपने-अपने क्षय होने के अंतिम समय में वर्तमान जीव जानना चाहिये।

अत: इस जघन्य अनुभागसत्व के स्वामित्व में जो विशेषता है, उसे कहते हैं –

मइसुयचक्खुअचक्खूण, सुयसमत्तस्स जेट्ठलद्धिस्स।
परमोहिस्सोहिदुगं, मणनाणं विउलनाणस्स ॥ २३॥

शब्दार्थ – **मइसुयचक्खुअचक्खूण** – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण

अचक्षुदर्शनावरण, **सुयसमत्तस्स** – श्रुतसम्पन्न, **जेट्ठलद्धिस्स** – उत्कृष्ट लब्धिवंत के, **परमोहिस्स**– परमावधिवंत के, **ओहिदुगं** – अवधिद्विक का, **मणनाणं** – मनःपर्यवज्ञानावरण का, **विउलनाणस्स**– विपुलमति मनःपर्यवज्ञानवंत के।

गाथार्थ – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण का जघन्य अनुभागसत्व उत्कृष्ट लब्धिवंत श्रुतसम्पन्न जीव के, अवधिद्विक आवरण का परमावधिवंत के तथा मनःपर्यवज्ञानावरण का विपुलमति मनःपर्यवज्ञानवंत के जघन्य अनुभागसत्व पाया जाता है।

विशेषार्थ – मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण का जघन्य अनुभागसत्व श्रुतसम्पन्न अर्थात् सकल श्रुतपारगामी चतुर्दशपूर्वधर और ज्येष्ठ लब्धिक अर्थात् उत्कृष्ट श्रुतार्थलब्धि में वर्तमान श्रुतकेवली में प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मतिज्ञानावरणादि चारों प्रकृतियों का उत्कृष्ट श्रुतार्थसम्पन्न चतुर्दशपूर्वधर साधु जघन्य अनुभागसत्व का स्वामी जानना चाहिये।

'ओहिदुगं' अर्थात् अवधिद्विक, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का जधन्य अनुभागसत्व परमावधिज्ञान में होता है।

अर्थात् अवधिज्ञानावरण और अवधिदर्शनावरण के जघन्य अनुभागसत्व का स्वामी परमावधिज्ञान से युक्त संयत जानना चाहिये।

'मणनाणं' मनोज्ञान अर्थात् मनःपर्यवज्ञानावरण का जघन्य अनुभागसत्व विपुलमति मनःपर्यवज्ञानी जानना चाहिये। स्वामित्व के कारण को अवधिज्ञानावरण के समान जानना। क्योंकि लब्धिसहित जीव के बहुत अनुभाग का विनाश प्राप्त होता है, इसलिये गाथा में 'परमोहिस्स' इत्यादि पद दिया है।

पूर्वोक्त प्रकृतियों के सिवाय शेष रही प्रकृतियों के जो जीव जघन्य अनुभागसंक्रम के स्वामी हैं, वे ही जघन्य अनुभागसत्व के भी स्वामी हैं।

इस प्रकार अनुभागसत्व के स्वामियों का कथन जानना चाहिये।

अनुभागसत्वस्थान के भेद

अब अनुभागसत्वस्थानों के भेदों का निरूपण करते हैं –

बंधहयहयहउप्प-त्तिगाणि कमसो असंखगुणियाणि।
उदयोदीरणवज्जाणि, होंति अणुभागठाणाणि॥ २४॥

शब्दार्थ – **बंधहयहयहउप्पत्तिगाणि** – बंध, हत, हत-हतोत्पत्तिक, **कमसो** – क्रमशः, **असंखगुणयाणि** – असंख्यातगुणित, **उदयोदीरणवज्जाणि** – उदय, उदीरणा को छोड़कर, **होंति**– होते हैं, **अनुभागठाणाणि** – अनुभाग (सत्व) स्थान।

गाथार्थ – उदय और उदीरणा जन्य स्थानों को छोड़कर बंधोत्पत्तिक, हतोत्पत्तिक और हतहतोत्पत्तिक अनुभागसत्वस्थान क्रम से असंख्यात गुणित होते हैं।

विशेषार्थ – अनुभागस्थान तीन प्रकार के हैं, यथा – बंधोत्पत्तिक, हतोत्पत्तिक और हतहतोत्पत्तिक। जिन अनुभागस्थानों की बंध से उत्पत्ति होती है वे बंधोत्पत्तिकस्थान कहलाते हैं– **बन्धादुत्पत्तिर्येषां (अनुभागस्थानानां) तानि बंधोत्पत्तिकानि।** वे असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं। क्योंकि उनके कारण असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं।

उद्वर्तना और अपवर्तना करण के वश वृद्धि और हानि के द्वारा अन्य अन्य प्रकार के जो अनुभागस्थान विचित्रता धारण करने वाले होते हैं, वे हतोत्पत्तिक स्थान कहलाते हैं – **उदवर्तना-पवर्तनाकरणवशतो वृद्धिहानिभ्यामन्यथाऽन्यथा यान्यनुभागस्थानानि वैचित्र्यभान्जि भवन्ति तानि हतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते।** अर्थात् पूर्व अवस्था के विनाशरूप घात से जिनकी उत्पत्ति होती है वे हतोत्पत्तिक स्थान पूर्व के बंधोत्पत्तिक स्थानों से असंख्यातगुणित होते हैं। क्योंकि एक-एक बंधोत्पत्तिकस्थान में नाना जीवों की अपेक्षा उद्वर्तना और अपवर्तना के द्वारा असंख्यात भेद कर दिये जाते है।

जो अनुभागस्थान स्थितिघात से और रसघात से अन्य प्रकार की अवस्था होने से उत्पन्न होते है वे हतहतोत्पत्तिक अनुभागस्थान कहलाते हैं – **यानि पुनः स्थितिघातेन रसघातेन चान्यथाऽन्यथाभवनादनुभागस्थानानि जायन्ते तानि च हतहतोत्पत्तिकान्युच्यते।** अर्थात् हत यानि उद्वर्तना अपवर्तना के द्वारा घात होने पर पुनः हत अर्थात् स्थितिघात और रसघात के द्वारा घात होने से जिनकी उत्पत्ति होती है वे हतहतोत्पत्तिकअनुभागस्थान हैं। ये अनुभागस्थान उद्वर्तना, अपवर्तना जनित अनुभागस्थानों से असंख्यातगुणित होते हैं।

उक्त तीन प्रकार के अनुभाग सत्वस्थानों का स्वरूप बतलाने के बाद अब गाथा के आशय को स्पष्ट करते हैं कि जो उदय से और उदीरणा से प्रति समय क्षय होने से अन्य अन्य प्रकार के अनुभागस्थान उत्पन्न होते है, उनको छोड़कर शेष बंधोत्पत्तिक आदि अनुभागस्थान क्रम से असंख्यातगुणित कहना चाहिये।

प्रश्न – उदय और उदीरणा जनित अनुभागस्थानों को छोड़ने का क्या कारण है ?

उत्तर – क्योंकि उदय और उदीरणा के प्रवर्तमान होने पर नियम से बंध, उद्वर्तना, अपवर्तना, स्थितिघात और रसघात जन्य स्थानों में से कोई न कोई स्थान अवश्य होते हैं। इसलिये उदय और उदीरणा जनित स्थान उन्हीं में अर्थात् बंधोत्पत्तिक आदि स्थानों में अन्तप्रविष्ट हो जाते हैं। इस कारण उदय और उदीरणा स्थान पृथक् नहीं गिने जाते हैं।

इस प्रकार अनुभागसत्कर्म का वर्णन जानना चाहिये।

प्रदेशसत्कर्म निरूपण

अब प्रदेशसत्कर्म प्रारम्भ करते हैं। इसके तीन अर्थाधिकार है, यथा – १ भेदप्ररूपणा, २ साादि-अनादिप्ररूपणा और ३ स्वामित्व।

भेदप्ररूपणा पहलें के समान जानना चाहिये। अतएव अब सादि-अनादि प्ररूपणा करते हैं। वह दो प्रकार की है – मूलप्रकृति विषयक और उत्तरप्रकृति विषयक। मूलप्रकृति विषयक सादि-अनादिप्ररूपणा इस प्रकार है।

सत्तण्हं अजहण्णं, तिविहं सेसा दुहा पएसम्मि।
मूलपगईसु आऊसु (स्स), साई अधुवा य सव्वेवि ॥ २५॥

शब्दार्थ – **सतण्हं** – सात का, **अजहण्णं** – अजघन्य, **तिविहं** – तीन प्रकार का, **सेसा** – शेष, **दुहा** – दो प्रकार का, **पएसम्मि** – प्रदेशसत्व में, **मूलपगईसु** – मूल प्रकृतियों में, **आऊसु** – आयु के, **साई** – सादि, **अधुवा** – अध्रुव, **य** – और, **सव्वेवि** – सभी।

गाथार्थ – मूलप्रकृतियों में सात कर्मों का अजघन्य प्रदेशसत्व तीन प्रकार का है और शेष प्रदेशसत्व दो प्रकार का है। आयु के सभी सत्व सादि और अध्रुव होते हैं।

विशेषार्थ – आयुकर्म को छोड़कर सात मूल प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशसत्व तीन प्रकार का है, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। इनमें से आयु को छोड़कर सातों कर्मों के अपने-अपने क्षय के अवसर पर चरम स्थिति में वर्तमान क्षपितकर्मांश जीव के जघन्य प्रदेशसत्व होता है और वह सादि तथा अध्रुव है। क्योंकि वह सदैव पाया जाता है। ध्रुवत्व और अध्रुवत्व क्रमशः अभव्य और भव्य की अपेक्षा से है।

'सेसा दुद्दा' अर्थात् शेष उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट और जघन्य विकल्प दो प्रकार के होते हैं, यथा– सादि और अध्रुव। इनमें से सप्तम पृथ्वी में वर्तमान गुणितकर्मांश मिथ्यादृष्टि नारकी के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है, किन्तु शेष काल में अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्व। इसलिये ये दोनों ही सादि और अध्रुव हैं। जघन्य प्रदेशसत्व पूर्व में बताया जा चुका है।

आयुकर्म के सभी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट जघन्य और अजघन्य रूप चारों विकल्प सादि और अध्रुव हैं। क्योंकि आयुकर्म अध्रुव सत्तावाला है।

इस प्रकार मूल कर्मों की सादि अनादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब उत्तर प्रकृतियों की सादि अनादि प्ररूपणा करते है –

बायालाणुक्कस्सं, चउवीससया जहन्न चउतिविहं।
होइह छण्ह चउद्धा, अजहन्नमभासियं दुविहं॥ २६॥

शब्दार्थ – **बायाल** – बयालीस (प्रकृतियों) का, **अणुक्कस्सं** – अनुत्कृष्ट, **चउवीससया**– एक सौ चौबीस का, **अजहन्न** – अजघन्य, **चउतिविहं** – चार और तीन प्रकार का, **होइह** – होता है, **छण्ह** – छह का, **चउद्धा** – चार प्रकार का, **अजहन्नं** – अजघन्य, **अभासियं** – अनुक्त (नहीं कहे गये) विकल्प, **दुविहं** – दो प्रकार के।

गाथार्थ – बयालीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्व और एक सौ चौबीस प्रकृतियों का अजघन्य, प्रदेशसत्व क्रमशः चार और तीन प्रकार का है तथा छह प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशसत्व चार प्रकार का है तथा अनुक्त विकल्प दो प्रकार के होते हैं।

विशेषार्थ – सातावेदनीय, संज्वलनचतुष्क, पुरुषवेद, पंचेन्द्रियजाति, तैजससप्तक, प्रथमसंस्थान, प्रथमसंहनन, शुभ वर्णादि एकादशक अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक, स्थिर शुभ सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और निर्माण इन बयालीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्व चार प्रकार का है, यथा – सादि अनादि, ध्रुव, और अध्रुव। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार का है –

वज्रऋषभनाराचसंहनन को छोड़कर शेष इकतालीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व क्षपकश्रेणी में अपने अपने बंध के अंतिम समय में गुणितकर्मांश जीव के होता है। जो एक समयवाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशसत्व अनुत्कृष्ट है और वह भी द्वितीय समय में होने से सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान क्रमशः अभव्य एवं भव्य की अपेक्षा जानना चाहिये।

वज्रऋषभनाराचसंहनन का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व सप्तम पृथ्वी में वर्तमान मिथ्यात्व में गमन के सन्मुख सम्यग्दृष्टि नारकी के होता है। इसलिय वह सादि और अध्रुव है। उससे अन्य प्रदेशसत्व अनुत्कृष्ट है और वह भी दूसरे समय में होने से सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के अनादि है। ध्रुव और अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

अनन्तानुबंधीकषाय यशःकीर्ति और संज्वलनलोभ को छोड़कर एक सौ चौबीस ध्रुव सत्कर्म प्रकृतियों का अजधन्य प्रदेशसत्व तीन प्रकार का है, यथा – अनादि, ध्रुव और अध्रुव। वह इस प्रकार जानना चाहिये।

इन प्रकृतियों का जधन्य प्रदेशसत्व क्षपितकर्मांश जीव के अपने-अपने क्षय के चरम समय में होता है और वह एक समय वाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशसत्व अजघन्य है जो सदैव पाये जाने के कारण अनादि है। ध्रुव, अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये। 'चउतिविहं ति' इस पद का यथास्थान संयोजन कर लेना चाहिये। बयालीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट विकल्प चार प्रकार का है और ध्रुव सत्ता वाली प्रकृतियों का अजधन्य विकल्प तीन प्रकार का है।

'छण्ह चउद्धा' अर्थात् अनन्तानुबंधीचतुष्क, संज्वलनलोभ और यशःकीर्ति इन छह प्रकृतियों का अजघन्य प्रदेशसत्व चार प्रकार का है, यथा – सादि, अनादि, ध्रव और अध्रुव। वह इस प्रकार है –

अनन्तानुबंधी कषायों की उद्वलना करने वाले क्षपितकर्मांश जीव में जब एक स्थिति शेष रह जाती है, तब उनका जधन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है और वह एक समय वाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशसत्व अजघन्य है और वह उद्वलित प्रकृतियों के मिथ्यात्व निमित्त से पुनः बांधे जाने पर पाया जाता है, इसलिये सादि है। उस स्थान को प्राप्त जीव के वह अनादि है। ध्रुव-अध्रुव विकल्प पूर्व के समान जानना चाहिये।

यशः कीर्ति और संज्वलन लोभ का जघन्य प्रदेशसत्व क्षपितकर्मांश जीव के कर्म क्षपण के लिये उद्यत होने पर यथाप्रवृत्तकरण के अंतिम समय में पाया जाता है और वह एक समय वाला है। इस कारण सादि और अध्रुव है। उससे अन्य सभी प्रदेशसत्व अजघन्य है। वह भी अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में गुणसंक्रमण से बहुत दलिक पाये जाने से अजघन्य होता हुआ सादि है। उस स्थान को अप्राप्त जीव के वह अनादि है। ध्रुवत्व अध्रुवत्व पूर्व के समान जानना चाहिये।

'अभासियं दुविहं ति' अर्थात् सभी प्रकृतियों का अभाषित अनुक्त प्रदेशसत्व दो प्रकार का जानना चाहिये, यथा – सादि और अध्रुव। बयालीस प्रकृतियों का जघन्य, अजघन्य और उत्कृष्ट प्रदेश सत्व अभाषित है। इसमें से उत्कृष्ट प्रदेशसत्व के दो प्रकारों का कथन पूर्व में किया जा चुका है तथा जघन्यत्व और अजघन्य आगे कहे जाने वाले स्वामित्व को देखकर स्वयं ही जान लेना चाहिये। एक सौ चौबीस ध्रुव सत्तावाली प्रकृतियों के अभाषित प्रदेशसत्व तीन हैं – उत्कृष्ट

अनुत्कृष्ट और जघन्य। इनमें से उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्व गुणितकर्मांश मिथ्यादृष्टि जीव के पाये जाते हैं। इसलिये वे दोनों सादि और अध्रुव हैं। जघन्य विकल्प पूर्ववत् जानना, इसी प्रकार अनन्तानुबंधीचतुष्क, संज्वलनलोभ और यशःकीर्ति के भी उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट प्रदेशसत्व जानना चाहिये। जघन्य प्रदेशसत्व का ऊपर उल्लेख किया गया है।

शेष अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों को अध्रुव सत्व वाली होने से उनके चारों ही विकल्प सादि और अध्रुव जानना चाहिये।

इस प्रकार प्रदेशसत्व की सादि अनादि प्ररूपणा का कथन है।

प्रदेशसत्वस्वामी निरूपण

अब स्वामित्व का कथन करते हैं। वह दो प्रकार का है – १. उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म स्वामित्व और २. जघन्य प्रदेशसत्कर्म स्वामित्व। इनमें से पहले उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म स्वामित्व को बतलाते हैं –

संपुन्न गुणियकम्मो पएसउक्कस्स संत सामी उ।
तस्सेव उ उप्पिवि - णिग्गयस्स कासिंचि वण्णेऽहं॥ २७॥

शब्दार्थ – **संपुन्नगुणियकम्मो** – सम्पूर्ण गुणितकर्मांश, **पएसउक्कस्ससंतसामी** – उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी, **उ** – और, **तस्सेव** – उसी के, **उ** – किन्तु, **उप्पिविणिग्गयस्स** – ऊपर निकले हुए के, **कासिंचि** – कितनी ही प्रकृतियों की, **वण्णेऽहं** – वर्णन करता हूँ।

गाथार्थ – सम्पूर्ण गुणितकर्मांश जीव को उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी जानना चाहिये। किन्तु कितनी ही प्रकृतियों के स्वामित्व में वहां से ऊपर निकले हुए जीव के कुछ विशेषता है, उसी का मैं वर्णन करता हूँ।

विशेषार्थ – प्रायः सभी प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी गुणितकर्मांश सप्तम पृथ्वी में चरम समय में वर्तमान नारक जानना चाहिये। किन्तु कितनी ही प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशस्वामित्व में विशेषता है, जो उसी गुणितकर्मांश और सप्तम पृथ्वी से ऊपर निकले हुए जीव के होता है, उसी का मैं वर्णन करता हूँ –

अब आचार्य अपने प्रतिज्ञात अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

मिच्छत्ते मीसम्मि य, संपक्खित्तम्मि मीससुद्धाणं
वरिसवरस्स उ ईसाणगस्स चरमम्मि समयम्मि॥ २८॥

शब्दार्थ – **मिच्छत्ते** – मिथ्यात्व को, **मीसम्मि** – मिश्र में, **य** - और, **संपक्खित्तम्मि**– प्रक्षिप्त करते समय, **मीस** – मिश्र को, **सुद्धाणं** – सम्यक्त्व में, **वरिसवरस्स** – नपुंसकवेद का, **उ** – और, **ईसाणगस्स** – ईशानस्वर्ग में गये हुए के, **चरमम्मि** – चरम, **समयम्मि** – समय में।

गाथार्थ – मिथ्यात्व को मिश्र में और मिश्र को सम्यक्त्व में सर्वसंक्रम द्वारा प्रक्षिप्त करते समय मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। नपुंसक वेद का उत्कृष्ट प्रदेश सत्व ईशानस्वर्ग में गये हुए जीव के चरम समय में पाया जाता है।

विशेषार्थ – पूर्व में कहा गया स्वरूपवाला, ऐसा वह गुणितकर्मांश नारक सप्तम पृथ्वी से निकलकर तिर्यंचों में उत्पन्न हुआ और वहां पर भी अन्तर्मुहूर्त रहकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और वहां सम्यक्त्व को प्राप्त कर अनन्तानुबंधीचतुष्क, दर्शनमोहत्रिक को सम्यग्मिथ्यात्व में सर्वसंक्रमण के द्वारा संक्रान्त करता है, उस समय उसके सम्यक्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है तथा उस समय में सम्यक्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेश सत्व होता है। सारांश यह है कि मिथ्यात्व और मिश्र को यथाक्रम से मिश्र और सम्यक्त्व में प्रक्षिप्त करने पर उन दोनों – मिश्र सम्यग्मिथ्यात्व का और शुद्ध-सम्यक्त्व मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है।

'वरिसवरस्स' इत्यादि अर्थात् वही गुणितकर्मांश नारकी वहां से निकलकर और तिर्यंच होकर ईशानस्वर्ग का कोई देव हुआ और वह भी अति संक्लिष्ट होकर बार-बार नपुंसकवेद को बांधता है, तब अपने भव के अंतिम समय में वर्तमान उस देव के वर्षवर अर्थात नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। तथा -

ईसाणे पूरित्ता, नपुंसगं तो असखंवासा (सी) सु।
पल्लासंखिय भागेण, पूरिए इत्थिवेयस्स ॥ २९॥

शब्दार्थ – **ईसाणे** – ईशानस्वर्ग में, **पूरित्ता** – पूरित कर, **नपुंसगं** – नपुंसकवेद को, **तो** – वहां से, **असंखवासासु** – असंख्यात, वर्षायुष्क भव में, **पल्लासंखिय भागेण** – पल्य के असंख्यातवें भाग से, **पूरिए** – पूरितकर, **इत्थिवेयस्स** – स्त्रीवेद का।

गाथार्थ – ईशानस्वर्ग में नपुंसकवेद को पूरित कर और वहां से संख्यातवर्षायुष्क और फिर असंख्यातवर्षायुष्क भव में उत्पन्न होकर पल्य के असंख्यातवें भाग से स्त्रीवेद को पूरित करने पर स्त्रीवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है।

विशेषार्थ – ईशान देवलोक में उक्त प्रकार से नपुंसक वेद को पूरकर अर्थात् नपुंसकवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसंचय करके वहां से संख्यातवर्षायुष्क वाले कर्मभूमिज मनुष्यों में उत्पन्न होकर

पुनः असंख्यात वर्षायुष्क भोगभूमिज मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और वहां अति संक्लिष्ट होकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र काल से स्त्रीवेद को बंध से पूरित करने पर और नपुंसकवेद के दलिकों के संक्रमण से प्रचुर परिणाम में स्त्रीवेद के पूरित होने के समय उस जीव के स्त्रीवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। तथा –

पुरिसस्स पुरिस-संकम पएस उक्कस्स सामिगस्सेव।
इत्थी जं पुण समयं, संपक्खित्ता हवई ताहे॥ ३०॥

शब्दार्थ – **पुरिसस्स** – पुरुषवेद का, **पुरिस-संकम पएसउक्कस्स सामिगस्सेव** – पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेश संक्रम का स्वामी ही, **इत्थी** – स्त्रीवेद का, **जं** – जिस, **पुण** – किन्तु, **समयं** – समय, **संपक्खित्ता** – संप्रक्षेप करता है, **हवइ** – होता है, **ताहे** – उस समय।

गाथार्थ – पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी ही पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी है। किन्तु विशेषता यह है कि जिस समय वह स्त्रीवेद का पुरुषवेद में संप्रक्षेप करता है, उस समय वह पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी होता है।

विशेषार्थ – पुरुषवेद का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व उत्कृष्ट पुरुषवेद संक्रम के स्वामी के समान ही जानना चाहिये। इसका आशय यह है कि जो उत्कृष्ट पुरुषवेद के संक्रम का स्वामी है, वही जीव पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी भी जानना चाहिये। विशेष यह है कि जिस समय स्त्रीवेद को पुरुषवेद में प्रक्षेपण करता है अर्थात संक्रमाता है, उस समय में वह पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेश सत्व का स्वामी होता है। तथा –

तस्सेव उ संजलणा, पुरिसाइ कमेणसव्वसंछोभे।
चउरुवसमित्तु खिप्पं, रागंते साय उच्च जसा ॥ ३१॥

शब्दार्थ – **तस्सेव उ** – उसी के ही, **संजलणा** – संज्वलनचतुष्क का, **पुरिसाई** – पुरुषवेदादिक का, **कमेण** – क्रम से, **सव्वसंछोभे** – सर्वसंक्रम करने पर, **चउरुवसमित्तु** – चार बार मोहनीय का उपशम कर, **खिप्पं** – शीघ्र, **रागंते** – सूक्ष्मसंपराय, के अंत में, **साय उच्च जसा** – सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यशःकीर्ति का।

गाथार्थ – उसी जीव के ही पुरुषवेदादिक का क्रम से सर्वसंक्रम करने पर संज्वलन कषायों का तथा चार बार मोहनीय का उपशम कर शीघ्र क्षपकश्रेणी पर चढ़े हुए जीव के सूक्ष्मसंपराय के अंत में सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यशःकीर्ति का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है।

विशेषार्थ – जो जीव पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी है, वही जीव संज्वलन क्रोधादि चारों कषायों का क्रम से पुरुषवेद आदि सम्बन्धी दलिकों के संक्रमण होने पर उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी होता है। इसका आशय यह है कि जो जीव पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी है, जब पुरुषवेद को सर्वसंक्रम से संज्वलन क्रोध में सक्रान्त करता है तब वह संज्वलन क्रोध के उत्कृष्ट प्रदेश सत्व का स्वामी होता है। वही जीव जब संज्वलन क्रोध को सर्वसंक्रम से मान में संक्रान्त करता है तब वह संज्वलन मान के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का और वही जीव जब संज्वलन मान को सर्वसंक्रम से संज्वलन माया में संक्रान्त करता है तब वह संज्वलन माया के और जब वही जीव संज्वलन माया को सर्वसंक्रम से संज्वलन लोभ में संक्रान्त करता है, जब वह संज्वलन लोभ के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी होता है।

'चउरुवसमित्तु' इत्यादि अर्थात् चार बार मोहनीय कर्म का उपशमन कर गुणितकर्मांश जीव शीघ्र कर्मक्षपण के लिये क्षपकश्रेणी को प्राप्त हुआ तो सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में वर्तमान होने पर उसके सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यश:कीर्ति इन तीन कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है। क्योंकि क्षपकश्रेणी पर चढ़ा हुआ जीव इन प्रकृतियों में गुणसंक्रम से अशुभ प्रकृतियों के बहुत से दलिकों को संक्रान्त करता है। इसी कारण सूक्ष्मसंपराय के चरम समय में इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है। जैसा कि कहा है –

चउरुवसामिय मोहं जसुच्चसायाण सुहुम खवगंते।
जं असुभ पगईदलियाण संकमो होई एयासु ॥[१]

अर्थात् - चार बार मोह को उपशमना कर सूक्ष्मसंपराय क्षपक के अंतिम समय में यश:कीर्ति उच्चगोत्र, सातावेदनीय का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। क्योंकि उस समय इन प्रकृतियों में अशुभ प्रकृतियों के दलिकों का संक्रमण होता है तथा –

देवनिरियाउगाणं, जोगुक्कस्सेहिं जेट्ठगद्धाए।
बद्धाणि ताव जावं, पढमे समए उदिन्नाणि॥ ३२॥

शब्दार्थ – **देवनिरियाउगाणं** – देवायु तथा नरकायु का, **जोगुक्कस्सेहि** – उत्कृष्ट योग के द्वारा, **जेट्ठगद्धाए** – उत्कृष्ट बंधाद्धा द्वारा, **बद्धाणि** - बांधी हुई, **ताव** – तब तक, **जावं** – जब तक, **पढमे समए** – प्रथम समय में, **उदिन्नाणि** – उदय को प्राप्त नहीं होती।

गाथार्थ – उत्कृष्ट योग द्वारा और उत्कृष्ट बंधाद्धा द्वारा बांधी हुई देवायु और नरकायु का

---

१. पंच संग्रह पंचम द्वार सत्ताधिकार गा. १६१

तब तक उत्कृष्ट प्रदेशसत्व रहता है जब तक वे प्रथम समय में उदय को प्राप्त नहीं होती हैं।

विशेषार्थ – उत्कृष्ट योग द्वारा और उत्कृष्ट बंध काल के द्वारा देवायु और नरकायु-दोनों को बांध लेने पर उनका उत्कृष्ट प्रदेशसत्व तब तक प्राप्त होता है, जब तक कि वे प्रथम समय में उदीर्ण अर्थात् उदय को प्राप्त होती हैं। इसका यह अर्थ है कि बंध से लेकर उदय होने के प्रथम समय तक देवायु और नरकायु इन दोनों का उक्त प्रकार से उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है तथा –

सेसाउगाणि नियगेसु चेव आगम्म पुव्वकोडीए।
सायबहुलस्स अचिरा बंधंते जाव नोवट्टे (ट्टे)॥ ३३॥

शब्दार्थ – **सेसाउगाणि** – शेष आयुकर्मों का, **नियगेसु** – अपने अपने भव में, **च** – और, **एव** – ही, **आगम्म** – आकर (उत्पन्न होकर), **पुव्वकोडीए** – पूर्व कोटि प्रमाण, **सायबहुलस्स** – अधिक सातावेदनीय का, **अचिरा** – अल्पकाल में, **बंधंते** – बंध के अंत में, **जाव** – जब तक, **नोवट्टे** – अपवर्तना न करे।

गाथार्थ – शेष आयुकर्मों को पूर्व कोटि प्रमाण बांध कर और अपने अपने भव में उत्पन्न होकर अधिक सातावेदनीय का अनुभव करते हुए अल्पकाल में मरण के सन्मुख हो समान जातीय आयु के बंध में जब तक अपवर्तना न करे तब तक के जीव अपनी अपनी आयु के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व के स्वामी होते हैं।

विशेषार्थ – शेष आयु अर्थात् तिर्यंच और मनुष्य आयु को पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट बंधकाल से और उत्कृष्ट योगों से बांधकर और अपने अपने भव में आकर साताबहुल होते हुए अपनी अपनी आयु को यथायोग्य अनुभव करता है। (सुखी जीव के बहुत से आयु-पुद्गल निर्जीण नहीं होते हैं, इस कारण यहां साता पद ग्रहण किया है।) तत्पश्चात् बंध के अंत में अचिरकाल अर्थात् उत्पत्ति समय बाद अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहकर मरणोन्मुख होता हुआ उत्कृष्ट बंधकाल और उत्कृष्ट योग से परभव सम्बन्धी अन्य समान जातीय आयु को बांधता है अर्थात् यदि मनुष्य है तो आगामी भव की मनुष्यायु को और यदि तिर्यंच है तो आगामी भव की तिर्यंचायु बांधता है। तत्पश्चात् उस आयु को बांधने के अंतिम समय में जब तक उस आयु का अपवर्तन नहीं करता है तब तक उस साताबहुल मनुष्य के मनुष्यायु का और तिर्यंच के तिर्यंचायु का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है। क्योंकि उसके उस समय अपने भव के कुछ कम आयुदलिक हैं और समान जातीय परभव की आयु के पूरे दलिक हैं। इस कारण उस समय उसके उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है। बंध पूर्ण होने के अनन्तर वेद्यमान आयु का दूसरे समय में अपवर्तन कर सकता है। इसलिये बंध के अंतिम समय में यह पद कहा है तथा –

पूरित्तु पुव्वकोडी - पुहुत्त नारगदुगस्स बंधंते।
एवं पल्लतिगंते, वेउव्विय सेसनवगम्मि॥ ३४॥

शब्दार्थ – **पूरित्तु** – पूरित कर, **पुव्वकोडी-पुहुत्त** – पूर्वकोटि पृथक्त्व, **नारगदुगस्स**– नरकद्विक को, **बंधंते** – बंध के अंत में, **एवं** – इसी प्रकार, **पल्लतिगंते** – तीन पल्योपम के अंत में, **वेउव्विय** – वैक्रिय, **सेस** – शेष, **नवगम्मि** – नवक का।

गाथार्थ – पूर्वकोटि पृथक्त्व तक नरकद्विक को पूरित कर बंध के अंत में उनका उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। इसी प्रकार शेष वैक्रियनवक को भी पूर्वकोटि पृथक्त्व और तीन पल्योपम से पूरने पर अन्त्य समय में उनका उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है।

विशेषार्थ – पूर्वकोटि पृथक्त्व अर्थात् सात पूर्वकोटि वर्ष तक संक्लिष्ट अध्यवसायों से नरकद्विक – नरकगति और नरकानुपूर्वी को बारबार पूर कर अर्थात् बंध से संचित करके नरक के अभिमुख होता हुआ बंध के अंतिम समय में नरकद्विक के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी होता है।

इसी प्रकार से पूर्वकोटि पृथक्त्व तक कर्मभूमियों में और तीन पल्योपम तक भोगभूमियों में विशुद्ध अध्यवसायों से वैक्रियएकादश में से देवद्विक और वैक्रियसप्तक को बंध से पूरित कर देवत्व के अभिमुख होने वाला जीव उन देवद्विक और वैक्रियसप्तक रूप नौ प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी होता है तथा –

तमतमगो सव्वलहुं, सम्मत्तं लभिय सव्वचिरमद्धं।
पूरित्ता मणुयदुगं, सवज्जरिसहं सबंधंते॥ ३५॥

शब्दार्थ – **तमतमगो** – तमतमा पृथ्वी का नारक, **सव्वलहुं** – सर्वलधुकाल से (अतिशीघ्र) **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व को, **लभिय** – प्राप्तकर, **सव्वचिरमद्धं** – सुदीर्घकाल तक, **पूरित्ता** – पालनकर, **मणुयदुगं** – मनुष्यद्विक को, **सवज्जरिसहं** – वज्रऋषभनाराचसंहनन सहित, **संबंधंते** – अपने बंध के अन्त्य समय में।

गाथार्थ – तमतमा पृथ्वी का नारक अतिशीघ्र सम्यक्त्व को प्राप्त कर और सुदीर्घकाल तक वज्रऋषभनाराचसंहनन सहित मनुष्यद्विक को बांधते हुए अपने बंध के अन्त्य समय में उनके उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामी होता है।

विशेषार्थ – तमतमगो अर्थात् सातवीं पृथ्वी के नारक के जब सर्वलघु अर्थात् अतिशीघ्र जन्म लेने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त बीतने पर सम्यक्त्व को प्राप्तकर अतिदीर्घकाल तक सम्यक्त्व का पालन करता हुआ मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराचसंहनन को बंध से परिपूरित करता है, (*क्योंकि*

अनन्तर समय में वह मिथ्यात्व को प्राप्त करता है) उस समय में अर्थात् बंध काल के अंतिम समय में उनका अर्थात् मनुष्यद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है तथा –

सम्मद्दिट्ठिधुवाणं, बत्तीसुदहीसयं चउक्खुत्तो।
उवसामइत्तु मोहं, खवेंतगे नियगबंधंते ॥ ३६॥

शब्दार्थ – **सम्मद्दिट्ठिधुवाणं** – सम्यग्दृष्टि के योग्य ध्रुव (बंधनी) प्रकृतियों को **बत्तीसुदहीसयं** – एक सौ बत्तीस सागरोपम, **चउक्खुत्तो** – चार बार, **उवसामइत्तु** – उपशमित कर **मोहं** – मोहनीय को, **खवेंतगे** – क्षपण करने को तत्पर, **नियगबंधंते** – अपने अपने बंध के अंत में।

गाथार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव के योग्य ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों को एक सौ बत्तीस सागरोपम तक बांधकर और मोहनीय को चार बार उपशमित कर क्षपण के लिये तत्पर जीव के अपने अपने बंध के अंत में उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है।

विशेषार्थ – जो प्रकृतियां सम्यग्दृष्टियों के ही बंध होने से ध्रुवबंधिनी हैं ऐसी पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुस्वर, सुभग और आदेय रूप बारह प्रकृतियों का एक सौ बत्तीस सागरोपम काल तक बंध से संचय करके चार बार मोहनीय कर्म को उपशमाकर (क्योंकि मोहनीय को उपशमता हुआ जीव बहुत दलिकों को गुणसंक्रमण से संक्रमाता है, इस कारण चार बार मोहनीय के उपशम को यहां कहा है।) कर्मक्षपण के लिये उद्यत जीव के अपने अपने बंधविच्छेद के काल में उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है तथा –

धुवबंधीण सुभाणं, सुभथिराणं च नवरि सिग्घयरं।
तित्थगराहारगतणू, तेत्तीसुदही चिरचिया य॥ ३७॥

शब्दार्थ – **धुवबंधीण** – ध्रुवबंधिनी, **सुभाणं** – शुभ प्रकृतियों का, **सुभथिराणं** – शुभ, स्थिर, **च** – और, **नवरि** – विशेष, **सिग्घयरं** – शीघ्रता (अतिशीघ्र), **तित्थगराहारगतणु**– तीर्थंकर और आहारकसप्तक का, **तेत्तीसुदही** – तेतीस सागरोपम, **चिरचियाय** – चिर काल तक, बंध से पूरित करने वाले के।

गाथार्थ – ध्रुवबंधिनी (बीस) शुभ प्रकृतियों का, शुभ और स्थिर नाम का भी इसी प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसत्व जानना चाहिये। विशेष यह है कि अतिशीघ्र क्षपण करने के लिये उद्यत हुए जीव के उनका उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है। तीर्थंकर नाम का साधिक तेतीस सागरोपम तक और

आहारकसप्तक का चिरकाल तक बंध से पूरित करने वाले के बंधान्त समय में उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है।

विशेषार्थ – तैजससप्तक, शुभ वर्णादि एकादशक, अगुरुलघु और निर्माण, इन शुभ ध्रुवबंधिनी बीस प्रकृतियों का तथा शुभ और स्थिर प्रकृति का भी पूर्वोक्त प्रकार से उत्कृष्ट प्रदेशसत्व जानना। विशेष यह है कि चार बार मोहनीय कर्म के उपशमन के अनन्तर शीघ्र ही कर्म क्षपण के लिये उद्यत जीव के उक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व समझना चाहिये।

देशोन दो पूर्वकोटि वर्ष से अधिक तेतीस सागरोपम काल तक बंध से तीर्थंकर नामकर्म को पूरित करने वाले गुणितकर्मांश जीव के अपने अपने बंध के अंतिम समय में तीर्थंकरनाम का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है।

आहारकशरीर अर्थात् आहारकसप्तक का चिरचित अर्थात् देशोन पूर्वकोटि वर्ष तक पुनः पुनः बंध से संचय करने वाले जीव के अपने बंधविच्छेद के समय में उत्कृष्ट प्रदेशसत्व होता है तथा –

तुल्ला नपुंसवेए - णेगिंदिए य थावरायवुज्जोया।
विगल सुहुमत्तियाविय, नरतिरिय चिरज्जि (च्चि) या होंति॥ ३८॥

शब्दार्थ – **तुल्ला** – तुल्य (समान), **नपुंसवेएण** – नपुंसकवेद के, **एगिंदिए** – एकेन्द्रिय, **य** – और, **थावरायवुज्जोया** – स्थावर, आतप और उद्योत का, **विगलसुहुमत्तियाविय**– विकलत्रिक और सूक्ष्मत्रिक का भी, **नरतिरिय** – मनुष्य और तिर्यंच के, **चिरज्जिया** – चिरकाल तक संचय करने वाले, **होंति** – होते हैं।

गाथार्थ – एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप और उद्योत का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व नपुंसकवेद के तुल्य जानना चाहिये। विकलत्रिक और सूक्ष्मत्रिक का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व इनका चिरकाल तक संचय करने वाले मनुष्य और तिर्यंच के बंधान्त समय में होता है।

विशेषार्थ – एकेन्द्रियजाति, स्थावर आतप और उद्योत का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व नपुंसकवेद के तुल्य जानना चाहिये। अर्थात् पूर्व में जैसे नपुंसकवेद का ईशानस्वर्ग के देवभव के चरम समय में उत्कृष्ट प्रदेशसत्व बताया है, उसी प्रकार इन चारों प्रकृतियों का भी उत्कृष्ट प्रदेशसत्व ईशान स्वर्ग के देव के चरम समय में पाया जाता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रिक तथा सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण रूप सूक्ष्मत्रिक को जब पूर्वकोटि पृथक्त्व तक तिर्यंच और मनुष्यभव के द्वारा उपार्जित किया जाये तब

अपने अपने बंधान्त समय में उन तिर्यंच और मनुष्यों के विकलत्रिकादि का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व पाया जाता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रदेशसत्व का स्वामित्व जानना चाहिये।

जघन्य प्रदेशसत्कर्म स्वामित्व

अब जघन्य प्रदेशसत्व के स्वामित्व का कथन करते है –

खवियंसयम्मि पगयं, जहन्नगे नियगसंतकम्मंते।
खणसंजोइयसंजो-यणाण चिरसम्मकालंते॥ ३९॥

शब्दार्थ – **खवियंसयम्मि** – क्षपितकर्मांश का, **पगयं** – प्रकृत (अधिकार), **जहन्नगे**– जघन्य में, **नियगसंतकम्मंते** – अपनी अपनी सत्ता के अंत में, **खण** – क्षण (अन्तर्मुहूर्त), **संजोइय** – बांधकर, **संजोयणाण** – अनन्तानुबंधी के, **चिरसम्मकालंते** – दीर्घकालिक सम्यक्त्व काल में अंत में।

गाथार्थ – जघन्य प्रदेशसत्व के स्वामित्व में क्षपितकर्मांश जीव का अधिकार है। यह जघन्य प्रदेशसत्व स्वामित्व अपनी अपनी सत्ता के चरम समय में (अंत में) पाया जाता है। किन्तु अनन्तानुबंधी की विसंयोजना कर और मिथ्यात्व में जाकर अन्तर्मुहूर्त काल तक बांधकर दीर्घकालिक सम्यक्त्वकाल के अंत में अनन्तानुबंधी के क्षपण के अंतिम समय में उनका जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है।

विशेषार्थ – इस जघन्य प्रदेशसत्व के स्वामित्व में क्षपितकर्मांश जीव से प्रयोजन है प्रायः सभी कर्मों का जघन्य प्रदेशसत्व का स्वामित्व अपनी अपनी सत्ता के चरम समय में जानना चाहिये – नियगसंतकम्मंते।

इस प्रकार सामान्य से सर्व कर्मों के जघन्य प्रदेशसत्व के स्वामित्व को जानना चाहिये। लेकिन अब जिन कर्मों के जघन्य प्रदेश सत्व के स्वामित्व में विशेष भेद है, उसको पृथक् पृथक् रूप से कहते हैं –

'खणसंजोइय' इत्यादि अर्थात् क्षपितकर्मांश सम्यग्दृष्टि जीव ने अनन्तानुबंधी कषायों की उद्वलना करने के बाद पुनः मिथ्यात्व में जाकर अन्तर्मुहूर्त काल तक अनन्तानुबंधी कषायों का बंध किया। तत्पश्चात् पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त किया, और वह उस सम्यक्त्व को दो छियासठ सागरोपम अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम तक पालन करके क्षपणा के लिये उद्यत हुआ और

अनन्तानुबंधी का क्षय करते हुए जब उसकी स्थिति एक समय अथवा दो समय मात्र शेष रहती है, तब अनन्तानुबंधी कषायों का जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है तथा –

उव्वलमाणीण उव्वल-णा एगट्ठिई दुसामइगा।
दिट्ठिदुगे बत्तीसे, उदहिसए पालिए पच्छा॥ ४०॥

शब्दार्थ – **उव्वलमाणीण** – उद्वल्यमान प्रकृतियों की, **उव्वलणा** – उद्वलना करते हुए, **एगट्ठिई** – एक स्थिति, **दुसामइगा** – द्विसामयिक (दो समयवाली), **दिट्ठिदुगे** – दर्शनद्विक (सम्यक्त्व, मिश्रमोह), **बत्तीसे उदहिसए** – एक सौ बत्तीस सागरोपम तक, **पालिए** – पालन करने के, **पच्छा** – पश्चात्।

गाथार्थ – उद्वल्यमान प्रकृतियों की उद्वलना करते हुये जब द्विसामयिक एक स्थिति शेष रहती है तब उन प्रकृतियों का तथा एक सौ बत्तीस सागरोपम तक सम्यक्त्व का पालन करने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाकर दर्शनमोहद्विक की उद्वलना करते हुए जब दो समय वाली एक स्थिति शेष रहती है तब उनका जघन्य प्रदेशसत्व प्राप्त होता है।

विशेषार्थ – उद्वल्यमान तेईस प्रकृतियों के उद्वलन काल में स्वरूप की अपेक्षा जब एक समय मात्र अन्यथा दो समय प्रमाण अवस्थान वाली एक स्थिति शेष रहती है तब उन उद्वलन प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसत्व होता है।

इस प्रकार सामान्य से उद्वलन योग्य प्रकृतियों के जघन्य प्रदेशसत्व को जानना चाहिये। अब इसी विषय में जो विशेषता है उसको स्पष्ट करते है –

'दिट्ठिदुगे' इत्यादि अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम काल तक सम्यक्त्व का परिपालन करने के पश्चात् किसी क्षपितकर्मांश ने मिथ्यात्व को प्राप्त किया और पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र प्रमाण वाली उद्वलना के द्वारा सम्यक्त्व और मिश्र मोह प्रकृतियों का उद्वलन करना प्रारम्भ किया और उद्वलन करते हुए उन दोनों के दलिकों को मिथ्यात्व में संक्रान्त करता है तब सर्वसंक्रमण के द्वारा आवलिका से उपरिवर्ती सभी दलिकों को संक्रान्त किया तथा आवलिका गत दलिक को स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा संक्रान्त किया। इस प्रकार संक्रान्त करते हुए जब स्वरूप की अपेक्षा एक समय मात्र अन्यथा दो समय अवस्थान वाली एक स्थिति शेष रहती है तब सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय इन दो प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है तथा –

अंतिम लोभ जसाणं, मोहं अणुवसमइत्तु खीणाणं (सेसाणं)।
नेयं अहापवत्त-करणस्स चरमम्मि समयम्मि॥ ४१॥

शब्दार्थ – **अंतिम लोभ जसाणं** – अंतिम लोभ (संज्वलन लोभ) और यशःकीर्ति, **मोहं** – मोह का, **अणुवसमइत्तु** – उपशम नहीं करके, **खीणाणं** – क्षय किये जाने वाले, **अहापवत्तकरणस्स** – यथाप्रवृत्तकरण के, **चरमम्मि समयम्मि** – चरम समय में, **नेयं** – जानना चाहिये।

गाथार्थ – मोह का उपशम नहीं करके क्षय किये जाने वाले संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का जघन्य प्रदेश सत्व यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में जानना चाहिये।

विशेषार्थ – 'अंतिम लोभ जसाणं' अर्थात् संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का मोहनीय का चार बार उपशम नहीं करके अर्थात् उपशमश्रेणी पर आरोहण नहीं करके शेष क्षपितकर्मांश क्रियाओं के द्वारा क्षीण होने पर यथाप्रवृत्तकरण के अंतिम समय में जघन्य प्रदेशसत्व जानना चाहिये। मोहनीय का उपशमन किये जाने पर उस समय गुणसंक्रमण के द्वारा बहुत दलिक प्राप्त होते हैं, किन्तु यहां उनसे प्रयोजन नहीं है। इसलिये मोहनीय के उपशमन का प्रतिषेध किया गया है। तथा –

वेउव्विक्कारसगं, खणबंधगते उ नरय जिट्ठठिइ।
उव्वट्टित्तु अबंधिय, एगेंदिगए चिरुव्वलणे॥ ४२॥

शब्दार्थ – **वेउव्विक्कारसगं** – वैक्रिय एकादशक की, **खणबंधगते** – अन्तर्मुहूर्त तक बंध कर, **उ** – पुनः, **नरय** – नरक, **जिट्ठठिइ** – उत्कृष्ट स्थिति, **उव्वट्टित्तु** – वहां से निकलकर, **अबंधिय** – बंध नहीं करके, **एगेंदिगए** – एकेन्द्रिय में गये हुए के, **चिरुव्वलणे** – चिरकाल तक उद्वलना करते हुए।

गाथार्थ – वैक्रियएकादशक की उद्वर्तना कर पुनः अन्तर्मुहूर्त तक बंध करके नरक की उत्कृष्ट स्थिति तक अनुभव करके वहां से निकलकर, उनका बंध नहीं करके एकेन्द्रिय में गए हुए के चिरकाल तक उद्वलना करते हुए जब एक स्थिति शेष हो तब उनका जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है।

विशेषार्थ – नरकद्विक, देवद्विक और वैक्रियसप्तक इस वैक्रियएकादशक का पहले क्षपितकर्मांश जीव ने उद्वलन किया, तत्पश्चात् पुनः अन्तर्मुहूर्त काल तक उसका बंध किया, तत्पश्चात् उत्कृष्ट स्थिति वाले अप्रतिष्ठ नामक नरक में उत्पन्न हुआ और वहां पर रहते हुए वैक्रियएकादशक का तेतीस सागरोपम तथा विपाक और संक्रमण से यथायोग्य अनुभव किया, उसके बाद नरक से निकलकर तिर्यंच पंचेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ और वहां पर इस प्रकार के

अध्यवसाय का अभाव होने से वैक्रियएकादशक का पुनः बंध नहीं किया, तत्पश्चात् वह एकेन्द्रिय हुआ तब उस वैक्रियएकादशक का दीर्घ उद्वलना से उद्वलन करने लगा। दीर्घकालीन उद्वलना से उद्वलन करते हुए जब स्वरूप की अपेक्षा एक समय मात्र अवस्थान वाली, अन्यथा दो समय मात्र अवस्थान वाली एक स्थिति शेष रहती है। तब उस वैक्रियएकादशक का जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है यथा –

मणुयदुगुच्चागोए, सुहुमखणबद्धगेसु सुहुमतसे।
तित्थयराहारतणू, अप्पद्धा बंधिया सुचिरं॥ ४३॥

शब्दार्थ – मणुयदुगुच्चागोए – मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का, **सुहुमखणबद्धगेसु** – सूक्ष्म जीव ने अंतर्मुहूर्त तक बंध किया, **सुहुमतसे** – सूक्ष्मत्रस में, **तित्थयराहारतणू** – तीर्थंकर और आहरकसप्तक का, **अप्पद्धा** – अल्पकाल, **बंधिया** – बांधकर, **सुचिरं** – चिरकाल तक।

गाथार्थ – सूक्ष्म त्रस ने पहले मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का उद्वलन किया और पुनः सूक्ष्म त्रस जीवों में उत्पन्न होकर पूर्व रीति से उद्वलना करते हुए जब एक स्थिति शेष रहती है, तब इन तीन प्रकृतियों का तथा तीर्थंकर और आहारकसप्तक का अल्पकाल तक बंध करके चिरकाल तक उद्वलना करते हुए जब एक स्थिति शेष रहती है तब उनका जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है।

विशेषार्थ – क्षपितकर्मांश सूक्ष्म त्रस जीव ने पहले मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का उद्वलन किया। तत्पश्चात् 'सुहुमखणबद्धगेसु' अर्थात् सूक्ष्म एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि होता हुआ क्षण अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक पुनः उक्त तीन प्रकृतियों का बंध किया। तत्पश्चात् सूक्ष्म त्रसों से अर्थात् तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवों में उत्पन्न हुआ और वहां चिरकालीन उद्वलना के द्वारा उनकी उद्वलना करने लगा, उद्वलना करते हुए जब उन कर्मों की दो समय मात्र अवस्थान वाली एक स्थिति शेष रहती है, तब सूक्ष्म एकेन्द्रिय के द्वारा अन्तर्मुहूर्त तक बांधे गये मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है।

तीर्थंकर नामकर्म की अल्पकाल अर्थात् कुछ अधिक चौरासी हजार वर्ष प्रमाण स्थिति को बांधकर केवली हुआ, तत्पश्चात् सुचिरं अर्थात् देशोन पूर्वकोटि रूप दीर्घकाल तक केवली पर्याय को पालनकर अयोगिकेवली होते हुए उन क्षपितकर्मांश अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में वर्तमान अयोगिकेवली तीर्थंकर भगवंत के तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य प्रदेशसत्व पाया जाता है।

अन्य आचार्यों का यह मत है कि तत्प्रायोग्य जघन्य योग वाले क्षपितकर्मांश जीव के द्वारा प्रथम समय में बद्ध जो कर्मलता है, वही तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य प्रदेशसत्व है।

'आहारतणू त्ति' अर्थात् आहारक शरीर यानी आहारकसप्तक की अप्पद्धा बंधिय अल्पकाल वाली स्थिति को बांध कर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और सुचिर दीर्घकालीन उद्वलना के द्वारा उद्वलन करते हुए जब दो समय मात्र अवस्थान वाली एक स्थिति शेष रहती है, तब आहारकसप्तक का अघन्य प्रदेशसत्व प्राप्त होता है।

इस प्रकार जघन्य प्रदेशसत्व के स्वामित्व का वर्णन जानना चाहिये।

प्रदेशसत्कर्मस्थान प्ररूपणा

अब प्रदेशसत्व के स्थानों की प्ररूपणा करने के लिये स्पर्धक प्ररूपणा करते है –

चरमावलियपविट्ठा, गुणसेढी जासिमत्थि न य उदओ।
आवलिगासमयसमा, तासिं खलु फड्डगाइं तु॥ ४४॥

शब्दार्थ – **चरमावलियपविट्ठा** – अन्त्य आवलिका में प्रविष्ट, **गुणसेढी** – गुणश्रेणी, **जासिं** – जिनकी, **अत्थि** – है, **न य उदओ** – उदय न हो, **आवलिगासमयसमा** – आवलिका के समय तुल्य, **तासिं** –उनके, **खलु** – नियम से, **फड्डगाइं** – स्पर्धक, **तु** – किन्तु।

गाथार्थ – जिन प्रकृतियों की गुणश्रेणी क्षयकाल की अन्त्य आवलिका में प्रविष्ट है, किन्तु उदय नहीं, उनके स्पर्धक नियम से आवलिका के समयतुल्य (प्रमाण) होते हैं।

विशेषार्थ – चरम समय अर्थात् अंतिम क्षपणकाल में जो आवलिका है, उसमें जिन प्रकृतियों की गुणश्रेणी प्रविष्ट है और उदय नहीं है ऐसी स्त्यानर्धित्रिक, मिथ्यात्व, आदि की बारह कषाय, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, पंचेन्द्रियजाति को छोड़कर शेष चार जाति, आतप, उद्योत, स्थावर सूक्ष्म और साधारण उनतीस प्रकृतियों के एक आवलिका में जितने समय होते हैं, उतने स्पर्धक होते हैं। इसका स्पष्ट आशय यह है –

अभव्यप्रायोग्य जघन्य प्रदेशसत्व से युक्त कोई जीव त्रसों में उत्पन्न हुआ और वहां विरति और देशविरति को अनेक बार प्राप्त कर, चार बार मोहनीय कर्म को उपशमा कर पुनः एकेन्द्रियों में उत्पन्न हुआ और वहां पर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल तक रहकर मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और वहां क्षपणा के लिये उद्यत हुआ। उसके अंतिम स्थितिखंड के विनष्ट हो जाने पर और स्तिबुकसंक्रम के द्वारा अंतिम आवलिका के क्षीण होते हुए जब दो समय मात्र अवस्थान वाली

एक स्थिति शेष रहती है, तब जो सबसे जघन्य प्रदेशसत्व कर्म है, वह प्रथम प्रदेशसत्व कर्मस्थान कहलाता है। तत्पश्चात् उसमें एक परमाणु के प्रक्षेप करने पर अन्य-दूसरा प्रदेशसत्वस्थान होता है। तदनन्तर दो परमाणुओं को प्रक्षिप्त करने पर अन्य तीसरा प्रदेशसत्वस्थान होता है। तीन परमाणुओं के प्रक्षिप्त करने पर चतुर्थ प्रदेशसत्वस्थान होता है। इस प्रकार एक एक परमाणु के प्रक्षेप से प्रदेशसत्वस्थान नाना जीवों की अपेक्षा अनन्त तब तक कहना चाहिये, जब तक कि उसी चरम स्थिति विशेष में गुणितकर्मांश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। इससे ऊपर अन्य प्रदेशसत्वस्थान नहीं होता है। इसलिये यहां तक के स्थानों का समुदाय एक स्पर्धक है। यह स्पर्धक चरम स्थिति की अपेक्षा कहा गया है।

इसी प्रकार दो चरम स्थितियों में दूसरा स्पर्धक कहना चाहिये और तीन स्थितियों में तीसरा स्पर्धक।[१] इस प्रकार तब तक कहना चाहिये जब तक एक समय कम आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक हैं तथा अंतिम प्रक्षेप को आदि करके पश्चानुपूर्वी से प्रदेशसत्वस्थान यथोत्तर क्रम से बढ़ते हुए तब तक कहना चाहिए जब तक कि अपनी अपनी प्रकृति का उत्कृष्ट प्रदेशसत्व प्राप्त होता है। इसलिये इतने प्रमाण वाले यथासंभव सर्वस्थितिगत एक स्पर्धक की विवक्षा की गई है। इस स्पर्धक सहित आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक होते हैं।[२] तथा –

संजलणतिगे चेवं, अहिगाणि य आलिगाएसमएहिं।
दुसमयहीणेहिं, गुणाणि जोगट्ठाणाणि कसिणाणि॥४५॥

शब्दार्थ – **संजलणतिगे** – संज्वलनत्रिक में, **चेवं** – इसी प्रकार, **अहिगाणि** – अधिक, **य** – और, **आलिगाए समएहिं** – आवलिका के समयों के साथ, **दुसमयहीणेहिं** – दो समय कम, **गुणाणि** – गुणा करने वाले, **जोगट्ठाणाणि** – योगस्थान, **कसिणाणि** – समस्त।

---

१. इसका आशय यह है कि अंत समय मात्र में विद्यमान जीव को अंत का एक समय रूप अन्त्य स्थितिस्थान संभव है, लेकिन दो समय रूप स्थितिस्थान गिनने का कारण यह है कि वर्तमान अन्त्य टूढता हुआ होने से प्रदेशसत्ता के संबंध में गिना नहीं जा सकता है। इसलिये प्रायः सर्वत्र प्रदेशसत्ता के संबंध में प्रदेशोदय वर्तमान समय टूटता हुआ होने से गिना नहीं है और इसी कारण अन्त्य स्थितिस्थान दो समय रूप रहे, उस समय अनेक जीवों की अपेक्षा जघन्यादि प्रदेशसत्ता का प्रथम स्पर्धक होता है और इसी रीति से तीन समय शेष रहने पर दूसरा, चार समय रहने पर तीसरा यावत् आवलिका शेष रहने पर सब मिलाकर समयोन आवलिका प्रमाण स्पर्धक होते हैं।

२. पूर्व में कहे गये समयोन आवलिका प्रमाण (अन्त्य प्रदेशोदयावलिका संबंधी) स्पर्धकों में यह अन्त्य स्थितिघात संबंधी एक स्पर्धक को मिलाने पर सम्पूर्ण आवलि प्रमाण स्पर्धक होते हैं।

गाथार्थ – संज्वलनत्रिक में इसी प्रकार जानना चाहिये और समस्त योगस्थानों को दो समय कम आवलिका के समयों के साथ गुणा करने पर जितने होते हैं, उतने अधिक जानना।

विशेषार्थ – 'संजलणतिगे' अर्थात् संज्वलनत्रिक संज्वलन क्रोध, मान, माया में भी पूर्वोक्त प्रकार से स्पर्धकों का कथन करना चाहिये। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

क्रोधादि संज्वलन कषायों की प्रथमस्थिति जब तक एक आवलिका प्रमाण शेष रहती है, तब तक स्थितिघात, रसघात, बंध, उदय और उदीरणा होती रहती है और प्रथमस्थिति के आवलिका प्रमाण शेष रह जाने पर स्थितिघात आदि विच्छिन्न हो जाते हैं।[१] तब अनन्तर समय में एक समय कम आवलिकागत और दो समय कम दो आवलिकाबद्ध दलिक विद्यमान रहते हैं और अन्य सब क्षीण हो जाते हैं, तब एक समय कम आवलिकागत दलिक के स्पर्धकों का कथन जैसे पहले किया गया है, उसी प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिये और जो दो समय कम दो आवलिकाबद्ध दलिक पूर्व में कहे गये समयोन आवलिका प्रमाण (अन्त्य प्रदेशोदयावलिका सम्बंधी) स्पर्धकों में यह अन्त्य स्थितिघात सम्बंधी स्पर्धक को मिलाने पर सम्पूर्ण आवलि प्रमाण स्पर्धक होते हैं। इसका आशय यह है कि एक आवलिका शेष रहने रह जाने पर स्थितिघातादि विच्छेद को प्राप्त होने से यहां स्थितिघात सम्बंधी स्पर्धक नहीं बनते हैं। किन्तु शेष रही हुई प्रदेशावलि और समयोन दो आवलिका का बंधा हुआ दलिक जो सत्ता में रहा हुआ है, वह उसका स्पर्धक बनेगा। उनका कथन दूसरे प्रकार से किया जाता है। क्योंकि पूर्व प्रकार से यहां पर (द्विसमयोन आवलिकाबद्ध दलिक में) स्पर्धक का स्वरूप नहीं पाया जाता है।[२]

प्रश्न – स्थितिघात, रसघात, बंध उदय और उदीरणा के विच्छेद के अनंतर समय में दो समय कम दो आवलिकाबद्ध ही दलिक हैं और शेष नहीं हैं यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर – चरम समय में क्रोधादि को वेदन करने वाले जीव के द्वारा जो बद्ध दलिक है वह बंधावालिका के व्यतीत होने पर आवलिका मात्र काल में सम्पूर्ण रूप से संक्रान्त हो जाता है और ऐसा होने पर आवलिका के चरम समय में वह स्वरूप की अपेक्षा अकर्मी अर्थात् कर्म रहित

---

१. इसका आशय यह है कि एक आवलिका शेष रहने पर स्थितिघातादि विच्छेद को प्राप्त होने से यहां स्थितिघात संबंधी स्पर्धक नहीं बनते हैं। किन्तु शेष रही हुई प्रदेशावलि और समयोन दो आवलिका का बंधा हुआ दलिक जो सत्ता में रहा हुआ है, वह उसका स्पर्धक बनेगा।

२. आशय यह है कि पूर्व में जैसे एक-एक प्रदेश की वृद्धि द्वारा स्पर्धक बना, वैसा यहां एक एक प्रदेश की वृद्धि से स्पर्धक नहीं बनता है किन्तु योगस्थान की निरन्तर वृद्धि और प्रदेशों की सान्तर वृद्धि से ही बद्ध सत् दलिकों का स्पर्धक बनता है।।

हो जाता है, तथा द्विचरम समय वेदक के द्वारा जो बद्ध दलिक हैं, वे भी बंधावलिका के व्यतीत होने पर अन्य आवलिका मात्र काल में संक्रान्त हो जाते हैं। अतः आवलिका के चरम समय में वह अकर्मी हो जाता है। इस प्रकार जो कर्म जिस समय में बंधा है, वह कर्म उस समय से लेकर दूसरी आवलिका के चरम समय में कर्मरहित हो जाता है और ऐसा होने पर बंध आदि के अभाव होने के प्रथम समय में दो समय कम दो आवलिकाबद्ध ही दलिक विद्यमान पाये जाते हैं और शेष नहीं पाये जाते हैं।

अब उक्त कथन को असत्कल्पना द्वारा स्पष्ट करते हैं –

यद्यपि एक आवलिका यथार्थ में असंख्यात समयात्मक होती है, तथापि यहां असत्कल्पना के चार समय वाली मानते हैं। इसलिये बंधादि के व्यच्छेद होने के अंतिम समय से पूर्व आठवें समय में जो बद्ध कर्मदलिक है वह कल्पित चार समय वाली बंधावलिका के व्यतीत होने पर दूसरी चार समय वाली आवलिका के द्वारा अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त होता हुआ बंधादि के विच्छेद के समय रूप चरम समय में स्वरूप से सर्वथा नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह अन्य प्रकृतियों में सर्वात्मक रूप से संक्रान्त हो गया है।[1] सातवें समय में जो बद्ध-दलिक है, वह भी चार समय वाली आवलिका के अतिक्रान्त होने पर दूसरी चार समय वाली आवलिका काल में अन्यत्र संक्रान्त होता हुआ बंधादि के विच्छेद होने के अनन्तर समय में स्वरूप से नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह अन्य प्रकृतियों में सर्वात्मक रूप से संक्रान्त हो चुका है। किन्तु शेष छट्ठे, पांचवें आदि समयों में बंधा हुआ दलिक तो पाया जाता है। इसलिये बंधादि के विच्छिन्न होने पर अनन्तर समय में दो

१.

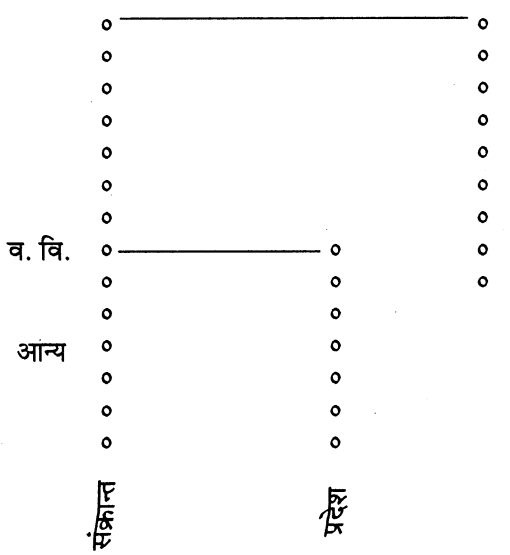

समय कम दो आवलिका काल से बंधे हुए ही दलिक विद्यमान पाये जाते हैं, अन्य नहीं।

बंधादि के विच्छिन्न होने के समय जघन्य योग वाले जीव के द्वारा जो बांधा गया दलिक है, वह बंधावलिका के व्यतीत होने पर दूसरी आवलिका के द्वारा अन्य प्रकृति में संक्रान्त होने के चरम समय में जो संक्रान्त होगा, परन्तु अभी संक्रान्त नहीं हुआ है, वही संज्वलन क्रोध का जघन्य प्रदेशसत्वस्थान है। इसी प्रकार दूसरे योगस्थानवर्ती जीव के द्वारा बंधादि के विच्छेद होने के समय में बद्धकर्म है, उसका भी दलिक चरम समय में दूसरा प्रदेशसत्वस्थान है। इस प्रकार तब तक कहना चाहिये, जब तक उत्कृष्ट योगस्थानवर्ती होते हुए बंधादि के विच्छेद समय में जो बद्ध दलिक है उसका दलिक चरम समय में सर्वोत्कृष्ट अंतिम प्रदेशसत्वस्थान होता है।

इस प्रकार जघन्य योगस्थान को आदि करके जितने-जितने योगस्थान होते हैं, उतने प्रदेशसत्वस्थान भी चरम समय में पाये जाते हैं। इन सर्व प्रदेशसत्वस्थानों का समुदाय एक स्पर्धक जानना चाहिये।

इसी प्रकार बंध आदि के विच्छेद होने के द्विचरम समय में जघन्य योग आदि के द्वारा जो कर्म बंधता है, उसमें भी दूसरी आवलिका के चरम समय में पहले के समान उतने ही प्रदेशसत्वस्थान जानना चाहिये। केवल दो स्थिति में उत्पन्न होने वाले वे प्रदेशसत्वस्थान समझना चाहिये, क्योंकि बंधादि विच्छेद के चरम समय में बद्ध दलिक भी उस समय दो समय की स्थिति वाले पाये जाते हैं। इन सबका समुदाय दूसरा स्पर्धक है।

इसी प्रकार बंधादि विच्छेद के त्रि चरम समय में जघन्य योग आदि के द्वारा जो कर्म बांधे जाते हैं, वहां पर भी दूसरी आवलिका के अंतिम समय में पहले के समान ही उतने प्रदेशसत्वस्थान होते हैं। केवल इन्हें तीन स्थितियों में होने वाले जानना चाहिये। क्योंकि उस समय बंध आदि के विच्छेद होने के चरम समय में बंधे हुए दलिक का और द्विचरम समय में बंधे हुए का और त्रिचरम समय में बंधे हुए दलिक का भी तीन समय की स्थिति वाला दलिक पाया जाता है। यह तीसरा स्पर्धक है।

इस प्रकार दो समय कम दो आवलिका काल में जितने समय होते हैं, उतने ही स्पर्धक होते हैं। इसी बात को बताने के लिये गाथा में अहिगाणि य आवलिगाए इत्यादि पद दिया है।

ये समस्त योगस्थान एक समुदाय रूप से विवक्षित होने पर सकल योगस्थानों का समुदाय कहलाते हैं। यह योगस्थान समुदाय एक आवलिका में पाये जाने वाले समयों में से दो समय कम शेष समयों से गुणित किया जाता है और गुणित करने पर जितने सम्पूर्ण योगस्थानों के समुदाय प्राप्त

होते हैं, उतने ही अधिक स्पर्धक प्रथम स्थिति के विच्छिन्न होने पर पाये जाते हैं।[१] जो इस प्रकार समझना चाहिये –

बंधादि के विच्छेद होने पर अनन्तर समय में दो आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक पाये जाते हैं, यह पूर्व में कहा जा चुका है और बंधादि के व्यवच्छेद से ऊपर आवलिका मात्र काल वाली प्रथमस्थिति रहती हैं। इसलिये उस आवलिका प्रमाण वाली प्रथमस्थिति के संक्रम द्वारा विच्छिन्न होने पर उससे आगे आवलिका के समय प्रमाण स्पर्धक अन्य प्रकृतियों में संक्रमण द्वारा विच्छिन्न हो जाते हैं। अतएव उनकी पृथक् गणना नहीं की गई है। इसलिये उनके विच्छिन्न होने पर प्रथमस्थिति के बीतने पर शेष दो समय कम दो आवलिका के समय प्रमाण ही अधिक स्पर्धक पाये जाते हैं, अन्य नहीं पाये जाते हैं तथा –

वेएसु फड्डगदुगं, अहिगा पुरिसस्स वे उ आवलिया।
दुसमयहीणा गुणिया जोगट्ठाणेहिं कसिणेहिं ॥४६॥

शब्दार्थ – **वेएसु** – वेदों में, **फड्डगदुगं** – दो स्पर्धक, **अहिगा** – अधिक, **पुरिसस्स**– पुरुषवेद के, **वे** – दो, **उ** – किन्तु, **आवलिया** – आवलिका, **दुसमयहीणा** – दो समय हीन, **गुणिया** – गुणा करने पर, **जोणट्ठाणेहिं** – योगस्थानों के द्वारा, **कसिणेहिं** – समस्त।

गाथार्थ – वेदों में दो दो स्पर्धक होते हैं। किन्तु पुरुषवेद के स्पर्धक समस्त योगस्थानों के द्वारा दो समय हीन दो आवलिका को गुणा करने पर जितने होते हैं, उतने ही अधिक भी जानना चाहिये।

विशेषार्थ – वेएसु अर्थात स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में प्रत्येक के दो दो स्पर्धक होते हैं जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

कोई अभवसिद्धिकप्रायोग्य जघन्य प्रदेशसत्व वाला जीव त्रसों के मध्य में उत्पन्न हुआ

---

१. इसका आशय है कि – पूर्व में जो अन्त्य प्रदेशोदयावलिका और स्थितिघात के मिलकर जितने स्पर्धक आवलिका प्रमाण कहे हैं, वे सर्वस्पर्धक दीर्घकाल पूर्व बांधे हुये सत्तागत दलिक के एक एक प्रदेश की वृद्धि से थे और यह दो समयोन दो आवलिका के स्पर्धक नवीन बद्ध दलिक के योगस्थान की निरन्तर वृद्धि से और प्रदेशों की अंतर वृद्धि से बना हुआ है, तो इन दोनों में से कौन सा स्पर्धक कितना अधिक है ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रदेशोदयावलिका और स्थितिघात संबंधी स्पर्धकों से योगस्थानकृत बद्ध दलिक संबंधी स्पर्धक दो समयोन आवलिका के समय प्रमाण अधिक हैं। क्योंकि उदयावलिका और स्थितिघात संबंधी स्पर्धक एक आवलिका प्रमाण हैं और बद्ध सत्दलिक के स्पर्धक दो समयोन दो आवलिका प्रमाण हैं। अतः बद्धदलिक स्पर्धक दो समयोन आवलिका समय जितने अधिक हैं।

और वहां देशविरति और सर्वविरति को बहुत बार प्राप्त कर और चार बार मोहनीय की उपशमना कर तथा एक सौ बत्तीस सागरोपम काल तक सम्यक्त्व का परिपालन कर सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते हुए नपुंसकवेद के साथ क्षपकश्रेणी पर चढ़ा तब नपुंसकवेद की प्रथत स्थिति के द्विचरम समय में वर्तमान होने पर ऊपरितन स्थितिखंड को अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त किया। ऐसा होने पर ऊपर की स्थिति सम्पूर्ण रूप से निर्लेप कर दी, तब प्रथमस्थिति के अन्तिम समय में जो सर्व जघन्य प्रदेशसत्व होता है, वह प्रथम प्रदेशसत्व है। तत्पश्चात् उसमें एक परमाणु के प्रक्षेप करने पर दूसरा प्रदेशसत्वस्थान होता है। दो परमाणुओं के प्रक्षेप करने पर तीसरा प्रदेशसत्वस्थान होता है। इस प्रकार नाना जीवों की अपेक्षा से एक परमाणु की वृद्धि करते हुए प्रदेशसत्वस्थान अनन्त तब तक कहना चाहिए जब तक कि गुणितकर्मांश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। यह एक स्पर्धक है। (क्योंकि यह स्पर्धक मात्र प्रदेशापेक्षा प्रथमस्थिति में बना हुआ है)

इसके पश्चात् द्वितीयस्थिति के चरम खंड को संक्रान्त करते हुए अंतिम समय में पूर्वोक्त प्रकार से जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्वस्थान होता है, उसे सादि करके नाना जीवों की अपेक्षा यथा-संभव उत्तरोत्तर वृद्धि के लगातार प्रदेशसत्वस्थान तब तक कहना चाहिए जब तक गुणितकर्मांश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। उन सबका समुदाय दूसरा स्पर्धक है।[१]

अथवा जब तक प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थिति विद्यमान रहती है तब तक एक स्पर्धक जानना चाहिये और द्वितीयस्थिति के क्षीण होने पर तथा प्रथमस्थिति के समय मात्र शेष रह जाने पर दूसरा स्पर्धक जानना चाहिए।

इसी तरह दो प्रकार से स्त्रीवेद के भी दो स्पर्धक जानना चाहिये।

पुरुषवेद के भी दो स्पर्धक होते हैं। किन्तु उसमें जो विशेषता है उसको स्पष्ट करते हैं—

उदयकाल के अंतिम समय में जघन्य प्रदेशसत्व आदि करके नाना जीवों की अपेक्षा एक एक परमाणु की वृद्धि से लगातार प्रदेशसत्वस्थानों को तब तक कहना चाहिये जब तक कि गुणितकर्मांश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। ये सर्व प्रदेशसत्वस्थान अनन्त होते हैं। ये सब मिलाकर एक स्पर्धक कहलाते हैं। पुनः उदय के चरम समय में द्वितीयस्थिति के चरम खंड के संक्रान्त किये जाते हुए सर्वजघन्य प्रदेशसत्वस्थान को आदि करके पहले के समान दूसरा स्पर्धक कहना चाहिए। किन्तु 'अहिगा पुरिसस्स त्ति' अर्थात् पुरुषवेद के अधिक भी स्पर्धक होते

---

१. यह स्पर्धक अन्त्य समय में द्वितीयस्थिति के संक्रम से द्वितीय स्थिति में बना हुआ है। इस द्वितीयस्थिति का संक्रम भी प्रथमस्थिति के उपान्त्य समय में सम्पूर्ण होता है।

हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

'वे उ आवलिया...' इत्यादि अर्थात् सम्पूर्ण योगस्थान के समुदाय को दो समय कम दो आवलिकाओं के द्वारा गुणित किया जाये और गुणित करने पर जितने सम्पूर्ण योगस्थानों का समुदाय होता है, उतने स्पर्धक अधिक होते हैं, यानी दो समय कम दो आवलिका के समय प्रमाण अधिक होते हैं। वे इस प्रकार हैं – पुरुषवेद के बंध, उदय आदि के विच्छेद होने पर दो समय कम दो आवलिकाबद्ध पुरुषवेद के दलिक विद्यमान रहते हैं। इसलिये अवेदक होते हुए उस क्षपक जीव के संज्वलनत्रिक में कहे गये प्रकार से योगस्थानों की अपेक्षा दो समय कम दो आवलिका समय प्रमाण स्पर्धक जानना चाहिये।

ऊपर कहे गये और आगे कहे जाने वाले स्पर्धकों का सामान्य रूप से लक्षण कहते हैं –

सव्वजहन्नाढत्तं, खंधुत्तरओ निरंतरं उप्पिं।
एगं उव्वलमाणि, लोभ जसा नोकसायाणं॥४७॥

शब्दार्थ – **सव्वजहन्नाढत्तं** – सर्वजघन्य (प्रदेशसत्वस्थान) से आरम्भ करके, **खंधुत्तरओ**– उत्तर में एक एक स्कंध से, **निरंतरं** – निरन्तर, **उप्पिं** – ऊपर (आगे) **एगं** – एक, **उव्वलमाणि** – उद्वलन योग्य, **लोभ जसा** – संज्वलनलोभ, यशकीर्ति, **नोकसायाणं** – नोकषायों का।

गाथार्थ – सर्वजघन्य प्रदेशसत्वस्थान से आरम्भ करके आगे सर्वोत्कृष्ट स्थान पर्यन्त निरन्तर रूप से उत्तर में एक एक स्कंध से अधिक प्रदेशसत्वस्थान जानना चाहिये। उद्वलन योग्य (तेईस) प्रकृतियों, संज्वलन-लोभ, यशःकीर्ति और छह नोकषायों का एक एक स्पर्धक होता है।

विशेषार्थ – सर्वजघन्य प्रदेशसत्वस्थान से आरम्भ कर एक एक कर्मस्कंध के द्वारा उत्तरतः अर्थात् पूर्व पूर्व कर्मस्कंध से आगे आगे बढ़ता हुआ प्रदेशसत्वस्थान तब तक निरन्तर बढ़ाते हुए कहना चाहिए, जब तक कि उप्पिं-अर्थात् उपरितन सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। इसका भावार्थ यह है कि-सर्वजघन्य प्रदेशसत्वस्थान से आरम्भ करके योगस्थानों की अपेक्षा एक एक कर्मस्कंध से बढ़ाते हुए प्रदेशसत्वस्थान तब तक निरन्तर कहना चाहिए जब तक उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है।

यहां एक एक कर्मस्कंध से उत्तरोत्तर वृद्धि का जो कथन किया है, वह योगस्थान के वश से प्राप्त होने वाले स्पर्धकों की अपेक्षा से कहा है, अन्यथा चरमावलि पविट्ठा इत्यादि में जो स्पर्धक कहे हैं, उनमें एक एक प्रदेश से उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार सामान्य से स्पर्धकों के लक्षण का विचार किया गया। अब उद्वलन योग्य प्रकृतियों के स्पर्धकों को बतलाते हैं कि 'एगं उव्वलमाणि' अर्थात् उद्वलन की जाने वाली तेईस प्रकृतियों का एक एक स्पर्धक होता है। उनमें से पहले सम्यक्त्वप्रकृति के लिये विचार करते हैं –

अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थितिसत्व वाला कोई जीव त्रसों में उत्पन्न हुआ, वहां सम्यक्त्व को और देशविरति को अनेक बार प्राप्त कर और चार बार मोहनीय कर्म को उपशमा कर तथा एक सौ बत्तीस सागरोपम तक सम्यक्त्व का परिपालन कर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् दीर्घ उद्वलना काल से सम्यक्त्व का उद्वलन करते हुए जब चरमखंड संक्रान्त किया और एक उदयावलिका शेष रहती है तब उसे भी स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा मिथ्यात्व में संक्रान्त करता है और संक्रान्त करते हुए जो दो समय मात्र अवस्थान वाली एक स्थिति जब शेष रहती है तब वह सम्यक्त्व प्रकृति का जघन्य प्रदेशसत्वस्थान है। तत्पश्चात् नाना जीवों की अपेक्षा एक एक प्रदेश की वृद्धि से प्रदेशसत्वस्थान तब तक ले जाना चाहिये जब तक गुणितकर्मांश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। इन सब प्रदेशसत्वस्थानों का समुदाय एक स्पर्धक कहलाता है।

इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के भी प्रदेशसत्वस्थान और इसी प्रकार यशःकीर्ति के एक स्पर्धक का कथन जानना चाहिये एवं इसी तरह शेष जो उद्वलन के योग्य वैक्रियएकादशक, आहारकसप्तक, उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक ये इक्कीस प्रकृतियां हैं, उनके भी प्रदेशसत्वस्थान और स्पर्धक जानना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाण सम्यक्त्व का काल मूल में नहीं कहना चाहिये।

लोभ जसा इत्यादि अर्थात् संज्वलनलोभ और यशःकीर्ति का भी एक स्पर्धक होता है। वह इस प्रकार से जानना चाहिये, वही अभवसिद्धिकप्रायोग्य जघन्य स्थितिसत्व वाला कोई जीव त्रसों में उत्पन्न हुआ और वहां पर चार बार मोहनीय कर्म के उपशम के बिना शेष क्षपितकर्मांश की सभी क्रियाओं द्वारा बहुत से कर्मदलिक का क्षय करके और दीर्घ काल तक संयम का पालन करके कर्म क्षपण के लिये उद्यत हुआ, उस क्षपक को यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में जघन्य प्रदेशसत्व होता है। तत्पश्चात् वहां से आरम्भ करके नाना जीवों की अपेक्षा एक एक प्रदेश की वृद्धि से निरन्तर प्रदेशसत्वस्थान तब तक कहना चाहिये जब तक गुणितकर्मांश जीव का उत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार संज्वलन लोभ और यशःकीर्ति का एक एक स्पर्धक जानना चाहिये।

'नोकसायाणं' अर्थात् छह नोकषायों का भी प्रत्येक का एक एक स्पर्धक होता है और वह इस प्रकार है – वही अभवसिद्धिकप्रायोग्य जघन्य प्रदेशसत्व वाला कोई जीव त्रसों में उत्पन्न

हुआ। वहां पर सम्यक्त्व और देशविरति को अनेक बार प्राप्त कर और चार बार मोहनीय को उपशमा कर स्त्रीवेद और नपुसंकवेद को बार बार बंध से और संक्रमण के द्वारा हास्यादि षट्क के दलिकों के बहुत से परिमाण को पूरा कर मनुष्य हुआ और वहां चिरकाल तक संयम का परिपालन कर कर्मक्षपण के लिये उद्यत हुआ। तब उस क्षपक के चरमखंड के अंतिम समय में जो छहों नोकषायों का एक एक प्रदेश सत्व विद्यमान है, वह उन नो कषायों का सर्वजघन्य प्रदेशसत्वस्थान है। तदनन्तर उस सर्वजघन्य प्रदेशसत्वस्थान से लेकर नाना जीवों की अपेक्षा एक एक प्रदेश की वृद्धि से लगातार अनन्त प्रदेशसत्वस्थान तब तक कहना चाहिये जब तक कि गुणितकर्मांश का उत्कृष्टप्रदेशसत्व प्राप्त होता है। इस प्रकार छहों नोकषायों का एक एक स्पर्धक होता है –

अब मोहनीय कर्म का छोड़कर शेष घाति कर्मों के स्पर्धकों का निरुपण करते हैं –

ठिइखंडगविच्छेया, खीणकसायस्स सेसकालसमा।
एगहिया घाईणं, निद्दा पलयाण हिच्चेकं ॥४८॥

शब्दार्थ - **ठिइखंडगविच्छेया** – स्थितिखंड के विच्छेद से, **खीणकसायस्स** – क्षीणकषायी जीव के, **सेसकालसमा** – शेष रहे काल के समय से, **एगहिया** – एक अधिक, **घाईणं** – घाति प्रकृतियों के, **निद्दापयलाण** – निद्रा और प्रचला के, **हिच्चेकं** – एक (स्पर्धक) छोड़कर।

गाथार्थ – क्षीणकषायी जीव के स्थितिखंड के विच्छेद से शेष रहे हुए काल के समय से एक स्पर्धक अधिक घातिकर्मों के स्पर्धक होते हैं। किन्तु निद्रा और प्रचला के एक स्पर्धक को छोड़कर स्पर्धक कहना चाहिये।

विशेषार्थ – क्षीणकषाय संयत के स्थितिखंड-विच्छेद से अर्थात् स्थितिघात का विच्छेद होने के पश्चात् जो शेष काल रहता है, उसके समान अर्थात् शेषकाल के जितने समय होते हैं, उनसे एक अधिक स्पर्धक घातिकर्मों के होते हैं। निद्रा और प्रचला के एक अंतिम स्थितिगत स्पर्धक को छोड़कर शेष स्पर्धक कहना चाहिये। क्योंकि निद्रा और प्रचला के उदय का अभाव होने से अपने स्वरूप की अपेक्षा चरम समय में उनके दलिक नहीं पाये जाते हैं, किन्तु परप्रकृति रुप से पाये जाते हैं। इसलिये उन दोनों का एक अंतिम स्थितिगत दलिक छोड़ा गया है।

अब उक्त कथन का विशेषता के साथ स्पष्टीकरण करते हैं –

क्षीणकषाय गुणस्थान के काल के संख्यातवें भागों के बीत जाने पर एक संख्यातवें भाग के जो कि अर्न्तमुहूर्त प्रमाण है, शेष रहने पर ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क और अन्तरायपंचक

इन चौदह प्रकृतियों का स्थितिसत्व सर्वापवर्तना के द्वारा अपवर्तित कर क्षीणकषाय के शेष काल के समान करता है और निद्रा एवं प्रचला का स्थितिसत्व उनसे एक समय कम करता है। उस समय स्थितिघात आदि सर्व कार्य विशेष निवृत्त हो जाते हैं और जो भी क्षीणकषाय के काल के समान स्थितिसत्व अपवर्तनाकरण से अपवर्तित करके किया गया है, वह भी क्रम से यथासंभव उदय और उदीरणा के द्वारा क्षय को प्राप्त होता हुआ तब तक कहना चाहिये जब तक एक स्थिति शेष रहती है। उस स्थिति में क्षपितकर्मांश का जो सर्वजघन्य प्रदेशसत्व है, वह प्रथम प्रदेशसत्वस्थान है। तत्पश्चात् उसमें एक परमाणु के प्रक्षेप करने पर दूसरा प्रदेशसत्वस्थान होता है। इस प्रकार एक एक परमाणु की वृद्धि से लगातार प्रदेशसत्वस्थान तब तक कहना चाहिये जब तक गुणितकर्मांश का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। इन सब सत्वस्थानों का समुदाय रूप एक स्पर्धक होता है। दो स्थितियों के शेष रहने पर उक्त प्रकार से दूसरा स्पर्धक होता है। तीन स्थितियों के शेष रहने पर तीसरा स्पर्धक होता है। इस प्रकार क्षीणकषाय गुणस्थान के काल बराबर किये गये प्रदेशसत्व में जितने स्थितिभेद होते हैं, उतने ही स्पर्धक कहना चाहिये और अंतिम स्थितिघात के चरम प्रक्षेप को आदि करके पश्चातानुपूर्वी से प्रदेशसत्वस्थान यथोत्तर बढते हुए तब तक कहना चाहिए जब तक अपना अपना सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। इसी कारण स्थितिघात के विच्छेद से परे क्षीणकषाय काल के समय प्रमाण स्पर्धक उससे अधिक प्राप्त होते हैं।

लेकिन 'निद्दापयलाण हिच्चेकं' अर्थात निद्रा और प्रचला के एक स्पर्धक को छोड़कर स्पर्धक कहना चाहिये यानि निद्रा प्रचला के स्पर्धक द्विचरम स्थिति को आश्रय करके यह कहना चाहिये। क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान के अंतिम समय में निद्रा और प्रचला के दलिक नहीं पाये जाते हैं। इसलिये इनके स्पर्धक शेष घातिकर्मों के स्पर्धकों से एक कम जानना चाहिये यथा –

सेलेसिसंतिगाणं, उदयवईणं तु तेण कालेणं।
तुल्ला णेगहियाइं, सेसाणं एगऊणाइं॥४९॥

शब्दार्थ – **सेलेसिसंतिगाणं** – शैलेशी-अवस्था में सत्ता वाली, **उदयवईणं** – उदयवती प्रकृतियों के, **तु** – किन्तु, **तेण कालेणं** – उसके काल से, **तुल्ला** – तुल्य, **णेगहियाइं** – और एक अधिक, **सेसाणं** – शेष (अनुदयवती में), **एगऊणाइं** – एक स्पर्धक हीन।

गाथार्थ – शैलेशी-अवस्था में सत्ता वाली उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक उसके काल के तुल्य और एक स्पर्धक अधिक होते हैं। किन्तु शेष अनुदयवती प्रकृतियों के उससे एक कम होते हैं।

विशेषार्थ – अयोगिकेवली की अवस्था को शैलेशी कहते हैं और उस शैलेशी-अवस्था

में जिन प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है, वे प्रकृतियां शैलेशीसत्ता वाली कहलाती हैं – **शैलेशी अयोग्यावस्था तस्यां सत्ता यासां प्रकृतीनां ताः शैलेशीसत्ताकाः**। वे दो प्रकार की हैं – उदयवती और अनुदयवती। उदयवती प्रकृतियां बारह हैं, यथा – मनुष्यगति, मनुष्यायु पंचेन्द्रिय जाति, त्रस सुभग, आदेय, पर्याप्त, बादर, यशकीर्ति, तीर्थकर, उच्चगोत्र और साता-असाता वेदनीय में से कोई एक, इन उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक अयोगिकाल के तुल्य और एक एक अधिक होते हैं। अर्थात् अयोगिगुणस्थान के काल में जितने समय होते हैं, उतने स्पर्धक और एक अधिक स्पर्धक होते हैं।

प्रश्न – यह कैसे सम्भव है ?

उत्तर – अयोगिकेवली के चरम समय में क्षपितकर्मांश जीव की अपेक्षा जो सर्व जघन्य प्रदेशसत्वस्थान है, वह प्रथम सत्वस्थान है। पुनः उसमें एक परमाणु के प्रक्षेप करने पर दूसरा प्रदेशसत्वस्थान होता है। इस प्रकार नाना जीवों की अपेक्षा एक एक प्रदेश की वृद्धि से तब तक प्रदेशसत्वस्थान जानना चाहिये, जब तक कि गुणितकर्मांश जीव का सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्वस्थान प्राप्त होता है। इन समस्त सत्वस्थानों का समुदाय एक स्पर्धक है। पुनः इसी प्रकार दो शेष रही स्थितियों का दूसरा स्पर्धक होता है। तीन स्थितियों में तीसरा स्पर्धक होता है। इस प्रकार लगातार अयोगिकेवली के प्रथम समय तक जानना चाहिये तथा सयोगिकेवली के चरम समय में चरम स्थितिखंड सम्बंधी चरम प्रक्षेप को आदि करके जब तक अपना अपना सर्वोत्कृष्ट प्रदेशसत्व प्राप्त होता है तब तक यह भी समस्त अपनी अपनी स्थितिगत एक एक स्पर्धक जानना चाहिये। इसलिये अयोगिकेवली गुणस्थान के जितने समय होते हैं, उतने ही एक अधिक स्पर्धक प्रत्येक उदयवती प्रकृतियों के होते हैं।

शेष जो अनुदयवती तिरासी प्रकृतियां हैं, उनके स्पर्धक उदयवती प्रकृतियों के स्पर्धकों से एक कम होते हैं। क्योंकि वे अनुदयवती प्रकृतियां अयोगिकेवली के चरम समय में उदयवती प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रमण से संक्रान्त हो जाती हैं। इसलिये उनका चरम समय सम्बन्धी स्पर्धक प्राप्त नहीं होता है। अतः उससे हीन अनुदयवती प्रकृतियों के स्पर्धक होते हैं।

यद्यपि मनुष्यगति आदि प्रकृतियों के स्पर्धकों की प्ररूपणा एगं उव्वलमाणि इत्यादि गाथा के द्वारा पूर्व में की जा चुकी है तथापि यहां पर भी उनके स्पर्धक पाये जाते हैं। इसलिये उनका पुनः ग्रहण किया गया है।

इसी प्रकार बंधन आदि करणों में भी यथासंभव स्पर्धकों का कथन करना चाहिए।

अब इसी बात का स्पष्टीकरण स्वयं ग्रंथकार करते हैं –

संभवतो ठाणाइं, कम्मपएसेहिं होंति नेयाइं।
करणेसु य उदयम्मि. य, अणुमाणेणेवमेएणं॥ ५०॥

शब्दार्थ – **संभवतो** – संभवतः (यथासम्भव), **ठाणाइं** – (प्रदेशसत्व) स्थान, **कम्मपएसेहिं** – कर्मप्रदेशों की अपेक्षा से, **होंति** – होते हैं, **नेयाइं** – जानना चाहिये, **करणेसु**– करणों में, **य** – और, **उदयम्मि** – उदय में, **य** – और, **अणुमाणेण** – अनुमान द्वारा, **एवमेएणं**– इसी प्रकार से।

गाथार्थ – इसी प्रकार अनुमान द्वारा संभवतः (यथासम्भव) बंधन आदि करणों में और उदय में कर्मप्रदेशों की अपेक्षा प्रदेशसत्वस्थान जानने योग्य हैं।

विशेषार्थ – संभवतः अर्थात् संभावना का आश्रय करके स्थान यानि प्रदेशसत्वस्थान बंधन आदि आठों करणों में और उदय में कर्मप्रदेशों की अपेक्षा जानना चाहिये।

यह कैसे सम्भव है ? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्व प्रदर्शित प्रकार से पूर्वोत्कृष्ट अनुमान द्वारा जानना चाहिये। वह इस प्रकार है – बंधनकरण में जघन्य योगस्थान को आदि करके उत्कृष्टयोगस्थान तक जितने प्रदेशसत्वस्थान बंध के आश्रय से प्राप्त होते हैं, उतने स्थानों का एक स्पर्धक है। इसी प्रकार संक्रमण आदि प्रत्येक करण में यथायोग्य योगस्थान जान लेना चाहिये।

करणोदयसंताणं, पगइट्ठाणेसु सेसगतिगे य।
भूयक्कारप्पयरो, अवट्ठिओ तह अवत्तव्वो ॥ ५१॥

शब्दार्थ – **करणोदयसंताणं** – करणों के, उदय के, सत्ता के, **पगइट्ठाणेसु** – प्रकृतिस्थानों में, **सेसगतिगे** – शेष तीन स्थानों में, **य** – और, **भूयक्कारप्पयरो** – भूयस्कार, अल्पतर, **अवट्ठिओ** – अवस्थित, **तह** – तथा, **अवतव्वो** – अवक्तव्य।

गाथार्थ – करणों के, उदय के और सत्ता के प्रकृतिस्थानों में और शेष तीन स्थानों में भूयस्कर, अल्पतर, अवस्थित तथा अवक्तव्य ये चार विकल्प जानना चाहिये।

विशेषार्थ – आठों करणों के, उदय और सत्ता के प्रकृतिस्थानों में तथा सेसगतिगे य अर्थात् स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन तीन स्थानों में प्रत्येक में चार चार विकल्प जानना चाहिये, यथा – भूयस्कर, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य।

इन चारों का लक्षण इस प्रकार है –

एगादहिगे पढमो, एगाईऊणगम्मि बिइओउ।
तत्तियमेत्तो, तईओ, पढमे समए अवत्तव्वो॥५२॥

शब्दार्थ – **एगादहिगे** – एक आदि से अधिक, **पढमो** – प्रथम (भूयस्कार) **एगाई उणगम्मि** – एक आदि से हीन, **बिइओ** – द्वितीय (अल्पतर) **उ** – और, **तत्तियमेत्तो** – उतना ही यह, **तईओ** – तृतीय (अवस्थित), **पढमे समए** – पहले समय में, **अवत्तव्वो** – अवक्तव्य।

गाथार्थ – एक आदि प्रकृति के अधिक बंधादि होने पर प्रथम (भूयस्कार) होता है। एकादि प्रकृति से हीन बंधादि होने पर द्वितीय (अल्पतर), उतना ही बंध आदि होना यह तृतीय (अवस्थित) और बंधादि का विच्छेद होने के अनन्तर पुनः बंधादि होने पर प्रथम समय में अवक्तव्य विकल्प होता है।

विशेषार्थ – यहां बंध का आश्रय करके भूयस्कार आदि विकल्पों का विचार किया जाता हैं।

बंध दो प्रकार का है – मूल प्रकृतियों का बंध और उत्तर प्रकृतियों का बंध। इनमें से मूल प्रकृतियों का बंध कदाचित् आठ का होता है, कदाचित् सात का, कदाचित् छह का और कदाचित् एक का भी होता है। इनमें जब अल्प प्रकृतियों को बांधकर जीव परिणाम विशेष से बहुत प्रकृतियों को बांधता है, जैसे सात को बांधकर आठ को बांधता है, अथवा छह या एक को बांधकर सात को बांधता है तब वह बंध भूयस्कर कहलाता है कहा भी है – १ एगादहिगे पढमो, अर्थात् एक आदि अधिक यानि , एक, दो, तीन आदि प्रकृतियों से अधिक बंध होने पर प्रथम प्रकार अर्थात भूयस्कारबंध होता है। जब बहुत प्रकृतियों को बांधता हुआ जीव परिणाम विशेष से अल्प प्रकृतियों को बांधना प्रारम्भ करता है, जैसे आठ को बांधकर सात को बांधता है, अथवा सात को बांधकर छः को बांधता है, अथवा छः को बांधकर एक को बांधता है, तब वह बंध अल्पतर कहलाता है। जैसा कि कहा है – 'एगाई उणगम्मि बिइओ उ' एक, दो, तीन आदि प्रकृतियों से कम बंध होने पर दूसरा प्रकार अर्थात् अल्पतर बंध, द्वितीयादि समयों में उतने ही प्रमाण से प्रवर्तमान रहता है तब वह अवस्थित बंध कहा जाता है। जैसा कि कहा है – 'ततियमेतो तइओ' अर्थात् तन्मात्र प्रमाण वाला बंध तीसरा अवस्थित बंध है।

ये तीनों प्रकार के बंध मूल प्रकृतियों के सम्भव हैं, किन्तु चौथा अवक्तव्य-बंध सम्भव नहीं है। क्योंकि सभी मूल प्रकृतियों का बंधविच्छेद होने पर पुनः उनका बंध सम्भव नहीं है, जिससे चौथा अवक्तव्य बंध हो। इसलिए यह अवक्तव्य बंध उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा जानना

चाहिये यथा – मोहनीय की तद्गत सभी उत्तर प्रकृतियों के बंधविच्छेद होने पर उपशांतमोह गुणस्थान से गिरने पर पुनः बंध आरम्भ करने के प्रथम समय में जो बंध होता है, उसे उस समय न भूयस्कार कह सकते है, न अल्पतर और न अवस्थित ही क्योंकि उस बंध में इन भूयस्कार आदि तीनों का लक्षण नहीं पाया जाता है। इसलिये वह अवक्तव्य बंध कहलाता है। क्योंकि अबंध के पश्चात होने वाले बंध को भूयस्कार आदि नाम से कहना अशक्य है। इसी प्रकार वेदनीय को छोडकर ज्ञानावरणादि शेष कर्मो की उत्तर प्रकृतियों के अवक्तव्य बंध का विचार कर लेना चाहिये। वेदनीय का तो अवक्तव्य बंध संभव नहीं है। क्योंकि उसका सर्वथा बंधविच्छेद सयोगिकेवली के चरम समय में होता है और वहां से उनका प्रतिपात नहीं होता है। जिससे कि बंध प्रारम्भ होकर प्रथम समय में अवक्तव्य कहा जाये।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों के आश्रय से अवक्तव्य को छोडकर शेष तीन प्रकार होते हैं, किन्तु उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा चारों ही प्रकार संभव हैं।[१]

जिस प्रकार बंध में चारों प्रकार का कथन किया गया है, उसी प्रकार संक्रम में, उद्वर्तना में, अपवर्तना में, उदीरणा में, उपशमना में, उदय में और सत्ता में प्रकृतिस्थानों में, स्थितिस्थानों में अनुभागस्थानों में और प्रदेशस्थानों में भी विचार कर लेना चाहिये तथा –

करणोदयसंताणं, सामित्तोघेहिं सेसगं नेयं।
गईयाइमग्गणासुं संभवओ सुट्ठु आगमिय ॥ ५३॥

शब्दार्थ – **करणोदयसंताणं** – करण उदय और सत्व के, **सामित्तोघेहिं** – ओघस्वामित्व द्वारा, **सेसगं** – शेष, **नेयं** – जानना चाहिये, **गईयाइमग्गणासुं** – गति आदि मार्गणाओं में, **संभवओ** – यथासंभव, **सुट्ठु** – अच्छी तरह, **आगमिय** – विचार कर।

गाथार्थ – करण, उदय और सत्व के ओघस्वामित्व द्वारा गति आदि मार्गणाओं में यथासंभव अच्छी तरह विचार करके शेष कथन जानना चाहिये।

विशेषार्थ – आठों करणों का उदय और सत्ता का जो प्रत्येक का विस्तार सहित स्वरूप कहा है, उसे ओघस्वामित्व कहते है। इसलिये यथोक्त आठों करण, उदय और सत्ता व उन ओघस्वामित्वों को विचारकर शेष का भी जान लेना चाहिये। कहां और किसका जानना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि गति आदि चौदह मार्गणास्थानों में जानना चाहिये। उसे कैसे जानना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि यथासंभव रीति से अर्थात् जहां जैसा घटित हो, वहां उसी प्रकार से

१. मूल और उत्तर प्रकृतियों में भूयस्कार आदि बंधों का प्ररूप परिशिष्ट में देखिये।

जानना चाहिये, अन्य प्रकार से नहीं।

बंधोदीरणसंकम - संतुदयाणं जहन्नगाईहिं।
संवेहो पगइ ठिई, अणुभागपएसओ नेओ ॥ ५४॥

शब्दार्थ – **बंधोदीरणसंकम** – बंध उदीरण और संक्रम, **संतुदयाणं** – सत्ता और उदय का, **जहन्नगाईहिं** – जघन्य आदि विकल्पों के द्वारा, **संवेहो** – सवेध, **पगइठिई अणुभागपएसओ** – प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा, **नेओ** – जानना चाहिये।

गाथार्थ – बंध उदीरणा, संक्रमण, सत्ता और उदय का प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा जघन्य आदि के द्वारा संवेघ जानना चाहिये।

विशेषार्थ – बंध उदीरणा, संक्रमण सत्व और उदय इन पांच पदार्थों का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का आश्रय करके जघन्य, अजघन्य उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट पदों के द्वारा संवेध अर्थात परस्पर एक समय में अविरोध रूप से संमिलन जान लेना चाहिये, **संवेधः – परस्पर - मेककालमागमाविरोधेनमीलनं।** जैसे – ज्ञानावरणकर्म का जघन्य स्थितिबंध होने पर जघन्य अनुभागबंध होता है, जघन्य प्रदेशबंध होता है और अजघन्य स्थिति उदीरणा, स्थितिसंक्रम, स्थितिसत्व और स्थिति उदय होता है इत्यादि रूप से इन पांचों पदार्थो का परस्पर सम्बन्ध एक समय में मिलाने रूप संबंध पूर्वापर संबंध को सम्यक् प्रकार से विचार कर जान लेना चाहिये।[१]

इस प्रकार सत्ता का विवेचन जानना चाहिये और इसके वर्णन के साथ ही ग्रंथ के प्रारम्भ में जो – **कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदयसंताणि वोच्छामि** अर्थात् मैं आठ कर्मो सम्बन्धी आठ करणों को और उदय तथा सत्ता को कहूंगा – प्रतिज्ञा की थी उसका भी पूर्णरूपेण समर्थन किया जा चुका है।

उपसंहार

अब अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के पश्चात् ग्रथकार ग्रंथ का उपसंहार करने के प्रसंग में सर्वप्रथम इस कर्मप्रकृति करण के परिज्ञान से होने वाली विशिष्ट फलप्राप्ति का कथन करते हैं–

करणोदयसंतविउ, तन्निजरकरण - संजमुज्जोगा।
कम्मट्ठगुदयनिट्ठा- जणियमणिट्ठं सुहमुवेंति ॥ ५५॥

शब्दार्थ – **करणोदयसंतविउ** – करण उदय और सत्ता को जानने वाला,

---

१. संवेध का प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

तन्निजरकरणसंजमुज्जोगा – उनकी निर्जरा करने के लिये संयम में तत्पर, **कम्मट्ठगुदयनिट्ठा**– अष्टकर्मों के उदय की समाप्ति, **जणियमणिट्ठं** – उत्पन्न मनोवांछित, **सुहुमुवेंति** – सुख को प्राप्त करता है।

गाथार्थ – करण, उदय और सत्ता को जानने वाला उनकी निर्जरा करने के लिये संयम में तत्पर अष्ट कर्मों के उदय की समाप्ति से उत्पन्न मनोवांछित सुख को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ – 'करणोदय' इत्यादि अर्थात् जिनका स्वरूप पूर्व में कहा गया है, उन आठों करणों के तथा उदय और सत्व के सम्यक् परिज्ञान से युक्त तथा 'तनिज्जरकरण संजमुज्जोगा त्ति' अर्थात् उन करणों तथा कर्मों के उदय और सत्ता की निर्जरा करने के लिये संयम में जो उद्यत हैं वे जीव आठों कर्मों के उदय की अर्थात् बंध उदय और सत्ता की निष्ठा यानी क्षय से जनित उत्पन्न हुए मन को इष्ट अथवा अणिट्ठं अर्थात् जिसका अंत नहीं है ऐसे अन्तरहित अनन्त मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को इस प्रकरण का अवश्य ही निरन्तर अभ्यास करना चाहिये और अभ्यास करके यथाशक्ति संयम के मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये और प्रवृत्त होते हुए संक्लिष्ट अध्यवसाय रूप कुमार्ग के परिहार में प्रयत्न करना चाहिये।

अब आचार्य अपनी उद्धतता का परिहार करते हुए और अन्य बहुश्रुत ज्ञानी आचार्यों से इस प्रकरण के अर्थ की पर्यालोचना के विषय में प्रार्थना करते हुए तथा बुद्धिमान शिष्यों को इस प्रकरण के विषय में उपादेय बुद्धि उत्पन्न करने के लिये इस प्रकरण की परम्परा सर्वज्ञमूलक है यह प्रगट करते हैं।

इय कम्मप्पगडीओ, जहासुयं नीयमप्पमइणा वि ।
सोहियणाभोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नू॥ ५६॥

शब्दार्थ – **इय** – इस प्रकार, **कम्मप्पगडीओ** – कर्मप्रकृति प्राभृत से, **जहासुयं** – जैसा सुना, **नीय-मप्प-मइणा** – अल्पमति के द्वारा लेकर, **वि** – भी, **सोहियणाभोगकयं** – अनाभोग (अनुपयोग) से कहा गया हो तो उसको शुद्ध करके, **कहतुं** – कथन करें, **वरदिट्ठिवायन्नू**– उत्तम दृष्टिवाद के ज्ञाता।

गाथार्थ - इस प्रकार मुझ अल्पज्ञ ने अपनी अल्पमति के द्वारा जैसा भी गुरुमुख से सुना है, उसी प्रकार से कर्मप्रकृतिप्राभृत में से इस प्रकरण की रचना की है। इसमें जो अनुपयोग से कहा गया हो तो उत्तम दृष्टिवाद के ज्ञाता उसको शुद्ध करके कथन करें। अथवा –

इस प्रकार मुझ अल्पबुद्धि ने, अपने शास्त्रज्ञान के अनुसार अपनी अल्पमति द्वारा इस कर्मप्रकृति नामक प्रकरण को सम्पन्न किया है। इसमें अनुपयोग से कुछ अन्यथा कहा गया हो तो उत्तम दृष्टिवाद अंग के ज्ञाता आचार्य शुद्ध करके कथन करने की कृपा करें।

विशेषार्थ – अल्पबुद्धि होते हुए और गुरुमुख के चरणकमलों की उपासना करते हुए गुरु के पाद्मूल में रहकर जैसा मैंने इसे कर्मप्रकृति नामक प्राभृत से श्रवण किया है, (दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग में चौदह पूर्व हैं, उनमें से अनेक वस्तु (अध्याय विशेष) सहित दूसरे अग्राह्यणीय नामक पूर्व में बीस प्राभृत परिणामवाली पांचवी वस्तु है, उसमें चौबीस अनुयोगद्वार युक्त कर्म प्रकृति नामक चौथा प्राभृत है) उसमें से मैंने यह प्रकरण नीत अर्थात आकृष्ट किया है। इस प्रकरण में अनाभोग (असावधानी) जनित यदि कुछ भी स्खलन हुआ हो, क्योंकि प्रयत्न करने पर भी आवरण कर्म की सामर्थ्य से छद्मस्थ जीव के अनाभोग संभव है, तो अनाभोगजनित जो कुछ भी भूल-चूक हुई हो, उसे शोध कर अर्थात् दूर कर अर्थात् उत्तम श्रेष्ठ बुद्धि के अतिशय से संपन्न दृष्टिवादज्ञ अर्थात् द्वादशांग के वेत्ता आचार्य मेरे ऊपर महान अनुग्रहबुद्धि रखकर जहां जो पद आगम के प्रतिकूल हो उसे दूर कर और वहां पर आगम के अनुसार दूसरा पद रखकर निर्देश करें कि यहां यह पद समीचीन है और यह नहीं। किन्तु मेरे ऊपर उपेक्षा रूपी अप्रसाद करने की कृपा न करें।

'इय कम्मप्पगडीओ' इत्यादि वाक्य से इस प्रकरण की सर्वज्ञमूलकता प्रगट की गई जानना चाहिये। क्योंकि भगवान ने दृष्टिवाद को साक्षात रूप से और सूत्ररूप से सुधर्मास्वामी ने कहा है। कर्मप्रकृतिप्राभृत दृष्टिवाद के अन्तर्गत है और उससे यह प्रकरण उद्धृत किया गया है, इसलिये यह परम्परा से सर्वज्ञमूलक है। अर्थात् इसके मूलप्रणेता सर्वज्ञ हैं।

उत्तम साहित्यकारों की परम्परा है कि शास्त्र के आदि में, मध्य में और अंत में मंगल अवश्य करना चाहिये। क्योंकि आदि में मंगल कहने पर शास्त्र निर्विघ्न समाप्ति को प्राप्त होता है, मध्य में मंगल के कथन से शिष्य, प्रशिष्य आदि की परम्परागत से स्थिरता प्राप्त होती है और अंत में मंगल कथन के प्रभाव से शिष्य-प्रशिष्ययादि के द्वारा अवधारण किया जाता हुआ शास्त्र उनके हृदय में चिरकाल तक भलीभांति स्थिर रहता है। इनमें से आदि मंगल तो सिद्धं सिद्धत्थ सुयं इत्यादि प्रथम गाथा के द्वारा कहा गया और मध्य मंगल अकरण अणुइन्नाए अणुयोगधरे पणिवयामि इस गाथा के द्वारा किया गया और अब अंत मंगल कहते हुए आचार्य ग्रंथ को समाप्त करते हैं –

जस्स वरसासणावयव-फरिस पविकसिय विमलमइकिरणा।
विमलंति कम्ममइले सो मे सरणं महावीरो॥ ५७॥

शब्दार्थ – **जस्स** – जिनके, **वरसासणावयव** – उत्तम शासन रुपी अवयव, **फरिस** – स्पर्श, **पविकसिय** – प्रविकसित, **विमलमइकिरणा** – निर्मल बुद्धिरूपी किरणें, **विमलंति** – विमल कर देती हैं, **कम्ममइले** – कर्मों से मलीन, **सो** – वे, **मे** – मुझे, **सरणं** – शरणभूत, **महावीरो** – महावीर।

गाथार्थ – जिनके उत्तम शासन रूपी अवयव के स्पर्श से प्रविकसित निर्मल बुद्धिरूपी किरणें कर्मों से मलीन प्राणियों को विमल कर देती हैं, ऐसे वे महावीर प्रभु मुझे शरणभूत हों।

विशेषार्थ – जिन भगवान महावीर का जो अनुपम श्रेष्ठ शासन है उसके अवयव (एक अंश) के संस्पर्श से प्रकर्ष रूपेण विकसित अर्थात् उद्बोध को प्राप्त हुई और मिथ्याज्ञान रूप मल के दूर होने से निर्मलता को प्राप्त बुद्धि रूपी रश्मियां कर्ममलीन अर्थात् कर्म रूपी अंधकार से मलीमस प्राणियों को निर्मल करती हैं, ऐसे वे भगवान महावीर वर्धमान स्वामी संसार से भयभीत हुए मेरे लिये शरण अर्थात् परित्राण के कारण हैं। उनके सिवाय अन्य कोई मेरा त्राता-रक्षक नहीं है।

अतः कर्मक्षय के लिये अभय रूप धर्म का उपदेश देने वाले वे श्री वर्धमान जिनेन्द्र सदा जयवन्त हों।

कर्मप्रपंचं जगतोऽनुबन्धक्लेशावहं वीक्ष्य कृपापरीतः।
क्षयाय तस्योपदिदेश रत्नत्रयं स जीयाज्जिनवर्धमानः॥१॥

अर्थ – जगत के जीवों को निरन्तर क्लेश देने वाली कर्मपरंपरा को अपने केवलालोक में देखकर कृपालु भगवान महावीर ने उन कर्मों का क्षय करने के लिये ज्ञान-दर्शन चरित्र रूप रत्नत्रय का विवेचन किया। ऐसे जिनेश्वर सदा जयवत हों।

निरस्तकुमतध्वान्तं सत्पदार्थप्रकाशकम्।
नित्योदयं नमस्कुर्मो जैनसिद्धान्तभास्करम्॥ २॥

अर्थ – कुमतान्धकार का निराश करने वाले, सद्पदार्थ का प्रकाश करने वाले, नित्य उदय को प्राप्त जैनसिद्धान्तभास्कर, को नमस्कार करता हूँ।

पूर्वान्तर्गतकर्म - प्रकृतिप्राभृतसमुद्धृता येन।
कर्मप्रकृतिरियमतः श्रुतकेवलिगम्यभावार्था॥ ३॥

अर्थ – जिनके प्रभाव से पूर्वों के अन्तर्गत, कर्मप्रकृति नामक प्राभृत से प्रस्तुत कर्मप्रकृति

नामक ग्रंथ को उद्धृत किया गया है। जिसका सांगोपांग भावार्थ तो श्रुतकेवलीगम्य है।

ततः क्व चैषा विषमार्थयुक्ता क्व चाल्पशास्त्रोर्थकृतश्रमोऽहं।
तथापि सम्यग्गुरुसंप्रदायात् किंचित्स्फुटार्था विवृत्ता मयैषा॥४॥

अर्थ – कहां तो यह विषम-गंभीर अर्थ युक्त कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थ ? और कहां मैं अल्पशास्त्रों में कृत परिश्रम बाला ? तथापि सम्यक्गुरु के संप्रदाय सान्निध्य से प्रस्तुत ग्रन्थ की कुछ स्पष्ट व्याख्या मेरे द्वारा की गई।

कर्मप्रकृतिनिधानं बह्वर्थं येन माद्दशां योग्यम्।
चक्रे परोपकृतये श्री चूर्णिकृते नमस्तस्मै॥ ५॥

अर्थ – जिन्होंने परोपकार बुद्धि से कर्मप्रकृति रूप निधान को बह्वर्थ युक्त करके मेरे जैसों के लिए पठनीय किया है, ऐसे चूर्णिकार महाराज को नमस्कार करता हूँ।

एनामतिगंभीरां कर्मप्रकृतिं विवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः॥ ६॥

अर्थ – इस अतिगंभीर कर्मप्रकृति के वर्णन करने में मंगल अवस्था मलयगिरि ने प्राप्त की है। कर्मप्रकृति के अध्येता भी मोक्ष पाने के लिये मंगल प्राप्त करें।

अर्हन्तो मंगलं मे स्युः सिद्धाश्च मम मंगलं।
मंगलं साधवः सम्यग् जैनोधर्मश्च मंगलं॥ ७॥

अर्थ – अर्हन्त मेरे लिये मंगल रूप हैं। और सिद्ध भी मेरे लिये मंगल रूप हैं तथा सभी साधु मेरे लिये मंगल रूप हैं। सम्यक् प्रकार से यह जैनधर्म भी मेरे लिये मांगलिक रूप है।

इति मलयगिरि विरचित
कर्मप्रकृति टीका का हिन्दी अनुवाद
समाप्त

❑❑

परिशिष्ट

१.

१. मोहनीयकर्म के पतद्ग्रह स्थानों में संक्रमस्थानों और स्वामी की संकलना
२. कर्मप्रकृतियों के संक्रम योग्य गुणस्थान
३. मोहनीय कर्म के पतद्ग्रह स्थान में संक्रम स्थानों का यंत्र
४. उत्कृष्ट जघन्य स्थितिसंक्रम, यत्स्थिति प्रमाण एवं स्वामी दर्शक प्रारूप
५. स्थितिखंडों की उत्कीरणा विधि का सारांश
६. स्तिबुकसंक्रम और प्रदेशोदय में अंतर
७. दिगम्बर कर्मग्रन्थों में आगत संक्रमकरण की संक्षिप्त रूपरेखा

२.

१. उद्वर्तना संबंधी कुछ नियम
२. उद्वर्तना में निर्व्याघातभावी स्थिति के दलिक निक्षेपों की विधि
३. उद्वर्तना में व्याघातभावी स्थिति के दलिक निक्षेपों की विधि
४. निर्व्याघात अवस्था में स्थिति अपवर्तना में दलिक निक्षेप विधि
५. निर्व्याघातभावी और व्याघातभावी स्थिति अपवर्तना में अन्तर
६. व्याघातभावी स्थिति संबंधी स्पष्टीकरण
७. अनुभाग उद्वर्तना
८. अनुभाग अपवर्तना

३.

१. गुणस्थान में मोहनीयकर्म के उदीरणा स्थान और भंगों की संख्या का प्रारूप
२. जीवभेदों में नाम कर्म के उदीरणास्थान और भंगों की संख्या
३. उदीरणाकरण गाथा ८४ की व्याख्या

४.

१. विषमचतुरस्र स्थापना का प्रारूप एवं स्पष्टीकरण
२. मुक्तावली का प्रारूप और स्पष्टीकरण
३. षट्स्थान पतित का प्रारूप और स्पष्टीकरण
४. अपूर्वकरण में विशुद्धि स्थानों का स्पष्टीकरण
५. आठ भंगों के नाम और उनका स्पष्टीकरण
६. अनन्तानुबंधी के उपशमना विधान का स्पष्टीकरण
७. उपशमना के भेदों की व्याख्या
८. उपशमनाकरण गाथा २४ का स्पष्टीकरण

५.

१. उदयप्रकरण गाथा ३२ के सन्दर्भ में
२. सत्ताप्रकरण गाथा ४ से संबंधित
३. मूलकर्मबंध में बंधस्थान, उदयस्थान, सत्तास्थान प्रारूप
४. मूलकर्म के उदय में बंधस्थान, उदयस्थान, सत्तास्थान प्रारूप
५. मूलकर्म की सत्ता में बंधस्थान, उदयस्थान, सत्तास्थान का प्रारूप
६. बंधादि स्थानों के जघन्योत्कृष्ट काल का प्रारूप
७. बंधादि स्थान आश्रयी स्थानों का संबंध
८. क्षीयमाण प्रकृतिदर्शक प्रारूप
९. मूल एवं उत्तर प्रकृति आश्रित बंधादिचतुष्क में भूयस्करादि बंधचतुष्क का प्रारूप

६.

१. गाथानुक्रमणिका
२. ग्रन्थगत कतिपय विशिष्ट पारिभाषिक शब्द

१- मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थानों में संक्रमस्थानों और स्वामी की संकलना

(अश्रेणीगत)

पतद्ग्रहस्थान	संक्रमस्थान	स्वामी
२२ प्रकृतिक	२७ प्रकृतिक	मिथ्यादृष्टि
	२६ प्रकृतिक	मिथ्यादृष्टि
	२३ प्रकृतिक	मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय जीव
२१ प्रकृतिक	२५ प्रकृतिक	मिथ्यादृष्टि, सास्वादन सम्यग्दृष्टि चारों गति के जीव
१९ प्रकृतिक	२७ प्रकृतिक	अविरत सम्यग्दृष्टि
	२६ प्रकृतिक	अविरत सम्यग्दृष्टि
	२३ प्रकृतिक	अविरत सम्यग्दृष्टि
१८ प्रकृतिक	२२ प्रकृतिक	अविरत सम्यग्दृष्टि
१७ प्रकृतिक	२५ प्रकृतिक	सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
	२१ प्रकृतिक	सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
	२१ प्रकृतिक	अविरत सम्यग्दृष्टि
१५ प्रकृतिक	२७ प्रकृतिक	देशविरत
	२६ प्रकृतिक	देशविरत
	२३ प्रकृतिक	देशविरत
१४ प्रकृतिक	२२ प्रकृतिक	देशविरत
१३ प्रकृतिक	२१ प्रकृतिक	देशविरत
११ प्रकृतिक	२७ प्रकृतिक	प्रमत्त अप्रमत्त विरत
	२६ प्रकृतिक	प्रमत्त अप्रमत्त विरत
	२३ प्रकृतिक	प्रमत्त अप्रमत्त विरत
१० प्रकृतिक	२२ प्रकृतिक	प्रमत्त अप्रमत्त विरत
९ प्रकृतिक	२१ प्रकृतिक	प्रमत्त अप्रमत्त विरत
	(श्रेणीप्रायोग्य)	
७ प्रकृतिक	२३ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत उपशम सम्यग्दृष्टि

पतद्ग्रहस्थान	संक्रमस्थान	स्वामी		
	२२ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	उपशम सम्यग्दृष्टि	
	२१ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	उपशम सम्यग्दृष्टि	
६ प्रकृतिक	२० प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	उपशम सम्यग्दृष्टि	
	१४ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	उपशम सम्यग्दृष्टि	
	१३ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	उपशम सम्यग्दृष्टि	
५ प्रकृतिक	२१ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	क्षायिक सम्यग्दृष्टि	क्षपकश्रेणी
	२० प्रकृतिक	"	"	X
	१९ प्रकृतिक	"	"	X
	१८ प्रकृतिक	"	"	X
	१३ प्रकृतिक	"	उपशम सम्यग्दृष्टि	क्षपकश्रेणी
	१२ प्रकृतिक	X	X	"
	११ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	उपशम सम्यग्दृष्टि	"
	१० प्रकृतिक	"	उपशम सम्यग्दृष्टि	"
४ प्रकृतिक	१८ प्रकृतिक	"	क्षायिक सम्यग्दृष्टि	X
	१२ प्रकृतिक	"	"	X
	११ प्रकृतिक	"	क्षायिक सम्यग्दृष्टि	X
	१० प्रकृतिक	"	उपशम सम्यग्दृष्टि	क्षपकश्रेणी
	८ प्रकृतिक	"	"	X
	७ प्रकृतिक	"	"	X
	४ प्रकृतिक	X	X	क्षपकश्रेणी
३ प्रकृतिक	११ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	क्षायिक सम्यग्दृष्टि	X
	९ प्रकृतिक	"	"	X
	८ प्रकृतिक	"	"	X
	७ प्रकृतिक	"	उपशम सम्यग्दृष्टि	X
	५ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	उपशम सम्यग्दृष्टि	X
	४ प्रकृतिक	"	"	X

पतद्ग्रहस्थान	संक्रमस्थान	स्वामी		
	३ प्रकृतिक	X	X	क्षपकश्रेणी
२ प्रकृतिक	८ प्रकृतिक	उपशमश्रेणीगत	क्षायिक सम्यग्दृष्टि	X
	६ प्रकृतिक	"	"	X
	५ प्रकृतिक	"	"	X
	२ प्रकृतिक	"	उपशम सम्यग्दृष्टि	क्षपकश्रेणी
१ प्रकृतिक	५ प्रकृतिक	"	क्षायिक सम्यग्दृष्टि	X
	३ प्रकृतिक	"	"	X
	२ प्रकृतिक	"	"	X
	१ प्रकृतिक	X	X	क्षपकश्रेणी

२ - कर्मप्रकृतियों के संक्रमयोग्य गुणस्थान

परप्रकृति रूप से परिवर्तित हो जाने को संक्रम कहते हैं। किन प्रकृतियों का किस गुणस्थान तक संक्रम सम्भव है अर्थात् उन उन प्रकृतियों का संक्रमपर्यवसानस्थान कौनसा है कि वहां तक तो संक्रम होता है और उसके बाद के गुणस्थानों में नहीं होता है और प्रतिपातदशा में पुनः उस गुणस्थान के प्राप्त होने पर संक्रम प्रारंभ हो जाता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से है –

१. सातावेदनीय का संक्रम पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है, उससे आगे के गुणस्थानों में नहीं। क्योंकि सातवें आदि गुणस्थानों में असातावेदनीय का बंध नहीं होकर सातावेदनीय का ही बंध होता है इसलिये असाता का ही बध्यमान साता में संक्रम होता है न कि साता का।

२. अनन्तानुबंधी कषायों का संक्रम मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्तसंयत पर्यन्त सात गुणस्थानों में होता हैं। आगे के गुणस्थानों में उनके उपशांत अथवा क्षीण हो जाने से संक्रम संभव नहीं है।

३. यशःकीर्ति नामकर्म का मिथ्यात्व से लेकर अपूर्वकरण तक आठ गुणस्थानों पर्यन्त संक्रम होता है आगे के गुणस्थानों में पतद्ग्रह रूप होने से संक्रम संभव नहीं है।

४. अनन्तानुबंधी कषायों के अतिरिक्त शेष बारह कषाय और नो कषायों का संक्रम मिथ्यात्व

से लेकर अनिवृत्तिबादरसंपराय पर्यन्त नौ गुणस्थानों में संभव है। आगे के गुणस्थानों में उनके उपशांत अथवा क्षीण हो जाने से संक्रम का अभाव है।

५. मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व के अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशांतमोह गुणस्थान पर्यन्त के जीव संक्रमक हैं। आगे के गुणस्थानों में सत्ता का अभाव हो जाने से संक्रम संभव नहीं है तथा सास्वादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव किसी भी दर्शनमोहनीय प्रकृति का संक्रमण नहीं करते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आधारभूत मिथ्यात्व प्रकृति को स्वभाव से ही संक्रमित नहीं करते हैं इसलिये अविरतसम्यग्दृष्टि आदि जीवों को मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों का संक्रमक बतलाया है।

६. किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व का मिथ्यादृष्टि भी संक्रमक होता है तथा सम्यक्त्व का मिथ्यादृष्टि ही संक्रमक है। क्योंकि मिथ्यात्व में वर्तमान जीव सम्यक्त्व को संक्रमित करता है, सास्वादन अथवा मिश्र गुणस्थान वर्ती जीव संक्रमित नहीं करते हैं।

७. मिथ्यात्व और सास्वादन गुणस्थान में ही उच्चगोत्र का संक्रमण होता हैं। अन्य गुणस्थान वर्ती जीव उच्चगोत्र का संक्रमण नहीं करते हैं। क्योंकि अन्य जीव नीचगोत्र का बंध नहीं करते हैं और नीचगोत्र के बन्धकाल में ही उसका संक्रम माना है।

८. उक्त प्रकृतियों से शेष रही मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियों का मिथ्यादृष्टि आदि सूक्ष्मसंपराय पर्यन्त दस गुणस्थान वर्ती जीव संक्रमक हैं। आगे के गुणस्थानों में बन्ध का अभाव होने से उनमें पतद्ग्रहता नहीं रहती है।

३ - मोहनीयकर्म के पतद्ग्रहस्थान के विषय में संक्रमस्थानों का यंत्र

अश्रेणिगत पतद्ग्रहों के विषय में संक्रमस्थान

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृति	संक्रम स्थान	संक्रम प्रकृतियां	कितनी सत्ता	कौनसे गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
२२	मिथ्यात्व,१६कषा. १ वेद	२७	मिथ्यात्व मो. बिना	२८	१ला	पल्योपमसंख्येय भाग	त्रिपुंजी मिथ्यात्वी उद्वलित
	१ युगल, भय जुगुप्सा	२६	मिथ्या. सम. मो. बिना	२७	१ला	पल्योपमसंख्येय भाग	सम.मो.द्विपुंजी अनंता. की
		२३	मिथ्या. अनं. विना	२८	१ला	१ आवलिका	प्रथम बंधावलिका में
२१	मिथ्यात्ववर्ज पूर्वोक्त	२५	दर्शनत्रिक बिना	२६	१ला	अनादि अनंतादि ३ भांगा	अनादि मिथ्यात्वी आदि
		२५	दर्शनत्रिक बिना	२८	दूसरा	छ आवलिका	सास्वादनी
१९	१२ कषाय, पुंवेद,भय	२६	२५ कषाय, १ मिथ्या	२८	४था	१ आवलिका	उपशम सम की प्रथम आवलिकाए
	जुगुप्सा, १ युगल सम. मो., मिश्र मो.	२७	२५ कषाय मिश्र, मिथ्या	२८	चौथा	अन्तर्मुहूर्त	उपशम सम की प्रथम आवलिका के बाद
						क्षयोप ४ में रहे तब तक	क्षयोपशम सम.वाले को
		२३	अनंता वर्ज२१ कषाय मिश्र, मिथ्या.	२४	चौथा	अन्तर्मुहूर्त	अनंता की विसंयोजना के बाद उपशम सम वाले को
१८	१२ कषाय,पुंवेद,भय जुगुप्सा, १युगल,सम.	२२	२१ कषाय, मिश्र.	२३	चौथा	क्षयोप. ४ में रहे तब तक अन्तर्मु.	अनंता की विसंयोजना के बाद वेदक को, क्षपिता नं० मिथ्यात्व वेदक को
१७	१२कषाय, पुंवेद,भय,	२५	२५ कषाय	२८-२७	तीसरा	अन्तर्मुहूर्त	मिश्रदृष्टि
	जुगुप्सा, १ युगल	२१	२१ कषाय(अनं. वर्ज)	२४	तीसरा	अन्तर्मुहूर्त	मिश्रदृष्टि [वेदक सम.

	सम. मिश्र.	२१	२१ कषाय(अनं. वर्ज)	२२	४ था	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित मिथ्यात्वानंता मिश्र मो.
		२१	२१कषाय(अनं. वर्ज)	२१	४ था	३३सागरोप.साधिक	क्षायिक सम्यक्त्वी
१५	८ कषाय, पुंवेद,भय	२६	२५कषाय, मिथ्यात्व	२८	५ वा	९ आवलिका	उपशम सम.वाले के
	जुगुप्सा, ९ युगल,						प्रथम आवलिका में
	सम.मिश्र	२७	२५कषा. मिथ्या. मिश्र	२८	५वा	अन्तर्मुहूर्त	उपशम सम.वाले के
							प्रथम आवलिका के बाद
				२८	५ वा	देशोनपूर्वक्रोड वर्ष	क्षयोपशम सम्यक्त्वी
		२३	२१कषाय(अनं. वर्ज)	२४	५ वा	अन्तर्मुहूर्त	विसंयोजितानं.उपशम.
			मिथ्या., मिश्र.	२४	५ वा	देशोनपूर्वक्रोउ वर्ष	विसंयोजिता नं. वेदक
१४	८ कषाय,पुंवेद, भय	२२	२१ कषाय.मिश्र	२३	५ वा	अन्तर्मुहूर्त	क्षपितमिथ्यात्ववेदक
	जुगुप्सा १ युगल सम.		२१कषाय(अनं. वर्ज)	२२	५ वा	अन्तर्मुहूर्त	क्षपित मिश्र वेदक
१३	सम्यक्त्व मो वर्ज पूर्वोक्त	२१		२१	५ वा	देशोनपूर्वक्रोडवर्ष	क्षायिक सम्यक्त्वी
११	संज्वलन ४,पुंवेद,भय	२६	२५कषाय, मिथ्यात्व	२८	६-७	१ आवलिका	उप.सम.प्रथम आव. के बाद
	जुगुप्सा, १ युगल,	२७	२५कषाय, मिश्र मिथ्या.	२८	६-७	अन्तर्मुहूर्त	उप.सम.प्रथम आव. के बाद
	सम. मिश्र	२३	२१कषाय, मिश्र, मिथ्या.	२४	६-७	अन्तर्मुहूर्त	क्षपितानंता.उपशम.
				२४	६-७	अन्तर्मुहूर्त	क्षपितानंता. वेदक.
१०	संज्व.४ पुंवेद, भय	२२	२१ कषाय मिश्र मो.	२३	६-७	अन्तर्मुहूर्त	क्षपितमिथ्यात्व वेदक स.
	जुगुप्सा १युगल सम.						
९	सम. मो. वर्ज पूर्वोक्त	२१	२१ कषाय	२२	६-७	अन्तुर्मुहूर्त	क्षपित मिश्र वेदक सम.
		२१	२१ कषाय	२१	६-७	देशोनपूर्वकोटी	क्षायिक सम्यक्त्वी

यह प्रमाण २२, २१, १९, १८ १७,१५, १४, १३, ११, १०, ९ ये ११ पतद्ग्रह स्थान और २७, २६, २५, २३, २२,, २१ ये ६ संक्रम स्थान अश्रेणिगत जानना।

२ - उपशम सम्यग्दृष्टि के उपशम श्रेणि में

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृति	संक्रम स्थान	संक्रम प्रकृतियां	कितनी सत्ता	कौनसे गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
११	संज्वलन ४पुंवेद, भय जुगुप्सा, हास्य, रति सम. मिश्र.	२३	अनं वर्ज २१ कषाय मिथ्यात्व, मिश्र	२४	८ वें	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण
७	संज्व. ४ पुंवेद सम.मिश्र	२३	मिथ्यात्व मिश्र	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के पूर्व में
		२२	संज्व. लोभ वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण में
		२१	नपुंसकवेद वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण बाद
		२०	स्त्रीवेद वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण बाद
६	संज्वलन ४, सम., मिश्र.	२०	स्त्रीवेद वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	समयोन आव.द्विक	अन्तरकरण बाद
		१४	हास्यषट्कवर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	समयोन आवद्विक	अन्तरकरण बाद
		१३	पुंवेद वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण बाद
५	संज्व. मान माया लोभ सम. मिश्र	१३	पुंवेद वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	समयोन आव द्विक	अन्तरकरण बाद
		११	अप्र.प्रत्या.क्रोध वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	समयोन आव द्विक	अन्तरकरण बाद
		१०	संज्वलन क्रोध वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण बाद
४	संज्व. माया, लोभ, सम. मिश्र.	१०	संज्वलन क्रोध वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	समयोन आव द्विक	अन्तरकरण बाद
		८	अप्र.प्रत्या.मान वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	समयोन आव द्विक	अन्तरकरण बाद
		७	संज्वलन मान वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण बाद
३	संज्वलन लोभ, सम.मिश्र	७	संज्वलन मान वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	समयोन आव द्विक	अन्तरकरण बाद

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृति	संक्रम स्थान	संक्रम प्रकृतियां	कितनी सत्ता	कौनसे गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
	मिश्र.	५	अप्र. प्रत्या. लोभ, संज्व.	२४	९ वें	समयोन आव द्विक	अन्तरकरण बाद
			माया, मिश्र, मिथ्यात्व	२४	९ वें	समयोन आव द्विक	अन्तरकरण बाद
		४	संज्व. माया वर्ज पूर्वोक्त	२४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ में गुण की दो आवली बाकी
२	सम्य. मो. मिश्र मो.	२	मिश्र मो. सम. मोह.	२४	९.१०.११	अन्तर्मुहूर्त	९ में गुण की २ आव. १०-११ गुण.

इस प्रकार ११, ७, ६, ५, ४, ३, २ ये ७ पतद्ग्रह और २३, २२, २१, २०, १४, १३, ११, १०, ८, ७, ५, ४, २ ये १३ संक्रम स्थान।

३ - क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशम श्रेणि में

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृति	संक्रम स्थान	संक्रम प्रकृतियां	कितनी सत्ता	कौनसे गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
९	संज्व. ४पुंवेद,हास्य रति, भय, जुगुप्सा	२१	१२ कषाय,९ नोकषाय	२१	८ वें	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण गुण
५	पुंवेद, संज्व, ४	२१	१२ कषाय,९ नोकषाय	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के पूर्व
		२०	संज्व. लोभ वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण में
		१९	११ कषाय नपुं. वर्ज ८ नौ.	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के बाद
		१८	११ हास्यषट्क, पुं.	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के बाद
४	संज्वलन चतुष्क	१८	११ हास्यषट्क, पुं.	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद
		१२	११ कषाय हास्यषट्कपुं.	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद
		११	११ कषाय	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के बाद
३	संज्व. मान,माया,लोभ	११	११ कषाय	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद
		९	अप्र. प्रत्या क्रोध वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद
		८	संज्व. क्रोध वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के बाद
२	संज्व. माया, लोभ	८	संज्व. क्रोध वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद
		६	अप्र. प्रत्या. मान वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद
		५	संज्व. मान वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के बाद
१	संज्वलन लोभ	५	संज्व. मान वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृति	संक्रम स्थान	संक्रम प्रकृतियां	कितनी सत्ता	कौनसे गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
		३	अप्र. प्रत्या. मायावर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	समयोनआवद्विक	अन्तरकरण के बाद
		२	अप्र. प्रत्या. लोभ वर्ज पूर्वोक्त	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण के बाद

इस प्रकार ९, ५, ४, ३, २, १ ये ६ पतद्ग्रह और २१, २०, १९, १८, १२, ११, ९, ८, ६, ५, ३, २, ये १२ संक्रमस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उपशम श्रेणि में है।

४ - क्षपक श्रेणि में

पतद्ग्रह स्थान	पतद्ग्रह प्रकृति	संक्रम स्थान	संक्रम प्रकृतियां	कितनी सत्ता	कौनसे गुणस्थान	संक्रम काल	स्वामी
९	संज्व. ४पुंवेद,हास्य रति, भय, जुगुप्सा	२१	१२ कषाय,९ नो कषाय	२१	८ वें	अन्तर्मुहूर्त	अपूर्वकरण गुण वाला
५	संज्वलन ४ पुंवेद	२१	१२ कषाय,९ नोकषाय	२१	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ वें गुण में दूसरे भाग पर्यंत
		१३	संज्व. ४ ९ नो क.	१३	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ वें गुण में तीसरे भाग पर्यंत
		१२	संज्व क्रोध३ ९ नो क.	१३	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	अन्तरकरण में
		११	संज्व क्रोध ८ नो क.	१२	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ गुण में चौथा भाग
		१०	संज्व क्रोध ३ ७ नो क. नो क. (स्त्री.वर्ज)	११	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ गुण में ५वां भाग
४	संज्वलन ४	१०	संज्व क्रोध ३ ७ क. नो क. (स्त्री.वर्ज)	११	९ वें	समयोन आव.द्विक	९गुण में ५वां भाग
		४	संज्व क्रोध ३ पुंवेद	५	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ गुण में ६वां भाग
३	संज्वलनमानादि ३	३	संज्व क्रोध ३	४	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ गुण में ७वां भाग
२	संज्वलनमानादि २	२	संज्व मान, माया	३	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ गुण में ८वां भाग
१	संज्वलन लोभ	१	संज्व. मान माया	२	९ वें	अन्तर्मुहूर्त	९ गुण में ९वां भाग

इस प्रकार ९, ५, ४, ३, २, १ ये ६ पतद्ग्रह में २१, १३, १२, ११, १०, ४, ३, २, १ ये ९ संक्रम स्थान क्षपकश्रेणि में है।

४ - उत्कृष्ट जघन्य स्थितिसंक्रम यत्स्थिति प्रमाण एवं स्वामी दर्शक प्रारूप

(गाथा २९ से ४३ तक)

क्रम	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति सं कर्म प्रकृति	यत्स्थिति	उत्कृष्ट संक्रम स्वामी गुण	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	जघन्य संक्रम स्वामी गुणस्थान
१	ज्ञानावरणपंचक	२ आवली हीन ३० को. को. सागरोपम	आवलीहीन ३० को. को. सागरोपम	पहला गुणस्थान	१ समय	समयाधिक आवली	१२वां गुणस्थान
२	दर्शनावरणचतुष्क	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	निद्राद्विक	,,	,,	,,	,,	आवलिकासंख्य भागाधिक आवली	,,
४	स्त्यानर्द्धित्रिक	,,	,,	,,	आव.हीन पल्यासं.	पल्यासंख्यभाग	९वें गुणस्थान
५	असातावेदनीय	,,	,,	,,	आव.हीनान्तमुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३वें गुणस्थान
६	सातावेदनीय	३ आवलीहीन ३०को.को.सागरोपम	आवलिकाद्विकहीन ३०को.को.सागरो.	,,	,,	,,	,,
७	मिथ्यात्वमोहनीय	अन्तर्मुहूर्तहीन ७० को. को. सागरोपम	सावलिकाअन्तर्मुहूर्त हीन७०को.को.सागरो.	अविरत इत्यादि	आव. हीन पल्या संख्य भाग	पल्योपमा संख्येय भाग	४थे से ७वें गुणस्थान
८	मिश्रमोहनीय	सावलिका द्विकान्त-र्मुहूर्तहीन ७० को. को. सागरोपम	सावलिकान्तमुहूर्त हीन ७० को. को. सागरोपम	,,	,,	,,	,,
९	सम्यक्त्वमोहनीय	,,	,,	,,	१ समय	समयाधिक आवलिका	,,
१०	अनन्तानुबंधी चतुष्क	आवलिकाद्विक हीन ४० को.को. सागरोपम	आवलिका हीन ४० को. को. सागरोपम	पहले गुणस्थान	आवलिकाहीन पल्यो पम संख्येय भाग	पल्योपमासंख्येय भाग	,,

क्रम	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति सं कर्म प्रकृति	यत्स्थिति	उत्कृष्ट संक्रम स्वामी गुण	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	जघन्य संक्रम स्वामी गुणस्थान
११	अप्रत्याख्यानचतुष्क	आवलिकाद्विक हीन	आवलिका हीन ४०	पहला गुण.	आवलिकाहीन पल्यो	पल्योपमासंख्येय	९वें गुणस्थान
१२	प्रत्याख्यानचतुष्क	४० को.को. सागरोपम	को. को. सागरोपम	,,	पम संख्येय भाग	भाग	,,
१३	संज्वलन क्रोध	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन २ मास	आवलिकाद्विकहीन २ मास	,,
१४	संज्वलन मान	आवलिकाद्विकहीन ४० को. को. सागरो.	आवलिकाहीन ४० को. को. सागरो.	पहला गुण स्थान	अन्तर्मुहूर्तहीन १ मास	आवलिकाद्विकहीन १ मास	,,
१५	संज्वलन माया	,,	,,	,,	,, १ पक्ष	,, १ पक्ष	,,
१६	संज्वलन लोभ	,,	,,	,,	एक समय	समयाधिक आवलि.	१०वां गुणस्थान
१७	हास्यषट्क	आवलिकात्रिकहीन ४०को. को. सागरो.	आवलिकाद्विकहीन ४०को. को. सागरो.	,,	संख्यात वर्ष प्रमाण	सान्तर्मुहूर्त संख्यात वर्ष	९ वां गुणस्थान
१८	स्त्रीवेद नपुंसकवेद	,,	,,	,,	पल्यासंख्य भाग	सान्तर्मुहूर्त पल्या संख्य भाग	,,
१९	पुरुषवेद	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन ८ वर्ष	आवनिकाद्विकहीन ८ वर्ष	,,
२०	नरकायु	अबाधाहीन३३सागरो.	आव.हीन. ३३सागरो.	,,	एक समय	समयाधिकआवलि.	१, २, ४ गुण.
२१	तिर्यंचायु	,, ३ पल्य	,, ३ पल्य	,,	,,	,,	१, २, ४, ५ गुण.
२२	मनुष्यायु	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,	१ से ११ गुण.
२३	देवायु	,, ३३ सागरोपम	,, ३३ सागरोपम	छठा गुणस्थान	,,	,,	१, २, ४ गुणस्थान

क्रम	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति सं कर्म प्रकृति	यत्स्थिति	उत्कृष्ट संक्रम स्वामी गुण	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	जघन्य संक्रम स्वामी गुणस्थान
२४	नरकगति आनुपूर्वी २	आवलिकाद्विकहीन २० को.को.सागरो.	आवलिकाहीन २० को.को. सागरो.	पहला गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्तहीन पल्यासंख्य	पल्या संख्य भाग	९ वां गुणस्थान
२५	तिर्यंचगति आनुपूर्वी२	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२६	मनुष्यगति आनुपूर्वी२	आवलिकात्रिकहीन २० को.को.सागरो.	आवलिकाद्विकहीन २०को.को.सागरो.	,,	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां गुणस्थान
२७	देवगति आनुपूर्वी २	,,	,,	,,	,,	,,	,,
२८	एकेन्द्रिय जाति	आवलिकाद्विकहीन २० को.को.सागरो.	आवलिकाहीन २० को.को. सागरो.	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन पल्या संख्य	पल्या संख्य भाग	९ वां गुणस्थान
२९	विकलेन्द्रियत्रिक जाति	आवलिकात्रिकहीन २० को.को.सागरो.	,,	,,	,,	,,	,,
३०	पंचेन्द्रिय जाति	आवलिकाद्विकहीन २० को.को.सागरो.	,,	,,	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां गुणस्थान
३१	औदारिकसप्तक	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३२	वैक्रियसप्तक	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३३	आहारकसप्तक	आवलिकात्रिकहीन अन्तः को. को.	आवलिकाद्विकहीन अन्तः को. को.	७ वां गुणस्थान	उदयावलिहीन अन्तः को. को.	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां गुणस्थान
३४	तैजससप्तक	आवलिकाद्विकहीन २०को.को.सागरो.	आवलिकाद्विकहीन २०को.को.सागरो.	पहला गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	,,	,,
३५	आद्यसंहनन पंचक	,, त्रिकहीन ,,	,, द्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,

क्रम	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति सं कर्म प्रकृति	यत्स्थिति	उत्कृष्ट संक्रम स्वामी गुण	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यत्स्थिति	जघन्य संक्रम स्वामी गुणस्थान
३६	सेवार्त संहनन	आव.द्विकहीन ,,	आव.हीन २०को.को.सा.	पहला गुण.	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां गुणस्थान
३७	आद्यसंस्थान पंचक	,, त्रिकहीन ,,	,, द्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,
३८	हुंडक संस्थान	,, द्विकहीन ,,	,, हीन ,,	,,	,,	,,	,,
३९	शुभवर्णादि एकादश	,, त्रिकहीन ,,	,, त्रिकहीन ,,	,,	उदयावलिहीनान्तर्मुहूर्त	,,	,,
४०	नीलवर्ण तिक्तरस	,, त्रिकहीन ,,	,,	,,	,,	,,	,,
४१	शेष अशुभवर्णादि सप्तक	,, द्विकहीन ,,	,, द्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,
४२	शुभविहायोगति	,, त्रिकहीन ,,	,, द्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,
४३	अशुभविहायोगति	,, द्विकहीन ,,	,, हीन ,,	,,	,,	,,	,,
४४	त्रस चतुष्क	,,	,,	,,	,,	,,	,,
४५	स्थिर षष्टक	,, त्रिकहीन ,,	,, द्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,
४६	स्थावर	,, द्विकहीन ,,	,, हीन ,,	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन पल्या संख्य भाग	पल्या संख्य भाग	९ वां गुणस्थान
४७	सूक्ष्म [illegible]	,, त्रिकहीन ,,	,, द्विकहीन ,,	,,	,,	,,	,,
४८	अपर्याप्त	,,	,,	,,	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां गुणस्थान
४९	साधारण	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन पल्या संख्य भाग	पल्या संख्य भाग	९ वां गुणस्थान

क्रम	प्रकृति नाम	उत्कृष्ट स्थिति सं कर्म प्रकृति	यतिस्थिति	उत्कृष्ट संक्रम स्वामी गुण	जघन्य स्थिति संक्रम प्रमाण	यतिस्थिति	जघन्य संक्रम स्वामी गुणस्थान
५०	अस्थिर षट्क	आव. द्विकहीन ,,	आवलिकाहीन ,,	पहला गुण.	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तमुहूर्त	१३ वां गुणस्थान
५१	आतप उद्योत	,,	,,	,,	अन्तर्मुहूर्तहीन पल्या संख्य भाग	पल्या संख्य भाग	९ वां गुणस्थान
५२	पराघात, उच्छ्वास अगुरुलघु निर्माण उपघात	,,	,,	,,	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१३ वां गुणस्थान
५३	तीर्थंकर नाम	,, त्रिकहीन अन्त. को. को.	आवलिकाद्विकहीन अन्त. को. को.	४था गुणस्थान	उदयावलिकाहीन अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	,,
५४	उच्चगोत्र	,, २० को.को.सागरो.	,,२० को.को.	एक गुणस्थान	,,	,,	,,
५५	नीचगोत्र	,, द्विकहीन ,,	,, हीन ,,	,,	,,	,,	,,
५६	अन्तरायपंचक	,,३०को.को.सागरो.	,,३०को.को.सागरो.	,,	एक समय	समयाधिक आवलि.	,,

५ - स्थितिखंडों की उत्कीरणाविधि का सारांश

(संक्रमकरण गाथा ६०)

विवक्षित स्थितिखंड जिस विधि द्वारा स्वस्थान से उत्कीर्ण किये जाते हैं, वह उत्कीरणा विधि इस प्रकार है –

प्रथम समय में स्तोक, द्वितीय समय में असंख्यात गुण, तृतीय समय में उससे असंख्यात गुण दलिक, इस प्रकार यह उत्कीरणा अनुक्रम से उत्तरोत्तर अन्तर्मुहूर्त के प्रथम समय से लेकर चरम समय तक जानना चाहिये। अर्थात् स्थितिखंडों के उत्कीर्ण करने का समय अन्तर्मुहूर्त और प्रथम समय से प्रारम्भ होकर चरम समय तक असंख्यात गुणित क्रम से होती है। गुणाकार पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है। इसी प्रकार सभी स्थितिखंडों में जानना चाहिये।

इन उत्कीर्ण किये गये दलिकों में से कुछ स्वस्थान में और कुछ परस्थान में प्रक्षिप्त किये जाते हैं। स्वस्थान और परस्थान में कर्मदलिकों का प्रक्षेप इस प्रकार होता है –

१. उत्कीर्ण किये गये दलिकों में से प्रथम स्थितिखंड के प्रथम समय में जो कर्मदलिक अन्य प्रकृतियों में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह सर्वस्तोक है और जो स्वस्थान में ही निचली स्थिति से प्रक्षिप्त होता है वह असंख्यातगुण है, उससे भी द्वितीय समय में स्वस्थान में प्रक्षिप्त होने वाला दलिक असंख्यातगुण है।

२. जो कर्मदलिक परप्रकृतियों में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह प्रथम के परस्थान में प्रक्षिप्त दलिक से विशेषहीन होता है। तृतीय समय में जो दलिक स्वस्थान में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह द्वितीय समय के स्वस्थान में प्रक्षिप्त दलिकों से असंख्यातगुणित है और जो परप्रकृतियों में प्रक्षिप्त किया जाता है, वह द्वितीय समय के परस्थान में प्रक्षिप्त दलिक से विशेषहीन होता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक तथा स्थितिखंडों में उपान्त्य स्थितिखंड तक जानना चाहिये।

चरम स्थिति खंड के उत्कीरण की विधि इस प्रकार है –

यह चरम स्थितिखंड स्वयं के उपान्त्य स्थितिखंड की उत्कीरणा अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है तथा इस चरम स्थितिखंड संबंधी प्रथम उदयावलिका गत दलिक के अतिरिक्त शेष सर्व दलिक को परप्रकृति में ही इस प्रकार से संक्रमित किया जाता है कि प्रथम समय में द्वितीय समय से भी असंख्यात गुणित कर्मदलिक प्रक्षिप्त किया जाता है, इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अन्त्यसमय तक समझना चाहिये

और अन्तिम समय में परप्रकृति में जो दलिक प्रक्षिप्त किया जाता है जिससे वह स्थितिखंड सर्वथा निःसत्ताक हो जाता है।

इसी का दूसरा नाम सर्वसंक्रम है। इसका प्रारूप इस प्रकार समझना चाहिये –

स्थितिखंडों की उत्कीरणा विधि का प्रारूप

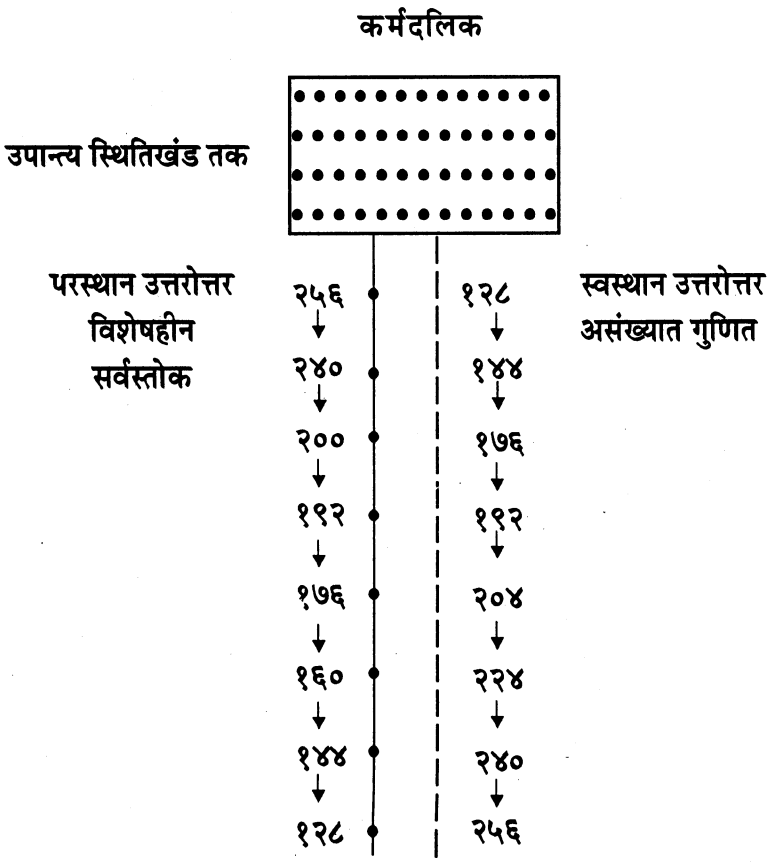

उपान्त्य स्थितिखंड तक तो उक्त विधि से कर्मदलिक प्रक्षेप किया जाता है और चरम स्थितिखंड में प्रथम उदयावलिका दलिक के सिवाय शेष सर्व दलिक परप्रकृति में इस प्रकार से संक्रान्त किया जाता है कि प्रथम समय में अल्प ३१ द्वितीय समय में उससे असंख्यात गुणित २१ तृतीय समय में उससे असंख्यात गुणित। इस प्रकार से प्रक्षिप्त करने से अन्तर्मुहूर्त के अंतिम समय में वह स्थितिखंड सर्वथा निःसत्ताक हो जाता है। यही सर्वसंक्रम है।

अंतिम स्थितिखंडदलिक का प्रमाण यह है –

उपान्त्यस्थिति में का जितना कर्मदलिक अन्त्यसमय में परप्रकृति में संक्रान्त होता है उतने प्रमाण के अन्त्यस्थितिखंड गत कर्मदलिक का प्रति समय अपहरण किया जाये तो वह अन्त्यस्थितिखंड असंख्य काल चक्र (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी) में निःशेष होता है। अथवा एक तरफ उपान्त्य स्थितिखंड संबंधी जितना कर्मदलिक अन्त्यसमय में परप्रकृति में संक्रान्त होता है, उसके प्रमाण के अन्त्यस्थिति खंड संबंधी कर्मदलिक का अपहरण किया जाये और दूसरी तरफ एक आकाश प्रदेश का अपहरण होने पर उक्त अन्त्यस्थिति खंड अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण आकाश प्रदेशों का अपहरण होने पर उक्त अन्त्य स्थितिखंड भी अपहृत हो जाता है। अर्थात् अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने एक अन्त्य स्थितिखंड में भी दलिक समूह है तथा उपान्त्य स्थितिखंड संबंधी जितना कर्मदलिक स्वस्थान में संक्रान्त होता है, उतने प्रमाण के अन्त्य स्थितिखंड के कर्मदलिक को यदि प्रति समय अपहृत करें तो वह अन्त्य स्थितिखंड पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल में निःशेष रहता है।

इन स्थितिखंडों की उत्कीरणा अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है, जिनके काल और प्रदेश परिणाम का अनन्तरोपनिधा और परंपरोपनिधा प्ररूपणा की अपेक्षा विचार इस प्रकार है –

अनन्तरोपनिधा – प्रथम स्थितिखंड की स्थिति (काल) अधिक है, उससे द्वितीय की विशेषहीन, उससे भी तृतीय की विशेषहीन, इस प्रकार द्विचरम स्थितिखंड तक जानना चाहिये तथा प्रदेश परिमाण की अपेक्षा प्रथम स्थितिखण्ड से द्वितीय स्थितिखंड में दलिक विशेषाधिक है, उससे भी तृतीय में विशेषाधिक इस प्रकार द्विचरम स्थिति खंड तक समझना चाहिये।

परंपरोपनिधा – स्थिति की अपेक्षा प्रथम स्थिति से कुछ स्थितिखंड असंख्यात भागहीन, कुछ संख्यात भागहीन, कुछ संख्यात गुणहीन और कुछ असंख्यात गुणहीन होते हैं और प्रदेशापेक्षा प्रथम स्थितिखंड के दलिक से कुछ असंख्यात भाग अधिक, कुछ संख्यात भाग अधिक, कुछ संख्यात गुण अधिक और कुछ असंख्यात गुण अधिक होते हैं।

६ - स्तिबुकसंक्रम और प्रदेशोदय में अन्तर

अनुदीर्ण प्रकृति संबंधी जो दलिक उदयप्राप्त समान स्थिति वाली स्वजातीय प्रकृति में संक्रमित किया जाता हैऔर संक्रान्त करके अनुभव किया जाता है, उसे स्तिबुकसंक्रम कहते हैं। इसी का नाम प्रदेशोदय है। अबाधाकाल के बीतने पर बद्धकर्म के उदय के दो प्रकार हैं - १. रसोदय, और प्रदेशोदय। अबाधा काल के बीतने पर बद्धकर्म का साक्षात तथारूप अनुभव होना, सोदय है और अपने रस का अनुभव न कराते हुये अन्य सजातीय प्रकृति के निषेकों के साथ वेदन किया जाना प्रदेशोदय है।

रसोदय होने में द्रव्य क्षेत्र, काल भाव और भव रूप पांच निमित्त हैं। इनमें से किसी एक अथवा अधिक निमित्तों के अभाव में उस कर्म का रसोदय नहीं हो पाता है तब उस कर्म के निषेक का दलिक आत्मा के साथ संबद्ध रहने की कालमर्यादा के पूर्ण होने पर प्रदेशोदय का मार्ग ग्रहण करता है। इस प्रदेशोदय के होने में उस कर्म का सहज परिणाम कारण है।

किसी किसी का यह मन्तव्य है कि जो प्रकृति सर्वथा रसहीन हो जाती है, उस प्रकृति के प्रदेश मात्र ही उदय को प्राप्त हों, वह प्रदेशोदय है और यदि रस उदय में आये तो वह उस प्रकृति का विपाकोदय कहलाता है। परन्तु ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि स्तिबुकसंक्रम रूप से यानि प्रदेशोदय रूप से उदय में आई हुई प्रकृति में रस अवश्य होता है, परन्तु उसका तीव्र रस परप्रकृति रूप से परिणमित हो जाने से स्वविपाक रूप से उदय में नहीं आ पाता है। इस प्रकार विवक्षित प्रकृति के प्रदेश स्वविपाक रूप से उदय में नहीं आये। किन्तु परविपाक रूप से उदय में आये। इसीलिये वह प्रदेशानुभव रहित का रसानुभव कहलाता है।

ज्ञानावरण आयु और अन्तराय इन तीन कर्मों में स्तिबुकसंक्रम नहीं होता है। क्योंकि ज्ञानावरण और अन्तराय ध्रुवोदयी हैं और एक आयु का उदय जब तक पूर्ण नहीं तब तक बद्धायु का अबाधा काल पूर्ण नहीं होता है। इसलिये इनका स्तिबुकसंक्रम नहीं होता है। उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से ज्ञानावरण, अन्तराय और आयु इन प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों का स्तिबुकसंक्रम होता है।

७ - दिगम्बर कर्मग्रन्थों में आगत संक्रमकरण की संक्षिप्त रूपरेखा

सामान्य संक्रमण के भेद

१. प्रकृतिसंक्रमण – (अ) मूल, (ब) उत्तर प्रकृति संक्रमण।

(अ) मूल प्रकृतिसंक्रमण - १. देशसंक्रमण, २. सर्वसंक्रमण।

२. स्थितिसंक्रमण – १. अपवर्तन, २. उद्वर्तन २ अन्यप्रकृतिसंक्रमण।

३. अनुभागसंक्रमण – १. अपवर्तन, २. उद्वर्तन, ३. अन्यप्रकृतिसंक्रमण

४. प्रदेशसंक्रमण – १. निर्जरा, २. अन्यप्रकृतिसंक्रमण।

संक्रमण के भेद का दूसरा प्रकार

१. स्वस्थानसंक्रमण, २. परस्थानसंक्रमण

संक्रमण के भेदों का तीसरा प्रकार

१. उद्वलन, २. विध्यात, ३. यथाप्रवृत्त ४. गुणसंक्रम ५. सर्वसंक्रम।

उक्त उद्वलन आदि पांचों संक्रमणों का क्रम

१. प्रकृतियों का बंध होने पर अपने बंधविच्छेद पर्यन्त यथाप्रवृत्तसंक्रम होता है। परन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का नहीं होता है और बंधविच्छेद होने पर असंयत से ले कर अप्रमत्त पर्यन्त विध्यातसंक्रम होता है।

२. अप्रमत्त से आगे उपशांतमोह पर्यन्त बंध रहित अप्रशस्त प्रकृतियों का गुणसंक्रमण होता है। इसी तरह प्रथमोपशमसम्यक्त्व आदि अन्य स्थानों पर भी गुणसंक्रमण होता है।

३. मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति के पूरणकाल में और मिथ्यात्व के क्षय करने में अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व के अंतिम कंडक के उपान्त्यकालपर्यन्त गुणसंक्रमण और अंतिम काल में सर्वसंक्रमण होता है।

४. मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर सम्यक्त्वमोह और मिथ्यात्वमोहनीय का अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त यथाप्रवृत्तसंक्रमण होता है और उद्वलना नामक संक्रमण द्विचरमकंडक पर्यन्त नियम से प्रवर्तता है।

५. उद्वलन प्रकृतियों का अंत के कंडक में संक्रमण और अन्त के काल में सर्वसंक्रमण होता है।

संक्रमणीय प्रकृतियों का वर्गीकरण

१. उद्वलनायोग्य – आहारकद्विक, वैक्रियद्विक, नरकद्विक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, सम्यक्त्व

मोहनीय, मिश्रमोहनीय, उच्चगोत्र।

२. विध्यातयोग्य – स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबंधी क्रोध आदि १२ कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक और एकान्ततिर्यंचप्रायोग्य ११ प्रकृतियां, सम्यक्त्वमोहनीय के बिना शेष १२ उद्वलन प्रकृतियां, असाता वेदनीय, अशुभविहायोगति, छह संहनन, पहले के बिना पांच संस्थान, नीचगोत्र, अपर्याप्त, अस्थिरषट्क औदारिकद्विक, तीर्थंकरनाम मिथ्यात्व मोहनीय।

३. यथाप्रवृत्तयोग्य – सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में विच्छिन्न होने वाली १४ घाती प्रकृतियां, साता वेदनीय, संज्वलन लोभ, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस कार्मण, समचतुरस्र संस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, शुभविहायोगति, त्रसदशक निर्माण नाम।

४. गुणसंक्रमणयोग्य – पूर्वोक्त यथाप्रवृत्त योग्य ३९ तथा औदारिकद्विक वज्रऋषभनाराच संहनन, तीर्थंकर, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोधादि तीन (३९+८=४७) प्रकृतियों को कम करने पर (१२२-४७) शेष ७५ प्रकृतियां गुणसंक्रमणयोग्य हैं।

५. सर्वसंक्रमणयोग्य – उद्वलन योग्य १३ तिर्यंचएकादश संज्वलन लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय इन तीन के बिना मोहनीय की २५ प्रकृतियां स्त्यानर्द्धित्रिक (१३+११+२५+३) ५२ प्रकृतियों में सर्वसंक्रमण होता है।

६. विध्यात और यथाप्रवृत्त योग्य – औदारिक, वज्रऋषभनाराचसंहनन तीर्थंकर नाम।

७. यथाप्रवृत्त व गुण संक्रमण योग्य – निद्रा प्रचलाः अशुभ वर्णचतुष्क उपघात।

८. यथाप्रवृत्त व सर्व संक्रमण योग्य – संज्वलन क्रोध, मान, माया, पुरुषवेद

९. यथाप्रवृत्त विध्यात गुणसंक्रमण योग्य – असातावेदनीय, अशुभ, विहायोगति आदि के बिना पांच संहनन प्रथम संस्थान को छोड़कर पांच संस्थान, अपर्याप्त नीचगोत्र अस्थिरषट्क

१०. यथाप्रवृत्त गुण व सर्व संक्रमण योग्य – हास्य रति, भय जुगुप्सा

११. विध्यात, गुण और सर्व संक्रमण योग्य – मिथ्यात्व मोहनीय

१२. उद्वलना के बिना शेष चार संक्रमण योग्य – स्त्यानर्द्धित्रिक, आदि की बारह कषाय नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, तिर्यंचएकादश, इन तीस प्रकृतियों में उद्वलन के बिना चार संक्रमण होते हैं।

१३. विध्यात के बिना शेष चार संक्रमण योग्य – सम्यक्त्व मोहनीय

१४. सर्व (पांचों) संक्रमण योग्य – सम्यक्त्व मोहनीय के बिना शेष उद्वलन प्रकृतियां।

(आधार गो. कर्मकांड गाथा ४०९ - ४२८)

१ - उद्वर्तना संबंधी कुछ नियम

१. बंधन और उद्वर्तना दोनों में जिस जिस प्रकृति का जहां विच्छेद होता है वहीं तक उस उस प्रकृति का बंध और उद्वर्तन होता है।

२. संक्रमण में जिस प्रकृति के परमाणु उद्वर्तन रूप करते हैं, वे अपने काल में आवलिका काल पर्यन्त तो अवस्थित ही रहते हैं तत्पश्चात् भजनीय हैं। अर्थात् अवस्थित भी रहें और स्थिति आदि की वृद्धि हानि आदि रूप भी हो सकते है।

३. उद्वर्तना होने पर अनुभागस्थान के अविभाग प्रतिच्छेदों की वृद्धि नहीं होती हैं, क्योंकि बंध के बिना उसका उद्वर्तन नहीं बन सकता है।

४. परमाणुओं की अधिकता या अल्पता अनुभाग की वृद्धि और हानि का कारण नहीं है। अर्थात् यदि परमाणु अधिक हों तो अनुभाग भी अधिक हो और यदि परमाणु कम हों तो अनुभाग भी कम हो ऐसा नहीं समझना चाहिये।

५. उद्वर्तन बंध का अनुसरण करने वाला होता है, इसलिये उसमें दूसरे प्रकार से प्रदेशों की रचना नहीं बन सकती है।

६. जिस समयप्रबद्ध की स्थिति वर्तमान में बांधे हुए कर्म की अंतिम स्थिति के समान है, उस समयप्रबद्ध का वर्तमान में बांधे हुए कर्म की अंतिम स्थिति तक उद्वर्तन किया जाता है।

७. उदयावलिका की स्थिति के प्रदेशों का उद्वर्तन नहीं किया जाता है।

८. उदयावलिका के बाहर की सभी स्थितियों का भी उद्वर्तन नहीं किया जाता है किन्तु चरम स्थिति के आवलिका के असंख्यातवें भाग को अतीत्थापना रूप से स्थापित करके आवलिका के असंख्यात बहु भाग का उद्वर्तन होता है, क्योंकि इससे ऊपर स्थितिबंध का अभाव है। अतीत्थापना और निक्षेप का अभाव होने से नीचे उद्वर्तन नहीं होता है।

९. उद्वर्तना के दो प्रकार हैं – निर्व्याघातभावी और व्याघातभावी। जहां अतीत्थापना एक आवलिका और निक्षेप आवलिका का असंख्यातवां भाग आदि बन जाता है वहां निर्व्याघातदशा होती है और जहां अतीत्थापना के एक आवलिका प्रमाण होने में बाधा आती है वहां व्याघातदशा होती है। अर्थात् जब प्राचीन सत्ता में स्थित कर्मपरमाणुओं की स्थिति से नूतन बंध अधिक हो, पर इससे अधिक का प्रमाण एक आवलिका और एक आवलिका के असंख्यातवें भाग के भीतर ही प्राप्त हो तब यह व्याघातदशा होती है। इसके सिवाय उद्वर्तना में सर्वत्र निर्व्याघातदशा ही जानना चाहिये।

इस प्रकार उद्वर्तना संबंधी कुछ नियमों को बतलाने के बाद अब दलिक निक्षेपों के बारे में विचार करते हैं।

२ - उद्वर्तना में निर्व्याघातभावी स्थिति के दलिकनिक्षेपों की विधि

(उद्वर्तना-अपवर्तना करण गाथा २ के अनुसार)

उदयावलिका के बाहर की स्थितियों की उद्वर्तना की जाती है। बंधने वाली प्रकृतियों की जितनी अबाधा होती हैं, उसके तुल्य या हीन पूर्वबद्ध प्रकृतियों की जो स्थिति होती हैं उसका उद्वर्तन नहीं किया जाता है क्योंकि वह अबाधाकाल के अन्दर ही प्रविष्ट है। अतः अबाधाकाल के ऊपर की स्थितियां ही उद्वर्तित की जाती हैं। इस प्रकार अबाधाकाल के अन्तर्गत स्थितियां अतीत्थापना रूप हैं। यह उत्कृष्ट अतीत्थापना का प्रमाण है और वह अतीत्थापना हीन हीनतर तब तक जानना चाहिये, जब तक कि जघन्य अतीत्थापना आवलिका प्रमाण शेष रहती है।

दलिकनिक्षेप विधि – जिस स्थिति के दलिक उठाकर आगे की स्थिति में प्रक्षिप्त किये जाते हैं, वह निक्षेप कहलाता है। वह निक्षेप दो प्रकार का है – जघन्य और उत्कृष्ट।

आवलिका के असंख्यात भाग मात्र स्थितियों में जो कर्मदलिकों का निक्षेप होना होता है, वह जघन्य निक्षेप है तथा उत्कृष्ट स्थितिबंध होने पर उद्वर्तना योग्य स्थितियों को और बंधावलिका एवं अबाधा तथा उपरितनी आवलिका और आवलिका के असंख्यातवें भाग को छोड़ कर शेष सभी स्थितियों को उद्वर्तना योग्य जानना चाहिये, वह उत्कृष्ट दलिकनिक्षेप है। इसका आशय यह है कि –

समयाधिक आवलिका और अबाधा से रहित शेष सम्पूर्ण कर्मस्थिति को उत्कृष्ट निक्षेप समझना चाहिये। सारांश यह है कि –

अबाधा से ऊपर अनन्तर समय से प्रारम्भ होने वाली सम्पूर्ण कर्मस्थिति उत्कृष्ट दलिक निक्षेप है और सर्वोपरितन स्थिति जघन्य निक्षेप है।

उक्त कथन दर्शक प्रारूप इस प्रकार है

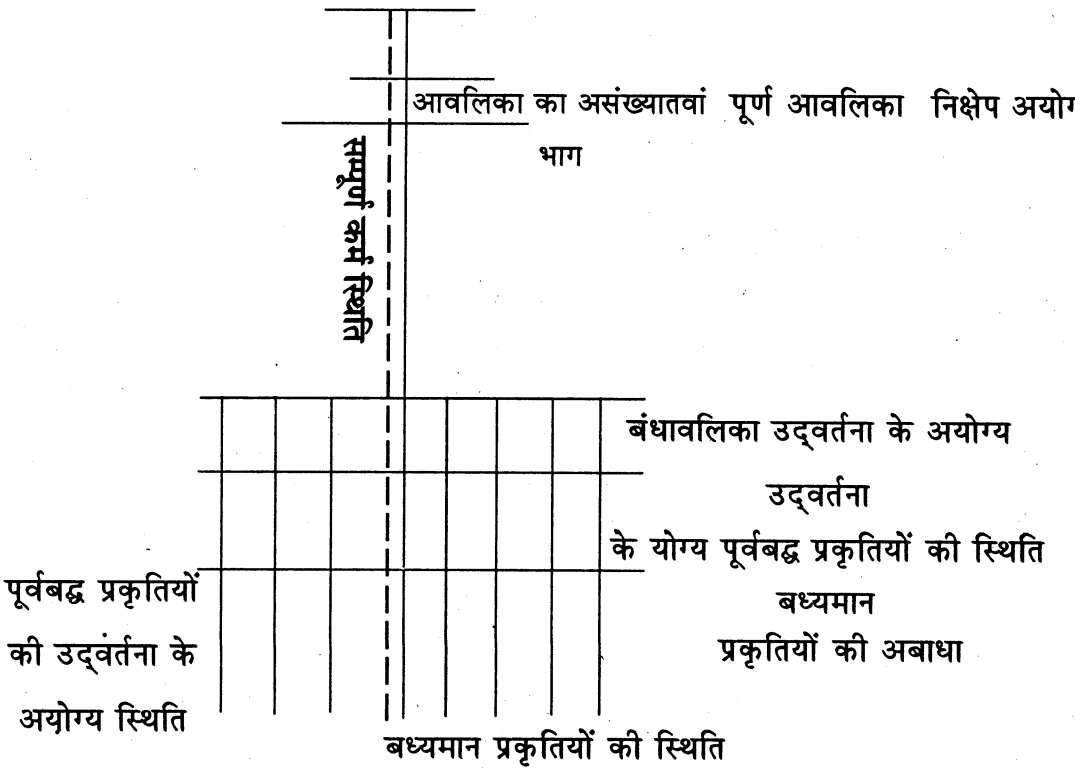

३ - उद्वर्तना में व्याघातभावी स्थिति के दलिकनिक्षेपों की विधि

(गाथा ३ के अनुसार)

पूर्वकालीन सत्कर्मस्थिति की अपेक्षा एक समयादि से अधिक जो नवीन कर्मबन्ध होता है, वह व्याघात कहलाता है।

पूर्वकालीन सत्कर्मस्थिति से एक समय अधिक नवीन स्थिति वाला कर्मबंध होने पर पूर्वकालीन सत्कर्म की चरम स्थिति का उद्वर्तन नहीं होता है। इसी प्रकार द्विचरम, त्रिचरम आदि आवलिका के असंख्यातवें भाग से भी अधिक नवीन बद्धकर्म की स्थितियों में भी उद्वर्तना नहीं होती है। किन्तु जब आवलिका के दो असंख्यातवें भाग से अधिक नवीन कर्मबंध अधिक होता है तब पूर्वकालीन सत्कर्म की अंतिम स्थिति उद्वर्तित की जाती है और उद्वर्तित कर आवलिका के प्रथम असंख्यातवें भाग का उल्लंघन करके दूसरे असंख्यातवें भाग में निक्षिप्त की जाती है।

इस प्रकार यह जघन्य अतीत्थापना और जघन्य निक्षेप व्याधात की अपेक्षा जानना चाहिये।

जब एक समय से अधिक आवलि के दो असंख्यातवें भाग से अधिक नवीन कर्मबंध होता

है तब दो प्रथम समयाधिक असंख्यातवें भाग को अतिक्रमण कर दूसरे असंख्यातवें भाग में निक्षेप किया जाता है।

इस प्रकार नवीन कर्मबंध की अतीत्थापना एक एक समय वृद्धि होने पर बढ़ती जाती है और वह वृद्धि तब तक होती रहती है जब तक एक आवलिका पूर्ण होती है किन्तु निक्षेप सर्वत्र उतना ही रहता है। इसके अनन्तर नवीन कर्मबंध की स्थिति बढ़ने पर केवल निक्षेप ही बढ़ता है, अतीत्थापना नहीं बढ़ती है। असत्कल्पना से तत्संबन्धी प्रारूप इस प्रकार है –

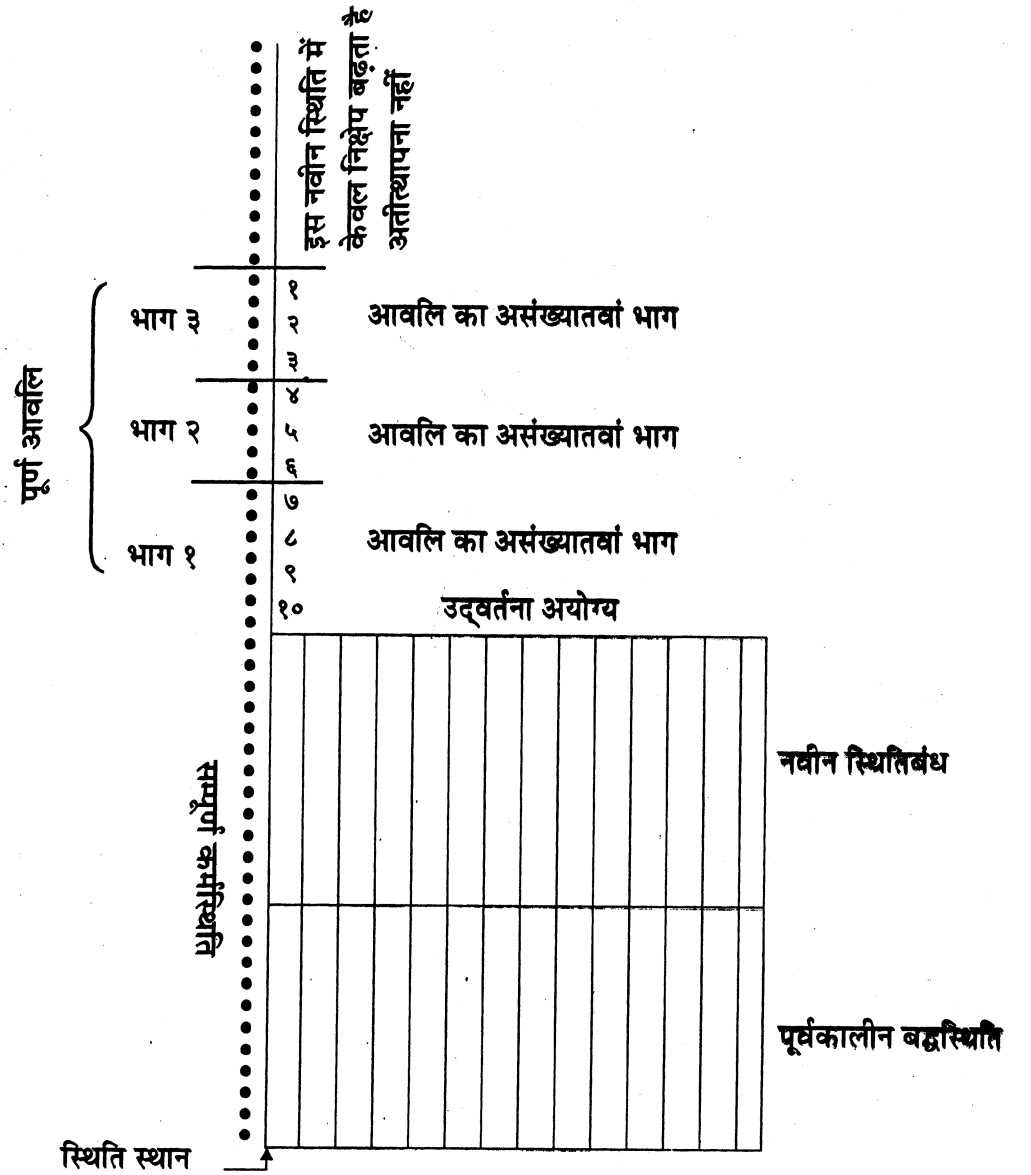

४ - निर्व्याघात अवस्था में स्थिति -अपवर्तना में दलिक निक्षेपविधि

(गाथा ४,५ के अनुसार)

उदयावलिका के ऊपर की जो स्थिति है, उसके दलिकों का अपवर्तन कर उदयावलिका के एक समय कम उपरितन दो विभागों का उल्लंघन कर अधस्तन एक समयाधिक तीसरे भाग में निक्षेप किया जाता है।

असत्कल्पना से इसको ऐसे समझा जाये कि उदयावलिका दस समय प्रमाण हैं। उसमें तीन तीन समय के दो त्रिभागों को छोड़ कर चार समय प्रमाण एक त्रिभाग दलिक में निक्षेप करते हैं। यह चार समय रूप त्रिभाग जघन्य निक्षेप का प्रमाण और दो त्रिभाग रूप छह समय प्रमाण जघन्य अतीत्थापना का प्रमाण है।

जब उदयावलिका से ऊपर की दूसरी स्थिति अपवर्तित की जाती है तो अतीत्थापना पूर्वोक्त प्रमाण से एक समय अधिक होती है, किन्तु निक्षेप पूर्वोक्त प्रमाण रहता है। चार समय प्रमाण रूप एक त्रिभाग ही रहता है जब उदयावलिका से ऊपर की तीसरी स्थिति अपवर्तित की जाती है तब अतीत्थापना दो समयाधिक दो त्रिभाग और दलिक निक्षेप पूर्ववत् चार समय प्रमाण एक त्रिभाग ही रहता है। इस प्रकार अतीत्थापना प्रतिसमय एक आवलिका पूर्ण होने तक बढ़ाना चाहिये।

तदनन्तर अतीत्थापना का प्रमाण सर्वत्र एक आवलिका प्रमाण ही रहता है, किन्तु निक्षेप बढ़ता जाता है। इस प्रकार उत्कृष्ट निक्षेप प्रमाण बंधावली, अतीत्थापनावली (अबाधा) को छोड़ कर और अपवर्तमान स्थितिस्थान का एक समय छोड़ कर शेष सम्पूर्ण कर्मस्थिति जानना चाहिये।

सारांश यह है कि अपवर्तना काल में बंधावलिका और समयाधिक अतीत्थापनावलिका को छोड़ कर शेष सभी स्थितियों में उत्कृष्ट निक्षेप होता है तथा बंधावलिका और उदयावलिका को छोड़ कर शेष सभी स्थितियां अपवर्तना योग्य हैं तथा अपवर्तना की अपेक्षा उदयावलिका से ऊपर के स्थिति-स्थान का जघन्य निक्षेप होता है और सर्वोपरितन स्थितिस्थान का उत्कृष्ट निक्षेप प्राप्त होता है।

असत्कल्पना से उक्त कथन का प्रारूप इस प्रकार है –

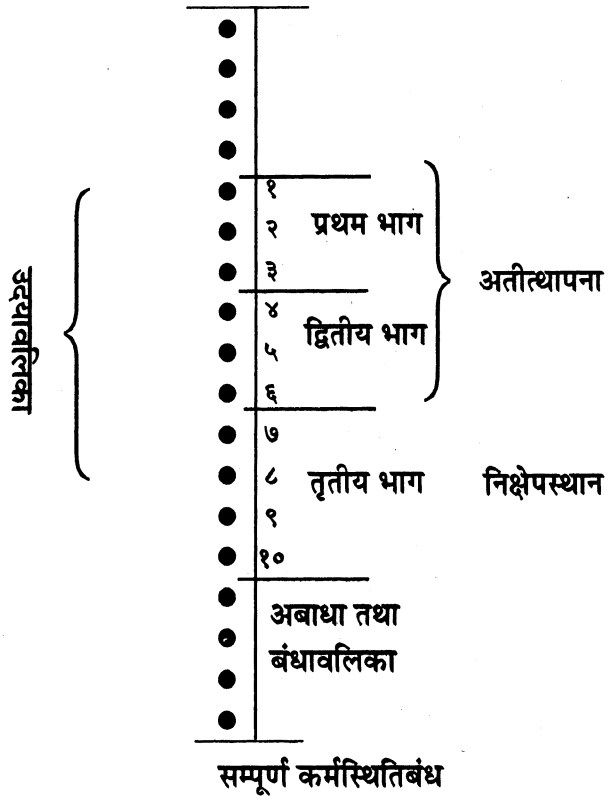

असत्कल्पना द्वारा निर्मित पूर्वोक्त प्रारूप को पुनः विशेष स्पष्ट करते हैं कि –

द्वितीय आवली के प्रथम निषेक का अपकर्षण करके नीचे प्रथमावली में निक्षेपण करें। वहां भी कुछ निषेकों में तो निक्षेपण करते हैं और कुछ निषेक अतीत्थापना रूप रहते हैं। उनका निक्षेप प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिये

१. यदि आवली १६ समय प्रमाण है तो उसमें से एक समय को निकाल देने से अवशेष १५ समयों के पांच पांच समय प्रमाण तीन त्रिभाग बनते हैं। उनमें से निक्षेप रूप जो त्रिभाग है, वह त्रिभाग कुछ अधिक होने से उसमें परित्यक्त एक समय को मिलाने पर ६ समय प्रमाण निषेक और जघन्य अतीत्थापना ५+५ = १० समय प्रमाण होता है।

२. उसके बाद द्वितीयावली के द्वितीय निषेक का अपकर्षण किया, वहां एक समय अधिक आवली मात्र (१६+१=१७) इसके बीच निषेक हैं और उसमें निक्षेप तो नहीं अर्थात् पूर्ववत् निषेक से कम आवली के त्रिभाग से एक समय अधिक हैं। अतीत्थापना पूर्व से एक समय अधिक है क्योंकि द्वितीयावली का प्रथम समय जिसके द्रव्य को पहले अपकर्षण कर दिया गया है, उदयावली हो कर

चित्र १

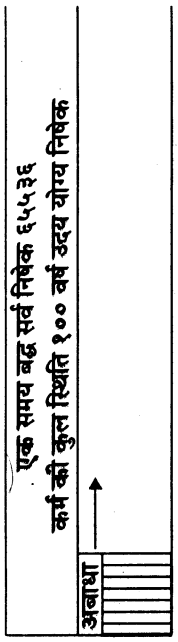

चित्र २

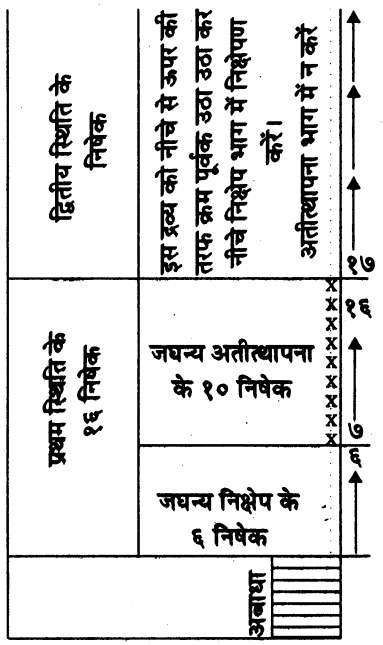

अतीत्थापना के समयों में सम्मिलित हो गया है।

३. इस प्रकार के क्रम से द्वितीयावली के तृतीयादि निषेकों का अपकर्षण होते निक्षेप तो पूर्वोक्त प्रमाण ही और अतीत्थापना एक एक समय अधिक क्रम से जानना। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते अतीत्थापना आवली प्रमाण (अर्थात् १६ निषेक प्रमाण) होती है। यह उत्कृष्ट अतीत्थापना है।

४. यहां से आगे ऊपर के निषेकों का द्रव्य अर्थात् द्वितीयस्थिति के नं. १७ आदि निषेक अपहृत किये जाने पर सर्वत्र अतीत्थापना तो आवली मात्र ही जानना और निक्षेप एक एक समय के क्रम से बढ़ता जाता है। वहां स्थिति के अंतिम निषेक के द्रव्य को अपहृत कर अधोवर्ती निषेकों में निक्षेपण करने पर उस अंतिम निषेक के नीचे आवली मात्र निषेक तो अतीत्थापना रूप है और समय अधिक दो आवली से हीन उत्कृष्ट स्थिति मात्र निक्षेप है। सो इसे उत्कृष्ट निक्षेप जानना।

सर्व स्थितियों में से एक आवलि अबाधा काल और एक आवलि अतीत्थापना काल तथा एक समय अंतिम निषेक का कम करने पर यह उत्कृष्ट निक्षेप प्राप्त होता है।

असत्कल्पना से उसके स्पष्टीकरण का प्रारूप इस प्रकार है –

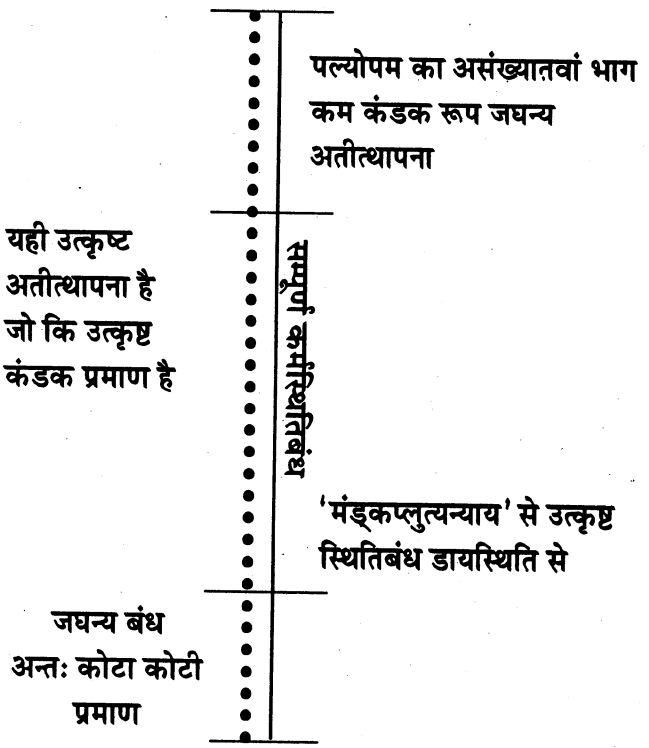

५ – निर्व्याघातभावी और व्याघातभावी स्थिति-अपवर्तना में अन्तर

अव्याघात विधान में अतीत्थापना केवल आवली मात्र रहती है और निक्षेप एक एक समय बढ़ता हुआ लगभग पूर्ण स्थिति प्रमाण हो जाता है। इसलिये वहां स्थितिघात होना संभव नहीं। प्रदेशों का अपकर्षण तो हुआ किन्तु स्थिति का नहीं।

व्याघातविधान में निक्षेप अत्यन्त अल्प है और शेष सर्व स्थिति अतीत्थापना रूप रहती है। अर्थात् अपकृष्ट द्रव्य केवल अल्प मात्र निषेकों में ही मिलाया जाता है, शेष सर्वस्थिति में नहीं।

जैसे निर्व्याघातविधान में आवलि प्रमाण उत्कृष्ट अतीत्थापना प्राप्त होने के पश्चात् ऊपर का जो निषेक उठाया जाता है, उसका समय तो अतीत्थापना के आवली प्रमाण समयों में से नीचे का एक

समय निक्षेप रूप बन जाता है क्योंकि निक्षेप रूप अन्य निषेकों के साथ साथ उसमें भी उत्कृष्ट द्रव्य मिलाया जाता है। इस प्रकार अतीत्थापना में तो एक एक समय की वृद्धि व हानि बराबर बनी रहने के कारण वह तो अन्त समय तक आवली प्रमाण ही रहती है और निक्षेप में बराबर एक एक समय की वृद्धि होने के कारण वह कुछ स्थितियों से केवल अतीत्थापनावली से हीन रहता है।

व्याघात विधान में इससे उल्टा क्रम है। यहां निक्षेप में वृद्धि होने की बजाय अतीत्थापना में वृद्धि होती है। अपकर्षण द्वारा जितनी स्थिति शेष रखी गई उतना ही यहां उत्कृष्ट निक्षेप है। जघन्य निक्षेप का यहां विकल्प नहीं है। तथा उससे पूर्व स्थिति के अंतिम समय तक सर्वकाल अतीत्थापना रूप है। यहां ऊपर वाले निषेकों का द्रव्य पहले उठाया जाता है और नीचे वालों का क्रम पूर्वक उसके बाद लिया जाता है।

निर्व्याघात विधान में प्रति समय एक ही निषेक उठाया जाता है परंतु व्याघात विधान में प्रति समय असंख्यात निषेकों का द्रव्य एक साथ उठाया जाता है।

६ – व्याघातभावी स्थिति संबन्धी स्पष्टीकरण

व्याघात भावी स्थिति अपवर्तना में दलिक निक्षेप का विचार एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति कण्डक तक उत्कृष्ट अतीत्थापना का प्रमाण है। यह उत्कृष्ट अतीत्थापना डायस्थिति का जो प्रमाण है उससे कुछ कम उत्कृष्ट स्थिति कण्डक प्रमाण जानना चाहिये। अन्तःकोटाकोटी सागरोपम प्रमाण बंध से मन्डुक उत्प्लुत्य न्याय के अनुसार उत्कृष्ट स्थिति बंध को डाय स्थिति कहते हैं। जघन्य अतीत्थापना का प्रमाण एक समय कम पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट अतीत्थापना का प्रमाण पूर्वोक्त डायस्थिति से कुछ कम है। इस अपवर्तना में उत्कृष्ट या जघन्य अतीत्थापना का उल्लंघन कर जो ऊपर की स्थितियों के दलिकों का नीचे निक्षेपण किया जाता है, वह दलिक निक्षेप का प्रमाण जानना चाहिये।

व्याघात विधान का समस्त काल एक अन्तर्मुहूर्त हैं। अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात खण्ड हैं और प्रत्येक खंड में क्रम से जितना द्रव्य उठाया जाता है उसको कंडक कहते हैं। इस प्रकार व्याघात काल में असंख्यात कंडक उठा लिए जाते हैं और निक्षेप रूप निषेकों के अतिरिक्त ऊपर के अन्य सर्व निषेकों के समय, द्रव्य से शून्य कर दिये जाते हैं। स्थिति का घात होने के कारण इसे व्याघात कहते हैं।

७ - अनुभाग उद्वर्तना

(स्पष्टीकरण गाथा ७ के अनुसार)

बध्यमान स्थितिस्थान के प्रत्येक स्थान पर असंख्यात अनुभागस्पर्धक होते हैं। विवक्षित कर्म के अंतिम स्थिति गत स्पर्धकों की उद्वर्तना नहीं होती है। इसी प्रकार एक समय कम दो समय कम के क्रम से आवलिका के त्रिभाग गत अनुभागों की उद्वर्तना नहीं होती है, तथा उसके नीचे एक आवलिका प्रमाण अतीत्थापना की स्थिति के अनुभाग स्पर्धकों की भी उद्वर्तना नहीं की जा सकती है, किन्तु उसके नीचे आने पर जो समय मात्र स्थितिगत स्पर्धक होते हैं, उनकी उद्वर्तना अतीत्थापना वाली को छोड़कर होती है। इस प्रकार एक समयाधिक दो समयाधिक के क्रम से निक्षेप बढ़ता जायेगा।

यह उद्वर्तना बंधावलिका तथा अबाधा और एक समय अधिक आवलिका को छोड़कर शेष अनुभाग स्पर्धकों में होती है। असत्कल्पना से इसका दर्शक प्रारूप इस प्रकार है –

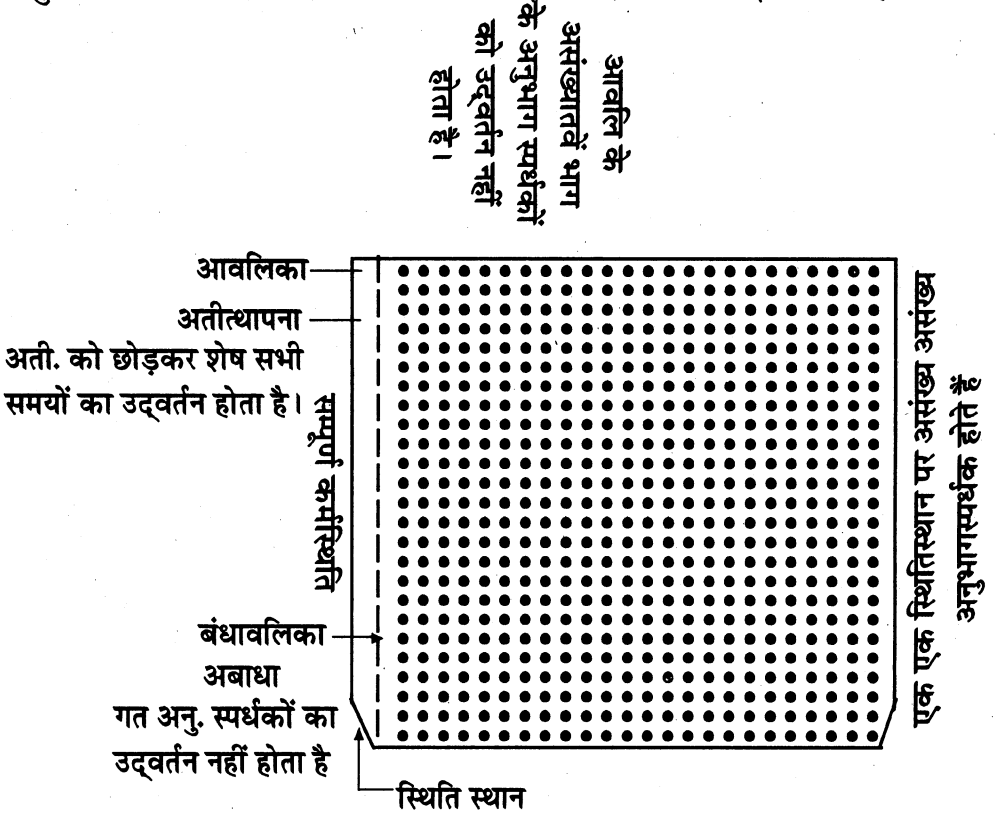

८ - अनुभाग अपवर्तना

(स्पष्टीकरण गाथा ७ के अनुसार)

बन्धावलिका एवं अबाधा गत स्थितियों के अनुभाग स्पर्धकों की अपवर्तना नहीं होती है, किन्तु एक समय अधिक, दो समय अधिक यावत् आवलिका प्रमाण स्थितियों के स्पर्धकों को छोड़कर अपवर्तना होती है। यह अपवर्तन आवलिका में एक समय कम, दो त्रिभागों को छोड़कर एक समय अधिक एक त्रिभाग में अनुभाग स्पर्धकों का निक्षेप किया जाता है, यह जघन्य निक्षेप है।

उत्कृष्ट निक्षेप अतीत्थापनावलिका, बंधावलिका तथा अबाधा को छोड़कर संपूर्ण अनुभाग स्पर्धकों में होती है।

असत्कल्पना से आवलि १० समय प्रमाण है। उसके तीन तीन समय वाले दो त्रिभाग छोड़कर चार समय वाले एक त्रिभाग में अनुभाग स्पर्धकों का जघन्य निक्षेप होता है। इस प्रकार एक समयाधिक, दो समयाधिक दो त्रिभाग को छोड़कर दलिक निक्षेप अतीत्थापना की एक आवली पूर्ण हो तब तक जानना चाहिये।

जघन्य अतीत्थापना दो त्रिभाग, प्रमाण मध्यम दो त्रिभाग एक समय अधिक और पूर्वावलिका के एक समय कम प्रमाण उत्कृष्ट पूर्वावली प्रमाण अतीत्थापना होती है।

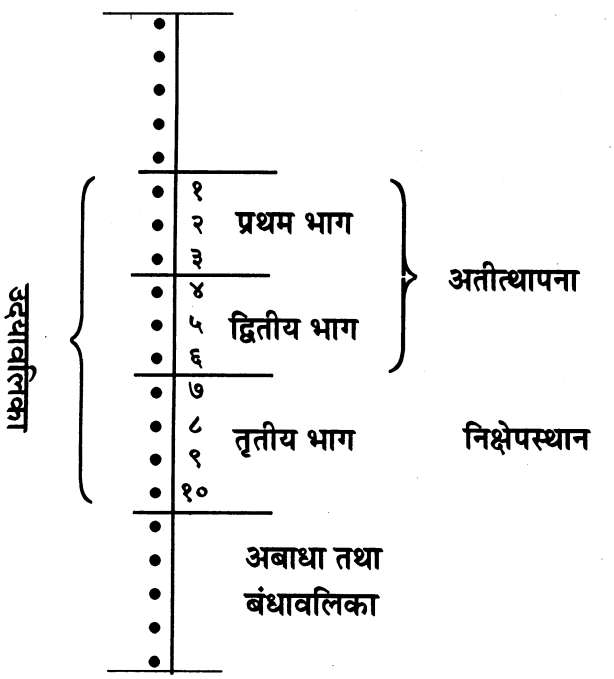

१ - गुणस्थान में मोहनीय कर्म के उदीरणा स्थान और भंगों की संख्या का प्रारूप

उदीरणा	मिथ्यात्व		सास्वादन		मिश्र		अविरत		देशविरत		विरत (प्रमत्ता प्रमत्त)		अपूर्वकरण		अनिवृत्ति करण भंग	सूक्ष्म संपराय भंग	कुल चौबीसी	कुल भंग
स्थान	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग	चौ	भंग				
१० प्र.	१	२४	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१	२४
९ प्र.	३	७२	१	२४	१	२४	१	२४	×	×	×	×	×	×	×	×	६	१४४
८ प्र.	३	७२	२	४८	२	४८	३	७२	१	२४	×	×	×	×	×	×	११	२६४
७ प्र.	१	२४	१	२४	१	२४	३	७२	३	७२	१-१	२४-२४	×	×	×	×	११	२६४
६ प्र.	×	×	×	×	×	×	१	२४	३	७२	३-३	७२-७२	१	२४	×	×	११	२६४
५ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	१	२४	३-३	७२-७२	२	४८	×	×	९	२१६
४ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१-१	२४-२४	१	२४	×	×	३	७२
२ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१२	×	×	१२
१ प्र.	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	४	१	×	५
योग	८	१९२	४	९६	४	९६	८	१९२	८	१९२	८-८	१९२ -१९२	४	९६	१६	१	५२	१२६५

कुल भंग १२६५ होते हैं।

२ - जीवभेदों में नाम कर्मों के उदीरणा स्थान और भंगों की संख्या

उदीरणा स्थान	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	सामान्य तिर्यंच		वैक्रिय तिर्यंच		सामान्य मनुष्य		वैक्रिय मनुष्य		आहारक मनुष्य	सामान्य केवली	तीर्थंकर	स्वमत देव मतांतर (परमत)	नारक	स्वमत भंग	परमत भंग
					स्वमत	परमत	स्वमत	परमत	स्वमत	परमत	स्वमत	परमत							
४१ प्रकृ.	५	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	१	×	×	×	१	१
४२ प्रकृ.	५	३	३	३	५	९	×	×	५	९	×	×	×	×	१	४-८	१	३०	४२
५० प्रकृ.	११	×	×	–	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	११	११
५१ प्रकृ.	७	×	×	–	×	×	४	८	×	×	४	८	१	×	×	४-८	१	२१	३३
५२ प्रकृ.	१३	३	३	३	१४५	२८९	×	×	१४५	२८९	×	×	×	×	×	×	×	३१२	६००
५३ प्रकृ.	६	×	×	×	×	×	४	८	×	×	४	८	१	×	१	४-८	१	२१	३३
५४ प्रकृ.	×	२	२	२	२८८	५७६	८	१६	२८८	५७६	५	९	२	×	×	८-१६	१	६०६	१२०२
५५ प्रकृ.		४	४	४	५७६	११५२	८	१६	२८८	५७६	५	९	२	×	१	८-१६	१	९०१	१७८५
५६ प्रकृ.		६	६	६	८६४	१७२८	४	८	५७६	११५२	१	१	१	×	१	४-८	×	१४६९	२९१७
५७ प्रकृ.		४	४	४	५७६	११५२	×	×	×	×	×	×	×	×	१	×	×	५८९	११६५
कुल	४२	२२	२२	२२	२४५४	४९०६	२८	५६	१३०२	२६०२	१९	३५	७	१	५	३२-६४	५	३९६१	७७८९

इस प्रकार स्व मत में कुल ३९६१ और परमत में ७७८९ उदीरणा भंग जानना चाहिये।

उदीरणाकरण गाथा ८४ के सन्दर्भ में

"प्रभूतं ही दुःखं अनुभवन् प्रभूता पुद्गलान् परिसाटयति" प्रभूत दुःख का अनुभव करती हुई आत्मा प्रभूत पुद्गलों का परिसाटन निर्जरा करती है।

टीकान्तर्गत आया हुआ यह वाक्य सामान्य स्थिति का प्रतिपादन करता है किन्तु विशेष दृष्टि की अपेक्षा से अनुभूति में अन्तर आ जाता है। सम्यक्त्वी आत्मा समभावपूर्वक प्रभूत कर्मवर्गणा के उदय आने पर भी दुःखानुभव अत्यल्प मात्रा में करती है। विशिष्टात्मा तो दुःखानुभव नहींवत् करती है। किन्तु अज्ञानी जीव उतने कर्मवर्गणाओं के उदय आने की अवस्था में अत्यधिक दुःख का अनुभव करती है। इसका मूल हेतु सम्यक्त्व, मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्वावस्था में रहती हुई आत्मा अत्यधिक दुःख का अनुभव करने पर भी अत्यल्प कर्म की निर्जरा करती है। प्रभूत कर्मों का बंधन कर लेती है। किन्तु सम्यक्त्व अवस्था में रहती हुई आत्मा अत्यल्प दुःख का अनुभव करती हुई भी अत्यधिक कर्मों की निर्जरा करती है।

१ "विषम चतुरस्त्र स्थापना का प्रारूप एवं स्पष्टीकरण"

(उपशमनाकरण गाथा ९ के सन्दर्भ में)

१. यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के प्रतिसमय अध्यवसायस्थान नाना जीवों की अपेक्षा असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं, यथा – यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में विशुद्धिस्थान नाना जीवों की अपेक्षा असंख्येय लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं, द्वितीय समय में विशेषाधिक हैं इस प्रकार यावत् यथाप्रवृत्तकरण के चरम स्थान तक जानना चाहिये।

२. अपूर्वकरण में विशुद्धिस्थान यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय से विशेषाधिक है। द्वितीयादि विशुद्धिस्थानों में भी विशेषाधिकता यावत् अपूर्वकरण के चरम समय तक कहना चाहिये।

३. विषम चतुरस्र स्थापना में प्रथम स्थान के शून्य असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं जो अध्यवसाय स्थान के सूचक हैं। द्वितीयादि समय में विशेषाधिक हैं जिन्हें द्वितीयादि पंक्तियों में शून्यों की अधिकता द्वारा प्रदर्शित किया है।

४. प्रारूप में यथाप्रवृत्तकरण का चरम समय असत्कल्पना से पांचवी पंक्ति में समाप्त किया है।

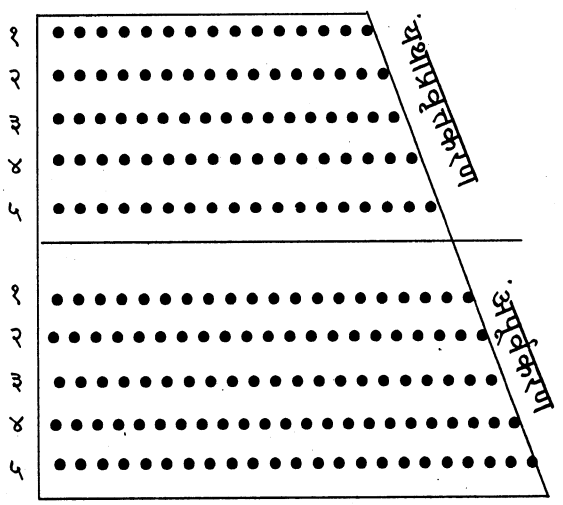

५. विषम चतुरस्र स्थापना में यथाप्रवृत्तकरण के चरम स्थान की अपेक्षा अपूर्वकरण के प्रथम स्थान के विशुद्धिस्थानों की अधिकता यथाप्रवृत्तकरण के अंतिम स्थान से नीचे के स्थान में शून्यों की अधिकता द्वारा प्रदर्शित की है। इसी प्रकार द्वितीयादि स्थानों में शून्यों की अधिकता उत्तरोत्तर विशेषाधिकता को प्रदर्शित करती है।

६. अपूर्वकरण की उत्तरोत्तर चरम समय तक की विशेषाधिकता असत्कल्पना से पांच पंक्तियों से बताई गई है

२. मुक्तावली का प्रारूप और स्पष्टीकरण

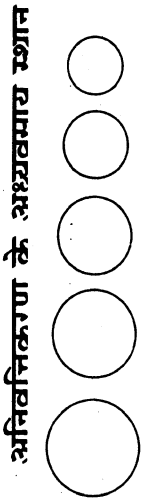

यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के अध्यवसायस्थानों के ऊपर अनिवृत्तिकरण के अध्यवसायस्थान अनन्त गुणवृद्ध हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण प्रतिसमय अनन्त गुणवृद्ध हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण में प्रति समय अनन्त गुणवृद्धि जानना चाहिये। मुक्तावली के मोती अध्यवसाय के द्योतक हैं। मुक्तावली के मोती जो सबसे छोटा प्रतीत होता है। वह पूर्व के दो करणों की अपेक्षा अनन्त गुणवृद्ध अध्यवसायों का द्योतक है। आगे के सभी मोती आकार से पूर्व की अपेक्षा प्रवर्द्धमान आकार वाले बताये हैं। इससे यह स्पष्ट किया है कि पूर्व के स्थितिस्थानों के आगे के स्थितिस्थान प्रतिसमय अनन्तगुणवृद्ध जानना चाहिये।

३. षट्स्थानपतित का प्रारूप और स्पष्टीकरण

(उपशमनाकरण गा. १०,११ के सन्दर्भ में)

कल्पना से दो पुरुष युगपद करण को स्वीकार करते हैं – जिसमें एक तो सर्वजघन्यश्रेणी से स्वीकार करता है और दूसरा सर्वोत्कृष्टश्रेणी से।

प्रथम जीव के प्रथम समय में सर्व जघन्य विशुद्धि सर्वस्तोक है, जिसे प्रारूप में १ का अंक देकर बताया है। उससे आगे के द्वितीय विशुद्धिस्थान यथाप्रवृत्तकरण के संख्येय भाग तक अनन्त गुणे कहना चाहिये। जिसे प्रारूप में २ से ९ के अंक पर्यन्त जानना।

इसके बाद प्रथम समय में द्वितीय जीव के उत्कृष्ट विशुद्धिस्थान अनन्त गुण है जिसे प्रारूप में ९ के बाद के सामने १ के अंक से बताया है। जिस जघन्य विशुद्धिस्थिति स्थान से निवृत्त हुये हैं, उससे उपरितन की विशुद्धि अनन्त गुणी है, जिसे दस के अंक से बताया है। इससे द्वितीय समय की उत्कृष्ट

विशुद्धि अनन्तगुणी है, जिसे दो के अंक से बताया है। इस प्रकार एक एक विशुद्धिस्थान अनन्त गुणे अनन्त गुणे दोनों जीवों की अपेक्षा तब तक जानना यावत् जघन्य विशुद्धि का चरम समय आता है। जिसे प्रारूप में ३-१२, ४-१३, ५-१४ आदि अंक १०० पर्यन्त लेना। अर्थात् असत् कल्पना से १०० का अंक जघन्य विशुद्धि का चरम समय है। उसके समक्ष ९ ' अंक उत्कृष्ट विशुद्धि का स्थान है। उसके बाद चरम को अभिव्याप्त करके जो जो अनुक्त विशुद्धिस्थान हैं, उन्हें क्रमशः अनन्त गुण अनन्त गुण उत्कृष्ट विशुद्धि पर्यन्त कहना, जिसे प्रारूप में ९२ से १०० के अंक तक बताया है।

यहां यथाप्रवृत्तकरण समाप्त हुआ। इसे पूर्वप्रवृत्त भी कहते हैं क्योंकि यह अन्य करणों से सर्वप्रथम होता है। इस यथाप्रवृत्तकरण में स्थितिघात, रसघात अथवा गुणश्रेणी आदि न होकर केवल विशुद्धि ही अनन्त गुणी अनन्त गुणी होती है। इन जीवों के अप्रशस्त कर्म का स्थितिबंध द्विस्थानक ही होता है और शुभ प्रकृतियों का चतुस्थानक। एक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर अन्य स्थिति को पल्योपम के संख्येय भाग न्यून बांधता है।

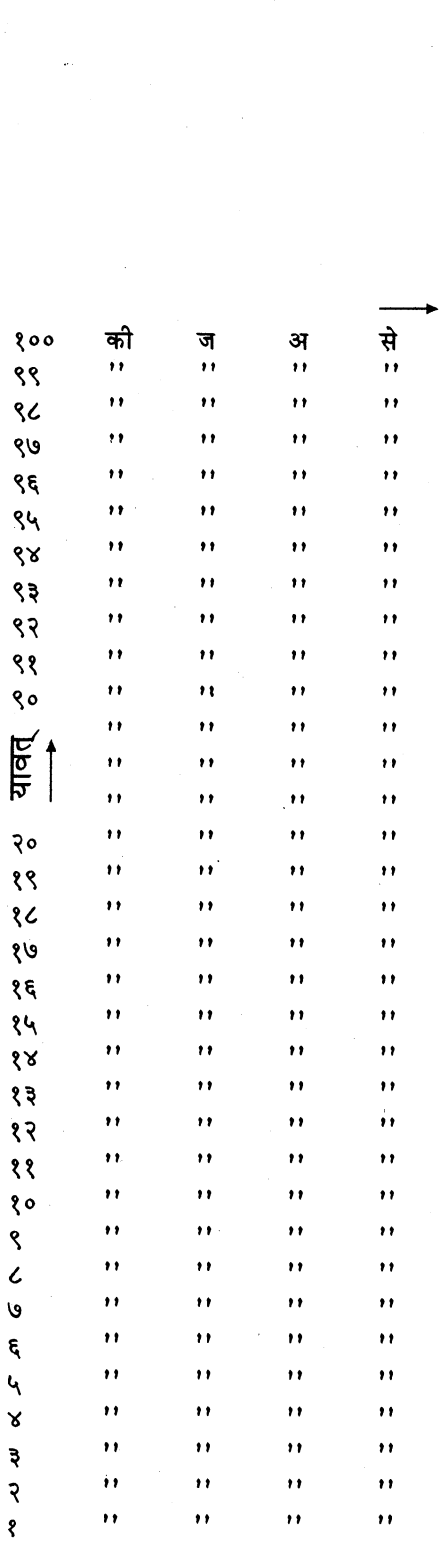
१०० की ज अ से
९९ " " " "
९८ " " " "
९७ " " " "
९६ " " " "
९५ " " " "
९४ " " " "
९३ " " " "
९२ " " " "
९१ " " " "
९० " " " "
" " " "
" " " "
" " " "
२० " " " "
१९ " " " "
१८ " " " "
१७ " " " "
१६ " " " "
१५ " " " "
१४ " " " "
१३ " " " "
१२ " " " "
११ " " " "
१० " " " "
९ " " " "
८ " " " "
७ " " " "
६ " " " "
५ " " " "
४ " " " "
३ " " " "
२ " " " "
१ " " " "
यावत्
१०० की उ अ से
९९ " " " "
९८ " " " "
९७ " " " "
९६ " " " "
९५ " " " "
९४ " " " "
९३ " " " "
९२ " " " "
९१ " " " "
९० " " " "
८९ " " " "
८८ " " " "
८७ " " " "
८६ " " " "
८५ " " " "
८४ " " " "
८३ " " " "
८२ " " " "
८१ " " " "
" " " "
" " " "
" " " "
११ " " " "
१० " " " "
९ " " " "
८ " " " "
७ " " " "
६ " " " "
५ " " " "
४ " " " "
३ " " " "
२ " " " "
१ " " " "
यावत्

४. अपूर्वकरण में विशुद्धिस्थानों का स्पष्टीकरण

(उपशमनाकरण गा. १०,११ के सन्दर्भ में)

अपूर्वकरण में प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि सर्वस्तोक है, किन्तु यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि की अपेक्षा अनन्त गुणी है। अतः प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि भी अनन्त गुणी है। जिसे प्रारूप में १, २, के अंक देकर बताया है।

उससे द्वितीय समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी है, जिसे अंक ३ से बताया गया है। उससे उसी के द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी है जिसे चार के अंक से बताया है।

उससे तृतीय समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी है जिसे पांच के अंक से बताया गया है उससे उसी तृतीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी है जिसे ६ के अंक से बताया है।

इस प्रकार एक जघन्य एक उत्कृष्ट विशुद्धि तब तक कहना यावत् चरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि आती है। इसे प्रारूप में असत् कल्पना से १४ के अंक से बताया है। प्रारूप इस प्रकार है –

१. प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि सर्वाल्प

२. प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी

३. द्वितीय समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी

४. द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी

५. तृतीय समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी

६. तृतीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी

७. चतुर्थ समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी

८. चतुर्थ समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी

९. पंचम समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी

१०. पंचम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी

११. षष्ठ समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी

१२. षष्ठ समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी

१३. सप्तम समय की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी

१४. सप्तम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्त गुणी

५. आठ भंगों के नाम और उनका स्पष्टीकरण

(उपशमनाकरण गा. २८, २९ से संबंधित)

१. जानते नहीं है, ग्रहण नहीं करते हैं, पालन नहीं करते हैं।	सर्वलोक
२. जानते नहीं हैं, ग्रहण नहीं करते हैं, पालन करते हैं।	अज्ञानी बाल तपस्वी
३. जानते नहीं हैं, ग्रहण करते हैं, पालन नहीं करते हैं।	अगीतार्थ
४. जानते नहीं हैं, ग्रहण करते हैं, पालन करते हैं।	अगीतार्थ
५. जानते हैं, ग्रहण नहीं करते हैं, पालन नहीं करते हैं।	श्रेणिक आदि
६. जानते नहीं हैं, ग्रहण नहीं करते हैं, पालन करते हैं।	अनुत्तर विमानवासीदेव
७. जानते हैं, ग्रहण करते हैं, पालन नहीं करते हैं।	संविग्न पाक्षिक
८. जानते हैं, ग्रहण करते हैं, पालन करते हैं।	महाव्रतधारी

उक्त आठ भंगों में से आदि के चार भंगों को सम्यक् ज्ञान से शून्य माना है। लेकिन यह बात भंगों की शैली से उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है।

आदि के दो भंग तो सम्यक् ज्ञान से शून्य कहे जा सकते हैं परन्तु तीसरा भंग ऐसा नहीं है। क्योंकि तीसरे भंग में विशेष प्रकार से जानता नहीं है, लेकिन उसका आदर करता है। आदर करके भी पालन नहीं कर सकता है, इस दृष्टि से भले ही उसको पूर्व के दो भंगों की श्रेणी में डाल दें, परन्तु इसमें अंतरंग दृष्टि से वह जीव आंशिक रूप से सम्यक्त्व की दिशा के अभिमुख हो सकता है। चौथा भंग जिसमें यह कहा गया है कि वह जानता नहीं है किन्तु आदर करता है और पालता है। यहां नहीं जानने का तात्पर्य सर्वथा नहीं जानता है, ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि आदर करता है, पालता है, उससे यह कहा जा सकता है कि उसे सामान्य जानकारी तो है ही लेकिन विशेष ज्ञान या जानकारी नहीं होने से नहीं जानता है ऐसा कथन किया गया है। ऐसा व्यक्ति जो विशिष्ट श्रुत से केवल अनिभिज्ञ रहता हुआ अगीतार्थ सम्यग्दृष्टि की श्रेणी में ग्रहण किया जा सकता है पांचवां भंग जो जानता है, पर पालन करने की दृष्टि से आदर नहीं करता है, परन्तु श्रद्धा रूप से आदर कर पालन करने की भावना उसमें रहती है। ऐसे व्यक्ति श्रेणिक आदि कहे जा सकते हैं। छठा भंग जानते हैं लेकिन व्रत प्रत्याख्यान को स्वीकार नहीं करने से आदर नहीं करते हुये भी पालन करते हैं, ऐसे अनुत्तर विमानवासी देव। सातवें भंग का स्वामी जानता है व्रत प्रत्याख्यान करने रूप आदर करता है लेकिन पालन नहीं कर पाता है ऐसा संविग्न पाक्षिक पार्श्वस्थ साधु। आठवें भंग का स्वामी जानता है, उसके अनुरूप आदर करता है, और पालता भी है। ऐसा देशव्रती श्रावक एवं सर्वरति व्रतधारी साधु दोनों ही अपने अपने स्थान पर ग्रहण किये जा सकते हैं।

६. अनन्तानुबंधी के उपशमना विधान का स्पष्टीकरण

(उपशमनाकरण गाथा ३१ के सन्दर्भ में)

चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम करने के लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है।

यथाप्रवृत्तकरण में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। जिससे शुभ प्रकृतियों के अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग की हानि होती है, किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी अथवा गुणसंक्रमण नहीं होते हैं। यथाप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त है।

यथाप्रवृत्तकरण का काल समाप्त होने पर दूसरा अपूर्वकरण होता है। इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थितिबंध ये पांचों कार्य होते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय में कर्मों की जो स्थिति होती हैं स्थितिघात के द्वारा अंतिम समय में वह संख्यात गुणी हीन कर दी जाती है। रसघात द्वारा अशुभ प्रकृतियों का रस क्रमशः क्षीण कर दिया जाता है, गुणश्रेणी रचना में प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में से प्रतिसमय कुछ दलिक ले लेकर उदयावलिका के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में उनका निक्षेप कर दिया जाता है। वह इस प्रकार, पहले समय में जो दलिक लिये जाते हैं, उनमें से सबसे कम दलिक प्रथम समय में स्थापित किये जाते हैं, उससे असंख्यात गुणे दलिक दूसरे समय में, उससे असंख्यात गुणे दलिक तीसरे समय में स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल के अंतिम समय तक असंख्यात गुणे असंख्यात गुणे दलिकों का निक्षेप किया जाता है।

दूसरे आदि समयों में भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है। लेकिन इतना विशेष है कि गुणश्रेणी की रचना के लिये पहले समय में जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे अल्प होते हैं और उसके पश्चात प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण किया जाता है। तथा दलिकों का निक्षेप अवशिष्ट समयों में ही किया जाता है, अन्तर्मुहूर्त काल से ऊपर के समयों में नहीं किया जाता है।

गुणसंक्रमण के द्वारा अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबंधी आदि अशुभ प्रकृतियों के अल्प दलिकों का अन्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है। तत्पश्चात् प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे दलिकों का अन्य प्रवृतियों में संक्रमण होता है तथा अपूर्वकरण के प्रथम समय से ही स्थितिबंध भी अपूर्व अर्थात् सर्वस्तोक होता है। अपूर्वकरण का काल (समय) समाप्त होने पर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समय से ही पूर्वोक्त स्थितिघात आदि पांचों कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त

ही है। उसमें से संख्यात भाग बीत जाने पर एक भाग शेष रहता है तब अनन्तानुबंधी कषाय के एक आवलि प्रमाण नीचे के निषेकों को छोड़कर शेष निषेकों का अन्तरकरण किया जाता है। जिन अन्तर्महूर्त प्रमाण दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहां से लेकर बंधने वाली अन्य प्रकृतियों में स्थापित कर दिया जाता है। अन्तरकाल के प्रारम्भ होने पर दूसरे समय में अनन्तानुबंधी कषाय के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों का उपशम किया जाता है पहले समय में थोड़े दलिकों का उपशम किया जाता है, दूसरे समय में उससे असंख्यात गुणे दलिकों का, तीसरे समय में उससे भी असंख्यात गुणे दलिकों का उपशम किया जाता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक इसी तरह असंख्यात गुणे असंख्यात गुणे दलिकों का प्रति समय उपशम किया जाता है। जिससे इतने समय में सम्पूर्ण अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम हो जाता है। जैसे धूलि पर पानी डाल कर कूट देने से वह दब जाती है और फिर हवा आदि से उड़ नहीं सकती है, उसी तरह कर्मरज भी विशुद्धि रूपी जल के द्वारा सींच कर अनिवृत्तिकरण रूपी दुरमुट से कूट दिये जाने पर उदय, उदीरणा, निधत्ति आदि करणों के अयोग्य हो जाती है। इसे ही अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम कहते हैं।

७. उपशमना के भेदों की व्याख्या

(गाथा १ से संबंधित)

उपशमनाकरण में उपशमना के दो भेद प्रतिपादित किये गये हैं –

१. करणकृत उपशमना, २. अकरणकृत उपशमना। इन दोनों में अकरणकृत उपशमना के पुनः दो भेद प्रतिपादित किये गये हैं – १. अकरणकृत उपशमना, २. अनुदीर्णोयशमना।

अकरणकृत उपशमना के उभय भेदों का नामांकन तो ग्रन्थकार एवं टीकाकार दोनों ने ही किया है। किन्तु इसकी व्याख्या उपलब्ध नहीं होने से, इसकी व्याख्या में कुशल अनुयोगधरों को नमस्कार करते हुये इस प्रकरण की व्याख्या छोड़ दी गई है।

इन दोनों उपशमनाओं की संक्षिप्त व्याख्या निम्न प्रकार से समझी जा सकती है –

१. अनुदीर्णोपशमना – कुछ एक आत्माएं उदय में आये हुये कर्मों का उपभोग करती करती इतनी अभ्यस्त बन जाती हैं कि जिससे प्रभूत कर्मों के उदय में आने पर भी अभ्यासबशात् अज्ञानतापूर्वक इन कष्टों को झेलने में समर्थ हो जाती हैं। जैसे एक व्यक्ति की प्रतिदिन पिटाई की जाती है तब वह उस पिटाईजनित वेदना से अभ्यस्त हो जाता है, तत्पश्चात् उसकी कितनी ही पिटाई की जाये तथापि उस पिटाईजनित वेदना - दुःख रूप वेदन प्रायः उस व्यक्ति के बंद सा हो जाता है। यही अवस्था अनुदीर्णोपशमना वाली आत्माओं में होती है। उस अवस्था में वे आत्माएं पाप कर्मों को वेदते वेदते अत्यधिक अरुचि का अनुभव

करती हुई उदयजनित विषयों से प्रायः अनासक्त बन जाती है। परिणामस्वरूप पूर्व के कर्म क्षय होने और नवीन कर्मों का संचय स्वल्प होने से वे आत्माएं भवान्त अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी अवस्था को अनुदीर्णोपशमना की संज्ञा दी जा सकती है।

भवान्त - अवस्था भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होते होते आ जाती है न कि सम्यक्साधना करके अनुदीर्णोपशमना में ऐसी अवस्था लाई जाती है।

२. अकरणकृतोपशमना — अनुदीर्णोपशमना एवं अकरणकृतोपशमना ये दोनों भेद निसर्गता की ओर इंगित करते हैं अर्थात् इस अनादिकालीन विराट संसार के बीच में कई आत्माएं ऐसी भी हुई, हो रही हैं और होंगी जो कि यथाप्रवृत्तादिकरण रूप क्रियाओं के अभाव में भी उपशमना से सम्पन्न बन जाती हैं। काललब्धि के परिपाक होने पर वे आत्माएं स्वाभाविक रूप से कर्मों का उदय आने पर भी उनके प्रति रूचिवान नहीं होती।

अतः उनके पूर्व संचित कर्मों का संक्षय एवं नूतन कर्मों का स्वभावतः स्वल्प स्वल्प बंधन होने से अनुदीर्णोपशमना की संज्ञा से अभिव्यंजित हो जाती है।

उपर्युक्त दो प्रकार की उपशमनाएं सम्यक् ज्ञानपूर्वक नहीं होने से भगवान की आज्ञा के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती हैं। क्योंकि ये उपशमनाएं अनाभोगपूर्वक होती हैं।

उपशमनाकरण गाथा २४ का स्पष्टीकरण

विशेष ज्ञान नहीं रखने वाला साहसिक पुरुष ज्ञानावरणीयकर्म के विपाकोदय के सान्निध्य मात्र से उत्पन्न होने वाला बोध सम्यक्त्व का प्रतिबंधक नहीं होता है। क्योंकि सम्यक्त्व का प्रतिबंधक तिथ्यात्व मोहनीय है। एक ही प्रवचन के अर्थ में अभिनिवेश से असद्भूत श्रद्धान में उससे इतर सकल सद्भूतार्थ श्रद्धान भी अश्रद्धान तुल्य होने से गुरुनियोग जनित जो उपदेश है वह उपदेश शिष्य श्रवण करता है। उस शिष्य को उसका यथार्थ बोध नहीं है। ऐसा शिष्य 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइंय' के सिद्धान्तानुसार उस पर विश्वास कर लेता है वह मार्गानुसारी कहलाता है क्योंकि वह स्वयं अगीतार्थ है और तथाकथित गीतार्थ के अनभिनिवेश को नहीं समझने के कारण उसको मार्गानुसारी कहा गया है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिनवाणी के एकांश पर भी असद्भूत श्रद्धान करने वाले मिथ्यादृष्टि गुरु के प्रतिपादित सिद्धान्तों पर शिष्य अगीतार्थ होने से इस विश्वास के साथ श्रद्धान करता है कि गुरु महाराज जिनवाणी के अनुरूप ही प्रवचन फरमा रहे हैं। तो ऐसी आत्माओं की असद्भूत अर्थ पर श्रद्धा होते हुए भी उनके मिथ्यात्व की स्थिति नहीं आती है क्योंकि उनमें अभिनिवेश की स्थिति नहीं होती है।

१. उदयप्रकरण गाथा ३२ के सन्दर्भ में

कर्मग्रन्थकार एकेन्द्रिय जीवों में किसी प्रकार का संहनन नहीं मानते हैं किन्तु सिद्धान्तकार एकेन्द्रिय में सेवार्त संहनन स्वीकार करते हैं। जैसा कि शास्त्र (जीवाभिगमसूत्र) में पृथ्वीकाय संबंधी प्रकरण में प्रश्न किया गया है - 'से किं तं संघयणा पण्णता - गोयमा छेवट्ट संघयणा पण्णत्ता।'

यह शास्त्रकार का अभिप्राय युक्तिसंगत प्रतीत होता है क्योंकि सभी तिर्यंच और मनुष्यों में औदारिकादि तीन शरीर अनिवार्यरूप से पाये जाते हैं। औदारिक शरीर की जिन औदारिक पुद्गल वर्गणाओं से संरचना होती है वह संरचना सेहनन के बिना शक्य नहीं हो सकती है। जिस प्रकार पुद्गलों के महास्कंध में जितनी शक्ति होती है उतनी शक्ति एक परमाणु में नहीं हो सकती तथापि उसमें शक्ति का बिल्कुल अभाव नहीं बताया जा सकता। ठीक इसी प्रकार महाशक्ति सम्पन्न औदारिक शरीर में जहां वज्रऋषभ-नाराच संहनन की स्थिति बनती है। उससे कम कम शक्ति सम्पन्न शरीर में क्रमशः अर्द्धऋषभ नाराच, ऋषभ नाराच आदि संहननों की स्थिति बनती है किन्तु जिस जीव का औदारिक शरीर बहुत अल्प है उसकी अल्पतम शक्ति का सामान्य बुद्धि वाले साधकों को बोध नहीं हो सके किन्तु केवली की दृष्टि में अल्पतम तत्व का भी स्पष्ट ज्ञान होता है। उस अल्पतम शक्ति की अपेक्षा उसमें (एकेन्द्रिय में) सेवार्तिसंहनन प्रतिपादित किया है।

२. सत्ताप्रकरण गाथा ४ से संबंधित

सत्ताप्रकरण गाथा ४ में गुणस्थानों में मिथ्यात्व की सत्ता कहां कहां विद्यमान है इस विषय का प्रतिपादन किया गया है। तदन्तर्गत आदि के तीन गुणस्थानों में मिथ्यात्व की अनिवार्यरूप से विद्यमानता प्रतिपादित की है किन्तु चतुर्थ गुणस्थान से ले कर ग्यारहवें गुणस्थानपर्यन्त मिथ्यात्व की सत्ता की भजना कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि इन गुणस्थानों में मिथ्यात्व की सत्ता हो भी सकती है और नहीं भी। उपर्युक्त आठ गुणस्थानों में जहां मिथ्यात्व संबंधी प्रकृतियों का क्षय हो चुका है, वहां मिथ्यात्व की सत्ता नहीं रहती, किन्तु जहां मिथ्यात्व संबंधी प्रकृतियों का क्षयोपशम या उपशम है, वहां मिथ्यात्व संबंधी प्रकृतियां विद्यमान रहेंगी।

इसका आशय यह है कि अविरति सम्यक्दृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व का क्षय नहीं हुआ, सत्ता में विद्यमान है। किन्तु उपशम या क्षयोपशम की अवस्था में औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो अवश्य मानी गई है। मिथ्यात्व की सत्ता मात्र से क्षयिक सम्यक्त्व के अतिरिक्त अन्य सम्यक्त्व का अभाव नहीं माना गया है। वैसे ही दूसरे सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व की सत्ता तो रही हुई है, उदय में नहीं है। फिर भी अनन्तानुबंधीचतुष्क का उदय हो चुका है ऐसी अवस्था में चतुर्थ

गुणस्थानवर्ती उपशम सम्यक्त्व वाला उपशम सम्यक्त्व से गिरता हुआ दूसरे गुणस्थान में जाता है। उस समय अनन्तानुबंधी का उदय होने पर भी मिथ्यात्व के उदय में अभी तक जघन्य एक समय उत्कृष्ट षडावलिका अवशेष है। अतः जब तक मिथ्यात्व का उदय नहीं आता तब तक उसमें सास्वादन सम्यक्त्व की स्थिति रहती है। परन्तु इस गुणस्थान में क्षय या क्षयोपशम की प्रक्रिया संभव नहीं है, इसलिये मिथ्यात्व की सत्ता नियमा से समझना चाहिये। किन्तु मिथ्यात्व की सत्ता मात्र से सास्वादन सम्यक्त्व, मिथ्यात्व नहीं कहला सकता। यदि मिथ्यात्व की सत्ता मात्र से या मिथ्यात्वोदय का निश्चित रूप से आने वाला होने की अपेक्षा उसे मिथ्यात्वी माना जाये तो उपशम सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में गिरने वाले जीव को मिथ्यात्व का उदय आने की अपेक्षा उसे मिथ्यात्वी कहना होगा। इसी प्रकार क्षयोपशम सम्यक्त्व के विषय में समझना चाहिये। इस प्रकार की चिन्तना से तो मिथ्यात्व के क्षय होने पर ही सम्यक्त्व मानी जायेगी। तब क्षयोपशम या उपशम सम्यक्त्व का कोई महत्त्व नहीं हो सकता जो कर्मग्रन्थकार को भी कभी इष्ट नहीं हो सकता। इस आशय को समझे बिना कर्म के अध्येता कुछ विद्वानों ने सास्वादन सम्यक्त्व की मिथ्यात्व की श्रेणी में परिगणना की है जो कि कर्मसिद्धान्त एवं आगमसिद्धान्त दोनों सिद्धान्तों से उपयुक्त नहीं लगती।

सिद्धान्तकार जैसे सास्वादन सम्यक्त्व मानते हैं वैसे ही सत्ता प्रकरण की गाथा ४ का अभिप्राय भी स्पष्टतया सिद्धान्त के अनुरूप फलित होता है। यथा — 'आसादने सासादने सम्यक्त्वं नियमादस्ति।'

३. मूल कर्म बंध में बंध-स्थान उदय-स्थान सत्ता-स्थान प्रारूप

(सत्ता प्रकरण गाथा ५२ के सन्दर्भ में)

क्रम	कर्म का नाम	बंध-स्थान				उदय-स्थान			सत्ता-स्थान		
		८	७	६	१	८	७	४	८	७	४
१.	ज्ञानावरण	१	१	१	X	१	X	X	१	X	X
२.	दर्शनावरण	१	१	१	X	१	X	X	१	X	X
३.	वेदनीय	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
४.	मोहनीय	१	१	X	X	१	X	X	१	X	X
५.	आयु	१	X	X	X	१	X	X	१	X	X
६.	नाम	१	१	१	X	१	X	X	१	X	X
७.	गोत्र	१	१	१	X	१	X	X	१	X	X
८.	अन्तराय	१	१	१	X	१	X	X	१	X	X

४. मूल कर्म के उदय में बंध-स्थान उदय-स्थान सत्ता-स्थान प्रारूप

(सत्ता प्रकरण गाथा ५२ के सन्दर्भ में)

क्रम	कर्म का नाम	बंध-स्थान				उदय-स्थान			सत्ता-स्थान		
		८	७	६	१	८	७	४	८	७	४
१.	ज्ञानावरण	१	१	१	१	१	१	X	१	१	X
२.	दर्शनावरण	१	१	१	१	१	१	X	१	१	X
३.	वेदनीय	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
४.	मोहनीय	१	१	१	X	X	१	१	X	X	X
५.	आयु	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
६.	नाम	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
७.	गोत्र	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
८.	अन्तराय	१	१	१	१	१	१	X	१	१	X

५. मूल कर्म की सत्ता में बंध-स्थान उदय-स्थान सत्ता-स्थान प्रारूप

(सत्ता प्रकरण गाथा ५२ के सन्दर्भ में)

क्रम	कर्म का नाम	बंध-स्थान				उदय-स्थान			सत्ता-स्थान		
		८	७	६	१	८	७	४	८	७	४
१.	ज्ञानावरण	१	१	१	१	१	१	X	१	१	X
२.	दर्शनावरण	१	१	१	१	१	१	X	१	१	X
३.	वेदनीय	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
४.	मोहनीय	१	१	१	१	१	X	X	१	X	X
५.	आयु	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
६.	नाम	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
७.	गोत्र	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
८.	अन्तराय	१	१	१	१	१	१	X	१	१	X

६. बन्धादि स्थानों के जघन्योत्कृष्ट काल का प्रारूप

(सत्ता प्रकरण गाथा ५२ के सन्दर्भ में)

क्रम	स्थान का नाम	जघन्य काल	उत्कृष्ट काल	गुण स्थान
१.	८ का बंधस्थान	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	तीसरे के सिवाय १ से ७
२.	७ का बंधस्थान	अन्तर्मुहूर्त	छह मास हीन ३३ सागरोपम अधिक अन्तर्मुहूर्त हीन पूर्व क्रो. का तीसरा भाग	१ से ९ गुण स्थान
३.	६ का बंधस्थान	१ समय	अन्तर्मुहूर्त	१०वां गुणस्थान
४.	१ का बंधस्थान	१ समय	देशोन पूर्व क्रोड वर्ष	११, १२, १३वां गुण स्थान
१.	८ का उदयस्थान	अन्तर्मुहूर्त	अनादि अनन्त, अनादि सांत, सादि सांत इस प्रकार ३ भंग	१-१० गुण स्थान
२.	७ का उदयस्थान	१ समय	अन्तर्मुहूर्त	११,१२ वां गुणस्थान
३.	४ का उदयस्थान	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्व कोटि वर्ष	१३,१४ वां गुण स्थान
१.	८ का सत्तास्थान	अनादि सांत (अनन्त काल)	अनादि अनन्त (अनन्त काल)	१-११ गुण स्थान तक
२.	७ का सत्तास्थान	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१२ वां गुण स्थान
३.	४ का सत्तास्थान	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्व कोटि वर्ष	१३, १४ वां गुण स्थान

७. बन्धादि स्थान आश्रयी स्थानों का संबेध

(सत्ता प्रकरण गाथा ५४ के सन्दर्भ में)

क्रम	स्थान का नाम	बंध-स्थान				उदय-स्थान			सत्ता-स्थान		
		८	७	६	१	८	७	४	८	७	४
१.	८ का बंध	१	X	X	X	१	X	X	१	X	X
२.	७ का बंध	X	१	X	X	१	X	X	१	X	X
३.	६ का बंध	X	X	१	X	१	X	X	१	X	X
४.	१ का बंध	X	X	X	१	X	१	१	१	१	१
१.	८ का उदय	१	१	१	१	१	X	X	१	X	X
२.	७ का उदय	१	१	X	X	X	१	X	१	१	X
३.	४ का उदय	X	X	X	१	X	X	१	X	X	१
१.	८ की सत्ता	१	१	१	१	१	१	X	१	X	X
२.	७ की सत्ता	X	X	X	१	X	१	X	X	१	X
३.	४ की सत्ता	X	X	X	१	X	X	१	X	X	१

८. क्षीयमाण प्रकृतिदर्शन प्रारूप

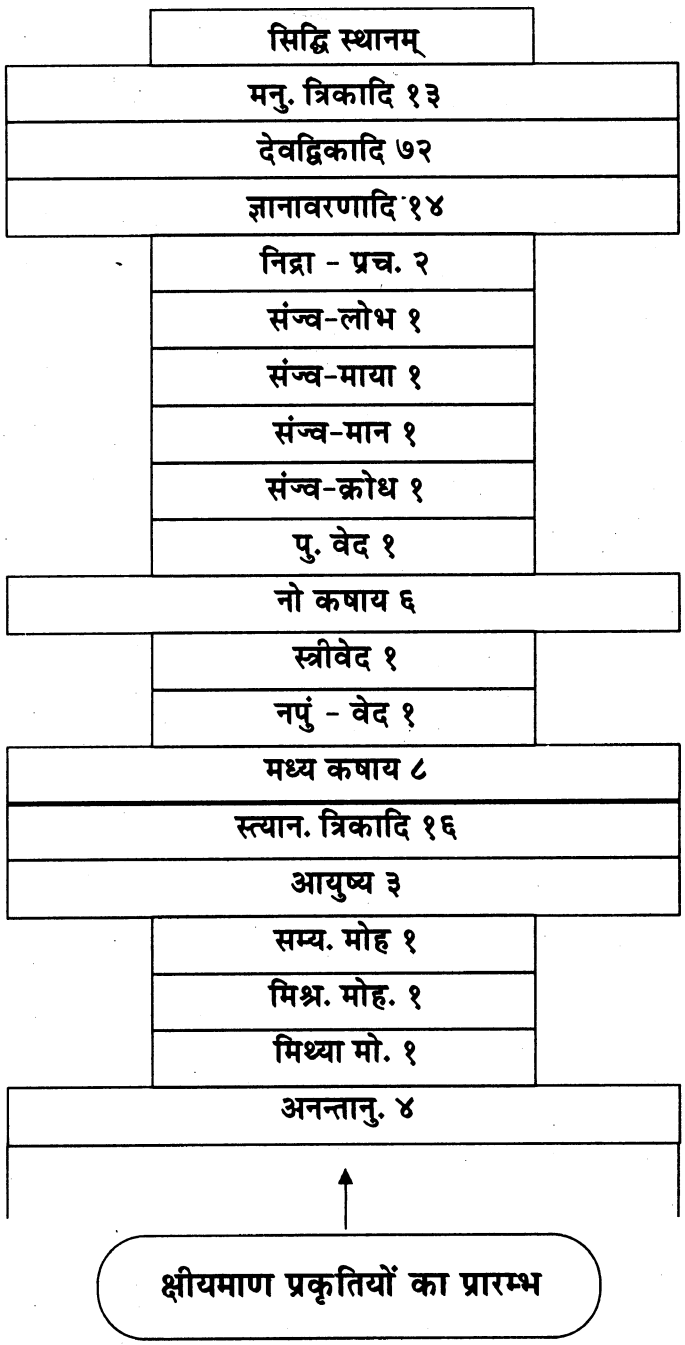

९. मूल एवं उत्तर प्रकृति आश्रित बन्धादि चतुष्क में भूयास्कारादि बंध चतुष्क का प्रारूप
(सत्ता प्रकरण गाथा ५२ के सन्दर्भ में)

नाम	बंध आश्रित					उदय आश्रित					उदीरणा आश्रित					सत्ता आश्रित				
	बंध स्थान	भूय स्कार	अल्प तर	अव स्थित	अव क्तव्य	उदय स्थान	भूय स्कार	अल्प तर	अव स्थित	अव क्तव्य	उदीरणा स्थान	भूय स्कार	अल्प तर	अव स्थित	अव क्तव्य	सत्ता स्थान	भूय स्कार	अल्प तर	अव स्थित	अव क्तव्य
मूल प्रकृति में	४	३	३	४	×	३	१	२	३	×	५	३	४	५	×	३	×	२	३	×
ज्ञानावरण	१	×	×	१	१	१	×	×	१	×	१	×	×	१	×	१	×	×	१	×
दर्शनावरण	३	२	२	३	२	२	१	१	२	×	२	१	१	२	×	३	×	२	२	×
वेदनीय	१	×	×	१	×	१	×	×	१	×	१	×	×	१	१	२	×	१	१	×
मोहनीय	१०	९	८	१०	२	९	८	८	९	५	९	८	८	९	५	१५	१	१४	१५	×
आयु	१	×	×	१	१	१	×	४	१	×	१	×	×	१	१	२	१	१	२	×
नाम	८	६	७	८	३	१२	८	९	१२	×	१०	८	९	१०	×	११	६	१०	१०	×
गोत्र	१	×	×	१	१	१	×	×	१	×	१	×	×	१	×	२	१	१	२	×
अन्तराय	१	×	×	१	१	१	×	×	१	×	१	×	×	१	×	१	×	×	१	×
सर्वोत्तर प्रकृतियों में	२९	२८	२८	२९	×	२६	२१	२४	२६	×	×	×	×	×	×	४८	१७	४७	४४	×

गाथानुक्रमणिका

संक्रमकरण

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
अजहण्णोतिण्णितिहा	४९	७८	चउरुवसमित्तु मोहं	९३	११८
अट्ठ कसायाजाए	१०२	१२४	चत्तारितिग चउक्के	२१	३८
अट्ठ चउरहिय वीसं	१०	१४	चरममसंखिज्जगुणं	६५	९५
अयरच्छावट्ठिदुगं	९९	१२२	चरिमसजोगाजो अत्थि	४३	७१
असुभाणं अन्नयरो	५३	८४	चोद्दसगदसग सत्तग	१५	३८
आऊण जहण्णठिई	५८	८७	अट्ठ दुग तिउ चउक्के	२०	३८
आगंतु लहुं पुरिसं	८७	११३	अट्ठावीसाए वि	२७	४६
आवरण विग्घ दंसण	३२	६१	अणुपुव्विअण्णाणुपुव्वी	२२	४३
आवरण सत्तगम्मि	९७	१२१	जासि न बंधो गुण	६८	९८
आहारतणू भिन्न	६१	९३	जोगजवमज्झ उवरिं	७७	१०६
इगविगलिंदियज्जोग्गा	१०८	१२८	जोगुक्कोसं चरिमदु	७८	१०६
इत्थिए भोगभूमिसु	८५	११२	जोग्गे असंखवारे	९५	११९
ईसाणागय पुरिसस्स	८४	१११	जोगंतियाण अंतो	३५	६४
उक्कोसगं पबंधिय	५२	८३	जो बायर तस काले	७४	१०४
एक्कगदुगसय पणचउ	२५	४६	जं दलियमन्न पगइं	६०	९०
एत्तो अविसेसा	१७	३८	जं दु चरमस्स चरिमे	६४	९४
एवंमिच्छद्दिट्ठिस्स	६६	९६	ठिइ संकमो त्ति वुच्चइ	२८	५४
अंतरकरणम्मिकए	४	७	तत्तो अणंतरागय	८१	११०
अंतरकरणा उवरिं	५७	८७	तत्तो उव्वट्टिता	७९	१०९
अंतोमुहुत्तमद्धं	६२	९३	तत्थट्ठपयं उव्वट्टिया	४६	७५
कम्म चउक्के असुभाण	८०	१०९	तस्संत कम्मिगो बंधि	३९	६९
खवगस्संतरकरणे	५५	८६	तिगदुगसयं छपंचग	२६	४६
गुणसंकमो अबज्झं	६९	१००	तिदुगेग सयं छप्पण	२३	४४
चउरुवसमित्तमोहं	९६	११९	तिविहो छत्तीसाए	५१	७८
चउरुवसमित्तु खिप्पं	८८	११४	तिसु आवलियासु समं	५	८

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
नीसा सत्तरि चत्ता	२९	५५	मिच्छत्त जढ़ा य परिग्गह	७	१०
तेरसग नवग सत्तग	१६	३८	मिच्छत्तस्सुक्कोसो	३०	५८
तेवट्ठिसयं उदहिण	१०७	१२७	मूलठिई अजहन्नो	३६	६५
तेबीस पंच वीसा	२४	४६	मूलूत्तर पगइगतो	४४	७३
तं दलियं सट्ठाणे	६३	९३	मोहदुगाउगमूल	३	६
थावरगयस्सचिरउव्व	१०५	१२६	वरिसवरित्थिं पूरिय	८६	११३
थावर तज्जा आया	९२	११७	वेउव्विक्कारसगं	१०४	१२६
थोवो डवहार कालो	७०	१०१	सत्तरस एकवीसासु	१३	३८
दुविह पमाणे जेट्ठो	४७	७६	दंसण चउक्क विग्घा	४०	६९
दुसुवेगे दिट्ठिदुगं	२	४	धुव संकम अजहन्नो	७२	१०४
छत्तीसाए सुभाणं	१०९	१२९	धुवसंत कम्मिगाणं	३७	६७
छब्बीस सत्तवीसाण	१२	३८	नरतिरियाण तिपल्ल	१११	१३०
जोगकसाउक्कोसो	७५	१०५	समउत्तरालिगाए	४२	७१
नवगच्छक्क चउक्के	९	१२	समयाहिगालिगाए	४१	७०
निद्दादुगस्स एक्का	३३	६१	सम्मद्दिट्ठि अजोग्गा	११०	१३०
निद्धसमा य थिरसुभा	८९	११५	सम्मद्दिट्ठी न हणइ	५६	८७
पगई ठाणे वि तहा	८	११	सव्वचिरं सम्मतं	९१	११७
पल्ला संखिय भागे	७१	१०२	सव्वत्थायावुज्जोय	५४	८४
पल्लाऽसंखिय भागे	९४	११९	सव्वासिं जट्ठिइगो	३१	६०
पुरिसे संजलणतिगे	१०३	१२५	सव्वेसुदेसघाईसु	४५	७४
पूरित्तु पुव्वकोडी	९०	११६	साइ अणाई धुव अधुवा	६	९
पंच चउक्के बारस	१९	३८	साइयमाइचउद्धा	७३	१०४
पंचसुए गुण वीसा	१८	३८	सायस्सणुवसमित्ता	९८	१२२
बायर तसेसु तक्काल	७६	१०५	सुहुम तसेगो उत्तम	६७	९६
बावीस पन्नरसगे	१४	३८	सेसाण सुहुमहय	५९	८८
बंधाओ उक्कोसो	३८	६८	सेसामूल पगईसु	५०	७८
भिन्न मुहुत्ते सेसे	८३	१११	सेसासु चउठ्ठाणे	४८	७६

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
सोणमुहुत्ता जट्ठिइ	३४	६१	संजोयणाण चतुरूव	१०१	१२४
सोलस वारसगट्ठग	११	१८	हस्सगुण संकमद्धाए	१००	१२३
सो संकमोत्ति वुच्चइ	१	३	हस्सं कालं बंधिय	१०६	१२७
सछोभणाए दोण्हं	८२	११०			

उद्वर्तना - अपवर्तनाकरण

आ बंधा उक्कड्ढइ	१०	१४८	थोवं पएसगुणहाणि	८	१४७
आवलिय असंखभागाइ	२	१३४	निव्वघाएणेवं	३	१३५
उव्वट्टणा ठिइए	१	१३२	वड्ढइ तत्तो अतित्थावणा	५	१३७
उव्वट्टं तो य ठिइं	४	१३७	वाधाएणणुभागं	९	१४७
चरमं नोव्वट्टिज्जइ	७	१४४	वाधाए समऊणं	६	१४०

उदीरणाकरण

अणुपुव्विगइदुगाणं	८६	२५१	ओहीण ओहिजुए	८९	२५४
अणुभागुदीरणाए	४३	२१४	कक्खड गुरु संघयणा	६३	२३२
अनियट्टिम्मि दुगेगं	२४	१७०	खवणाए विग्घकेवल	७०	२३७
अमणागयस्स चिरठिइ	३८	२१०	गइहुंडुवधाया	६२	२३२
अमणो चउरंस सुभाणं	७५	२४०	गुरुलघुगाणंतपए	४९	२२१
आहारगनर तिरिया	७	१५६	गो उत्तमस्स देवा	१७	१६२
आहारतणूपज्जत्तगो	६६	२३४	गं तूणावलिमितं	३५	२०६
इगवीसा छच्चसया	२७	१७३	घाईणं अजघन्ना	५४	२२५
इंदिय पज्जत्तीए	१८	१६२	घाईणं छउमत्था	४	१५३
उत्तरवेउव्विजई	६७	२३४	चउरंसमउयलहुगा	५१	२२३
उस्सासस्स सराण य	१५	१६०	चउरुवसमेतु पेज्जं	४१	२१२
एगबियाला पण्णाइ	२५	१७३	चउरंसस्स तणुत्था	११	१५८
एक्कं पंचसुएक्कम्मि	२६	१७३	छउमत्थ खीणरागे	४२	२१३
एगंततिरियजोग्गा	८५	२५०	छण्हं संठाणाणं	१०	१५७
एगिंदियं जोग्गाणं	३६	२०७	जा ना उज्जियकरणं	७८	२४३

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
अणुभागदीरणाए	८२	२४८	मणणाणं सेससमं	४७	२१९
अद्धाच्छेओ सामित्तं	३२	२०१	मणुओरालिय वज्ज	६४	२३३
जं करणेणोकड्ढिय	१	१५०	मिच्छतस्स चउद्धा	३	१५२
ठाणेसु चउसु अपुमं	४५	२१७	जावूण खणो पढमो	२१	१६४
तप्पगओ दीरग	८८	२५३	जोगंतुदीरगाणं	८७	२५२
तस बाघर पज्जत्तग	६	१५४	जोगंते सेसाणं	६८	२३५
तित्थयरं घाईणिय	५३	२२४	मूलपगई सु पंचण्हं	२	१५१
तित्थयरस्सय पल्ला	३४	२०६	विग्घावरण धुवाणं	५	१५४
तेवीसाए अजहण्णा	५७	२२७	विरियंतराय केवल	४८	२२१
दाणाइ अचक्खूणं	५८	२३०	वेउव्वि उवंगाए	९	१५७
देवगति देवमणुया	३३	२०३	वेउव्विगाए सुरनरईया	८	१५६
देवनिरयाउगाणं	८४	२५०	वेउव्वियतेयग	५०	२२२
देवो सुभगा एज्जाणं	१६	१६१	वेयएगट्ठाणे	४६	२१८
देसविरय निरयाणं	५२	२२३	वेयणिया नोकसाया	३७	२०९
निद्दाइ पंचगस्स य	५९	२३०	वेयणियाण पमत्ता	२०	१६३
निद्दा निद्दाईणं	७१	२३७	वेयणियाणं गहिहिई	८३	२४९
निद्दा निद्दाईण वि	१९	१६३	सगलोय इट्ठखगई	१४	१६०
पत्तेगमुरालसमं	७७	२४२	मिच्छत्तस्स चउद्धा	३१	२००
पल्ला संखिय भागू	४०	२११	मिच्छत्तस्स चउद्धा	८१	२४६
पोग्गल विवागियाणं	७३	२३९	मीसं दुट्ठाणे सव्व	४४	२१७
पंच नव नवग छक्काणि	२८	१९५	मूलठिई अजहन्ना	३०	१९८
पंचण्हं च चउण्हं	२२	१६५	सम्मत्त मीसगाणं	६१	२३१
पंचण्हमणुक्कोसा	८०	२४५	समयाहिगालिगाए	३९	२११
पंचिंदिय तस बायर	६०	२३१	साइ अणाई धुव	५५	२२५
बायर पुढवी आया	१३	१५९	सासण सीसे नव	२३	१६७
बेइंदिय अप्पाउग	७४	२४०	सुयकेवलि णो मइसुय	६९	२३६
मउलहुगाणुक्कोसा	५६	२२७	सेकाले सम्मत्तं	७२	२३८

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
सेवट्टस्स बिंइदिय	७६	२४१	संपत्तिए य उदए	२९	१९६
सेसाण पगइवेइ	७९	२४४	हस्सट्ठिई पज्जत्ता	६५	२३३
संघयणाणि न उत्तर	१२	१५९			

उपशमनाकरण

अण्णाणाणब्भुवगम	२८	२७४	खवगुवसामग पडिवय	६१	३०८
अणुभाग कंडगाणं	१४	२६४	गिण्हंतो य मुयंतो	५५	३०४
अणुभाग संकम समा	७१	३१९	गुणसेढ़ी निक्खेवो	१५	२६५
अणुभागोणंतगुणो	५१	३०१	चउगइया पज्जत्ता	३१	२७८
अणुभवविरओय जई	२९	२७४	चउरादि जुयावीसा	६९	३१६
अणुसमयं वड्ढंतो	९	२६०	छस्सुवसमिज्जमाणे	४७	२९५
अणुसमयं सेढीए	५०	३००	ठिइकंडग मुक्कस्सं	३६	२८४
अद्धा परिवित्तीओ	३४	२८३	उयहिपहुत्तुक्कस्सं	१३	२६४
किंचूण मुहुत्तसमं	१६	२६६	उव्वट्टण ओवट्टण	६७	३१४
अहवा दंसणमोहं	३३	२८२	उवसमसम्मत्तद्धा	६३	३१०
अहुदीरणा अंसखेज्ज	४०	२८९	उवसंतद्धा अंते	२२	२७०
अंतोकोडाकोडी	३५	२८४	तिविहमवेओ कोहं	४८	२९६
आचरमाओसेसे	११	२६१	तो तीसगाणमुप्पिं	३९	२८५
उघाडियाणि करणाणि	६४	३१०	तो नवर मसंखगुणा	३८	२८५
उदयवज्जी इत्थी	६५	३११	तो सत्तण्हं एवं	४६	२९४
उवसंतद्धा भिन्नं	५६	३०५	तं कालं बीयठिइं	१९	२६९
उवसंता य अकरणा	५७	३०५	दुसमय कंयतरे	४३	२९२
एवित्थी संखतमे	४५	२९४	दंसण मोहाणंता	६८	३१५
ओकड्डित्ता बिइयं	५८	३०६	दंसणमोहे वि तहा	३२	२७९
करणकया अकरणा	१	२५५	निव्वयण मवि ततोसे	१२	२६२
करणं अहापवत्त	८	२५७	पगइठिई अणुभागा	६६	३१३
किच्चापमत्त तदियर	६२	३०९	पढमे समए थोवो	२०	२६९
किंचूण मुहुत्तसमं	१७	२६६	परिणाम पच्चयाउ	३०	२७७

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
पल्लदिवड्ढबिपल्लाणि	३७	२८५	वेइज्जंतीणेवं	५९	३०७
पुव्वंपि विसुज्झंतो	४	२५७	वेइज्जमाण संजलण	६०	३०८
बंधतो धुवपगडी	६	२५७	वेयगसम्मदिट्ठी	२७	२७४
भिन्नमुहुत्तो संखिज्जेसु	५२	३०२	सम्मत्त पढमलंभो	२३	२७१
ठिइबंधद्धा पूरे	७	२५७	सम्मद्दिट्ठी जीवो	२४	२७२
ठिइरसघाओ गुणसेढी	२१	२७०	सम्मामिच्छद्दिट्ठी	२६	२७३
ठिइसत्तकम्म अंतो	५	२५७	सव्वस्स य देसस्स य	२	२५६
ठिइ संकमव्वठिइ	७०	३१८	सव्वुवसमणा मोहस्सेव	३	२५७
मिच्छद्दिट्ठी नियमा	२५	२७३	सुयभोगा चवखूओ	४१	२८९
मिच्छुत्तुदए खीणे	१८	२६९	सेसद्धं तणुरागो	५४	३०३
मंदविसोही पढमस्स	१०	२६१	संखगुणहाणिबंधो	४४	२९२
लोभस्स बेतिभागा	४९	२९८	संजम घाईणंतर	४२	२९०
वाससहस्स पुहुत्ता	५३	३०२			

निधत्ति - निकाचनाकरण

गुणसेढि पएसग्गं	२	३२०	देसोवसमण तुल्ला	१	३२०
थोवा कसाय उदया	३	३२१			

उदय - प्रकरण

अजहण्णाणुक्कोसा	६	३२६	कालगएगिंदियगो	२१	३३९
अजहण्णाणुक्कोसा	७	३२७	खवगे य खीणमोहे	९	३२९
अणुभागुदओ वि जहण्ण	५	३२५	चउरुवसमित्तुपच्छा	२६	३४३
अद्धा जोगुक्कोसो	१६	३३७	आवरण विग्घ मोहा	११	३३३
अप्पद्धा जोगचिया	२८	३४४	इत्थीए संजम भवे	२७	३४४
आलिगमहिगं वेए	२	३२२	उदओ उदीरणाए	१	३२२
उवसंत पढमगुणसेढी	१२	३३४	देवगई ओहिसमा	३१	३४६
ओहीणसंजमाओ	२२	३४०	दंसणमोहेतिविहे	२५	३४२
अंतरकरणं होहित्ति	१४	३३६	पगयं तु खवियकम्मे	२०	३३९

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
बेइंदिय थावरगो	१९	३३८	वेयणियंतरसोगा	२३	३४१
मिच्छत्त मीसणंता	१३	३३५	सम्मत्तुप्पा सावय	८	३२९
मणुयगइ जाइतस	३	३२२	सव्वलहुं नरयगए	३०	३४५
वरिसवर तिरिय थावर	२४	३४१	सेसाणं चक्खुसमं	३२	३४७
ठिइ उदओ वि ठिइक्खय	४	३२४	संघयण पंचगस्साय	१८	३३८
तिन्नि वि पढ़मिल्लाओ	१०	३३२	संजोयणा विजोजिय	२९	३४५
दूभगणाएज्जाजस	१७	३३७	हस्सठिइं बंधित्ता	१५	३३६

सत्ता - प्रकरण

अपुमित्थीए समं वा	७	३५४	ठिइसंतट्ठाणाइं	२०	३७१
इयकम्मप्पगडीओ	५६	४०७	तमतमगो सव्वलहुं	३५	३८४
ईसाणे पूरित्ता	२९	३८०	तिदुगसयं छप्पंचग	१४	३६१
उव्वलमाणीण उव्वल	४०	३८८	तिन्नेगतिगं पणगं	१२	३५९
एगाइ जाव पंचग	११	३५८	तिसुमिच्छत्तं नियमा	४	३५१
एगादहिगे पढमो	५२	४०४	तुल्ला नपुंसवेए	३८	३८६
ऐगे छद्दोसुदुगं	१५	३६२	दिट्ठिदुगाउगछग्ग	२	३५०
अंतिम लोभ जसाणं	४१	३८८	देवनिरियाउगाणं	३२	३८२
करणोदय संताणं	५१	४०३	धुव बंधीण सुभाणं	३७	३८५
करणोदय संताणं	५३	४०५	पढमचरिभाण मेगं	१०	३५६
करणोदय संतविऊ	५५	४०६	पुरिसस्स पुरिससंकम	३०	३८१
खवगानियट्टि अद्धा	६	३५३	पुरित पुव्वकोडी	३४	३८४
खवियसयम्मि पगयं	३९	३८७	बायालाणुक्कस्सं	२६	२७७
चरमावलियपविट्ठा	४४	३९१	बिइयतईएसुमिस्सं	५	३५२
छउमत्थंता चउदस	३	३५१	बंधहयहयहउप्प	२४	३७४
जस्सवरसासणावयव	५७	४०८	बंधोदीरण संकम	५४	४०६
जेट्ठठिई बंधसमं	१७	३६६	भवचरिमस्समयम्मि	९	३५५
ठिइ खंडगविच्छेया	४८	४००	मइसुयचक्खु अचक्खूण	२३	३७३

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ	गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ
मणनाणे दुट्ठाणं	२२	३७२	सेसाउगाणि नियगेसु	३३	३८३
मणुयगइ जाइतस	८	३५५	संकम ओदीहाणं	१८	३६७
मणुयदुयुच्चागोए	४३	३९०	मूलूत्तर पगइगयं	१	३४९
मिच्छत्ते मीसम्मि य	२८	३७९	वेउव्विक्कारसगं	४२	३८९
मूलठिई अजहन्न	१६	३६४	संकम सममणुभागे	२१	३७२
तस्सेव उ संजलणा	३१	३८१	संखीण दिट्ठिमोहे	१३	३६०
वेएसु फड्डगदुग	४६	३९६	संजलण तिगेचेव	४५	३९२
सतण्हं अजहण्णं	२५	३७६	संजलण तिगे सत्तुसुय	१९	३६९
सम्मद्दिट्ठि धुवाणं	३६	३८५	संपुन्न गुणियकम्मो	२७	३७९
सव्व जहन्नाढत्तं	४७	३९८	संभवतो ठाणाइं	५०	४०३
सेलिसि संतिगाणं	४९	४०१			

गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका समाप्त

ग्रंथागत कतिपय विशिष्ट पारिभाषिक लक्षण

करण – करणाः परिणामाः

जीव के शुभ - अशुभ परिणामों - भावों को करण कहते हैं।

बंधनकरण – बध्यतेऽष्ट प्रकारं कर्म येन तद् बंधनं – जिस (वीर्यविशेष) के द्वारा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म बांधे जायें, उसे बंधनकरण कहते हैं।

बध्यतेऽनेनात्मेति बंधनं – जिसके द्वारा आत्मा के साथ कर्मों का बंध हो, वह बंधनकरण है।

संक्रमणकरण – संक्रम्यतेऽन्यप्रकृत्यादिरूपतया व्यवस्थप्यते येन तत्संक्रमणं – जिस आत्म-परिणाम के द्वारा अन्य प्रकृत्यादिचतुष्क को अन्य प्रकृत्यादिचतुष्क रूप में परिणत किया जाता है, उसे संक्रमणकरण कहते हैं।

परप्रकृतिरूप परिणमनं संक्रमणम् – जिस वीर्य विशेष के द्वारा जो प्रकृति पूर्व में बंधी थी उसका अन्य प्रकृतिरूप परिणमन हो जाना, संक्रमणकरण है।

उद्वर्तनाकरण

उद्वर्त्यते प्राबल्येन प्रभूति क्रियते स्थित्यादि यया जीववीर्यविशेषपरिणत्या सोद्वर्तना

जिस वीर्य विशेष रूप परिणति के द्वारा कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि की जाती है, वह उद्वर्तनाकरण है।

कम्मप्पदेसट्ठिदि उवट्ठावणमुक्कड्डणा – कर्मप्रदेशों की स्थिति (व अनुभाग) को बढ़ाना उत्कर्षण (उद्वर्तन) कहलाता है।

अपवर्तनाकरण

अपवर्त्यतेह्रस्वीक्रियते स्थित्यादि यया साऽपवर्तना – जिस वीर्यविशेष परिणति के द्वारा कर्म की स्थिति (व अनुभाग) अल्प-हीन किया जाता है, उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं।

स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षणणाम – स्थिति और अनुभाग की हानि अर्थात् पूर्व में जो स्थिति और अनुभाग बांधा था उससे कम करना अपकर्षण है।

उदीरणाकरण

अनुदयप्राप्तं (उदयाप्राप्तं) सत्कर्मदलिकमुदीर्यत उदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सोदीरणा– जिस वीर्य विशेष परिणति के द्वारा उदयकाल को प्राप्त नहीं हुए दलिक को उदीरित

करता – उदयावलिका में प्रविष्ट किया जाता है, उसे उदीरणाकरण कहते हैं।

जे कम्मक्खंधमहंतेसु ट्ठिदि - अणुभागेसु अवट्ठिदा ओक्कडिद्णफलदाइणो कीरंति तेसिमुदीरणा तिसण्णा - जो महान स्थिति और अनुभागों में अवस्थित कर्मस्कन्ध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते हैं उन कर्मस्कन्धों की 'उदीरणा' यह संज्ञा है।

उपशमनाकरण

उपशम्यते उदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सोपशमना - जिस वीर्य विशेष परिणति के द्वारा कर्म उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचनाकरण के असाध्य (अयोग्य) हो जाये उसे उपशमनाकरण कहते हैं।

निधत्तिकरण

निधीयत उद्वर्तनापवर्तनावर्जकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्ति - जिस वीर्यविशेष परिणति के द्वारा कर्म उद्वर्तना-अपवर्तना के सिवाय शेष छह करणों के अयोग्य रूप से व्यवस्थापित किया जाये उसे निधत्तिकरण कहते हैं।

निकाचनाकरण

निकाच्यतेऽवश्यवेद्यतया व्यवस्थाप्यते कर्म जीवेन यया सा निकाचना - जिस वीर्यविशेष परिणति से जीव द्वारा कर्म अवश्य भोग्य रूप से व्यवस्थापित किया जाता है, उसे निकाचनाकरण कहते हैं।

उदय

कर्मपुद्गलानां यथास्थितिबद्धानां बाधाकालक्षयेण अपवर्तनादिकरण विशेषतो वा उदयसमय प्राप्तानामनुभवनमुदयं – यथायोग्य (स्व-स्व बंध योग्य) स्थिति सहित बंधे हुये कर्म पुद्गलों का अबाधा काल के क्षय होने के अनन्तर अथवा अपवर्तनादिकरण विशेष से उदय समय के प्राप्त होने पर जो अनुभवन किया जाता है, उसे उदय कहते हैं।

सत्ता

तेषामेवकर्मपुद्गलानां बंधसंक्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरण संक्रमकृतस्वरूप प्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता - बंध संक्रमादिक से प्राप्त हुआ आत्म लाभ (तत् तत् कर्मत्व रूप लाभ) जिनका, ऐसे कर्म पुद्गलों का निर्जरा और संक्रमकृत स्वरूप विनाश का अभाव होने पर जो सद्भाव हो उसे सत्ता कहते हैं।

वीर्यलब्धि

आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीश्च यः।
उत्साहो वीर्यमितितत्कीर्तितं मुनिपुंगवैः॥

निर्विकार आत्मा का जो उत्साह या कृतकृत्यत्व रूप बुद्धि, उसे मुनिपुंगव वीर्य कहते हैं। अथवा-स्वरूपनिवर्तन सामर्थ्य रूप वीर्य शक्तिस्वरूप (आत्मस्वरूप) रचना की सामर्थ्य-शक्ति को वीर्य कहते हैं और विशुद्धि से उत्पन्न पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति को लब्धि कहते हैं।

वीर्यान्तराय कर्म के देशक्षय से छद्मस्थों को तथा सर्वक्षय से केवलियों को वीर्यलब्धि प्राप्त होती है।

योग

एतच्चाभिसन्धिजमनभिसन्धिजं वा वीर्यमवश्यं यथासंभवं सूक्ष्मबादरपरिस्पन्दरूप-क्रियासहितं, योग संज्ञमप्येतदेव - अभिसंधिज अनभिसंधिज वीर्य विशेष से यथासंभव सूक्ष्म बादर परिस्पन्दन रूप क्रिया का होना योग कहलाता है।

मणसा वयसा काएण वा वि जुत्तस्स विरय परिणामो।
जिहप्पाणिजोगो जोगो ति जिणेहिं णिदिट्ठो॥

मन, वचन, काय से युक्ज जीव का जो वीर्य परिणाम अथवा प्रदेश परिस्पन्द रूप प्रणियोग, उसे योग कहते हैं।

जोगो विरियं थामो उच्छाहपरिक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया॥

योग वीर्य, स्थाम, उच्छवास, पराक्रम, चेष्ठा, शक्ति सामर्थ्य ये सब योग के पर्यायवाची नाम हैं।

अविभाग

यस्याशंस्य प्रज्ञाच्छेदनकेन विभागः कर्तु न शक्यते सोंऽशोऽविभागउच्यते - जिस अंश का प्रज्ञा-बुद्धि से छेदन करते हुये और विभाग नहीं किया जा सके, ऐसे अंतिम अविभागी अंश को अविभाग कहते हैं।

प्रतर

घनीकृत लोक की एक प्रदेश प्रमाण मोटी और सात राजु लंबी और सात राजु चौड़ी परत को प्रतर कहते हैं।

श्रेणी

धनी कृतस्य लोकस्य या एकैक प्रदेश पंक्ति रूपा श्रेणि - धनीकृत लोक की एक एक प्रदेश वाली पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। अथवा -

लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशनां क्रमसंतिविष्टानां पंक्ति श्रेणी इत्युच्यते - लोक मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रम से स्थिति आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

स्पर्धक

यथोक्त स्वरूपा वर्गणाः समुदिता एकं स्पर्धकं स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तर वृद्धया वर्गणा अत्रेति स्पर्धकं -यथोक्त स्वरूपवाली वर्गणाओं के समुदाय को स्पर्धक करते हैं अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि के द्वारा स्पर्धा के साथ जिसमें वर्गणायें होती हैं वह स्पर्धक कहलाता है। जिसका आशय यह है कि एक एक अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ाकर वर्ग और वर्गणा समूह रूप वर्गणायें तब तक बनानी चाहिये जब तक एक एक अधिक परिच्छेद मिलता जाये। इस क्रम हानि और क्रम वृद्धि वाली वर्गणाओं के समुदाय को स्पर्धक कहते हैं।

स्नेहप्रत्ययस्पर्धक

स्नेह-प्रत्ययस्य-स्नेहनिमित्तस्य स्पर्धकस्य प्ररूपणाः स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा - स्नेह निमित्तक स्पर्धक को स्नेह प्रत्यय स्पर्धक कहते हैं और उसकी प्ररूपणा, विवेचना स्नेहप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा कहलाती है।

नामप्रत्ययस्पर्धक

शरीरबंधननामकर्मोदयतः परस्परं बद्धानां शरीरपुद्गलानां स्नेहमधिकृत्य स्पर्धक प्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा - शरीरबंधननामकर्म के उदय से परस्पर बंधे हुए शरीर पुद्गलों के स्नेह निमित्तक स्पर्धक को नाम प्रत्ययस्पर्धक कहते हैं और उसकी विवेचना करना नाम प्रत्ययस्पर्धक प्ररूपणा है।

प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक

प्रकृष्टो योगः प्रयोगः तेन प्रत्ययभूतेन कारणभूतेन ये गृहीताः पुद्गलास्तेषॉ स्नेहमधिकृत्य स्पर्धकप्ररूपणा प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा - प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते हैं। इस प्रयोग प्रत्यय भूत अर्थात् कारणभूत प्रकृष्ट योग के द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गलों के स्नेह के स्पर्धकों को

प्रयोगप्रत्ययस्पर्धक कहते हैं और उनका विचार करना प्रयोगप्रत्ययस्पर्धकप्ररूपणा है।

अनुकृष्टि

अनुकृष्टि दिति अनुकर्षणमनुकृष्टिरनुवर्तन मित्यर्थः अनुकृष्टिनाम अधस्तन समयपरिणाम खण्डानामुपरितन समय परिणामखण्डैः सादृश्यम् - अनुकृष्टि यानि अनु-पीछे से कृष्टि-कर्षना खींचना अर्थात् अधस्तन-पूर्वसमयवर्ती अनुभाग अध्यवसायस्थानों को उत्तर-उत्तर के स्थितिबंध समय में खींचकर सदृशता बताने को अनुकृष्टि कहते हैं।

क्षुल्लक भव

आउअबंधे संते जो उवरि विस्समण कालो।

सव्व जहण्णो तस्स खुद्दा भवग्गहणं॥

आयुबंध होने पर जो सबसे जघन्य विश्रमण काल है उसको क्षुल्लक भव कहते हैं। **अथवा तिर्यगायुषो मनुस्यायुषश्च जघन्या स्थिति क्षुल्लक भवः** - तिर्यंच या मनुष्य आयु की जघन्यतम स्थिति को क्षुल्लक भव कहते हैं।

एक मुहूर्त में (४८ मिनट में) ६५५३६ क्षुल्लक भव होते हैं और एक मुहूर्त में ३७७३ प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) तथा एक प्राणापान में कुछ अधिक १७ क्षुल्लक भव होते हैं।

कण्डक

कण्डकं च समयपरिभाषयाऽङ्गुलमात्र क्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशि संख्या प्रमाणममिधीयते - अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र गत प्रदेशों की संख्या परिमाण को कण्डक कहते हैं।

निर्वर्तन कण्डक

निर्वर्तनंकंडकं नाम यत्र जघन्यस्थिति बंधारंभभाविनामनुभाग बंधाध्यवसाय स्थानानानुकृष्टिः परिसमाप्ताः तत्पर्यन्ता मूलत आरभ्य स्थितयः पल्योपमासंख्येयभाग मात्र प्रमाणा उच्यन्ते - जघन्य स्थिति से आरम्भ होने वाली अनुभाग बंधाध्यवसायों की अनुकृष्टि जहां परिसमाप्त होती है, वहां तक के अर्थात् मूल से प्रारम्भ करके पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण तक के काल को निर्वर्तन कंडक कहते हैं।

अर्थकण्डक

जघन्य अबाधा से रहित उत्कृष्ट अबाधा से जघन्य स्थिति हीन उत्कृष्ट स्थिति में भाग देने पर जो भाग प्राप्त होता है, उसे अर्थकण्डक कहते हैं।

संक्रमण

सो संकमोत्ति वुच्चइ जं बंधणपरिणओ पओगेणं।

पगयंतरतत्थदलियं परिणमयइ तयणुभावे जं॥

प्रयोग अर्थात् वीर्य विशेष से बंधक जीव जिस प्रकृति को अन्य प्रकृतिगत दलिक के रूप में परिणमाता है, वह संक्रम कहलाता है।

उद्वलना संक्रम

घनलाभान्वितस्याल्पदलस्योत्तारणं उत्किरणं तदेवं च उद्वलनं व्यपदिश्यते - अति सघन कर्म दलिकों से युक्त कर्म प्रकृतियों के दलिकों का उद्वलन अथवा उत्कीरणया उत्खनन करने को उद्वलना संक्रम कहते हैं।

अथवा - **करणपरिणामेन बिना कर्मपरमाणूनां परप्रकृतिरूपेण निक्षेपणमुद्वलन संक्रमणम्** - अधःकरण (यथाप्रवृत्तकरण) आदि परिणामों के बिना रस्सी के उकेलने के समान कर्म परमाणुओं के पर प्रकृति रूप से निक्षेपण को उद्वलन संक्रम कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि - जिस प्रकार अनेक तंतुओं में बद्ध रस्सी में से तंतुओं को निकाला जाये किंवा बिखेर दिये जाने पर रस्सी के तन्तु ढ़ीले पड़ जाते हैं और उसकी मजबूती भी कम पड़ जाती है। इसी प्रकार उद्वलना संक्रमण से अधिक स्थिति वाले और तीव्र रस वाले दलिक उत्कीर्ण होते हुये अल्प स्थिति वाले और अल्प रस वाले हो जाते हैं।

विध्यात संक्रम

विध्यात विशुद्धिकस्य जीवस्य स्थित्यनुभाग कण्डक गुणश्रेष्यादि परिणामेष्वतीतेषु प्रवर्तना विध्यात संक्रमणणाम - मंद विशुद्धि वाले जीव की स्थिति अनुभाग के घटाने रूप भूतकालीन स्थिति कंडक और अनुभाग कंडक तथा गुणश्रेणी आदि परिणामों में प्रवृत्ति होना विध्यातसंक्रमण है।

जिन प्रकृतियों का गुणप्रत्यय और भवप्रत्यय से बंध नहीं होता है उनमें विध्यात संक्रमण की प्रवृत्ति होती है और यह प्रायः यथाप्रवृत्त संक्रम के पश्चात होता है।

यथाप्रवृत्त संक्रम

अहापवत्तसंकमोणाम संसारत्थाणं जीवाणं बंधणजोगाणं कम्माणं बज्झमाणाणं अबज्झमाणाणं वा थोवतो थोवं बहुगाओ बहुगं बज्झमाणीसु य संकमणं - संसारी जीवों के ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का उनके बंध के होने पर तथा स्व स्व भवबंध योग्य परावर्तमान प्रकृतियों का बंध या अबंध की दशा में भी जो प्रदेशसंक्रम - परप्रकृति रूप-परिणमन होता है, उसे यथाप्रवृत्तसंक्रम कहा जाता है अर्थात् अपने बंध की संभावना रहने पर जो बंधप्रकृतियों का प्रदेशसंक्रम पर प्रकृतिरूप परिणमन होता है उसे यथाप्रवृत्तसंक्रम कहा जाता है। (दिगम्बर कार्मग्रान्थिक इसे अधःप्रवृत्तसंक्रम कहते हैं)।

गुण संक्रम

प्रतिसमयमसंख्येयगुणश्रेणिक्रमेण यत्प्रदेशसंक्रमणं तद्गुणसंक्रमणनाम - जहां पर प्रति समय असंख्यात गुणश्रेणि क्रम से परमाणु-प्रदेश अन्य प्रकृति रूप परिणत हों वह गुणसंक्रमण है।

गुण संक्रमण अप्रमत्त संयत गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में होता है और विशुद्धि के वश प्रति समय असंख्यात गुणित वृद्धि के क्रम से अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों के द्रव्य को शुभ प्रकृतियों में दिया जाता है।

सर्वसंक्रम

चरमसमये यत् परप्रकृतिषु शेष सर्वदलिकं प्रक्षिप्यते स सर्वसंक्रम - (गुणसंक्रमण के पश्चात्) शेष रहे हुए कर्म दलिकों का अंतिम समय में जो पर प्रकृतियों में संक्रम किया जाता है, वह सर्व संक्रम कहलाता है।

स्तिबुक संक्रम

अनुदीर्णाया अनुदयप्राप्तायाः सत्कं यत्कर्मदलिकं सजातीय प्रकृतावुदयप्राप्तायां समानकालस्थितौ संक्रमय्य चानुभवति स स्तिबुकसंक्रमः – अनुदीर्ण प्रकृति के दलिकों को समान स्थिति वाली उदय प्राप्त प्रकृति में संक्रमित करके जो अनुभव किया जाता है, उसे स्तिबुक संक्रम कहते हैं। जैसे उदय प्राप्त मनुष्य गति में अन्य अनुदय प्राप्त गतियों के कर्म दलिकों को संक्रान्त करके भोग लेना अथवा उदयमान एकेन्द्रिय जाति में अनुदीर्ण शेष जातियों के कर्म दलिकों का संक्रमण होना।

यत्स्थिति

संक्रमणकाले या स्थितिर्विद्यते सा यत्स्थितिः – संक्रमण काल में जो स्थिति विद्यमान है, वह यत्स्थिति कहलाती है।

पतद्ग्रह

यस्यां प्रकृतौ आधारभूतायां तत्प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति आधारभूत प्रकृति-रूपतामापादयति एषा प्रकृतिराधारभूता पतद्ग्रह इव पतद्ग्रहः संक्रम्यमाण प्रकृत्याधार इत्यर्थः।

जिस आधारभूत प्रकृति में अन्य प्रकृति के परमाणु संक्रमित होते हैं, वह आधारभूत प्रकृति पतद्ग्रह कहलाती है अर्थात् जीव जिस प्रकृति में विवक्षित प्रकृति के प्रदेशों को तद्रूप से परिणमाता है जो संक्रम्यमाण प्रकृति की आधारभूत प्रकृति है उसे पतद्ग्रह प्रकृति कहते हैं।

बंधोत्कृष्टा प्रकृति

बंधादेव केवलादुत्कृष्टास्थितिर्लभ्यते सा बन्धोत्कृष्टा – बंध से ही जिसकी उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, वह बंधोत्कृष्टा प्रकृति है। अपनी अपनी मूल प्रकृति की अपेक्षा भी इनकी उत्तर प्रकृतियों की स्थिति में न्यूनता नहीं होती है, किन्तु तुल्यता ही रहती है। ये बंधोत्कृष्टा प्रकृतियां ९७ हैं।

संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति

या पुनर्बन्धेऽबंधे वा सति संक्रमादुत्कृष्टा स्थितिर्भवति सा संक्रमोत्कृष्टा – जिस प्रकृति की बंध या अबंध होने पर संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उसे संक्रमोत्कृष्टा प्रकृति कहते हैं। वे ६१ प्रकृतियां हैं।

प्रकृतिस्थान

द्वित्रयादीनां प्रकृतीनां च समुदायः प्रकृतिस्थानम् – दो, तीन आदि प्रकृतियों के समुदाय को प्रकृतिस्थान कहते हैं।

योग्यन्तिका

योगिनिसयोगिकेवलिनि संक्रममाश्रित्यान्तः पर्यन्तो यासां ता योग्यन्तिकाः – सयोगी केवली को पर्यन्त समय में - चरम समय में जिन प्रकृतियों का संक्रम विच्छेद होता है, वे प्रकृतियां योग्यन्तिका कहलाती हैं।

डायस्थिति

यतः स्थितिस्थानादपवर्तनाकरणवशेन उत्कृष्टां स्थितिं याति तावती स्थितिर्डायस्थिति

रित्युच्यते – जिस स्थितिस्थान से अपवर्तनाकरण के द्वारा उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उतनी स्थिति को डायस्थिति कहते हैं। अथवा

यतः स्थितिस्थानान्मण्डूकप्लुतिन्यायेन डायां दत्वा या स्थितिर्बध्यते ततः प्रभृति तदन्ता तावती स्थितिर्वद्धा डायस्थितिरिहोच्यते – जिस स्थितिस्थान से मंडूकप्लुतिन्याय के द्वारा डाय-फाल को देकर जो स्थिति बांधी जाती है, वहां से ले कर उसके अंत तक बंधने वाली स्थिति डायस्थिति कहलाती है।

डायस्थिति तीन प्रकार की है – अपवर्तन डायस्थिति, उद्वर्तन डायस्थिति और बद्धडायस्थिति।

१. इन तीनों डायस्थितियों का स्वरूप इस प्रकार है – जिस स्थितिस्थान से उतर कर अपवर्तनाकरण से अनन्तर समय में जिस निम्न स्थिति की ओर जाये, उन नीचे के स्थितिस्थानों तक की स्थितियों के समुदाय को अपवर्तना डायस्थिति कहते हैं। यथा १०० समय की स्थिति में उससे उतर कर अपवर्तनाकरण से ७० से १० तक की ६० स्थितियां प्राप्त हों, उनमें से जो ७० की प्राप्त हों, तब १०० से ७० तक की स्थितियों में से ३० स्थितियों को अपवर्तना डायस्थिति समझना चाहिये।

वस्तुतः अपवर्तन डायस्थिति स्थितिघात के समय में सैंकड़ों सागर प्रमाण अथवा अन्तः कोडाकोडी सागरोपम के संख्यातवां भाग जितनी होती है।

२. जिस स्थितिस्थान से चल कर उद्वर्तनाकरण से अनन्तर समय में जितनी स्थितियां अधिक हों, उस अधिक स्थिति को उद्वर्तना डायस्थिति कहते हैं।

३. जिस स्थितिस्थान से चल कर अधिक से अधिक जितना स्थितिबंध अनन्तर समय में किया जाये, वहां से प्रारम्भ करके उत्कृष्ट स्थितिबंध तक की स्थितियों के समुदाय को बद्धडायस्थिति कहते हैं।

वस्तुतः बद्धडायस्थिति अन्तः कोडाकोडी सागरोपम न्यून ७० कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उद्वर्तन डायस्थिति भी बद्धडायस्थिति के तुल्य होने के कारण उसे पृथक् नहीं कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। विशेष तो बहुश्रुतगम्य है।

सेचीका

यासां स्थितिनां भेदपरिकल्पना संभवति ताः पूर्वपुरुषपरिभाषया-सेचीका इत्युच्यते – जिन स्थितियों की भेद परिकल्पना संभव है उनको पूर्वपुरुषों ने सेचीका कहा है। सेचीका का अपर नाम सेवीका भी है।

आयोजिका करण

आयोजिकाकरणं नाम केवलिसमुद्घातादर्वाग्भवति, तत्राङ् मर्यादायाम्, आ मर्यादया केवलिहष्टया योजनं व्यापरणमायोजनम्, तच्चातिशुभयोगानामवसेयम् – केवलिसमुदघात के पूर्व केवली भगवान् के द्वारा जो अतिशय शुभ योगों का आयोजन (व्यापार) किया जाता है, उसे आयोजिका करण कहते हैं। इसे आवर्जितकरण, आवश्यककरण भी कहते हैं। इनकी निरुक्ति इस प्रकार है –

अवर्जितो नाम अभिमुखीकृतः ततश्च तथा भव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं शुभयोगव्यापारणं आवर्जितकरणं। मोक्षगमन के प्रति अभिमुख हुए जीव (केवली) के द्वारा की जाने वाली क्रिया - शुभ योगों के व्यापार - को आवर्जितकरण कहते हैं।

आवश्यकेनावश्यंभावेन करणमावश्यककरणं – जिस क्रिया को अवश्य - अनिवार्य रूप से किया जाता है, उसे आवश्यककरण कहते हैं।

समुद्घात

मूल शरीर को न छोड़ कर निमित्तवशात् उत्तरदेह के साथ साथ जीव प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। वेदना, कषाय, वैक्रिय, आहारक, तैजस, मारणांतिक और केवलि समुद्घात ये सात प्रकार के समुद्घात होते हैं।

आगाल

यत्पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशादुदीरणा प्रयोगेण कर्मदलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति स आगाल इति – उदीरणा प्रयोग के द्वारा द्वितीय स्थिति में से कर्मदलिकों को आकर्षित करके उदय में प्रक्षेपण करना आगाल कहलाता है।

प्रथम स्थिति

अन्तरकरणाच्चधस्तनी स्थितिः प्रथमास्थितिरित्युच्यते – अन्तरकरण से नीचे की स्थिति को प्रथम स्थिति और ऊपर की स्थिति को द्वितीय स्थिति कहते हैं – **उपरितनी तु द्वितीया।**

उदीरणा

प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणा प्रयोगेण दलिकं प्रथम स्थितिसत्कं दलिकं समाकृष्योदय समये प्रक्षिपति सा उदीरणा – उदीरणा प्रयोग के द्वारा प्रथम स्थिति में वर्तमान कर्मदलिक को आकर्षित कर उदय समय में प्रक्षिप्त करने को उदीरणा कहते हैं।

दो आवलिका शेष रहने पर आगाल नहीं होता है। उदीरणा आवलिकापर्यन्त होती है और चरम समय में केवल उदय ही होता है।

अतीत्थापना (अतिस्थापना)

अपकृष्ट द्रव्यस्य निक्षेपरूपा न निक्षेपः xxx तेनातिक्रम्यमाणं स्थानं अतिस्थापनम् – जिन निषेकों में अपकर्षण या उत्कर्षण किये गये द्रव्य का निक्षेप नहीं किया जाता है, उनका नाम अतिस्थापना है। ऐसे निषेक उदयावलिका के दो त्रिभाग मात्र होते हैं।

देशोपशमना

देशभूताभ्यां यथाप्रवृत्तापूर्वकरण संज्ञिताभ्यां करणाभ्यां प्रकृतिस्थित्यादीनां देशमेकदेशं शमयत्युपशमयति देशोपशमनाभिधीयते – देशकरणरूप यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अल्प मात्रा में (एक देश से) उपशम किया जाता है, उसे देशोपशमना (देशकरणोपशमना) कहा जाता है।

देशविरत

यस्तु देशतोविरतः सदेशविरतः – सर्व असंयमभाव को छोड़ने में असमर्थ जो व्यक्ति हिंसादि पांच पापों के एकदेश से विरत होता है, उसे देशविरत कहते हैं।

प्रतिसेवानुमति

यः स्वयं परैर्वाकृतं पापंश्लाघते सावद्यारंभोपपन्नं वाऽशनाद्युपभुंक्ते तदा तस्य प्रतिसेवनानुमतिः – जो स्व और परकृत पाप की प्रशंसा करता है अथवा सावद्य आरंभ से उत्पन्न अशनादि का भोग करता है वह उसकी प्रतिसेवनानुमति है।

प्रतिश्रवणानुमति

यदा तु पुत्रादिभिः कृतं पापं श्रुणोतिः श्रुत्वा चानुमनुतेः न च प्रतिषेधति तदा प्रतिश्रवणानुमतिः – जब पुत्रादि द्वारा कृत पाप को सुनता है और सुन कर अनुमोदन करता है किन्तु प्रतिषेध नहीं करता है तब प्रतिश्रवणानुमति है।

संवासानुमति

यदा पुनः सावद्यारंभ प्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति, नान्यत् किंचितप्रतिश्रुणोतिश्लाघते वा, तदा संवासानुमतिः – जब सावद्य आरंभ में प्रवृत्त पुत्रादि पर ममत्व मात्र करता है, किन्तु पुत्रकृत सावद्य कार्यों को न सुनता है और न श्लाघा भी करता है, तब संवासानुमति है।

अविरत

न विरतोऽविरतः xxx सावद्ययोगप्रत्याख्यानम् नास्य विरतमस्तीत्यविरतः – सावद्य प्रवृतियों से जो विरत नहीं है उसे अविरत कहते हैं। जो व्रतों को जानता नहीं है, न स्वीकार करता है और न उनके पालन करने का प्रयत्न करता है वह अज्ञान, अनभ्युपगम और अयतना से अविरत है।

कृतकरण

चरमे च स्थितिखंडे उत्कीर्ण सत्यसौक्षपकः कृतकरण इत्युच्यते। – सम्यक्त्व मोहनीय के अंतिम स्थितिखंड को क्षपाने वाले क्षपक को कृतकरण कहते हैं।

किट्टीकरण

किट्टियो नाम पूर्वस्पर्धकापूर्वस्पर्धकेभ्यो वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापद्य वृहदन्तरालतया य द्रव्यवस्थापनं – किट्टी कृश करना, अर्थात् पूर्व स्पर्धक एवं अपूर्व स्पर्धकों से वर्गणाओं को ग्रहण करके और उनके रस को अनन्तगुणहीन करके अविभाग प्रतिच्छेदों के अन्तराल में स्थापित करने को किट्टीकरण कहते हैं। किट्टी के वेदन अनुभव करने के काल को किट्टीवेदनकाल कहते हैं।

अश्वकर्णकरण

घोड़े के कान के समान मूल में चौड़ा और उत्तरोत्तर घटने के समान जिस करण में संज्वलन क्रोध से लेकर लोभपर्यन्त का अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणहीन होता जाता है, उस करण को अश्वकर्णकरण कहते हैं।

संप्राप्तोदयः

यत्कर्मदलिकं कालप्राप्तं सत् अनुभूयते स संप्राप्त्युदयः – उदय की कारणभूत क्षेत्रादि सामग्री के होने पर कालक्रम से कर्मदलिक का उदय में आना संप्राप्तोदय कहलाता है।

असंप्राप्तोदयः

यत्पुनरकालप्राप्तं कर्मदलिकमुदीरणा प्रयोगेण वीर्यविशेष - संज्ञितेन समाकृष्य काल प्राप्तेन दलिकेन सहानुभूयते सोऽसंप्राप्त्युदयः – वीर्यविशेष रूप उदीरणा करण से अकाल प्राप्त कर्मदलिक को आकर्षित कर कालप्राप्त दलिक के साथ अनुभव करना असंप्राप्तोदय कहलाता है। इसी का अपर नाम उदीरणा है।

बंधोत्पत्तिक

बंधादुत्पत्तिर्येषां तानि बंधोत्पत्तिकानि – बंध से जिसकी उत्पत्ति है, उसे बंधोत्पत्तिक कहते हैं।

हतोत्पत्तिक

उद्वर्तनापवर्तनाकरणवशतो वृद्धिहानिभ्यामन्यथाऽन्यथा यान्यनुभागस्थानानि वैचित्र्यभाञ्जि भवन्ति तानि हतोत्पत्तिकान्युच्यन्ते – उद्वर्तना अपवर्तनाकरण से वृद्धि हानि के द्वारा जो अनुभागस्थान अन्यथा अन्यथा रूप में अर्थात् विचित्र रूप में हो जाते हैं, वे हतोत्पत्तिक कहलाते हैं।

हतहतोत्पत्तिक

हत्तं उद्वर्तनापवर्तनाभ्यां घाते सति भूयोऽपि हतान् स्थितिघातेन रसघातेन वा घातादुत्पत्तियैषां तानि हतहतोत्पत्तिकानि – उद्वर्तना - अपवर्तना के द्वारा घात होने पर पुनः स्थितिघात और रसघात से घात द्वारा जिनकी उत्पत्ति होती है, उन्हें हतहतोत्पत्तिक कहते हैं।

निषेक

प्रतिसमयं बहु हीन हीनतरस्य दलिकस्यानुभवनार्थं रचना निधत्तमपीह निषेक उच्यते– विवक्षित कर्म की स्थिति में से अबाधाकाल को घटा देने पर अनुभव करने के लिये प्रति समय हीन हीनतर क्रम से कर्मदलिकों की जो रचना विशेष होती है, उसे निषेक कहते हैं।

संवेध

परस्परमेककालमागमाऽविरोधेनमीलनं सम्बन्धाः (संवेधः) – आगम से अविरुद्ध कर्म प्रकृतियों का परस्पर एक काल में संबंध करने को संवेध कहते हैं।

❑❑

नानेश वाणी

प्रकाशित व बिक्री हेतु उपलब्ध साहित्य

प्रत्येक पुस्तक का मूल्य मात्र 30/- है। 21 पुस्तकों का पूरा सेट खरीदने पर अर्द्धमूल्य अर्थात् रुपये 315/- में विक्रय किया जायेगा।

01 गुणस्थान स्वरूप और विश्लेषण
02 आह्वान अपनी चेतना का
03 अनुभूति के क्षण
04 आत्म साक्षात्कार
05 कषाय समीक्षण भाग-1
06 कषाय समीक्षण भाग-2
07 समीक्षण धारा
11 संस्कार क्रान्ति भाग-1
12 संस्कार क्रान्ति भाग-2
13 समता दर्शन और व्यवहार
15 ऐसे जीएं भाग-1
16 ऐसे जीएं भाग-2
17 ताप और तप
18 किं जीवनम्
25 चेतन ! अपने घर आओ
27 मन की माला
28 समता : मति गति दृष्टि की
30 आपका भविष्य आपके हाथ
31 मनुष्यों को देवताओं का नमन
35 सर्व त्याग की साधना
41 लक्ष्य वेध
43 कुंकुम के पगलिए
44 अखण्ड सौभाग्य
47 निर्ग्रन्थ परम्परा में चैतन्य आराधना

प्राप्ति स्थान :
श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर-334005

*

श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार
चौमुखी पुल, रतलाम (म.प्र.)

दीप से दीप

साधुमार्ग की परम्परा अनादि-अविच्छिन्न है। आचार की साधुत्व की प्राण-सत्ता एवं कसौटी है, अत: वही साधु-मार्ग की धुरी है। धुरी ध्वस्त हो जाए तो रथ पर झण्डी-पताकाएं सजाकर तथा उसके चक्कों पर पॉलिश करके कुछ समय के लिए एक चकाचौंध भले ही उपस्थित कर दी जाय, उसे गतिमान नहीं बनाया जा सकता।

वन्द्य विभूति आ. श्री हुक्मीचन्दजी म.सा. ने 'सम्यक ज्ञान सम्मत क्रिया' का उद्घोष करके आचार की सर्वोपरिता का सन्देश दिया। इस आचार क्रान्ति ने जिनशासन-परम्परा में प्राण ऊर्जा का संचार किया। अगले चरण में ज्योर्तिधर जवाहराचार्य ने आगमिक विवेचन की तैजस छैनी से कल्पित सिद्धान्तों की अवान्तर पर्तों की छील-कांट कर 'सम्यक ज्ञान सम्यक क्रिया' को विशुद्ध शिल्प में तराश दिया। आगे चलकर श्री गणेशाचार्य ने इस विशुद्ध शिल्प के साक्ष्य में 'शान्ति-क्रान्ति' का भी अभियान चलाया। कालान्तर में समता विभूति आचार्य श्री नानेश के सम्यक निर्देशन में शान्ति-क्रान्ति का रथ उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहा।

उसी शान्तिमान रथ के अश्वों की वलगायें अब परमागम रहस्य ज्ञाता आचार्य श्री रामेश के समक्ष हाथों में है। युग पर आश्वासन की सात्विक आभा फैलती जा रही है। विश्वास हिलकोरें लेने लगा है कि सात्विक साध्वाचार का लोप नहीं होगा। अंधकार छंटता और छूटता जा रहा है। दीप से दीप जलते जा रहे हैं। यह पुस्तक क्रांति-शृंखला में ही एक पावन लौ है।